श्रीअरविन्द-साहित्य

खंड 16

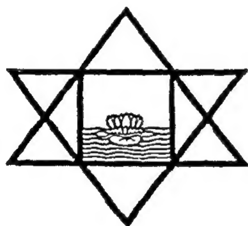
श्रीअरविन्दके पत्र

भाग एक

LETTERS ON YOGA

PART ONE

श्रीअरविन्द



भारत सरकार, शिक्षा-मंत्रालयकी मानक ग्रंथोंकी
प्रकाशन-योजनाके अन्तर्गत प्रकाशित

श्रीअरविन्द सोसायटी
पांडिचेरी - 2

अनुवादक : चन्द्रदीप त्रिपाठी

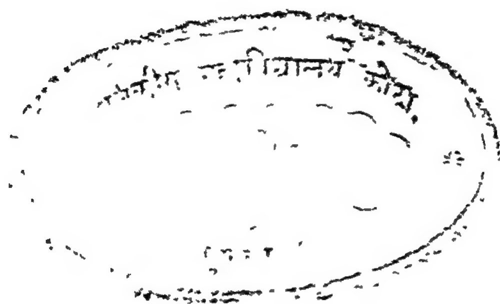
प्रथम संस्करण, वर्ष

"केन्द्रीय हिन्दी निदेशालय (शिक्षा एवं समाज कल्याण मंत्रालय) द्वारा क्रियान्वित प्रकाशकोंके सहयोगसे हिन्दी पुस्तकोंके लेखन अनुवाद तथा प्रकाशन-की योजनाके अन्तर्गत प्रकाशित"।

Price Rs. 17.95 मूल्य रु०

प्रकाशक : श्रीअरविन्द सोसायटी, पांडिचेरी-2

मुद्रक : ऑल इन्डिया प्रेस, श्रीअरविन्द आश्रम, पांडिचेरी-2.



विषय सूची

दो शब्द

हिन्दीके विकास और प्रसारके लिये शिक्षा एवं समाज कल्याण मंत्रालय-के तत्वावधानमें पुस्तकोंके प्रकाशनकी विभिन्न योजनाएं कार्यान्वित की जा रही हैं। हिन्दीमें अभी तक ज्ञान-विज्ञानके क्षेत्रमें पर्याप्त साहित्य उपलब्ध नहीं है, इसलिये ऐसे साहित्यके प्रकाशनको विशेष प्रोत्साहन दिया जा रहा है। यह तो आवश्यक है ही कि ऐसी पुस्तकें उच्च कोटिकी हों, किन्तु यह भी जरूरी है कि वे अधिक महंगी न हों ताकि सामान्य हिन्दी पाठक उन्हें खरीदकर पढ़ सकें। इन उद्देश्योंको सामने रखते हुए जो योजनाएं बनाई गई हैं, उनमेंसे एक योजना प्रकाशकोंके सहयोगसे पुस्तकें प्रकाशित करनेकी है। इस योजनाके अधीन भारत सरकार प्रकाशित पुस्तकोंकी निश्चित संख्यामें प्रतियां खरीदकर उन्हें मदद पहुँचाती है।

'श्रीअरविन्दके पत्र' (भाग एक) नामक यह पुस्तक इस योजनाके अन्तर्गत प्रकाशित की जा रही है। उल्लेखनीय है कि इस ग्रंथ मालाके पहले वाले खंड वैज्ञानिक तथा तकनीकी शब्दावली आयोगकी मानक ग्रंथ योजनाके अन्तर्गत प्रकाशित किये गये थे। किन्तु अब शेष खंड निदेशालयकी प्रकाशकोंके सहयोगसे हिन्दी पुस्तकोंके लेखन अनुवाद तथा प्रकाशनकी योजनाके अन्तर्गत प्रकाशित किये जायेंगे। श्रीअरविन्द भारतीय ऋषि परंपराकी अत्याधुनिक कड़ी थे। राष्ट्रीय चेतनाके उद्घोषक और भारतीय दर्शनके पोषकके रूपमें महायोगी अरविन्दका स्थान काफी ऊँचा है। इस खंडमें समय-समयपर श्रीअरविन्द द्वारा लिखे गये पत्रोंके उद्धरण संकलित किये गये हैं। श्रीअरविन्दने जिस पूर्ण योगका प्रतिपादन किया था उसका सैद्धान्तिक पक्ष भाग-१ में परिलक्षित होता है। अतिमानसिक चेतनाका मन, प्राण और शरीरमें अवतरण कराकर अतिमानसीकरण श्रीअरविन्दके दर्शनका लक्ष्य रहा है। उसका स्फाटेकवत् स्वरूप इस पुस्तकमें स्पष्ट दृष्टिगोचर होता है। अतः यह पुस्तक श्रीअरविन्दके दर्शन और योग पद्धतिको समझाने में काफी सहायक हो सकेगी।

हमे विश्वास है कि शासन और प्रकाशकोके सहयोगसे प्रकाशित साहित्य हिन्दीको समृद्ध बनानेमे सहायक सिद्ध होगा और साथ ही इसके द्वारा ज्ञान-विज्ञानसे संबंधित अधिकाधिक पुस्तके हिन्दीके पाठकोको उपलब्ध हो सकेगी।

आशा है यह योजना सभी क्षेत्रोमे लोकप्रिय होगी।

केन्द्रीय हिन्दी निदेशालय

(गोपाल शर्मा)
निदेशक

श्रीअरविंदके पत्र

भाग 1

1. अतिमानसिक विकास

पहले ऐसे युग आये हैं जब कि, कम-से-कम कुछ सभ्यताओंमें, आध्यात्मिक उपलब्धिके लिये प्रयास किया गया था और यह प्रयास आजकलके मुकाबले, अथवा इधरकी कुछ शताब्दियोंमें सामान्यतया सारे जगत्‌में जो प्रयास हुआ है उसके मुकाबले, कहीं अधिक तीव्र और अधिक व्यापक था। परंतु आज ऐसा लगता है कि इस प्रयासने एक नया मोड़ लेना प्रारंभ किया है और यह भूतकालकी उपलब्धियोंसे आरंभ करके एक महत्तर भविष्यकी ओर आगे बढ़ रहा है। परंतु सर्वदा ही, यहांतक कि वैदिक युगमें या मिस्रमें भी, आध्यात्मिक उपलब्धि अथवा गुह्य ज्ञान कुछ थोड़ेसे लोगोंमें ही सीमित था, वह समस्त मानवसमाजमें फैला हुआ नहीं था। साधारण मानवसमाज धीरे-धीरे ही विकसित होता है और उसमें जड़-भौतिक तथा प्राणिक मनुष्यसे लेकर मनोमय मनुष्यतकके क्रमविकासके सभी स्तर विद्यमान होते हैं। एक छोटा-सा दल सीमाओंसे परे चला जाता है, गुह्य और आध्यात्मिक ज्ञानके द्वारोंको खोलता है और मनोमय मनुष्यसे परे आध्यात्मिक तथा अतिमानसिक मनुष्यतक जानेके क्रमविकासके आरोहणकी तैयारी करता है। कभी-कभी ऐसे दलका बहुत बड़ा प्रभाव रहा है, जैसे, भारतके वैदिक कालमें, मिस्रमें अथवा अनुश्रुतिके अनुसार, अटलांटिसमें; यह दल ही जातिकी सभ्यताका निर्माण करता था, उसपर आध्यात्मिक या गुह्य ज्ञानकी प्रबल छाप डालता था। कभी-कभी यह दल समाजसे अलग अपने गुप्त संप्रदाय या संघमें सीमित रहता था, किसी ऐसी सभ्यताको सीधे प्रभावित नहीं करता था जो कि भौतिक अज्ञानमें डूबी रहती थी अथवा अस्तव्यस्त स्थिति और अज्ञानांधकारमें होती थी अथवा ऐसे कठोर बाहरी ज्ञानालोकमें होती थी जो आध्यात्मिक ज्ञानका परित्याग करता है।

क्रमविकासके चक्र सर्वदा ऊपरकी ओर जाते हैं, पर वे चक्र होते हैं और सीधी रेखामें ऊपर नहीं जाते। इसलिये इस प्रक्रियाके कारण ऐसी धारणा

होती है कि उसमें आरोहणों और अवरोहणोंकी एक श्रृंखला है, परंतु क्रमविकासकी धारामें जो कुछ उपलब्ध होता है उसका प्रमुख अंश सुरक्षित रहता है, अथवा, यह यदि कुछ समयके लिये आच्छादित भी हो जाता है तो वह नवीन युगोंकी आवश्यकताके अनुरूप नये आकारोंमें पुनः प्रकट होता है।

यह सृष्टि अतिमानससे जड़तत्त्वतक सत्ताके सभी स्तरोंमेंसे होती हुई नीचे उतरी है और प्रत्येक स्तरमें उसने उस स्तरके अनुरूप एक जगत्, राज्य, लोक अथवा व्यवस्थाकी रचना की है। जड़-जगत्‌की रचना करनेके लिये यह अवतरणोन्मुख चेतना आपातदृश्य निश्चेतनामें डूब गयी और उस निश्चेतनामेंसे, धीरे-धीरे, बाहर निकलने लगी और यह तबतक ऐसा करती रहेगी जबतक कि यह अपने उच्चतम आध्यात्मिक और अतिमानसिक शिखरोंको पुनः नहीं प्राप्त हो जाती और यहां जड़ जगत्‌में उनकी शक्तियोंको अभिव्यक्त नहीं कर देती। परंतु इस निश्चेतनाके अंदर भी एक गुप्त चेतना विद्यमान है जो, हम कह सकते हैं कि, अपने उपयुक्त एक निर्वत्तित और प्रच्छन्न अंतःप्रेरणा-शक्तिके द्वारा कार्य करती है। जड़तत्त्वके प्रत्येक स्तरमें, प्राणतत्त्वके प्रत्येक स्तरमें, यह अंतःप्रेरणा-शक्ति उस स्तरके अनुरूप एक क्रिया-पद्धति ग्रहण करती है और पर्देके पीछेसे कार्य करती है, सृष्टिकारिणी शक्तिकी आशु आवश्यकताओंको अवलंब और बल प्रदान करती है। जड़तत्त्वके अंदर एक अंतःप्रेरणा-शक्ति है जो स्थूल जगत्‌की क्रियाको, अणु-परमाणुसे लेकर सूर्य और ग्रह-तारों और उनके अंदर विद्यमान तत्त्वोंकी क्रियाको धारण करती है। प्राणतत्त्वमें एक अंतःप्रेरणा-शक्ति है जो उसी तरह जड़तत्त्वमें होनेवाली प्राणकी क्रीड़ा और विकासको तबतक सहारा देती और परिचालित करती है जबतक कि वह उस मानसिक विकासके लिये तैयार नहीं हो जाता जिसका माध्यम मनुष्य है। मनुष्यमें भी सृष्टि उसी ऊर्ध्वगामी प्रक्रियाका अनुसरण करती है,—अपने प्रगतिपथमें वह जिस स्तरपर पहुंच गया है उसके अनुरूप उसके अंदर अंतःप्रेरणा विकसित होती है। सच पूछा जाय तो जो वैज्ञानिक लोग अंतःप्रेरणा-शक्तिके पृथक् अस्तित्वको अथवा उसकी श्रेष्ठताको अस्वीकार करनेकी प्रवृत्ति रखते हैं, उनकी सुनिश्चित बुद्धि भी वास्तवमें तबतक आगे नहीं बढ़ सकती जबतक कि उनके पीछे मानसिक संबोधि न विद्यमान हो—यह संबोधि ही उन्हें आगे पग बढ़ानेकी अथवा जो कुछ करना आवश्यक होता है उसका अनुमान कर लेनेकी शक्ति

प्रदान करती है। इस तरह हम देखते हैं कि यह अंतःप्रेरणा-शक्ति या संबोधि वस्तुओंके ठेठ प्रारंभमें, उनकी मध्यावस्थामें तथा उनकी चरम परिणतिमें भी उपस्थित रहती है।

परंतु अंतःप्रेरणा अपना समुचित रूप केवल तभी ग्रहण करती है जब मनुष्य अपने मनसे परे आध्यात्मिक क्षेत्रमें चला जाता है, क्योंकि केवल वहीं वह पर्देके पीछेसे निकलकर पूर्ण रूपसे आगे आ जाती है और अपने सच्चे तथा पूर्ण स्वरूपको प्रकट करती है। मनुष्यके मानसिक क्रमविकासके साथ-साथ एक दूसरे क्रमविकासकी प्रारंभिक प्रक्रिया अग्रसर होती रही है जो आध्यात्मिक और अतिमानसिक सत्ताका निर्माण करती है। इसकी दो धाराएं रही हैं: एक धारा तो है विश्वप्रकृतिमें प्रच्छन्न गुह्य शक्तियोंका तथा उन गुप्त लोक-लोकांतरोंका अन्वेपण करना जिन्हें इस जड़ जगत्‌ने हमसे छिपा रखा है। दूसरी धारा है मनुष्यके अंतरात्मा और अध्यात्म-सत्ता अर्थात् आत्माकी खोज करना। यदि अटलांटिसकी परंपरा सही है तो वह उस प्रगतिकी धारा थी जो गुह्य ज्ञानकी चरम सीमातक पहुंच गयी, पर उससे आगे न जा सकी। वैदिक युगके भारतमें हमें उपलब्धिकी दूसरी धारा अर्थात् आध्यात्मिक अनुसंधानकी धाराद्वारा छोड़े हुए आलेख प्राप्त होते हैं। गुह्य ज्ञान भी उस समय था पर उसे गौण बना दिया गया था। हम कह सकते हैं कि यहां भारतमें अंतः-प्रेरणाका राज्य सबसे पहले आया, बौद्धिक मन उसके बाद उत्तरकालीन दर्शन और विज्ञानमें विकसित हुआ। परंतु सच पूछा जाय तो उस युगमें मनुष्योंका साधारण समुदाय, यह बिलकुल स्पष्ट है, पूर्णतः भौतिक स्तरपर जीवन यापन करता था। वे लोग जड़-प्रकृतिके देवताओंकी पूजा करते थे और उनसे एकदम भौतिक वस्तुएं मांगा करते थे। वैदिक योगियोंकी साधनाके फलस्वरूप उनकी आंतर दृष्टि और श्रुति और अनुभवकी शक्तिके द्वारा उनके सम्मुख पीछेकी ओर छिपी वस्तुएं प्रकट होती थीं। यह शक्ति कुछ थोड़ेसे ऋषियों और मुनियोंतक सीमित थी और इसे सावधानीके साथ सामान्य मनुष्य-समाजसे गुप्त रखा जाता था—योगी सर्वदा ही गुप्त रखनेकी बातपर जोर दिया करते थे। हम यह बात बड़ी आसानीसे कह सकते हैं कि आध्यात्मिक स्तरपर अंतः-प्रेरणाका जो यह विकास हुआ था उसका कारण यह था कि उससे पूर्वके युगचक्रमें जो मौलिक उपलब्धियां प्राप्त की गयी थीं वे पुनः बड़ी तेजीसे प्रकट हुई थीं। यदि हम भारतके आध्यात्मिक इतिहासका विश्लेपण

करें तो हम देखेंगे कि इस ऊंचाईपर पहुंचनेके बाद एक प्रकारका अवतरण हुआ जिसने अबतक विकसित चेतनाके प्रत्येक निम्न स्तरको लेकर ऊपरके शिखरकी आध्यात्मिक चेतनाके साथ जोड़ देनेका प्रयत्न किया। वैदिक युगके बाद ही हुआ बुद्धि और दर्शनका महान् विस्फोट जिसने आध्यात्मिक सत्यको ही अपना आधार बनाया और उसे ही नये ढंगसे प्राप्त करनेका प्रयत्न किया तथा सीधी अंतःप्रेरणा या गुह्य प्रक्रियाके द्वारा नहीं, जैसे कि वैदिक ऋषियोंने किया, बल्कि मनकी चिंतन-मननकी शक्ति, युक्तियुक्त विचार-शक्तिके द्वारा प्राप्त करनेका प्रयास किया। उसके साथ-ही-साथ योगकी पद्धतियां विकसित हुईं जिन्होंने आध्यात्मिक अनुभूतिको उपलब्ध करनेके माध्यमके रूपमें चिंतनशील मनका उपयोग किया और साथ ही स्वयं इस मनको भी अध्यात्मभावापन्न बनाया। फिर उसके बाद आया दर्शनों और योग-प्रक्रियाओंके विकासका युग जिसने अधिकाधिक भावात्मक और सौंदर्यबोधात्मक सत्ताको आध्यात्मिक उपलब्धिके साधनके रूपमें व्यवहृत किया तथा हृदय और भावनाओंके द्वारा मनुष्यके भावात्मक स्तरको अध्यात्मभावसे परिपूरित किया। इसीके साथ-साथ आयीं तांत्रिक और अन्य प्रक्रियाएं जिन्होंने मानसिक संकल्पशक्ति, प्राणिक संकल्पशक्ति तथा संवेदनात्मक संकल्प-शक्तिको पकड़ा और उन्हें तुरत अध्यात्मभावकी संसिद्धिका साधन और क्षेत्र बनाया। हठयोगमें तथा देहको दिव्य बनानेके कई तरहके प्रयासोंमें एक ऐसी धारा भी दिखायी देती है जिसने जीवंत जड़तत्त्वके प्रसंगमें भी ठीक उसी उपलब्धिको प्राप्त करनेका प्रयत्न किया। परंतु इस क्षेत्रमें आज भी यह खोज करना बाकी ही है कि शरीरमें विद्यमान आत्माकी सच्ची विशिष्ट पद्धति और शक्ति क्या है।

अतएव हम कह सकते हैं कि विश्वचेतनाने जड़तत्त्वके अंदर अवतरित होनेके बाद क्रमविकासका संचालन दो धाराओंमें किया है: एक धारा है जीवात्मा और ब्रह्मकी खोजके लिये ऊपर आरोहण करना, दूसरी है मन, प्राण और शरीरके अबतक विकसित हो चुके स्तरोंके भीतरसे नीचे अवतरित होना जिसमें कि इन स्तरोंके अंदर भी आध्यात्मिक चेतनाको उतार लाया जाय और उसके द्वारा जड़-भौतिक विश्वकी सृष्टिके अंदर किसी गुप्त अभिप्रायको संसिद्ध किया जाय। अपने मूल सिद्धांतमें हमारा योग बस यही है कि इस प्रक्रियाको अपनाया जाय, उसे संक्षिप्त-सुस्पष्ट रूप दिया जाय और पूर्ण बनाया जाय; ऐसा प्रयत्न किया जाय कि हम

पश्चात् उन्नततम अतिमानसिक स्तरतक ऊपर उठ सकें और उसकी चेतना और शक्तिको मन, प्राण और शरीरमें उतार लायें।

आजकलकी सभ्यताकी जो स्थिति है, जो बहिर्मुखी बुद्धि तथा प्राणिक प्रयाससे सुसज्जित जड़वादी स्थिति है और जिसे तुम इतना दुःखदायी अनुभव करते हो वह एक मध्यकी स्थिति है, पर एक ऐसी स्थिति है जो शायद अनिवार्य थी। क्योंकि, मन, प्राण और शरीरको यदि अध्यात्मभावसे पूर्ण करना वह लक्ष्य हो जिसे कि पूरा करना है, यदि भौतिक चेतना तथा जड़ शरीरके अंदर भी आत्माकी महान उपस्थितिको स्थापित करना हो तो शायद एक ऐसे युगका आना जरूरी था जो जड़तत्त्व और भौतिक जीवनको सबसे आगे रखता है और जड़भौतिक सत्ताके सत्यकी खोज करनेके लिये बुद्धिके प्रयासमें संलग्न रहता है। एक ओर तो प्रत्येक वस्तुको, स्वयं बुद्धितकको जड़ वस्तुका रूप देकर इसने आध्यात्मिक साधकोंके लिये चरम कठिनाई उत्पन्न कर दी है जिसकी कि तुम चर्चा करते हो, पर दूसरी ओर इसने जड़तत्त्वाश्रित जीवनको एक महत्त्व प्रदान किया है जिसे भूतकालीन आध्यात्मिकता उसे देना अस्वीकार किया करती थी। एक तरहसे इसने आध्यात्मिक खोजके लिये जड़तत्त्वको अध्यात्मभावापन्न करना आवश्यक बना दिया है और इस तरह पार्थिव प्रकृतिमें विकसनशील आध्यात्मिक चेतनाकी अवतरणोन्मुख गतिधारामें सहायता पहुंचायी है। इससे अधिक हम इसके लिये दावा नहीं कर सकते; इसका सचेतन प्रभाव तो बल्कि यह रहा है कि यह मानवजातिमें विद्यमान आध्यात्मिक तत्त्वका गला घोंट दे और लगभग निर्वापित ही कर दे; इस पूछा जाय तो जब विरोधियोंके दबावका दिव्य उपयोग किया जायगा और ऊपरसे हस्तक्षेप होगा केवल तभी इसका आध्यात्मिक परिणाम प्राप्त होगा।



मानवीय इतिहासमें जितनी भी अवस्थाएं बीती हैं उन्हें हम पार्थिव चेतनाकी क्रमाभिव्यक्तिके रूपमें देख सकते हैं और उन अवस्थाओंमेंसे प्रत्येकका अपना स्थान और महत्त्व है। इस तरह हम कह सकते हैं कि इस जड़वादी भौतिक अवस्थाका भी आना ही था और इसमें कोई संदेह नहीं कि इसका भी एक उद्देश्य और महत्त्व रहा है। हम ऐसा भी मान सकते हैं कि इसका एक उद्देश्य यह था कि [illegible] [illegible] यह

देखा जाय कि किसी उच्चतर चेतना और ज्ञानके हस्तक्षेपके विना केवल भौतिक और बौद्धिक साधनोंकी सहायतासे मानवीय चेतना प्रकृतिके ऊपर बौद्धिक तथा वाह्य अधिकार जमानेकी दिशामें कितनी दूर और कहांतक जा सकती है अथवा यह देखा जाय कि समस्त उलटफेरोंके पीछे वढ़ती हुई आध्यात्मिक चेतनाको अपने प्रतिरोधके द्वारा बाहर निकाल लानेमें यह सहायता कर सकती है या नहीं, जिसमें कि जड़तत्त्वपर अधिकार जमानेका प्रयास किया जा सके तथा उसे भगवान्‌की ओर मोड़ा जा सके, जिस तरह कि तान्त्रिकों और वैष्णवोंने, परात्पर भगवान्‌की ओर मनके वैदान्तिक मोड़से संतुष्ट न होकर, भावात्मक और निम्न प्राण-प्रकृतिकी सहायतासे करनेका प्रयत्न किया था। परंतु उससे आगे वढ़ना अथवा यह मान बैठना कठिन है कि यह जड़वाद अपने-आपमें एक आध्यात्मिक वस्तु है या समसामयिक यूरोपकी यह अंधकारपूर्ण, अस्तव्यस्त और घोर स्थिति आत्माके अवतरणकी तैयारी करनेके लिये अनिवार्य थी। सच पूछा जाय तो यह अंधकार और प्रचंड वेग जो मानसिक आदर्शवादकी ज्योतिको तथा मानवजातिके मनमें समन्वयकी जो कामना स्थापित होनेमें सफल हुई है उसको विनष्ट करनेपर ही तुला हुआ प्रतीत होता है और स्पष्ट ही इसका उद्भव ऐसी भयंकर और अंधकारपूर्ण प्राणिक शक्तियोंके अवतरणके कारण ही हुआ है जो अपने निजी उद्देश्यसे, न कि किसी आध्यात्मिक हेतुकी सिद्धिके लिये, मानव-संसारपर अधिकार जमानेकी चेष्टा कर रही हैं। यह सही है कि कुछ गुह्यवादियोंने यह भविष्यवाणी की थी कि जव प्राणिक स्तरपर भागवत अवतरण होगा तो उसके दवावके प्रथम परिणामके रूपमें उन अतिअंधकारपूर्ण प्राणमय जगतोंसे आसुरिक शक्तियां नीचे उतर आयेंगी, परंतु इसे युद्धकी एक अवस्था माना गया था, न कि भागवत विजयमें सहायता देनेवाली कोई चीज। स्थूल विश्व-प्रकृतिको जीतनेके लिये और उसे अपने उद्देश्यकी सिद्धिके लिये व्यवहृत करनेके लिये मानव-बुद्धिके उपायोंद्वारा जड़तत्त्वका मन्थन कुछ अंशोंमें निष्क्रियता और तामसिकताको भंग कर सकता है, पर इसे किया जाता है भौतिक स्थूल उद्देश्योंकी सिद्धिके लिये, राजसिक मनोभावके साथ तथा आध्यात्मिकताकी अस्वीकृतिको उसका मानसिक आधार बनाकर। ऐसे प्रयासका अंत अस्तव्यस्तता और विघटनमें हो सकता है और निस्संदेह होता हुआ प्रतीत भी होता है, जव कि सृजन और संघटनके नये प्रयास जड़-प्रकृतिकी अंध कठोरताको अर्ध-पाशव प्राण-प्रकृतिकी वर्वर क्रूरता तथा

हिंसावृत्तिके पुनरुत्थानके साथ संयुक्त करते प्रतीत होते हैं। भला आध्यात्मिक शक्तियां इन सब चीजोंके साथ कैसे संपर्क रख सकती हैं अथवा स्थूल विश्वकी शक्तियोंके इस प्रकारके मंथनका उपयोग कर सकती हैं? आत्माका पथ है शांति, ज्योति और सामंजस्यका पथ; यदि उसे युद्ध करना पड़ता है तो उसका यथार्थ कारण यह होता है कि वहाँ ऐसी शक्तियां विद्यमान होती हैं जो या तो आध्यात्मिक ज्योतिको बुझा देना अथवा रोक देना चाहती हैं। आध्यात्मिक परिवर्तन लानेके लिये तमस्के स्थानमें दिव्य शांति और स्थिरताको लाना होगा, राजसिक विक्षुब्ध शक्तिके स्थानमें प्रशांत और सशक्त, विशुद्ध और मुक्त क्रिया-शक्तिको बैठाना होगा और साथ ही मनको ज्ञानकी उच्चतर ज्योतिकी क्रियाके प्रति नमनीय बनाये रखना होगा। भला जड़वादी क्रिया इस परिवर्तनमें किस प्रकार सहायक होगी?

जड़वादका आधार मुश्किलसे आध्यात्मिक हो सकता है, क्योंकि इसकी मूल पद्धति कार्य करनेके आध्यात्मिक तरीकेके ठीक विपरीत है। आध्यात्मिक तरीका भीतरसे बाहरकी ओर कार्य करता है, पर जड़वादका तरीका है बाहरसे भीतरकी ओर कार्य करना। यह आंतरिक वस्तुको बाह्यका एक परिणाम बना देता है, मूल रूपसे जड़तत्त्वका व्यापार बना देता है और उसी दृष्टिकोणसे कार्य करता है। यह मानवताको बाह्य साधनोंके द्वारा 'पूर्ण' बनानेका प्रयास करता है और उसका एक प्रधान प्रयास है एक पूर्ण सामाजिक यंत्रकी रचना करना जो मनुष्योंको उन्हें जैसा होना चाहिये वैसा बननेकी शिक्षा देगा और वैसा बननेके लिये बाध्य करेगा। भगवान्में अहंको खो देना आध्यात्मिक आदर्श है; यहां इसके बदले किया जाता है सैनिक या औद्योगिक शासनकी वेदीपर व्यक्तिका बलिदान। इसमें भला कोई भी आध्यात्मिकता कहां है? आध्यात्मिकता केवल तभी आ सकती है जब मन, प्राण और शरीर अंतरतम अंतरात्माकी ओर, उच्चतर आत्माकी ओर, भगवान्की ओर उद्घाटित होंगे तथा जब वे आध्यात्मिक शक्तियोंकी अधीनता स्वीकार करेंगे एवं आंतरिक ज्योति, उच्चतर ज्ञान तथा शक्तिकी प्रणालिकाके रूपमें कार्य करेंगे। दूसरी चीजें, मानसिक, रसबोधात्मक, प्राणिक, चीजें, बहुधा गलत रूपमें 'आध्यात्मिकता' के नामसे पुकारी जाती हैं, परंतु उनमें मौलिक गुणका अभाव होता है जिसके बिना यह शब्द अपना यथार्थ अर्थ ही खो देता है।

⊙

ऊर्ध्वसे तैयारी करनेवाले अवतरणके कारण जब प्राणजगत्‌पर दबाव पड़ता है तो वह जगत् साधारणतः अपनी कुछ चीजोंको मानवजगत्‌के अंदर निक्षिप्त कर देता है। प्राण-जगत् बहुत विशाल है और विस्तारमें मानवजगत्‌की सीमाके पार बहुत दूरतक फैला है। परंतु सामान्यतः वह अवतरणके द्वारा नहीं, बल्कि प्रभावके द्वारा प्रभुत्व जमाता है। पर इसमें संदेह नहीं कि प्राणजगत्‌का यह भाग सदा ही यह प्रयास करता है कि वह मनुष्यजातिको अपने राज्यके अधीन बनाये रखे और उच्चतर ज्योतिको रोक रखे।



प्राणिक अवतरण अतिमानसिक अवतरणको रोक नहीं सकता—उससे भी अधिक कम (प्राणशक्तियोंद्वारा) अधिकृत राष्ट्र अपनी भौतिक शक्तिके द्वारा इसे रोकनेमें समर्थ होंगे, क्योंकि अतिमानसिक *अवतरण मुख्यतः एक आध्यात्मिक व्यापार है जो अपना आवश्यक बाहरी* परिणाम अवश्य उत्पन्न करेगा। पहलेके प्राणिक अवतरणोंने ज्योतिके नीचे उतरनेपर उसे दूषित कर दिया था, जैसे कि ईसाई-धर्मके इतिहासमें उसने ईसाकी शिक्षाओंपर अपना अधिकार जमा लिया, उसे मिला-जुलाकर कमजोर बना दिया और किसी सुविस्तारित संसिद्धिसे वंचित कर दिया। परंतु अतिमानस अपने यथार्थ रूपमें एक ज्योति है जिसे विकृत नहीं किया जा सकता, बशर्ते कि वह अपने समुचित अधिकारके साथ और अपने निजी स्वरूपमें आये। जब अतिमानस अपनेको पीछे रोक रखता है और चेतनाकी निम्नतर शक्तियोंको एक क्षीण और पथभ्रष्ट सत्यका उपयोग करने देता है, केवल तभी प्राणिक शक्तियां ज्ञानको अधिकृत कर सकतीं और अपनी उद्देश्य-सिद्धिमें प्रयुक्त कर सकती हैं।



साधारण विचारणीय विषयके बारेमें तुम जो कुछ कहते हो उस सबका सार-तत्त्व यह निकलता है कि यह धीमे विकास-क्रमवाला एक जगत् है जिसमें मनुष्य पशुमेंसे निकला है और अभी भी उससे बाहर नहीं निकला है; अंधकारमेंसे प्रकाश, और सबसे पहले एक मृत और उसके बाद एक संघर्षकारी और विक्षुब्ध अचेतनतामेंसे एक उच्चतर

चेतना निकली है। एक आध्यात्मिक चेतना प्रकट हो रही है और इस आध्यात्मिक चेतनाकी सहायतासे ही मनुष्य भगवान्का साक्षात्कार कर सकता है। प्राणिक और मानसिक, विमिश्र, विक्षुब्ध तथा अज्ञान-पूर्ण पदार्थोंसे भरपूर विभिन्न धर्म भगवान्की झांकीभर पा सकते हैं; जो प्रत्यक्षवादी बुद्धि अपने तर्ककी नींवको प्रत्यक्ष दीखनेवाली वस्तुओंपर स्थापित करती है और उन चीजोंपर विश्वास करना अस्वीकार करती है जो हो सकती या होंगी, उसे भगवान्के दर्शन नहीं हो सकते। आध्यात्मिक चेतना एक नवीन चेतना है जिसे विकसित होना है और जो विकसित होती आ रही है। यह बिलकुल स्वाभाविक है कि पहले और बहुत दिनोंतक केवल थोड़ेसे लोगोंको ही पूर्ण प्रकाश प्राप्त हो जब कि बहुसंख्यक लोगोंको, जो कि समूची मानवजातिके मुकाबले फिर भी बहुत थोड़े होंगे, आंशिक रूपसे प्राप्त हो। परंतु जिस चीजको थोड़ेसे लोग प्राप्त कर चुके हैं उसे विकासक्रमके एक स्तरपर पूर्ण रूपसे प्राप्त किया जा सकता है और अधिक सामान्य बनाया जा सकता है और बस इसी चीजका प्रयास हम कर रहे हैं।

परंतु ज्योति, शांति और आनंदकी इस महत्तर चेतनाको यदि प्राप्त करना हो तो यह कार्य तर्क-वितर्क या संदेहवादके द्वारा नहीं किया जा सकता; संदेहवाद तो बस उन्हीं चीजोंका आश्रय लेगा जो कि हैं और यह कहेगा कि "यह तो असंभव है; जो भूतकालमें नहीं हुआ है वह भविष्यमें भी नहीं होगा, जो चीज अबतक इतने अपूर्ण रूपमें उपलब्ध हुई है वह इससे अच्छे रूपमें भविष्यमें नहीं उपलब्ध हो सकती।" सच पूछा जाय तो आवश्यकता है एक विश्वासकी, एक संकल्पकी अथवा कम-से-कम एक सतत आकांक्षा और अभीप्साकी—इस भावनाकी कि बस यही और एकमात्र यही चीज मुझे संतुष्ट कर सकती है और फिर उसकी ओर जानेके एक प्रबल प्रयासकी जो तबतक बंद न हो जबतक कि वह कार्य पूरा न हो जाय। यही कारण है कि संदेहवाद और अस्वीकृतिका भाव रास्तेमें रोड़े अटकाते हैं, क्योंकि वे दोनों उन अवस्थाओं-के निर्माणके विरुद्ध खड़े हो जाते हैं जिनमें आध्यात्मिक अनुभूति प्रकट हो सकती है।



अतिमानसके अवतरणकी प्रक्रिया लंबी है, अथवा कम-से-कम एक

ऐसी प्रक्रिया है जिसके लिये एक लंबी तैयारीकी आवश्यकता होती है। हम केवल इतना ही कह सकते हैं कि कार्य चल रहा है, कभी-कभी तो उसे पूरा करनेके लिये प्रबल दबाव होता है, कभी-कभी वह ऐसी चीजोंसे रुका हुआ होता है जो नीचेसे उठती हैं और जिनसे आगे प्रगति करनेसे पहले निपटना होता है। यह प्रक्रिया आध्यात्मिक क्रमविकासकी प्रक्रिया है और एक छोटेसे कालके अंदर केन्द्रित है। इसे दूसरे ढंगसे (उस ढंगसे जिसे मनुष्य एक चमत्कारपूर्ण हस्तक्षेप समझेंगे) करना केवल तभी संभव है जब कि मानव-मन अधिक नमनीय हो और अभी वह अपने अज्ञानसे जितना चिपका हुआ है उससे कम चिपका हो। हमारे अनुमानके अनुसार, अतिमानस कुछ थोड़ेसे लोगोंमें अभिव्यक्त होगा और फिर दूसरोंमें फैलेगा, पर ऐसा नहीं लगता कि वह क्षणभरमें सारी पृथ्वीपर छा जायेगा। वह क्या करेगा और उसे किस तरह करेगा इस विषयमें अत्यधिक तर्क-वितर्क करना उचित नहीं है, क्योंकि कुछ चीजें ऐसी हैं जिन्हें स्वयं अतिमानस अपने अंदर विद्यमान भागवत सत्यको कार्यान्वित करते हुए निश्चित करेगा, और मनको उसके लिये ऐसी लीकें बना देनेकी चेष्टा नहीं करनी चाहिये जिनमेंसे होकर वह दौड़ा करे। स्वभावतः ही अतिमानसिक परिवर्तनके जो अंतिम तत्त्व होंगे उनमें ये अवश्य होंगे—अवचेतनामूलक अज्ञान तथा रोगोंसे मुक्ति, इच्छानुसार जीवनकी अवधि तथा शरीरकी क्रियाओंमें परिवर्तन; परंतु इन चीजोंके पूरे ब्योरेकी बात अतिमानसिक शक्तिपर छोड़ देनी होगी, वही अपने स्वभावके सत्यके अनुसार इन सब ब्योरोंको क्रियान्वित करेगी।

वस्तुओंके न्यायके अनुसार अतिमानसिक शक्तिका अवतरण एक अनिवार्य आवश्यकता है और इसलिये सुनिश्चित है। प्रायः लोग यह नहीं समझते कि अतिमानस क्या है अथवा यह अनुभव नहीं करते कि अवचेतन जड़तत्त्वके जगत्में चेतनाके आविर्भावका तात्पर्य क्या है, इसी कारण वे इस अनिवार्यताको हृदयंगम करनेमें असमर्थ होते हैं। मैं समझता हूँ कि पृथ्वीके प्रारंभिक कालमें, निष्प्राण जड़तत्त्वका जब अखंड राज्य था तब यदि वहां कोई वास्तविक वस्तुओंका निरीक्षक विद्यमान होता तो निर्जीव मिट्टी, पत्थर और धातुओंके जगत्में प्राणके आविर्भावकी संभावनाकी आलोचना करते हुए कहता कि यह एक प्रकारकी बेढंगी और मिथ्या कल्पना है। ठीक उसी तरह, आगे चलकर पशु-राज्यमें विचार और तर्क-बुद्धिके प्राकट्यको भी एक मूर्खतापूर्ण और मिथ्या कल्पना

माननेकी इस भूलको उसने दुहराया होता। आज फिर वही बात मानव-चेतना और उसके तर्कशील अज्ञानके इस जगत्‌की लड़खड़ाती मनःशक्तिमें अतिमानसके प्रादुर्भावके विषयमें दिखायी देती है।



यह बिलकुल संभव है कि अतिमानसिक स्तरपर नहीं, पर दूसरे अन्यान्य स्तरोंपर सामंजस्यके काल आते रहे और वे पीछे भंग होते गये—पर यह सब निश्चेतनामेंसे होनेवाले आध्यात्मिक क्रमविकासकी धारामें केवल एक स्तर या विश्रामस्थल ही हो सकता है।



यहां कहनेका मतलब है वह भगवान् जो अपनी मूलभूत अभिव्यक्तिमें विद्यमान हैं और हमारे सामने ज्योति, चेतना, शक्ति, प्रेम और सौंदर्यके रूपमें प्रकट होते हैं। परंतु अपनी वास्तव विश्वाभिव्यक्तिमें परात्पर भगवान्, स्वयं अनंत होने तथा किसी भी सीमासे आवद्ध न होनेके कारण, स्वयं अपने अंदर, असंख्य संभावनाओंवाली अपनी ही चेतनामें, अपने-आपको किसी ऐसी वस्तुके रूपमें प्रकट कर सकते हैं जो स्वयं उनके विपरीत प्रतीत हो, जिसमें अंधकार, निश्चेतनता, तामसिकता, संज्ञाहीनता, सामंजस्यहीनता और विघटनशीलता हो। बस, इसी चीजको हम जड़ जगत्‌के मूलमें देखते हैं और इसे ही आजकल निश्चेतनाके नामसे पुकारते हैं—यही ऋग्वेदका निश्चेतन समुद्र है जिसमें एकमेव छिपा हुआ था और इस विश्वके रूपमें ऊपर निकला—अथवा, जैसा कि कभी-कभी इसे नाम दिया जाता है, यही असत् है।

जो अज्ञान हमारे मन और प्राणका स्वाभाविक धर्म है वह निश्चेतनामेंसे होनेवाले इस उद्भवका परिणाम है। इसके अतिरिक्त, निश्चेतन सत्तामेंसे होनेवाले इस क्रमविकासमें स्वभावतया ही ऐसी शक्तियां और सत्ताएँ प्रकट होती हैं जो भगवान्‌का निषेध करनेवाली सभी चीजोंको—जैसे, मूल-भ्रांति और अचेतनता, दुःख, पीड़ा, अंधता, मृत्यु, दुर्बलता, रोग, असामंजस्य, बुराई आदिको—बनाये रखनेमें दिलचस्पी रखती हैं। बस, इसी कारण यहाँ अभिव्यक्तिके अंदर विकृति है, भगवान्‌के यथार्थ स्वरूपको प्रकट करनेकी असमर्थता है। फिर भी, इस विकासक्रमके इस मूलमें ही, जो कुछ दिव्य है वह सब निर्वर्तित स्थितिमें विद्यमान है और विकसित

होनेके लिये दवाव डाल रहा है—वह सव है ज्योति, चेतना, शक्ति, पूर्णता, सौदर्य और प्रेम। क्योंकि स्वयं निश्चेतनामें तथा अज्ञानकृत विकृतियोंके पीछे भागवत चेतना प्रच्छन्न रूपमें विद्यमान है, कार्य कर रही है तथा अवश्य ही अधिक-अधिक प्रकट होगी, और अंतमें अपने छद्मवेशको उतार फेंकेगी। यही कारण है कि यह कहा जाता है कि जगत्‌से भगवान्‌को प्रकट करनेकी मांग की गयी है।

अतिमानसिक क्रमविकासके विषयमें तुम्हारा वक्तव्य सही है, सिवा इसके कि इससे यह निष्कर्ष नहीं निकलता कि समूची मानवजाति अतिमानसिक हो जायगी। अधिक संभावना इस वातकी है कि अवतरणके द्वारा अतिमानसिक तत्त्व क्रमविकासके अंदर स्थापित हो जायगा, ठीक जिस तरह कि चिंतनशील मन और मनुष्यका आविर्भाव होनेपर पार्थिव जीवनमें मनस्तत्त्व स्थापित हो गया था। ठीक जिस तरह आज मनोमय जीवोंकी एक जाति पृथ्वीपर विद्यमान है उसी तरह अतिमानसिक जीवोंकी एक जाति भी यहां स्थापित हो जायगी। स्वयं मनुष्यको भी अपने मन और अतिमनके वीचके मध्यवर्त्ती क्षेत्रोंमें ऊपर उठनेकी तथा उनकी शक्तियों-को अपने जीवनमें सार्थक वनानेकी एक महत्तर संभावना प्राप्त होगी, जिसका मतलव होगा पृथ्वीपर मानवताके अंदर एक महान् परिवर्तन, पर ऐसा होना संभव नहीं दीखता कि मानसिक स्तर आरोहणात्मक सोपान-परंपरामेंसे लोप पा जायगा और, यदि ऐसा है तो मनोमय जातिके अस्तित्वका वना रहना इसलिये आवश्यक होगा कि वह आत्माके क्रम-विकासकी क्रियाके अंदर प्राणिक तथा अतिमानसिकके मध्यका एक स्तर वना रहे।

तुमने उच्चतर सत्ताओंके जिस अवतरणकी ओर संकेत किया है वैसे अवतरणकी कल्पना परिवर्तनकी प्रक्रियाके एक अंगके रूपमें की जा सकती है। परंतु परिवर्तनका प्रधान अंग होगा अतिमानसिक सत्ताका आविर्भाव तथा यहां पृथ्वीपर अतिमानसिक प्रकृतिका संगठन, जैसे कि क्रमविकासकी विगत अवस्थामें मानसिक सत्ता प्रकट हुई थी और मानसिक प्रकृतिने अपने-आपको संगठित किया था। आजकल मैं उच्चतर सत्ताओंके अवतरणके विषयमें कुछ कहना पसंद नहीं करता, क्योंकि मेरा अनुभव यह है कि यह हमें एक प्रकारकी वेकार और वहुधा अहंकारपूर्ण रोमानियतकी ओर ले जाती है और उसके कारण सच्चे कार्यकी ओरसे,- अर्थात्

भगवान्‌का साक्षात्कार प्राप्त करने और प्रकृतिका रूपांतर साधित करनेकी ओरसे हमारा ध्यान हट जाता है।



हम जो कुछ कह रहे हैं वह, यदि हम सफल हों और जब भी सफल हों, एक प्रारंभ ही होगा, न कि कोई परिपूर्णता। वह पृथ्वीपर एक नयी चेतनाकी आधारशिला है—ऐसी चेतनाकी जिसमें अभिव्यक्तिकी अनंत संभावनाएं विद्यमान हैं। अभिव्यक्तिमें शाश्वत प्रगतिकी संभावना है और अभिव्यक्तिके परे कोई प्रगति नहीं है।

यदि जीवका भौतिक चोलेसे छुटकारा पा जाना ही उद्देश्य हो तो फिर अतिमानसीकरणकी कोई आवश्यकता नहीं। आध्यात्मिक मुक्ति और निर्वाण पर्याप्त हैं। यदि उद्देश्य अतिभौतिक लोकोंमें ऊपर उठना हो तो भी अतिमानसीकरणकी कोई आवश्यकता नहीं। मनुष्य भक्तिके द्वारा ऊपर किसी स्वर्गमें प्रवेश करके उस स्वर्गके स्वामीको प्राप्त कर सकता है। पर वह कोई प्रगति नहीं है। दूसरे जगत् आदर्श-रूप जगत् हैं, प्रत्येक अपने निजी प्रकार और ढांचे और नियम-विधानमें सुनिश्चित है। क्रमविकास पृथ्वीपर ही घटित होता है और इसलिये पृथ्वी ही प्रगतिका यथार्थ क्षेत्र है। दूसरे जगतोंकी सत्ताएं एक जगत्‌से दूसरे जगत्‌में प्रगति नहीं करतीं। वे अपने ढांचेमें स्थिर बनी रहती हैं।

विशुद्ध अद्वैतवादी वेदांतिक लोगोंका कहना है कि सब कुछ ब्रह्म है (सर्वं खल्विदं ब्रह्म), जीवन एक स्वप्न है, असत्य है, केवल ब्रह्मका ही अस्तित्व है। मनुष्य निर्वाण या मुक्ति प्राप्त कर लेता है और तब वह केवल तभीतक जीता है जबतक कि उसका शरीर नहीं झड़ जाता—उसके बाद जीवन नामकी कोई चीज नहीं रहती।

वे लोग रूपांतरमें विश्वास नहीं करते, क्योंकि मन, प्राण और शरीर अज्ञान हैं, भ्रम हैं—एकमात्र सद्‌वस्तु है निराकार, सर्वसंबंधरहित आत्मा या ब्रह्म। जीवन संबंधोंसे भरी एक वस्तु है; विशुद्ध ब्रह्ममें समस्त जीवन और संबंधोंका लोप हो जाता है। भला किसी मायामरीचिकाका रूपांतर करनेकी क्या संभावना अथवा उपयोग हो सकता है जो (चाहे जितनी भी रूपांतरित क्यों न हो जाय) माया-मरीचिकाके सिवा और कोई चीज कभी नहीं हो सकती? उनके लिये ऐसी कोई चीज नहीं जिसे "निर्वाणिक जीवन" कहा जाय।

केवल कुछ योग ऐसे हैं जो किसी-न-किसी प्रकारके रूपांतरको अपना लक्ष्य बनाते हैं और अज्ञानका ज्ञानमें रूपांतर स्वीकार करते हैं। परंतु उनकी भावनाएं अलग-अलग होती हैं,—कभी तो दिव्य ज्ञान या शक्तिको अपना लक्ष्य बनाया जाता है अथवा फिर किसी दिव्य पवित्रता या किसी नैतिक पूर्णता या किसी दिव्य प्रेमको।

सच पूछो तो हमें जीतना है उस अज्ञानके प्रतिरोधको जो प्रकृतिका रूपांतर नहीं चाहता। यदि उसे जीत लिया जाय तो प्राचीन आध्यात्मिक भावनाएं कोई बाधा नहीं खड़ी करेंगी।

हमारा उद्देश्य यह नहीं है कि समूची मानवजातिको अतिमानस-भावापन्न बना दिया जाय, बल्कि उद्देश्य है पार्थिव क्रमविकासके अंदर अतिमानसिक चेतनाके तत्त्वको स्थापित कर देना। यदि यह कार्य हो जाय तो जो कुछ आवश्यक है उसे अतिमानसिक शक्ति स्वयं विकसित करेगी। अतएव यह उतना महत्त्वपूर्ण नहीं है कि इस मिशनका व्यापक रूपसे प्रचार किया जाय। महत्त्वपूर्ण बात तो यह है कि यह कार्य, चाहे जितनी थोड़ी संख्याके अंदर क्यों न हो, पूरा किया जाय; बस, यही है एकमात्र कठिनाई।

यदि शरीरका रूपांतर पूर्ण हो जाय तो उसका मतलब है मृत्युका कोई बंधन न रहना—इसका मतलब यह नहीं है कि मनुष्य युग-युग उसी शरीरको बनाये रखनेके लिये बाध्य होगा। मनुष्य जब अपना शरीर बदलना चाहे तो वह अपने लिये एक नया शरीर बना ले, पर यह कैसे होगा यह अभी नहीं कहा जा सकता। वर्तमान पद्धति है शरीरसे जन्म लेना—कुछ गुह्यवादी यह मानते हैं कि एक समय आयेगा जब इसकी आवश्यकता नहीं रह जायगी—परंतु इस प्रश्नको हल करनेका भार अतिमानसिक क्रमविकासके ऊपर छोड़ देना होगा।

अतिमानससंबंधी प्रश्नोंका उत्तर अभी ऐसे ढंगसे नहीं दिया जा सकता जो लाभदायी हो। अतिमानसका वर्णन ऐसे शब्दोंमें नहीं किया जा सकता जिन्हें मन समझता है, क्योंकि शब्द मानसिक होंगे और मन उन्हें मानसिक ढंगसे समझेगा तथा उनका मानसिक अर्थ लगायेगा, वह उनका सच्चा आशय खो देगा। इसलिये अतिमानसका इस प्रकार वर्णन करनेसे शक्ति और समयका अपव्यय होगा जिन्हें प्रारंभिक कार्यमें खर्च करना चाहिये—आंतर पुरुष और प्रकृतिका चैत्य तथा आध्यात्मिक रूपांतर सिद्ध करनेमें खर्च करना चाहिये जिनके बिना अतिमानसिक रूपांतरका

होना संभव नहीं है। चैत्य पुरुषके पथप्रदर्शनमें रहकर समूची सक्रिय प्रकृति क्रियाशील आध्यात्मिक ज्योति, शांति, पवित्रता, ज्ञान और शक्ति आदिसे भरपूर हो जाय; उसके वाद उसे मध्यवर्त्ती आध्यात्मिक लोकोंका अनुभव प्राप्त हो तथा वह उन लोकोंके ज्ञानके द्वारा जाने, अनुभव करे और कार्य करे; तभी अंतमें अतिमानसिक रूपांतरकी चर्चा करना संभव होगा।



योगकी या यों कहें कि जगत्का परिवर्तन करनेवाले अथवा प्रकृतिका परिवर्तन करनेवाले योगकी पूर्ण पद्धति क्या है? वह पद्धति नहीं जो मनुष्यको कहींपर उसके किसी एक छोटेसे टुकड़ेके सहारे पकड़ लेती है, उसमें एक हुक लगा देती है और फिर चरखीसे ऊपर खींचकर निर्वाण या स्वर्गमें पहुंचा देती है। जगत्का परिवर्तन करनेवाले योगकी पद्धति वैसी ही बहुविध, चक्करदार, धैर्यपूर्ण और सर्वसमाविष्टकारी होनी चाहिये जैसा कि स्वयं जगत् है। यदि यह सभी कठिनाइयों या संभावनाओंका समुचित विचार और व्यवस्था न करे तथा सावधानीके साथ प्रत्येक आवश्यक तत्त्वके विषयमें समुचित विचार-व्यवस्था न करे तो फिर उसकी सफलताकी कोई संभावना है? और क्या कोई भी पूर्ण पद्धति, जिसे प्रत्येक व्यक्ति समझ सकें, इसे कर सकती है? यह चीज किसी निश्चित छंदमें, कुछ थोड़ेसे स्वर-परिवर्तनोंके साथ, एक छोटीसी कविता लिखनेकी जैसी नहीं है। अगर तुम काव्यका रूपक लो तो जो कार्य करना है वह महाभारतका एक महाभारत है। और भला सीमित यूनानी परिपूर्णताके मुकाबले महाभारतकी शैली क्या है?

दूसरे, भला ऐसे विषयमें विचार-बुद्धिका क्या उपयोग है? यदि किसीको एक नयी चेतना प्राप्त करनी हो जो तार्किक बुद्धिसे परे है, तो क्या वह उसे ऐसे रास्तेसे प्राप्त कर सकता है जिसे तार्किक बुद्धिने समझना और निर्णय देना हो, जिसका संचालन उसे पग-पगपर करना हो, जिसे यह बतलाना हो कि उसे क्या करना चाहिये, उसकी उपलब्धियोंकी सीमा क्या होगी, उसे कौन-कौनसे पग उठाने चाहियें और उनका क्या मूल्य है? यदि कोई ऐसा करे तो क्या वह कभी तार्किक बुद्धिके क्षेत्रसे बाहर निकलेगा और उसके परेकी चीजमें पहुंचेगा? और यदि कोई ऐसा कर ले तो भला दूसरे किसको

तरह यह निर्णय करेंगे कि बुद्धिके पैमानेसे वह क्या कर रहा है ? भला कोई यह कैसे विचार कर सकता है कि सामान्य चेतनासे परे क्या है जब कि वह स्वयं सामान्य चेतनामें ही निवास कर रहा है? क्या यह सच नहीं है कि केवल अपनेको अतिक्रम करनेपर ही तुम उस चीजको अनुभव कर सकते, उपलब्ध कर सकते और उसपर विचार कर सकते हो? बोध और अनुभव प्राप्त किये बिना किसी भी निर्णयका क्या मूल्य है?

मन यह पहलेसे नहीं जान सकता या निर्धारित कर सकता कि अतिमानस क्या करेगा। मन सत्यकी खोज करनेवाला अज्ञान है, अतिमानस स्वयं अपनी परिभाषाके अनुसार ही सत्य-चेतना है, सत्य स्वयं उसके अधिकारमें है और वह अपनी निजी शक्ति-सामर्थ्यके द्वारा उसे चरितार्थ करता है। अतिमानसिक जगत्‌में अपूर्णता और असामंजस्य विलीन होनेके लिये बाध्य हैं। परंतु ठीक अभी जो हम करना चाहते हैं वह पृथ्वीको अतिमानसिक जगत् बनाना नहीं है बल्कि वह है सत्ताके बाकी अंगोंके बीच एक शक्ति और सुस्थापित चेतनाके रूपमें अतिमानसको नीचे उतारना—उसे वहाँ कार्य करने देना तथा अपनेको चरितार्थ करने देना, जैसे कि इससे पूर्व मनस्तत्त्व प्राण और जड़तत्त्वके अंदर अवतरित हुआ था और उसने सत्ताके बाकी अंगोंमें अपने-आपको चरितार्थ करनेके लिये वहां एक शक्तिके रूपमें कार्य किया है। जगत्‌को परिवर्त्तित करनेके लिये तथा प्रकृतिकी वर्तमान सीमाओंको भंग करके उसे परिवर्त्तित कर देनेके लिये इतना पर्याप्त होगा। परंतु अभी यह कहना उचित नहीं कि कौनसी चीज, किस प्रकार और किस हदतक इसे करेगी—जब दिव्य ज्योति यहाँ आ जायगी तब स्वयं वह ज्योति ही अपना काम अपने-आप करेगी—जब अतिमानसिक संकल्पशक्ति पृथ्वीपर आ उपस्थित होगी तो वह संकल्पशक्ति ही निश्चय करेगी। वह एक प्रकारकी परिपूर्णता, सामंजस्य, सत्यसृष्टि स्थापित करेगी—बाकी चीजोंका जहाँतक संबंध है, हां भई, वे बाकी ही चीजें रहेंगी—बस।



समूची मनुष्यजाति एक साथ नहीं परिवर्तित हो सकती। अभी बस यह करना है कि उच्चतर चेतनाको पार्थिव चेतनाके अंदर उतार लाया जाय और उसे यहां एक सतत संसिद्ध शक्तिके रूपमें स्थापित कर दिया जाय। ठीक जिस तरह

कि मन और प्राण जड़तत्त्वके अंदर सुप्रतिष्ठित और साकार कर दिये गये हैं उसी तरह अतिमानसिक शक्तिको भी सुस्थापित और मूर्त्तिमान् बनाना होगा।



सब कुछ एक क्षणमें परिवर्त्तित कर देना संभव नहीं होगा—हमने बराबर ही कहा है कि जैसे ही अवतरण होगा वैसे ही समूची मानवजाति परिवर्त्तित नहीं हो जायगी। बल्कि पृथ्वी-चेतनामें उच्चतर तत्त्वको इस ढंगसे स्थापित कर दिया जायगा कि वह वहां बना रहेगा और पार्थिव जीवनमें अपनेको शक्तिशाली बनाता और फैलाता रहेगा। बस, इसी तरह एक नये तत्त्वको क्रमविकासके अंदर अनिवार्यतः कार्य करना होता है।



यह (संसार) जो चीज इसे प्राप्त नहीं है उसे चाहता है और नहीं भी चाहता। अतिमानस जो कुछ प्रदान कर सकेगा उसे जगत्का आंतरिक मन पाना चाहेगा, पर उसका बाह्य मन, उसका प्राण और भौतिक अंग उसका मूल्य चुकाना नहीं चाहते। परंतु, जो हो, मैं पूरे संसारको एक साथ ही बदल देनेका प्रयास नहीं कर रहा हूं, बल्कि केवल केंद्रीय रूपसे इसमें एक ऐसी चीज उतार लानेका प्रयत्न कर रहा हूं जो इसमें अभी नहीं है, जो एक नवीन चेतना और शक्ति है।



व्यक्तिगत रूपसे अथवा केवल अकेले ही रूपांतरका कार्य पूरा नहीं किया जा सकता। कोई व्यक्तिगत ऐकांतिक रूपांतर, जिसका पृथ्वीके लिये किये जानेवाले कार्यके साथ (जिसका मतलब है किसी व्यक्तिगत रूपांतरसे अधिक कुछ) कोई संबंध न हो, न तो संभव होगा और न उपयोगी। और फिर, कोई भी मानव-प्राणी व्यक्तिगत रूपसे, केवल अपनी ही शक्तिके बलपर, रूपांतरका कार्य सिद्ध नहीं कर सकता और न जहां-तहां कुछ व्यक्तिगत अतिमानवोंको उत्पन्न करना योगका उद्देश्य है। योगका उद्देश्य है पृथ्वीपर अतिमानसिक चेतनाको उतार लाना, उसे यहां स्थापित करना, अतिमानसिक चेतनाके तत्त्वकी सहायतासे, व्यक्ति और समष्टिके आंतरिक और बाह्य जीवनको व्यवस्थित-शासित करके, एक नवीन जातिकी सृष्टि करना।

जब एकके बाद एक व्यक्ति अपनी तैयारीके अनुसार उस शक्तिको स्वीकार करेंगे तब वह शक्ति भौतिक जगत्‌में अतिमानसिक चेतनाको स्थापित करेगी और इस प्रकार अपने प्रसारके लिये एक केंद्रका निर्माण करेगी।



सबसे पहले व्यक्तियोंके माध्यमसे यह (अतिमानसिक चेतना) पृथ्वी-चेतनाका अंग बनेगी और उसके बाद प्रथम केंद्रोंसे फैलकर तबतक अधिकाधिक वैश्व चेतनाको अधिकृत करती रहेगी जबतक कि यह यहां एक सुस्थापित शक्ति नहीं बन जाती।



यह सब वाहियात बात है। अतिमानसके अवतरणका मतलब बस यह है कि वह शक्ति पृथ्वी-चेतनामें एक जीवंत शक्तिके रूपमें बनी रहेगी जैसे कि चिंतनशील मन और उच्चतर मन वहां पहलेसे ही विद्यमान हैं। परंतु कोई पशु चिंतनशील मानस-शक्तिकी उपस्थितिका अथवा कोई अविकसित मनुष्य उच्चतर मानस-शक्तिकी उपस्थितिका लाभ नहीं उठा सकता—उसी तरह कोई व्यक्ति अतिमानसिक शक्तिकी उपस्थितिका लाभ उठानेमें समर्थ नहीं होगा। मैंने यह भी बार-बार कहा है कि प्रारंभमें यह कुछ थोड़ेसे लोगोंके लिये होगा, समूची पृथ्वीके लिये नहीं,—पार्थिव जीवनपर केवल धीरे-धीरे ही इसका प्रभाव बढ़ता रहेगा।



प्रत्येक व्यक्ति इसे (पार्थिव चेतनामें अतिमानसके अवतरणको) आवश्यक रूपसे जान नहीं जायगा। उसके अलावा, यदि यहां अवतरण हो चुका हो तो भी मनुष्यको, अपना अंतिम रूपांतर सिद्ध करनेसे पहले, अपनेको इसके लिये तैयार करना होगा।



संपूर्ण रूपमें नहीं—क्योंकि वह (वैश्व मन, प्राण और जड़तत्त्वका रूपांतर) हमारा कार्य नहीं है। हमें तो स्वयं अपनेको रूपांतरित करना

होगा और यहां क्रमविकासके अंदर अतिमानसिक तत्त्वको उतारकर पार्थिव चेतनाको रूपांतरित करना होगा। एक वार जव वह यहां आ जायगा तो निश्चित रूपसे उसका एक शक्तिशाली प्रभाव समस्त पार्थिव जीवनपर पड़ेगा—जैसे कि मनुष्योंके विकासके द्वारा मनका प्रभाव पड़ा है—वल्कि उससे भी कहीं अधिक महान् प्रभाव पड़ेगा।



अतिमानसिक शक्ति-जैसी किसी शक्तिके लिये पृथ्वीकी अवस्थाओंमें एक विशाल परिवर्तन ले आये विना अवतरित होना संभव नहीं। पर इससे यह निष्कर्ष नहीं निकलता कि सब लोग अतिमानसभावापन्न हो जायंगे और यह आवश्यक भी नही है—परंतु स्वयं मन प्रभावित होगा जैसे कि पृथ्वीपर मनका विकास होनेसे प्राण प्रभावित हुआ है।



सच्ची अतिमानसिक शक्तिके विना स्थायी रूपसे कुछ भी नहीं किया जा सकता। परंतु इसके अवतरणका परिणाम यह होगा कि मानवजीवनमें आज संवोधि-शक्ति जैसी है उससे कहीं अधिक वड़ी और अधिक विकसित शक्ति वन जायगी तथा मानस और अतिमानसके वीचकी अन्य मध्यवर्ती शक्तियां भी अधिक सुलभ वन जायंगी तथा एक सुसंगठित कार्यका विकास करेंगी।



तुम कैसे जानते हो कि यह (हमारा योग) साधारण लोगोंपर कोई प्रभाव नहीं डालेगा? यह अवश्यंभावी रूपसे उनकी संभावनाओंको वढ़ा देगा और यद्यपि सभी लोग उच्चतम स्थितितक ऊपर नहीं उठ सकते तो भी पृथ्वीके लिये यह एक महान् परिवर्तन सिद्ध होगा।



इसके विपरीत; उनके (साधारण लोगोंके) लिये यह न अनुभव करना असंभव होगा कि पृथ्वीपर एक महत्तर ज्योति और शक्ति आ गयी है।



सच पूछो तो भागवत चेतना लाभ या हानिका विचार करनेके लिये कार्य नहीं करती—यह तो मानवीय दृष्टिकोण है जो मानवीय विकासके लिये आवश्यक है। भगवान्को, जैसा कि गीता कहती है, कुछ भी पाना नहीं है और ऐसी कोई चीज नहीं जो उनके पास न हो, फिर भी वह सृष्टिमें अपनी कर्म-शक्तिको नियुक्त करते हैं। वास्तवमें अतिमानसिक तत्त्वके अवतरणसे अतिमानसिक जगत्को कोई लाभ नहीं होगा, बल्कि पार्थिव चेतनाको होगा—उसके अवतरणके लिये यह पर्याप्त कारण है। अतिमानसिक जगत् वैसे ही बने रहते हैं जैसे कि वे हैं और अवतरणसे किसी भी तरह वे प्रभावित नहीं होते।



"नीचेसे उद्घाटित होने"* का अर्थ यह है कि अतिमानसिक शक्ति ऊपरसे अवतरित होकर नीचेसे पार्थिव चेतनामेंसे एक प्रत्युत्तर जगाती है जिससे स्वयं भौतिक स्तरमें अतिमानसिक क्रियाको रूप देना संभव हो जाता है। सब कुछ—प्राण, मन, अतिमानस—प्रच्छन्न बीजके रूपमें पृथ्वीचेतनामें अंतर्निहित रहता है, पर जब प्राणलोकसे प्राणशक्ति भौतिक स्तरपर अवतरित हुई केवल तभी सक्रिय और सचेतन प्राणको सुसंगठित करना संभव हुआ—उसी तरह जब मन अवतरित हुआ तो जड़तत्त्वमें विलीन मन जागृत हुआ और संगठित हो सका। अतिमानसिक अवतरण भी नीचेसे उसी प्रकारका उद्घाटन उत्पन्न करेगा जिसमें कि एक अतिमानसिक चेतना भौतिक स्तरपर सुसंगठित की जा सके।



यह (पृथ्वी) सब प्रकारकी प्रच्छन्न शक्तियोंको अपने अंदर वहन करती है जो पृथ्वीके जीवोंमें प्रकट होती हैं और ऐसी बहुतसी अन्य शक्तियोंको भी धारण करती है जो अभिव्यक्त नहीं हुई हैं।



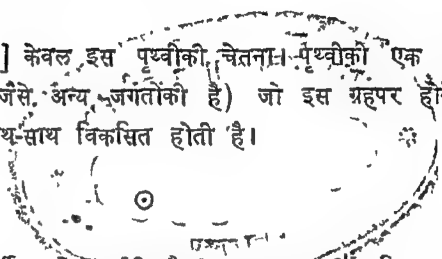
---

*"....जब अति उच्च अतिमानसिक शक्ति ऊपरसे अवतरित होगी और नीचेसे उद्घाटित होगी केवल तभी वह भौतिक प्रकृतिके साथ विजयीकी भांति व्यवहार कर सकती है और उसकी कठिनाइयोंको नेस्त-नाबूद कर सकती है।"
—श्रीअरविंद "माता" पुस्तक

हां। पृथ्वी क्रमविकासका क्षेत्र है जहां ये सभी शक्तियां एकत्रित होती हैं, अभिव्यक्त होनेकी चेष्टा करती हैं और उनकी क्रियाके फलस्वरूप कोई चीज विकसित होनेवाली है। दूसरे स्तरोंपर (मानसिक, प्राणिक आदि) कोई विकास नहीं होता—वहाँ प्रत्येक अलग-अलग अपने निजी विधानके अनुसार कार्य करता है।



[पार्थिव चेतना :] केवल इस पृथ्वीकी चेतना। पृथ्वीकी एक अलग व्यापक चेतना है (जैसे अन्य जगतोंकी है) जो इस ग्रहपर होनेवाले जीवनके विकासके साथ-साथ विकसित होती है।



हां, वह सब पार्थिव चेतना ही है—धातु=जड़, वनस्पति=प्राणिक-भौतिक सृष्टि, पशु=प्राणिक सृष्टि, मनुष्य=मानसिक सृष्टि। मन, प्राण और जड़तत्त्वसे इस प्रकार सीमित पार्थिव चेतनाके अंदर अतिमानसिक सृष्टि आनेवाली है। अवश्य ही, सबसे पहले, यह बहुसंख्यक लोगोंमें नहीं प्रकट हो सकती—पर, यह यदि कुछ थोड़ेसे लोगोंमें ही पहले हो जाय तो इसका अर्थ यह नहीं होगा कि वह बाकी लोगोंपर भी प्रभाव नहीं डालेगी और पार्थिव प्रकृतिकी समूची समतोलताको परिवर्तित नहीं कर डालेगी।



ऐसा कोई कारण नहीं कि वनस्पति, पशु और मनुष्यका जीवन सत्यमें विकसित न हो, अज्ञानमें ही यदि एक बार ज्ञान पृथ्वी-लोकपर स्थापित हो जाय।



इसको (अतिमानसको) यदि भौतिक चेतनामें उतार लाया जाय तो यह प्रत्येक चीजपर सीधे कार्य कर सकता है—वर्तमान समयमें, यहांकी वस्तुओंकी जो कुछ व्यवस्था है, उसमें यह पीछे छिपा हुआ है और अन्य माध्यमोंके द्वारा कार्य करता है।



[अभी पांवोंमें सीधी अतिमानसिक क्रिया :] नहीं, ऐसा नहीं कहा जा सकता। वहां वास्तवमें प्राण-शक्ति कार्य करती है, पर इस जीवनी-शक्तिमें एक प्रकारकी अंतःप्रेरणा-शक्ति अंतर्निहित है जो समूचे कार्यके पीछे है। हम चाहें तो इसे ही एक प्रतिबिंब या प्रतिनिधि-शक्ति कह सकते हैं जिसके पीछे अतिमानस प्रच्छन्न रूपमें विद्यमान है।



यदि 'आध्यात्मिक' और 'अतिमानसिक' एक ही चीज हों, जैसा कि तुम कहते हो कि मेरे पाठक अनुभव करते हैं, तो ऐसा कहा जा सकता है कि युग-युगमें जितने भी ज्ञानी, भक्त, योगी और साधक हुए हैं वे सभी अतिमानसिक पुरुष ही हुए हैं, और मैंने जो कुछ अतिमानसके विषयमें लिखा है वह सब इतनी अधिक अनावश्यक, अनुपयोगी और बेकार सामग्री ही हो जायगी। ऐसी दशामें जिस किसीको आध्यात्मिक अनुभव प्राप्त होगा वही अतिमानसिक पुरुष हो जायगा; यह आश्रम तथा भारतका प्रत्येक दूसरा आश्रम भी अतिमानसिक पुरुषोंसे ठसाठस भर जायगा। आध्यात्मिक अनुभव आंतर चेतनामें स्थायी रूपसे स्थापित हो सकते हैं और उसे बदल सकते तथा रूपांतरित कर सकते हैं, यदि तुम चाहो; मनुष्य भगवान्को सर्वत्र विद्यमान, आत्माको सबमें और सबको आत्मामें स्थित एवं विश्वव्यापी दिव्य शक्तिको सभी कार्य करते हुए अनुभव कर सकता है; मनुष्य अपनेको विश्वव्यापी ब्रह्ममें निमज्जित अथवा आह्लाद-पूर्ण भक्ति या आनंदसे ओतप्रोत अनुभव कर सकता है। परंतु फिर भी मनुष्य अपनी प्रकृतिके बाह्य अंगोंमें इस प्रकार रह सकता और सामान्यतया रहता ही है कि वह बुद्धिसे अथवा अधिकसे अधिक संबुद्ध मनसे विचार करता है, मानसिक संकल्पशक्तिके द्वारा संकल्प करता है, प्राण-स्तरपर हर्ष और शोकका अनुभव करता है, प्राणशक्ति शरीरमें जो मृत्यु तथा रोगसे संघर्ष करती है उसके कारण भौतिक संताप और यंत्रणा भोग करता है। उस समय परिवर्तन केवल इतना ही होगा कि आंतर पुरुष उद्विग्न या आश्चर्यचकित हुए बिना, पूर्ण समताके साथ, इस सबको विश्व-प्रकृतिका एक अनिवार्य अंग मानकर—कम-से-कम तबतकके लिये अनिवार्य मानकर जबतक कि मनुष्य प्रकृतिसे बाहर निकलकर आत्मामें वापस नहीं चला जाता—इस सबका निरीक्षण करता रहेगा। यह चीज वह रूपांतर नहीं है जिसकी परिकल्पना मैं करता हूं। वह तो ज्ञानकी

एकदम दूसरी ही शक्ति है, दूसरे प्रकारका संकल्प है, भावावेग और सौंदर्यबोधकी एक दूसरी ही ज्योतिर्मयी प्रकृति है, भौतिक चेतनाका एक दूसरा ही संगठन है जो अतिमानसिक परिवर्तन होनेपर ही आ सकता है।



आध्यात्मिक अनुभूति किसी भी स्तरमें भगवान्के (जो सर्वत्र हैं) साथ संपर्क स्थापित करके अथवा अंतरस्थ आत्माका (जो शुद्ध है और बाह्य क्रियाओंसे अस्पृष्ट रहता है) साक्षात्कार करके प्राप्त की जा सकती है। अतिमानस एक परात्पर वस्तु है—एक सक्रिय सत्य-चैतन्य है जो अभी यहां नहीं है, एक ऐसी वस्तु है जिसे ऊपरसे नीचे उतारना है।



एकमात्र अतिमानसिक ही सर्वज्ञान है। अतिमानससे लेकर जड़तत्त्व-तक नीचे सब कुछ अज्ञान है—एक ऐसा अज्ञान है जो एक स्तरसे दूसरे स्तरमें पूर्ण ज्ञानकी ओर वर्द्धित हो रहा है। अतिमानससे नीचे ज्ञान हो सकता है पर वह 'सर्व-ज्ञान' नहीं है।



मैंने यह नहीं कहा है कि अतिमानसिक सत्यके सिवा बाकी सब कुछ मिथ्या है। मैंने यह कहा था कि अतिमानसिकसे नीचे कहीं कोई पूर्ण सत्य नहीं है। अतिमानसिक सत्य, जो कि पूर्ण और सुसमंजस है, अधि-मानसमें आकर विभिन्न अंशोंमें पृथक्त्वको प्राप्त हो जाता है, बहुतसे सत्य एक-दूसरेके सामने खड़े हो जाते हैं और प्रत्येक अपनी ही चरि-तार्थताके लिये गतिशील होता है, अपना ही एक निजी जगत् बनानेके लिये अथवा विभिन्न पृथक्-पृथक् सत्य और सत्य-शक्तियोंके मेलसे बने हुए जगतोंमें प्रधानता प्राप्त करनेके लिये या अपना हिस्सा ग्रहण करनेके लिये परिचालित होता है। क्रमधारामें और नीचे आकर यह खंडीकरण अधिकाधिक सुस्पष्ट होता जाता है जिसमें कि सुस्पष्ट मूल-भ्रांति, मिथ्यात्व, अज्ञान और अंतमें जड़तत्त्वकी जैसी निश्चेतनता भी प्रविष्ट हो जाती है। यहां यह जगत् निश्चेतनासे निकला है और इसने मनको विकसित

किया है जो कि अज्ञानका एक यंत्र है और अत्यधिक सीमाबंधन, संघर्ष, उलझन और भूल-भ्रांतिके भीतरसे होकर सत्यतक पहुँचनेकी कोशिश करता है। यदि कोई पूर्ण रूपसे अधिमानस-चेतनातक वापस पहुंच जाय, जो कि भौतिक प्राणियोंके लिये आसान नहीं है तो इसका अर्थ होता है अति-मानस सत्यमें प्रवेश करनेकी आशाके साथ उसकी सीमाओंपर उपस्थित हो जाना।



कोई मानसिक नियम नहीं हो सकता और न कोई परिभाषा दी जा सकती है। सर्वप्रथम मनुष्यको भगवान्में निवास करना होगा और परम सत्यको उपलब्ध करना होगा—उस सत्यकी संकल्पशक्ति और ज्ञान ही जीवनको संगठित करेंगे।

यदि कोई लय या मोक्ष पानेकी चेष्टा करता है तो वह निष्क्रिय ब्रह्ममें निमज्जित हो जाता है। मनुष्य साकार भगवान्में निवास कर सकता है, परंतु वह उनमें निमज्जित नहीं होता। जहांतक परात्पर भगवान्का प्रश्न है, वह जगत्-सत्ताको अपने अंदर धारण करते हैं और उन्हींकी चेतनामें जगत् संचरण करता है, इसलिये परात्पर भगवान्में प्रवेश करनेपर मनुष्य प्रकृतिकी अधीनतासे ऊपर उठ जाता है, पर वह जगत्सत्ताकी संपूर्ण चेतनासे विलुप्त नहीं हो जाता।

विश्वमें भगवान्की सामान्य इच्छा यह है कि विश्वमें धीरे-धीरे उनकी अभिव्यक्ति हो। परंतु यह सामान्य इच्छा है—यह ऐसे व्यक्तिगत आत्माओंके अलग हो जानेको अंगीकार करती है जो संसारमें बने रहनेके लिये तैयार नहीं हैं।

शरीरका अमरत्व नहीं बल्कि शरीरमें अमरत्वकी चेतना उस समय आती है जब कि जड़तत्त्वमें अधिमानसका अवतरण होता है अथवा सिर्फ भौतिक मनमें ही अवतरण होता है अथवा जब स्थूल मनोमयी चेतनाको न्यूनीकृत अतिमानसिक ज्योतिका स्पर्श प्राप्त होता है। ये महज प्रारंभिक उद्घाटन हैं, न कि जड़तत्त्वमें अतिमानसिक संसिद्धि।

यदि अतिमानसिक सिद्धिका आना निर्णीत है तो कोई चीज उसे रोक नहीं सकती। परंतु यहां सारी चीजें शक्तियोंकी क्रीड़ाके द्वारा संपन्न होती हैं, और अननुकूल वातावरण या अवस्थाएं यद्यपि रोक नहीं सकतीं पर कुछ दिनोंके लिये टाल सकती हैं। जब किसी चीजका होना विधि-

विहित होता है तो भी वह यहांकी चेतनामें (अविमानस-मानस-प्राण-शरीरकी चेतनामें) एक सुनिश्चित वस्तुके रूपमें तबतक प्रकट नहीं होती जबतक कि शक्तियोंकी क्रीड़ा एक विशेष हदतक संपन्न नहीं हो जाती जहांपर अवतरण केवल होता नहीं, वरन् अनिवार्य प्रतीत होता है।



अतिमानसिक परिवर्तन सिद्धिकी अंतिम अवस्था है और यह समव नहीं कि वह इतनी जल्दी आ जाय। परंतु सामान्य मन और अतिमनके बीच बहुतसे स्तर हैं और उनमेंसे किसीमें आरोहण हो जाने या उनकी चेतना या प्रभावके आ जानेको अतिमानसिक परिवर्तन समझ लेनेकी भूल कर बैठना आसान है।

सच्चे आनंद-लोकमें आरोहण करना (गभीर समाधिकी अवस्थाके अतिरिक्त) बिलकुल असंभव है, जबतक कि अतिमानसिक चेतनामें प्रवेश नहीं हो जाता, उसे प्राप्त और अधिकृत नहीं कर लिया जाता। परंतु यह बिलकुल संभव और स्वाभाविक है कि मनुष्य किसी भी स्तरपर आनंद-चेतनाके किसी रूपको अनुभव करे। जहां भी यह चेतना अनुभूत होती है वहां वह आनंदलोकसे व्युत्पन्न तो होती है, पर वह अपनी शक्तिमें बहुत अधिक खंडित होती है तथा निम्नतर स्तरोंकी ग्रहणशीलताकी क्षुद्रतर शक्तिके उपयुक्त परिवर्तित कर दी गयी होती है।



मेरी समझमें अधिमानसिक चेतनामें सत्य-शक्ति और आनंद-शक्तिका यह विकास है जो कि तैयार हो रहा है। स्वयं परात्पर आनंद केवल तभी अवतरित हो सकता है जब कि सत्ताका पूर्ण अतिमानसीकरण पहले सिद्ध हो जाय और इसका मतलब होगा पार्थिव चेतनामें एक अत्यंत महान् परिवर्तन साधित हो जाना। अभी अधिमानस-स्तरपर विद्यमान दिव्य सत्य और दिव्य आनंद ही अपनी अभिव्यक्तिकी तैयारी कर सकते हैं और इसी बातका संकेत इन अनुभूतियोंमें परिलक्षित हो रहा है।



हमें अतिमानसको नीचे उतारना, अभिव्यक्त करना और संसिद्ध करना है—क्रमविकासकी इस अवस्थामें उससे ऊंची किसी चीजको उतारना असंभव है, सिवा इसके कि चेतनामें कोई झलक मिले अथवा कोई शक्ति प्रतिनिधि-रूपमें आये और अपने अवतरणमें परिवर्त्तित हो जाय।



मैं नही समझता कि पूर्ण सिद्धिसे महात्मा गांधीका क्या मतलब है।* यदि उनका मतलब ऐसी सिद्धिसे हो जिससे अधिक कुछ भी प्राप्त करने लायक न हो, जिससे आगे कोई विकास संभव न हो तो मैं सहमत हूं——मैंने स्वयं और अधिक दिव्य प्रगति होनेकी बात, अनंत विकासकी बात कही है। परंतु प्रश्न यह नहीं है: प्रश्न तो यह है कि आया अज्ञानको अतिक्रम किया जा सकता है या नही, आया एक ऐसी पूर्ण मौलिक सिद्धि प्राप्त की जा सकती है कि नहीं जो चेतनाको अंधकारसे ज्योतिकी ओर मोड़ दे, ज्ञानकी खोज करनेवाले अज्ञानके एक यंत्रको ज्ञानके एक यंत्रमें अथवा यों कहें कि उसकी अभिव्यक्तिमें बदल दे और वह महत्तर ज्ञानकी ओर बढ़ता रहे, ज्योतिको वर्द्धित, उन्नत करके महत्तर ज्योतिमें पहुंच जाय? मेरा मत यह है कि यह रूपांतर केवल संभव ही नहीं, बल्कि यहाँ सत्ताके आध्यात्मिक विकासक्रममें अनिवार्य भी है। जीवनके सशरीरी होनेके साथ इसका कोई संबंध नहीं। यह जीवनका सशरीरी होना नही बल्कि चेतना और उसकी शक्तिका सशरीरी होना है और जीवन या प्राणशक्ति उस शक्तिका एक रूप या ऊर्जा है। जैसे प्राणने मनका विकास किया है, और इस विकासके साथ मेल खानेके लिये स्वयं देहाकृतिने भी अपनेको परिवर्त्तित किया है (मन निश्चित

---

*महात्मा गांधीने अपने एक लेखमें निम्नांकित वक्तव्य दिया था और इसे एक साधकने श्रीअरविंदके पास उनकी राय जाननेके लिये भेजा था। उसीके प्रसंगमें ये विचार व्यक्त किये गये थे:

"मेरा विश्वास है कि इस देहाश्रित जीवनमें पूर्ण सिद्धि प्राप्त करना असंभव है। और यह आवश्यक भी नहीं है। जिस पूर्ण आध्यात्मिक उच्चताको प्राप्त करना मानव-प्राणियोंके लिये संभव हैं उसके लिये बस एक जीवंत अचल-अटल श्रद्धा-विश्वासकी ही आवश्यकता है।"



रूपसे अज्ञानका प्रधान यंत्र है और ज्ञानकी खोज करता है), वैसे ही मन भी अतिमनको विकसित कर सकता है जो स्वयं अपने स्वभावमें ही ज्ञान है, अपने लिये ज्ञानकी खोज नहीं करता, बल्कि अपनी निजी स्वतःचालित शक्तिके द्वारा अपने-आपको अभिव्यक्त करता है, और देहाकृति भी फिर अपने-आपको परिवर्तित कर सकती है अथवा ऊपरसे परिवर्तित की जा सकती है जिसमें कि वह इस विकासके साथ मेल खा सके। श्रद्धा-विश्वास सिद्धि प्राप्त करनेका एक आवश्यक साधन है, क्योंकि हम अज्ञानी हैं और हम उस चीजको नहीं जानते जिसे उपलब्ध करनेकी चेष्टा कर रहे हैं; श्रद्धा निश्चय ही वह ज्ञान है, जो अपनी निजी अभिव्यक्तिसे पहले अज्ञानको अपना एक संकेत प्रदान करता है, यह उस सूर्यदेवकी एक झलक है जो अभीतक प्रकट नहीं हुए हैं। जब सूर्य-देव प्रकट होंगे तो फिर झलककी कोई आवश्यकता नहीं रह जायगी। अतिमानसिक ज्ञान स्वयं ही अपना समर्थन करता है। उसे श्रद्धाके द्वारा समर्थित होनेकी आवश्यकता नहीं होती; वह स्वयं अपनी ही सुनि-श्चितताामें निवास करता है। तुम कह सकते हो कि और आगे प्रगति करनेके लिये, और भी अधिक विकसित होनेके लिये श्रद्धाकी आवश्यकता होगी। नहीं, क्योंकि, आगेका विकास अज्ञानके आधारपर नहीं, बल्कि ज्ञानके आधारपर अग्रसर होगा। हम ज्ञानके प्रकाशमें उसकी आत्म-परिपूर्णताके और भी विस्तृत क्षेत्रोंकी ओर आगे बढ़ते जायंगे।



यदि कोई बाधा न हो तो निश्चेतनासे होनेवाला क्रमविकास दुःखपूर्ण विकास हो ऐसा आवश्यक नहीं। यह भगवान्‌का बहुत धीरे-धीरे होनेवाला और सुन्दर प्रस्फुटन हो सकता है। हमें यह देखनेमें समर्थ होना चाहिये कि बाहरी प्रकृति कितनी सुन्दर हो सकती है और सामान्यतया है भी, यद्यपि यह स्वयं हमारे देखनेमें "निश्चेतन" है। तब भला आंतरिक प्रकृतिमें होनेवाले चेतनाके विकासके साथ इतनी अधिक कुत्सितता और बुराई क्यों जुड़ गयी जो बाहरी प्रकृतिके सौंदर्यको नष्ट कर देती है? अज्ञानमें उत्पन्न विकृतिके कारण ऐसा हुआ और यह विकृति आयी प्राणके साथ तथा मनमें आकर और भी बढ़ गयी—यही है मिथ्यात्व, वह अशुभ जो निश्चेतनाकी नींदकी परिपूर्णताके कारण उत्पन्न हुआ था और यह नींद ही इसके कार्यको उस गुह्य चेतन पुरुषकी ज्योतिसे पृथक् करती

है जो सदा-सर्वदा इसके भीतर विद्यमान रहता है। परंतु ऐसा होना आवश्यक नहीं था, यदि इसके लिये परात्पर प्रभुकी सर्वविजयिनी संकल्प-शक्ति न होती और इसका तात्पर्य यह है कि निश्चेतना और अज्ञानके द्वारा विकृतिकी संभावनाएं अभिव्यक्त होनी चाहियें जिसमें कि मौका देनेपर वे विलीन हों, क्योंकि समस्त संभावनाको कहीं-न-कहीं अभिव्यक्त होना है। एक वार जव वे विलीन हो जायंगी तो जड़तत्त्वके अंदर भगवान्‌की अभिव्यक्ति अन्यथा जैसी हुई होती उससे कहीं अधिक महान् होगी, क्योंकि इस कठिन सृष्टिके अंदर जितनी भी कठिनाइयां छिपी पड़ी है वे सबकी सब एक साथ संयुक्त हो जायंगी—उनमेंसे कोई-कोई ही नहीं जैसा कि किसी अधिक आसान और कम श्रमसाध्य सृष्टिमें स्वभावतया घटित होता।

"इंद्रियोंकी एक विशिष्ट व्यवस्थाके द्वारा सौंदर्यसे महत्तर सौंदर्यकी ओर, हर्षसे तीव्रतर हर्षकी ओर"—हां, जड़तत्त्वमें दिव्य अभिव्यक्तिकी यही सामान्य धारा होगी, चाहे वह जितनी भी धीमी क्यों न हो। "अविसंवादी स्वर तथा कष्टकर गंध" चेतना तथा प्रकृतिके बीचके असामंजस्यकी सृष्टि है और अपने-आपमें उनका कोई अस्तित्व नहीं है; एक मुक्त और सुसमंजस चेतनाके लिये उनका कोई अस्तित्व नहीं रहेगा, क्योंकि वे उसकी सत्ताके लिये विजातीय होंगे और एक समुचित रूपसे विकसित होनेवाले सुसमंजस आत्मा तथा प्रकृतिको कष्ट नहीं पहुंचायेंगे। यहांतक कि "आग उगलते हुए ज्वालामुखी पर्वत, भूमिसात् करनेवाले वज्रझंझावात तथा उड़ा ले जानेवाले ववंडर" अपने-आपमें भव्य और सुन्दर वस्तुएं हैं और केवल उसी चेतनाके लिये हानिकारक या भयंकर है जो उनका सामना करने या उनसे व्यवहार करनेमें अथवा वायु और अग्निदेवताके साथ समझौता करनेमें असमर्थ है। तुम्हारी मान्यता यह है कि निश्चेतनासे होनेवाली अभिव्यक्ति वैसी ही होगी जैसी कि अभी और यहां है और दूसरे प्रकारका जड़तत्त्वका जगत् होना संभव नहीं था, पर जड़-प्रकृतिका सामंजस्य स्वयं यह सूचित करता है कि इसका एक असामंजस्यपूर्ण, अशुभ, प्रचंड रूपसे अस्तव्यस्त और कष्टकर सृष्टि होना आवश्यक नहीं है—चैत्य पुरुषको यदि आरंभसे ही प्राण और मनमें अभिव्यक्त होने दिया जाता और पर्देके पीछे ढकेल दिये जानेके वदले क्रमविकासका नेतृत्व करने दिया जाता तो वह चिर-प्रवहमान सामंजस्यका ही तत्त्व हुआ होता; जिस मनुष्यने अपने अंदर

चैत्य पुरुषको कार्य करते हुए अनुभव किया है वह तुरत यह देख सकता है कि यही उसका परिणाम होगा क्योंकि उसकी दृष्टि अभ्रांत, चुनाव सच्चा और क्रिया सुसमंजस होती है। यदि बात ऐसी नहीं हुई है तो इसका कारण यह है कि अंधकारकी शक्तियोंने प्राणको एक यंत्र बनानेके बदले एक दावेदार बना दिया है। ऐसा कोई मनुष्य, जिसकी आंतरिक दृष्टि खुल चुकी है और जिसे विरोधी शक्तियोंका दुःखद परिचय प्राप्त हो चुका है, उनकी सत्यता, उनके कार्यके स्वरूप और उनके प्रयत्नकी गतिके विषयमें कोई संदेह नहीं कर सकता।



यह अस्वीकार नहीं किया जा सकता, कोई आध्यात्मिक अनुभूति यह अस्वीकार नहीं करेगी कि यह एक आदर्शस्वरूप और संतोषजनक जगत् नहीं है, इसपर अनुपयुक्तता, दुःख-क्लेश और अशुभकी प्रबल छाप नहीं पड़ी हुई है। सच पूछा जाय तो एक तरहसे यही अनुभव आध्यात्मिक प्रवृत्तिका आरंभिक बिंदु होता है—सिवा उन थोड़ेसे लोगोंके जिन्हें महत्तर अनुभूति स्वयं अपने-आप होती है, वे इस प्रबल या अभिभूतकारी, दुःखदायी या पृथक्कारी भावनाके द्वारा विवश होकर उसकी ओर नहीं आते कि इस अभिव्यक्त सत्ताके सारे क्षेत्रके ऊपर एक काली छाया मंडरा रही है। पर फिर भी यह प्रश्न तो रह ही जाता है कि क्या वास्तवमें समस्त अभिव्यक्तिका मूल स्वरूप यही है जैसा कि इसे माना जाता है अथवा कम-से-कम तबतक यह ऐसा ही रहेगा जबतक कि भौतिक जगत् विद्यमान है और इसलिये जन्मकी इच्छाको, अभिव्यक्त करने या रचना करनेके संकल्पको मूल पाप समझना होगा तथा जन्म और अभिव्यक्तिसे पृथक् होनेको ही मुक्तिका एकमात्र संभव पथ मानना होगा। जो लोग इसे इस रूपमें देखते हैं अथवा किसी मिलते-जुलते रूपमें देखते हैं—और ऐसे ही लोग बहुत अधिक होते हैं—उनके लिये निकासके कई सुपरिचित पथ हैं, आध्यात्मिक मुक्तिका एक सीधा पथ है। परंतु उसी तरह यह भी संभव है कि बात ऐसी न हो, बल्कि हमारे अज्ञानको अथवा आंशिक ज्ञानको वह केवल ऐसी प्रतीत होती हो—अपूर्णता, अशुभ, दुःख-कष्ट आदि कोई आक्रामक परिस्थिति हों अथवा कोई दुःखदायी मार्ग हों, पर अभिव्यक्तिकी यथार्थ स्थिति न हों, प्रकृतिमें होनेवाले जन्मका एकदम मूल स्वरूप न हों। और यदि ऐसा हो तो

सबसे बड़ी विज्ञता यहांसे भागनेमें नहीं, बल्कि यहीं विजय प्राप्त करनेकी प्रवृत्तिमें, जगत्के पीछे विद्यमान दिव्य संकल्पके साथ इच्छापूर्वक सहयोग करनेमें, पूर्णत्वमें प्रवेश करनेके आध्यात्मिक द्वारकी खोज करनेमें होगी और साथ-ही-साथ वह चीज होगी भागवत ज्योति, ज्ञान, शक्ति और आनंदके पूर्ण अवतरणके लिये एक उद्घाटन भी।

सभी आध्यात्मिक अनुभूतियां यह प्रस्थापित करती हैं कि हम जिस अभिव्यक्त जगत्में निवास करते हैं उसकी नश्वरतासे ऊपर तथा जिस सीमित चेतनाके संकीर्ण घेरेके अंदर हम अंधेकी तरह टटोलते और संघर्ष करते हैं उससे ऊपर एक शाश्वत सत्ता है और उसका स्वभाव ही है आनंत्य, स्वयंभू-भाव, स्वातंत्र्य, पूर्ण ज्योति, पूर्ण आनंद। तो क्या जो कुछ परे है और जो कुछ यहां है उनके बीच कोई ऐसी खाई है जो पाटी न जा सके अथवा क्या वे दोनों शाश्वत विरोधी हैं और कालके भीतर होनेवाले इस साहसिक कार्यको केवल पीछे छोड़कर ही, खाईको लांघकर ही मनुष्य शाश्वत सत्ताको प्राप्त कर सकता है? ऐसा लगता है कि अनुभवकी एक धाराका अंत यही रहा है जिसका अनुसरण बौद्धोंने इसके कठोर अंतिम परिणामतक किया और फिर इससे कुछ कम कठोरताके साथ अद्वैतवादी आध्यात्मिकताके एक विशिष्ट प्रकारने किया जो भगवान्के साथ जगत्के एक संबंधको तो स्वीकार करता है पर फिर भी अपने अंतिम स्वरूपमें उन्हें सत्य और माया कहकर एक-दूसरेके विरोधमें रखता है।

परंतु जब हम वस्तुओंके बाह्य रूपसे पीछे हटकर उनके सत्य स्वरूपको प्राप्त करते हैं तब हमें यह दूसरा और असंदिग्ध अनुभव भी प्राप्त होता है कि भगवान् यहां सब वस्तुओंमें तथा सब वस्तुओंके ऊपर और पीछे विद्यमान हैं, सब कुछ उनमें है और 'वही' है। यह एक बहुत ही अर्थपूर्ण और प्रकाशदायी तथ्य है कि ब्रह्मका ज्ञाता जब इस जगत्में विचरण करता और कार्य करता है, इसके समस्त आघातोंको सहता है तब भी भगवान्के किसी अखंड शांति, ज्योति और परमोल्लासमें निवास कर सकता है। तब यहां कोई ऐसी चीज है जो उस महज तीव्र विरोधसे भिन्न है—कोई एक रहस्य, कोई समस्या है जिसका, हमारी समझमें, कोई कम निराशापूर्ण समाधान अवश्य है। यह आध्यात्मिक संभावना अपने परे अंगुलि-निर्देश करती है और हमारे इस पतित जीवनके अंधकारमें आशाकी एक किरण ले आती है।

और तब तुरत पहला प्रश्न यह उठता है कि क्या यह संसार एक ऐसी चीज है जिसमें एक ही प्रकारके क्रिया-व्यापार सर्वदा चलते रहते हैं और उन व्यापारोंमें कोई परिवर्तन नहीं होता अथवा इस जगत्‌में कोई क्रमविकासकी प्रवृत्ति है, कोई क्रमविकासात्मक तथ्य है, आरोहणकी कोई सीढ़ी कहीं है जो आदि आपातदृश्य निश्चेतनासे अधिकाधिक विकसित चेतनाकी ओर जाती है, प्रत्येक विकाससे फिर और भी अधिक ऊपर उठती है और ऐसी उच्चतम ऊंचाईमें जा पहुंचती है जो अभी हमारी सामान्य पहुंचके भीतर नहीं है? यदि ऐसा है तो इस प्रगतिका क्या अर्थ है, इसका मौलिक सिद्धांत क्या है, इसकी युक्तिसंगत परिणति क्या है? यहां प्रत्येक वस्तु ही, ऐसा लगता है कि, एक ऐसी प्रगतिकी ओर संकेत कर रही है और यह एक तथ्य है—और यह प्रगति, यह क्रमविकास महज भौतिक नहीं वरन् आध्यात्मिक है। इस विषयमें भी आध्यात्मिक अनुभवकी एक धारा है जो इस बातका समर्थन करती है और जिसमें हम देखते हैं कि जिस निश्चेतनासे सब कुछ आरंभ होता है वह महज ऊपरसे देखनेमें ही निश्चेतन है, क्योंकि उसके अंदर अनंत संभावनाओंसे युक्त एक निर्वर्त्तित चेतना विद्यमान है, एक ऐसी चेतना है जो सीमित नहीं है बल्कि विश्वव्यापी और अनंत है, एक प्रच्छन्न और स्वयं-कारारुद्ध भागवत चेतना है जो जड़तत्त्वमें कारावद्ध तो है पर अपनी गुह्य गहराइयोंमें प्रत्येक संभावनाको वहन करती है।

इस आपातदृश्य निश्चेतनामेंसे प्रत्येक संभावना बारी-बारीसे प्रकट होती है, सबसे पहले व्यवस्थित जड़तत्त्व आया जो अंतर्यामी आत्माको छिपाये है, फिर प्राणतत्त्व पौधोंमें प्रकट हुआ और बढ़ते हुए मनके साथ पशुओंमें युक्त हुआ, फिर स्वयं मन विकसित हुआ और मनुष्यमें सुव्यवस्थित हुआ। यह जो क्रमविकास है, यह जो आध्यात्मिक प्रगति है, क्या यह मनुष्य नामधारी अपूर्ण मनोमय सत्तामें आकर यहीं एकाएक रुक जाती है? अथवा, क्या इसका रहस्य सिर्फ जन्म-जन्मांतरोंकी एक परंपरा ही है जिसका एकमात्र उद्देश्य या परिणति है उस विन्दुकी ओर जानेका प्रयास करना जहां वह अपनी व्यर्थताको समझ जाय, अपने-आपका परित्याग कर दे और एक छलांग भरकर किसी मूल अज सत् या असत्‌में चली जाय? यहां कम-से-कम यह संभावना है, निश्चयताका एक विन्दु आता है जहां पता चलता है कि हम जिसे मन कहते हैं उससे कहीं अधिक महान् एक चेतना है और सीढ़ीपर और भी अधिक ऊपर उठनेपर

हम एक ऐसा बिंदु पा सकते हैं जहां स्थूल निश्चेतनाका, प्राण और मनके अज्ञानका प्रभाव समाप्त हो जाता है; चेतनाका एक ऐसा तत्त्व अभिव्यक्त होनेमें समर्थ हो जाता है जो केवल आंशिक रूपमें, अपूर्ण रूपमें ही नही वल्कि आद्योपांत और संपूर्ण रूपसे इस कारावद्ध भगवान्‌को उन्मुक्त करता है। इस दृष्टिसे क्रमविकासका प्रत्येक स्तर चेतनाकी अधिकाधिक उच्च शक्तिके अवतरणके फलस्वरूप सिद्ध हुआ प्रतीत होता है, हर स्तरमें पार्थिव स्तर ऊपर उठता है, एक नवीन स्तर निर्मित होता है, पर अभी भी उच्चतम शक्तियोंका अवतरण होना वाकी है और जव उनका अवतरण होगा तभी पार्थिव जीवनकी जटिल प्रहेलिका अपना समाधान प्राप्त करेगी और फिर न केवल अंतरात्मा वल्कि स्वयं प्रकृति भी अपनी मुक्ति पा जायेगी। यही वह सत्य है जिसकी झलक कभी-कभी, उसके भावकी अधिकाधिक पूर्णताके साथ, उस साधक-श्रेणीको मिलती रही है जिन्हें तंत्र वीर साधक और दिव्य साधक कहा करता था और जिसकी शायद अव इस हदतक तैयारी हो चुकी है कि वह पूर्ण रूपसे प्रकट और अनुभूत हो। तव, हम कह सकते हैं कि, संसारमें संघर्ष और दुःख-संताप और अंधकारका जितना भी भारी वोझ क्यों न हो, यदि उसके उच्च परिणामके रूपमें यह चीज हमारी प्रतीक्षा करती हो तो जो कुछ भी अवतक गुजर चुका है उसे शक्तिशाली और साहसिक व्यक्ति आनेवाली गरिमाका वहुत वड़ा मूल्य नहीं समझेंगे। जो हो, छाया उठ रही है; एक ऐसी भागवत ज्योति है जो संसारके ऊपर छायी हुई है और वह केवल सुदूर-स्थित ऐसा प्रकाश ही नहीं है जिसके साथ कोई संपर्क न किया जा सके।

यह सच है कि यह समस्या अभी भी वनी हुई है कि जो कुछ अभी है वह सव क्यों आवश्यक हुआ—ये कठोर आरंभ, यह दीर्घ और तूफानी यात्रा क्यों आवश्यक हुई—भला इतने भारी और दुःखदायी मूल्यकी मांग क्यों की गयी, अशुभ और दुःख-कष्ट यहां हमेशा क्यों वने रहे। अज्ञानमें यह पतन क्यों हुआ, इसका सशक्त कारण क्या था, इसके विपरीत, यह कैसे संभव हुआ, इस विषयमें सभी आध्यात्मिक अनुभूतियाँ पर्याप्त मात्रामें एकमत हैं। विभाजन, पृथक्त्व, शाश्वत और एकमेवसे विच्छिन्न करनेवाले तत्त्वने इसे घटित कराया। यह इस कारण संभव हुआ कि अहंने संसारमें अपने-आपको स्थापित किया और भगवान्‌के साथ अपने ऐकत्व तथा सर्वके साथ अपनी एकताके वदले अपनी निजी कामना

तथा आत्मानुमोदनपर बल दिया। इसका कारण यह था कि सभी शक्तियोंमें सामंजस्य स्थापित करनेवाली एक परात्पर शक्ति, ज्ञान और ज्योतिके स्थानमें वस्तुओंकी प्रत्येक भावना, शक्ति, आकृतिको उस हदतक कार्यान्वित होने दिया गया जिस हदतक वह अनंत संभावनाओंके ढेरके बीच अपनी पृथक् इच्छासे तथा अनिवार्यतः अंतमें दूसरोंके साथ संघर्ष करके कार्यान्वित कर सकती थी। विभाजन, अहंकार, अपूर्ण चेतना तथा एक पृथक् आत्म-स्थापनाके लिये अंधकारमें टटोलना तथा संघर्ष करना ही इस जगत्के दुःख-संताप और अज्ञानके प्रभावशाली कारण हैं। एक बार जब चेतनाएं उस एक चेतनासे पृथक् हो गयीं तो वे अनिवार्य रूपसे अज्ञानमें पतित हो गयीं और अज्ञानका अंतिम परिणाम था निश्चेतना। एक अंधकारपूर्ण विशाल निश्चेतनासे यह स्थूल जगत् निकलता है और उसके भीतरसे एक अंतरात्मा प्रकट होता है जो प्रच्छन्न दिव्य ज्योतिकी ओर आकर्षित होकर क्रमविकासके द्वारा चेतनामें जानेका संघर्ष कर रहा है, लुप्त भगवत्ताकी ओर, जिससे कि वह आया था, ऊपर उठ रहा है, पर अभी भी उठ रहा है अंधभावसे ही।

पर यह सब एकदम घटित ही क्यों हुआ? इस प्रश्नको उठाने और इसका उत्तर देनेका जो एक सामान्य तरीका है उसे आरंभसे ही हटा देना चाहिये—वह है मानवीय तरीका, और उसका नैतिक विद्रोह और अस्वीकृति, उसका भावात्मक क्रंदन। क्योंकि, सच पूछा जाय तो किसी विश्वातीत, निरंकुश, वैयक्तिक देवने, जो स्वयं इस पतनमें अंतर्निहित नहीं है, अपनी आज्ञासे मनमौजी ढंगसे बने जीवोंपर बुराई और दुःख-तापको नहीं लादा है। हम जानते हैं कि भगवान् एक अनंत सत्ता हैं जिनकी अनंत अभिव्यक्तिके अंदर ये चीजें आयी हैं—स्वयं भगवान् ही यहां हैं, हमारे पीछे विद्यमान हैं, अभिव्यक्तिके अंदर ओतप्रोत हैं, अपने एकत्वसे जगत्को धारण किये हुए हैं; स्वयं भगवान् ही हमारे अंदर विद्यमान रहकर इस पतनके बोझको और इसके अंधकारमय परिणामको धारण किये हुए हैं। यदि वह भगवत्सत्ता ऊपर अपनी पूर्ण ज्योति, शांति और आनंदमें विद्यमान है तो वह यहां भी है; उसकी ज्योति, शांति और आनंद यहां गुप्त रूपसे सब कुछको सहारा दे रहे हैं; स्वयं हम लोगोंके भीतर एक आत्मा है, एक केंद्रीय सत्ता है जो उपरितलीय व्यक्तित्वोंकी श्रेणीसे कहीं अधिक महान् है और जो स्वयं परात्पर भगवान्‌की तरह ही उस नियतिसे दमित नहीं होती जिसे कि वे (उपरि-

तलीय व्यक्तित्व) झेलते हैं। यदि हम अपने अंदरके इन भगवान्को ढूंढ़ निकालें, यदि हम अपनेको यह आत्मा समझें जो कि भगवान्के साथ सार और सत्तामें एक-जैसा है तो वही हमारी मुक्तिका दरवाजा है और उसीमें हम, इस जगत्की असंगतियोंके बीच रहते हुए भी, ज्योतित, आनंदित और मुक्त बने रह सकते हैं। इतनी तो आध्यात्मिक अनुभवकी युग-युग पुरानी गवाही है।

पर फिर भी यह प्रश्न रह जाता है कि इस असंगतिका उद्देश्य और मूलस्रोत क्या है---विभाजन और अहं क्यों आये, दुःखपूर्ण क्रमविकासका यह जगत् क्यों आया? भागवत शुभ, शांति और आनंदमें अशुभ और शोक-संतापका प्रवेश क्यों होना चाहिये? मानवीय बुद्धिको उसीके स्तरपर इस प्रश्नका उत्तर देना कठिन है, क्योंकि इस व्यापारका मूल जिस चेतनासे संबंध रखता है और जिसके लिये यह बात इस प्रकारसे विद्यमान है मानो एक अति-बौद्धिक ज्ञानके अंदर स्वतः उचित ठहरती है, वह चेतना विश्व-व्यापी है न कि व्यक्तिगत मानवीय बुद्धि; वह चेतना विशालतर क्षेत्रोंमें देखती है, उसे दूसरे प्रकारकी दृष्टि और ज्ञान प्राप्त है, मानवीय तर्क-बुद्धि और अनुभूतिसे भिन्न चेतनाकी अन्य शक्तियां प्राप्त हैं।

मानव-मनको इस प्रकार उत्तर दिया जा सकता है कि जब अनंत स्वयं अपने अंदर था तब वह उन अस्तव्यस्तताओंसे मुक्त रह सकता था, फिर भी जब एक बार अभिव्यक्ति आरंभ हो गयी तो फिर अनंत संभावनाएं भी आरंभ हो गयीं तथा उन अनंत संभावनाओंमें, जिन्हें कार्यान्वित करना वैश्व अभिव्यक्तिका कार्य है, बहुत सुस्पष्ट रूपमें एक संभावना थी दिव्य शक्ति, ज्योति, शांति और आनंदकी अस्वीकृति, आपातदृश्य सफल अस्वीकृति तथा उसके सभी परिणाम। यदि यह प्रश्न उठाया जाय कि यदि यह संभव था तो भी इसे स्वीकार ही क्यों करना चाहिये था, तो इसका उत्तर जो मानव-बुद्धि दे सकती है और जो वैश्व सत्यके सबसे निकट है वह यह है कि एकत्वमें स्थित भगवान्का 'बहु'में स्थित भगवान्के साथ जो संबंध है उनमें अथवा एकत्व-स्थित भगवान्के 'बहु'-स्थित भगवान्में परिणत होनेकी स्थितिमें, एक विशेष बिंदुपर यह अशुभ संभावना अनिवार्य बन गयी। क्योंकि एक बार जब यह संभावना प्रकट हो जाती है तो क्रमविकासात्मक अभिव्यक्तिमें अवतरित होनेवाले आत्माके लिये एक अदम्य आकर्षण प्राप्त कर लेती है जो अनिवार्यताकी

सृष्टि करती है—वह एक ऐसा आकर्षण है जिसे पार्थिव स्तरपर मानवीय भाषामें अज्ञातकी पुकार कहा जा सकता है; संकट और कठिनाई और दुःसाहसिकताका आनंद, असंभव कार्यके लिये प्रयास करनेका, असीमको क्रियान्वित करनेका संकल्प, स्वयं अपने आत्मा और प्राणको उपादान बनाकर नवीन और असृष्टकी सृष्टि करनेका संकल्प, विरोधी तत्वों और उनके कठिन सामंजस्य-साधनके प्रति आकर्षण—ये चीजें मानसिक चेतनासे उच्चतर और विशालतर दूसरी अतिभौतिक, अतिमानवीय चेतनामें रूपांतरित होकर ऐसा प्रलोभन बन गयीं जिसने यह पतन करा दिया। क्योंकि, ज्योतिकी अवतरणोन्मुख आदि सत्ताको जो एक चीज अज्ञात थी वह थी गर्त्तकी गहराई, अज्ञान और निश्चेतनाके अंदर भगवान्‌की संभावनाएं। दूसरी ओर था भागवत एकत्वसे आनेवाला एक विशाल संतोष, कृपापूर्ण, सहमत, सहायक, एक परम ज्ञान कि यह चीज अवश्य होगी, जब यह एक बार प्रकट हो गया तो इसे अवश्य क्रियान्वित करना होगा, इसका आविर्भूत होना एक विशेष अर्थमें एक अपार अनंत ज्ञानका ही एक अंश है, यदि 'रात्रि'में निमज्जन अनिवार्य था तो एक नवीन अभूतपूर्व 'दिन'में उन्मज्जन भी सुनिश्चित है, और केवल इसी प्रकार—क्रमविकासके प्रारंभबिंदुके रूपमें, रूपांतरकारी प्राकट्यके लिये सुनिश्चित शर्त्तके रूपमें इसीकी विपरीत क्रियाओंको कार्यान्वित करके—परम सत्यकी एक विशेष प्रकारकी अभिव्यक्ति संसिद्ध की जा सकती है। इस संतोषमें, ज्ञानमें संन्निहित था एक महान् आत्मत्यागका संकल्प भी, निश्चेतनामें स्वयं भगवान्‌के अवतरणका संकल्प जिसमें कि वह अज्ञान और उसके परिणामोंका बोझ अपने ऊपर लें, अवतार या विभूतिके रूपमें सूली और विजयके द्विविध चिह्नके बीच परिपूर्णता और मुक्तिकी ओर चलकर हस्तक्षेप कर सकें। क्या यह अवर्णनीय सत्यका अत्यंत रूपकमय चित्रण है? परंतु बुद्धिके सामने बिना रूपकके उस रहस्यको किस प्रकार व्यक्त किया जाय जो बुद्धिके अत्यंत परे है? जब मनुष्य सीमित बुद्धिके घेरेको पार कर जाता है और वैश्व अनुभूति और ज्ञानमें हिस्सा बंटाता है जो तादात्म्यके द्वारा वस्तुओंको देखता-जानता है, केवल तभी इन रूपकोंके—जो रूपक कि पार्थिव तथ्योंसे मिलते-जुलते होते हैं उनके पीछे विद्यमान परम सद्वस्तुएं अपना दिव्य रूप ग्रहण करती हैं और सरल, स्वाभाविक प्रतीत होतीं तथा वस्तुओंके सारतत्त्वमें परिलक्षित होती हैं। एकमात्र उस महत्तर चेतनामें प्रवेश करनेपर ही

कोई उसके आत्मसृजन और उसके उद्देश्यकी अनिवार्यताको समझ सकता है।

यह निस्संदेह सृष्टिका सत्य है जैसा कि यह चेतनाके सामने उस समय उपस्थित होता है जब कि चेतना शाश्वतता तथा कालगत उत्पत्तिकी सीमांत-रेखापर अवस्थित होती है; उसी सीमांत-रेखापर एकमेव और क्रमविकासान्तर्गत बहुके बीचका संबंध आत्मनिर्धारित होता है; वह एक ऐसा क्षेत्र है जहां वह सब जिसे होना है, अव्यक्त रूपमें विद्यमान होता है, पर अभी क्रियाशील नहीं होता। परंतु मुक्त चेतना और भी ऊपर जा सकती है जहां अब कोई समस्या ही नहीं रहती और वहांसे वह परम तादात्म्यकी ज्योतिमें उसे देख सकती है; वहांपर सब कुछ वस्तुओंके स्वाभाविक स्वयंसत् सत्यके अंदर पूर्वनिर्दिष्ट होता है और एक अखंड चेतना और ज्ञानके लिये तथा समस्त सृष्टि और अ-सृष्टिके पीछे विद्यमान पूर्ण आनंदके लिये स्वयं सत्य प्रमाणित होता है तथा वहां 'अस्ति' और 'नास्ति' को अनिर्वचनीय सत्यकी दृष्टिसे देखा जाता है जो दृष्टि मुक्त करती तथा दोनोंको समन्वित करती है। परंतु उस ज्ञानको मानव-मनके सामने व्यक्त नहीं किया जा सकता; उसकी ज्योतिर्मयी भाषा अत्यंत गूढ़ है, स्वयं वह ज्योति उस चेतनाके लिये अत्यंत प्रखर है जो विश्व-पहेलीकी अंधता और तनावकी अभ्यस्त है और उसमें इतनी उलझी है कि उसमेंसे निकलनेका रास्ता पकड़ने तथा उसके रहस्यको समझ सकनेमें असमर्थ है। जो हो, जब हम अंधकार और संघर्षके क्षेत्रसे परे आत्माके राज्यमें ऊपर उठ जाते हैं केवल तभी इसके पूरे अर्थको हृदयंगम कर सकते हैं और वहीं इस जटिल पहेलीसे आत्माको मुक्ति प्राप्त होती है। मुक्तिके उस शिखरतक ऊपर उठना ही इससे बाहर निकलनेका एकमात्र पथ है तथा निस्संदिग्ध ज्ञान प्राप्त करनेका एकमात्र उपाय है।

परंतु उस मुक्ति और विश्वातिक्रमणका अर्थ यह नहीं है कि हम निश्चित रूपसे इस अभिव्यक्त जगत्से तिरोहित हो जायं, नितांत लयको प्राप्त हो जायं। यह एक ऐसी मुक्तिकी तैयारी कर सकती है जिसमें व्यक्ति उच्चतम ज्ञानका कर्म करनेकी तथा दिव्य शक्तिकी तीव्रताकी अवस्थामें जा पहुँचता है जो संसारको रूपांतरित कर सकती तथा क्रमविकासके प्रवेगको चरितार्थ कर सकती है। यह एक ऐसा आरोहण है जहांसे फिर पतन नहीं होता, बल्कि ज्योति, शक्ति और आनंदका एक अवतरण होता है जो पंखवाला होता अथवा अपने-आपको संभाल रखनेमें समर्थ होता है।

वास्तवमें यह बात उस 'सत्ता'की शक्तिमें अन्तर्हित है जो संभूतिके रूपमें व्यक्त होती है; परंतु अभिव्यक्ति कैसी होगी, उसकी शर्तें क्या होंगी, शक्तियोंका संतुलन कैसा होगा, तत्त्वोंका व्यवस्थापन कैसा होगा—यह सब निर्भर करता है उस चेतनापर जो स्रष्ट्री शक्तिके अंदर कार्य करती है, चेतनाकी उस क्षमतापर जिसे 'सत्ता' अभिव्यक्तिके लिये अपने अंदरसे उत्पन्न करती है। 'सत्ता'के स्वभावमें ही यह क्षमता है कि वह अपनी चेतनाकी शक्तियोंको क्रमवद्ध करे तथा विविध रूप प्रदान करे तथा उस क्रम और विभेदके अनुसार अपने जगत्को या आत्मप्राकट्यकी मात्रा तथा परिधिको निर्धारित करे। अभिव्यक्त सृष्टि उस शक्तिसे सीमित है जिसकी वह सृष्टि है और उसीके अनुसार देखती और जीवन बिताती है और केवल तभी उससे अधिक देख सकती, अधिक शक्ति-शालिताके साथ जीवन बिता सकती तथा अपने संसारको बदल सकती है जब कि वह अपनेसे ऊपरकी चेतनाकी एक महत्तर शक्तिकी ओर उद्घाटित होती या अग्रसर होती है अथवा उसे अवतरित कराती है। यही हमारे जगत्में चेतनाके क्रमविकासमें घटित हो रहा है, निष्प्राण जड़तत्त्वका एक जगत् उसी आवश्यकताके दबावके कारण एक प्राण-शक्तिको, एक मनःशक्तिको उत्पन्न कर रहा है और फिर ये प्राण और मन इस जगत्में सृष्टिके नये-नये रूप उत्पन्न करते हैं तथा अब भी इसके अंदर किसी अतिमानसिक शक्तिको उत्पन्न करने, अवतरित करानेका प्रयत्न कर रहे हैं। इसके अतिरिक्त उस स्रष्ट्री शक्तिका यह एक कार्य है जो चेतनाके दो ध्रुवोंके बीच संचरण करती है। एक ओर तो भीतर और ऊपर एक गुह्य चेतना है जो अपने अंदर ज्योति, शांति, शक्ति और आनंदकी समस्त संभावनाओंको धारण करती है—ऊपर ये संभावनाएं शाश्वत रूपसे व्यक्त हैं पर यहां अपने जन्मकी प्रतीक्षा कर रही हैं। दूसरी ओर एक अन्य चेतना है जो नीचे और ऊपरी तलपर वहिर्मुखी है, जो आपातदृष्ट विपरीत तत्त्व अचेतनता, तामसिकता, अंध प्रवेग, दुःख-कष्टकी संभावनासे आरंभ करती है और अपने अंदर अधिकाधिक उच्च शक्तियोंको ग्रहण करके वर्द्धित होती है और वे उच्च शक्तियां इसे अपनी अभिव्यक्तिको इसकी वृहत्तर रूपोंमें ढालनेके लिये सदा बाध्य करती हैं फिर-फिर इस प्रकारकी प्रत्येक नवीन सृष्टि आंतरिक भव्यताका कुछ अंग प्रकट करती है और इसे अधिकाधिक इस योग्य बनाती है कि यह ऊपर प्रतीक्षा करनेवाली दिव्य परिपूर्णताको नीचे

उतार लानेमें सक्षम हो। जबतक बाह्य व्यक्तित्व, जिसे हम 'हम' कहते हैं, चेतनाकी निम्नतर शक्तियोंमें केंद्रित है, तबतक उसके अपने ही अस्तित्वकी समस्या, उसका उद्देश्य, उसकी आवश्यकता आदि उसके लिये एक असमाधेय जटिल पहेली बनी रहेगी। यदि सत्यसंबंधी कोई बात इस बाहरी मनोमय मनुष्यतक कभी पहुंचायी भी जाती है तो वह उसे केवल अपूर्ण रूपमें ही ग्रहण करता है और शायद उसकी गलत व्याख्या करता है, उसका दुरुपयोग करता है तथा उसे गलत रूपमें जीवनमें प्रयुक्त करता है। चलनेकी उसकी सच्ची लाठी श्रद्धाकी अग्निसे कहीं अधिक बनी हुई है, ज्ञानकी किसी ज्ञात और असंदिग्ध ज्योतिसे उतनी नहीं बनी है। जब वह मानसिक सीमाके परेकी, अतएव उसके लिये अभी अतिचेतन, किसी उच्चतर चेतनाकी ओर ऊपर उठ जायगा केवल तभी वह अपनी अयोग्यता तथा अपने अज्ञानसे बाहर निकल सकता है। उसकी पूर्ण मुक्ति और ज्ञानप्राप्ति केवल तभी संभव है जब वह उस सीमाको पार कर एक नवीन अतिचेतन जीवनकी ज्योतिमें प्रवेश कर जायगा। यही वह सीमातिक्रमण है जो रहस्यवादियों और आध्यात्मिक साधकोंकी अभीप्साका उद्देश्य रहा है।

परंतु यह स्वयं अपने-आप यहां इस सृष्टिमें कोई चीज नहीं बदल सकता, मुक्त जीवके संसारसे बच निकलनेसे संसारमें कोई अंतर नहीं पड़ता। परंतु सीमाका यह उल्लंघन यदि केवल आरोहणकी ही ओर नहीं बल्कि अवरोहणके उद्देश्यकी ओर मोड़ दिया जाय तो इसका अर्थ होगा इस सीमाका रूपांतर; वह अभी जो कुछ है, एक आवरण, एक घेरा, उससे बदलकर अभी उससे ऊपर जो दिव्य सत्ता है उसकी चेतनाकी उच्चतर शक्तियोंतक पहुंचनेका एक मार्ग बन जाना। इसका अर्थ होगा पृथ्वीपर एक नवीन सृष्टि, चरम-परम शक्तियोंको नीचे उतार लाना जो यहांकी स्थितिको उलट देंगी, इतनी अधिक उलट देंगी कि उससे एक ऐसी सृष्टि उत्पन्न हो जायगी जो आध्यात्मिक और अतिमानसिक ज्योतिकी पूर्ण बाढ़में उन्मज्जित होगी, अब वहां जड़ निश्चेतनाके अंधकारमेंसे निकले हुए मनके अर्द्ध-प्रकाशमें उन्मज्जित सृष्टि नहीं होगी। उपलब्ध आत्माकी ज्योतिकी केवल ऐसी ही पूर्ण बाढ़के अंदर सशरीरी सत्ता इस अंधकार और इसकी अवस्थाओंके अंदर अपने अवतरणका अर्थ और स्थायी आवश्यकता, जो कुछ उसमें निर्वर्तित है उस सबके आशयके साथ, समझ सकती है। साथ-ही-साथ वह इस अंधकार और उसकी

अवस्थाओंको अब और आवृत्त और छद्मवेषधारी अथवा बाह्यतः विकृत भगवान्‌की नहीं बल्कि यहां पूर्ण व्यक्त भगवान्‌की अभिव्यक्तिमें प्रकाशपूर्ण ढंगसे रूपांतरित करके विलीन कर देगी।



मुझे लगता है कि तुमने मेरी पुस्तक 'इस जगत्‌की पहेली' नहीं पढ़ी है, मैंने उसमें इसी तरहका समाधान दिया है। इसे पेश करनेका 'अ'का तरीका एक तुच्छ अति "वेदांतिक-आस्तिकवाद" है—मेरी दृष्टिमें यह 'एक' और 'बहु'के बीचका एक व्यापार है। सच पूछो तो आरंभमें तुमने (मानव 'तुम'ने नहीं जो अब शिकायत कर रहा है बल्कि केंद्रीय सत्ताने) ही अज्ञानके इस जोखिमको स्वीकार किया था अथवा यों भी कह सकते हैं कि निमंत्रित किया था; शोक और संघर्ष अज्ञानके अंदर गोता लगानेका तथा क्रमविकासद्वारा इससे बाहर निकलनेका एक आवश्यक परिणाम हैं। व्याख्या यह है कि इसके सामने एक लक्ष्य था, भागवत चेतना और आनंदकी एक संभावित लीला, जिसे भगवान्‌की आदि परात्परताके अंदर नहीं बल्कि ऐसी परिस्थितियोंमें क्रियान्वित होना था जिसके लिये निश्चेतनाके अंदर गोता लगाना आवश्यक था। यह मूलतः एक वैश्व समस्या है और इसे केवल वैश्व चेतनासे ही समझा जा सकता है। यदि तुम ऐसा समाधान चाहते हो जो मानव-मन और धारणाके अनुकूल हो तो मुझे खेद है कि ऐसा कोई समाधान नहीं है। निस्संदेह, यदि मानव-प्राणियोंने इस विश्वको बनाया होता तो उन्होंने इसे बहुत अच्छा बनाया होता; परंतु जब वे बनाये गये थे तब वे वहां विद्यमान नहीं थे कि उनकी सलाह ली जाय। केवल तुम्हारी केंद्रीय सत्ता वहां थी और वह अपनी दुःसाहसिक उजड्ड बहादुरीमें तुम्हारी आजकी बुदबुदानेवाली और कांपनेवाली मानवीय बुद्धिकी असंतुष्ट समझकी अपेक्षा विवेकानंद या 'अ'की समझके बहुत अधिक समीप थी—अन्यथा वह कभी भी इस जोखिममें न उतरी होती। अथवा, शायद उसे यह पता ही न था कि यह सब किसलिये है? यही बात अपने ही क्रूसके नीचे लुढ़कनेवाले लोगोंपर भी लागू होती है। आज भी वे लुढ़क रहे हैं क्योंकि उनके अंदरकी कोई चीज लुढ़कना पसंद करती है और क्रूसकी पीड़ा सह रहे हैं क्योंकि उनके अंदरकी कोई चीज दुःख पाना पसंद करती है। अतएव ?...



यूरोपियन ढंगका अद्वैतवाद साधारणतया विश्वदेवतावाद होता है और वह विश्व और भगवान्‌को इतने घनिष्ठ रूपमें एक साथ बुन देता है कि उन्हें मुश्किलसे पृथक् किया जा सकता है। परंतु वहां अशुभ और दु:ख-दैन्यकी क्या व्याख्या हो सकती है? भारतीय दृष्टि यह है कि भगवान् ही विश्वके अंतरतम सत्तत्त्व हैं, पर वह इसके बाहर भी हैं, इसके परे; शुभ और अशुभ, सुख और दु:ख केवल वैश्व अनुभूतिके व्यापार हैं और इनका कारण है अभिव्यक्तिके अंदर चेतनामें विभाजनका होना तथा एक प्रकारके ह्रासका होना, पर यह विभाजन और ह्रास न तो भगवान्‌के और न हमारी अपनी आध्यात्मिक सत्ताके ही मूलस्वरूप या अविभक्त संपूर्ण चेतनाका अंग हैं।



निश्चेतनामें निवर्तन भगवान्‌का होता है और वह मध्यवर्त्ती लोकोंके (अधिमानस इत्यादि, मन, प्राण—फिर निश्चेतनामें निमज्जन जो कि जड़तत्त्वका मूल है) हस्तक्षेपके द्वारा साधित होता है। परंतु यह सब उलटे अर्थमें क्रमविकासके अनुरूप कोई प्रक्रिया नहीं है—क्योंकि उसकी कोई आवश्यकता नहीं, बल्कि वहां चेतनाकी एक परंपराभर जरूरी है जो ऊर्ध्वमुखी क्रमविकासको संभव बनानेके लिये अभिप्रेत है।



विश्वमें तीन शक्तियां हैं जिनके अधीन सभी चीजें हैं—सृजन, पालन और संहार; जो कुछ सृष्ट होता है वह कुछ समयतक बना रहता है, फिर भंग होना आरंभ कर देता है। संहारकी शक्तिको निकाल देनेका अर्थ होगा एक ऐसी सृष्टि जिसका नाश नहीं होगा बल्कि जो बनी रहेगी और बराबर विकसित होती रहेगी। अज्ञानके अंदर प्रगतिके लिये संहारका होना आवश्यक है—ज्ञानके अंदर, सत्य-सृष्टिके अन्दर, विधान है बिना किसी प्रलयके सतत प्राकट्यका होते रहना।



[अतिमानसिक अवतरण होनेपर महान् विध्वंसकारी उथल-पुथलका होना:] कोई आवश्यक नहीं। निश्चय ही महान् परिवर्तन होंगे, पर वे ध्वंसात्मक होनेके लिये बाध्य नहीं होंगे। जब अधिमानसिक शक्तियां

परिवर्तनके लिये महान् दवाव डालेंगी तो संभव है कि शक्तियोंके प्रतिरोध और संघर्षके कारण विध्वंसात्मक घटनाएं हों। अतिमानसमें एक महत्तर-उसकी पूर्णावस्थामें वस्तुओंपर पूर्ण प्रभुत्वकी और समन्वय करनेकी शक्ति विद्यमान है जो आकस्मिक संघर्ष और हिंसाकी अपेक्षा अन्य उपायोंसे प्रतिरोधपर विजय प्राप्त कर सकती है।



हां, उस विषयमें (चैत्य परिवर्तन) थोड़ी प्रगति हुई है और साधकोंकी चैत्य या आध्यात्मिक चेतनामें जो प्रगति होती है वह सब अवतरणको आसान वनाती है। परंतु मुख्य कारण यह है कि जो अधि-मानसिक तत्त्व वर्तमान पृथ्वी-चेतना और उसके समस्त सीमावंधनोंका प्रत्यक्ष गुप्त अवलंव है वह अधिकाधिक अतिमानसिकके दवावके अधीन होता जा रहा है और एक महत्तर ज्योति और शक्तिको आने देता है। जवतक अधिमानस हस्तक्षेप करता है (अधिमानसतत्त्व शक्तियोंकी एक क्रीड़ा है जिसमें प्रत्येक शक्ति अपने-आपको सत्यके रूपमें संसिद्ध करनेकी कोशिश करती है), संघर्षका नियम वना रहेगा और उसके साथ-साथ विरोधी शक्तियोंके लिये सुयोग भी।



जहांतक मैं समझता हूं, एक वार जव अतिमानसिक सत्य जड़तत्त्वमें स्थापित हो जायगा तो रूपांतरका कार्य अभी जिन अवस्थाओंमें चल रहा है उससे वहुत कम कष्टकर अवस्थाओंमें उसका होना संभव हो जायगा। इन वुरी परिस्थितियोंका कारण यह है कि यहां अज्ञानका राज्य फैला हुआ है और विरोधी शक्तियां ही यहांकी सुस्थापित सत्ताधिकारी हैं जो मानो अपना अधिकार छोड़ना नहीं चाहतीं और पार्थिव चेतनामें ज्योतिकी कोई पूर्ण शक्ति स्थापित नहीं हुई है जो उनकी अंधकारमयी पूर्ण शक्तिका न केवल सामना कर सके वल्कि उससे वहुत अधिक भारी सिद्ध हो।



इस तर्कमें जो दोष है वह यह है कि यह प्रतिज्ञा प्रारंभमें ही स्थापित कर दी गयी है कि अतिमानसीकरण होनेके वाद भी कठिनाइयां

और आक्रमण बने रहेंगे। अतिमानसिक चेतनामें ऐसे आक्रमणोंका होना संभव नहीं है—अतिमानसिक चेतना और निम्नतर अंधकार एक ही सत्ता और शरीरमें एक साथ नहीं रह सकते। ठीक यही कारण है कि शरीर-चेतनाके अतिमानसीकरणको सफल रूपांतरकी शर्त माना गया है। यदि आक्रमण जारी रहें और सफलतापूर्वक आ सकें तो इसका अर्थ यह है कि शरीर-चेतना अभीतक अतिमानसभावापन्न नहीं हुई है।



अतिमानसका अवतरण कार्यमें तेजी ले आयेगा, पर यह पेटेण्ट औषधकी तरह कार्य नहीं करेगा और न प्रत्येक चीजको आंखकी पलक झपकते ही बदल देगा।



सच पूछा जाय तो सबसे बड़ी अंधेरी रातें ही सबसे बड़ी उषाओंकी तैयारी करती हैं—और इसका कारण यह है कि पार्थिव जीवनकी गभीरतम निश्चेतनाके अंदर हम लोगोंको, एक मध्यवर्ती चमकको ही नहीं, बल्कि भागवत ज्योतिकी पूर्ण क्रियाको उतार लाना है।



1.2.34 बराबर ही अभिव्यक्तिका वर्ष माना जाता है। 2.3.45 शक्ति-सामर्थ्यका वर्ष है—जब कि अभिव्यक्त चीज पूरा बल प्राप्त करती है। 4.5.67 पूर्ण सिद्धिका वर्ष है।

2. पूर्णयोग और अन्यान्य मार्ग

(1)

मैं इस विचारसे सहमत नहीं हूं कि संसार एक माया है, मिथ्या है। ब्रह्म यहां भी है जैसे वह विश्वातीत केवलावस्थामें है। जिस चीजको अतिक्रम करना है वह है अज्ञान जो हमें अंधा बनाता है और हमें संसारमें तथा संसारसे परे ब्रह्मको तथा जीवनके सच्चे स्वरूपको उपलब्ध करनेसे रोकता है।

⊙

शंकरका ज्ञान, जैसा कि तुम्हारे गुरुने सूचित किया था, सत्यका केवल एक पक्ष है; वह परात्पर ब्रह्मका वह ज्ञान है जो शुद्ध सत्की निश्चल-नीरवताके भीतर आध्यात्मिक मनद्वारा उपलब्ध होता है। चूंकि शंकर केवल इसी पथसे गये इसलिये वह विश्वके आदि कारणको स्वीकार करने या समझनेमें असमर्थ हुए और उन्होंने बस इसे भ्रम, मायाकी सृष्टि बतलाया। जबतक मनुष्य परात्पर ब्रह्मको उसके सक्रिय तथा निष्क्रिय दोनों पक्षोंमें नहीं उपलब्ध कर लेता तबतक वह वस्तुओंके सच्चे मूल कारण तथा सक्रिय ब्रह्मके एकरूप सत्यको नहीं अनुभव कर सकता। उस समय शाश्वतकी शक्ति केवल मायाकी शक्ति बन जाती है और जगत् अबोध्य, वैश्व उन्मादका गुह्य रहस्य, शाश्वत ब्रह्मका शाश्वत पागलपन बन जाता है। इस मतका समर्थन करनेके लिये चाहे जिस शाब्दिक या विचारात्मक युक्ति-तर्कको क्यों न पेश किया जाय, विश्वको देखनेका यह ढंग किसी चीजकी व्याख्या नहीं करता। यह अव्याख्येयका केवल एक मानसिक सिद्धांत ही गढ़ता है। जब तुम परात्परको सत् और चित्-शक्ति-रूपी उसके द्विविध—द्विविध पर अविच्छेद्य—भावके द्वारा उपलब्ध करते हो केवल तभी तुम्हारे आंतर अनुभवके सम्मुख वस्तुओंका पूर्ण सत्य व्यक्त हो सकता है। यह दूसरा (शक्तिका) पक्ष शाक्त तांत्रिकोंके द्वारा विकसित किया गया था। ये दोनों, वैदांतिक और तांत्रिक सत्य एक साथ मिलकर सर्वांगपूर्ण ज्ञानको आयत्त कर सकते हैं।

परंतु दार्शनिक भाषामें तुम्हारे गुरुकी शिक्षाको इस रूपमें रखा जा सकता है और यह स्पष्ट ही शंकरके दिये हुए सूत्रसे कहीं अधिक पूर्ण सत्य और कहीं अधिक व्यापक ज्ञान है। ठीक इसी बातको गीताने भी अपनी पुरुषोत्तम तथा पराशक्ति (आद्याशक्ति)-संबंधी शिक्षामें सूचित किया है। यह पराशक्ति ही जीव बनती और विश्वको धारण करती है। यह स्पष्ट है कि पुरुषोत्तम और पराशक्ति दोनों ही शाश्वत हैं, अविच्छेद्य हैं और अपनी सत्तामें एक हैं। पराशक्ति विश्वको अभिव्यक्त करती है, भगवान्‌को भी विश्वमें ईश्वरके रूपमें प्रकट करती है तथा उनकी बगलमें ईश्वरी शक्तिके रूपमें स्वयं प्रकट होती है। अथवा, हम कह सकते हैं कि, परात्पर पुरुषकी परात्परा चित्-शक्ति ही स्वयं अपने-आपको ईश्वर-ईश्वरी, आत्मा-आत्मशक्ति, पुरुष-प्रकृति, जीव-जगत्‌के रूपमें अभिव्यक्त करती या प्रसारित करती है। मन अधिकसे अधिक जिस पूर्णताके साथ सत्यकी धारणा बना सकता है वह बस यही है। अति-मानसमें ये सब प्रश्न उठतेतक नहीं। क्योंकि, वास्तवमें मन ही भगवान्‌के उन सब भावपक्षोंके बीच विरोध उत्पन्न करके इन सब समस्याओंकी रचना करता है जो भाव-पक्ष सचमुच एक-दूसरेके विरोधी नहीं वरन् एक तथा अविच्छेद्य हैं।

यह अतिमानसिक ज्ञान अभीतक किसीको उपलब्ध नहीं हुआ है, क्योंकि अभीतक स्वयं अतिमानस भी किसीको प्राप्त नहीं हुआ है, परंतु उसका प्रतिबिंब संबोधिमय आध्यात्मिक चेतनामें विद्यमान है और स्पष्ट ही इसी चीजको तुम्हारे गुरुने अपने अनुभवमें उपलब्ध किया था और इसीको उन्होंने मनकी भाषामें व्यक्त किया था जिसका उद्धरण तुमने दिया है। एकतम ब्रह्ममें विलीन होनेके अनुभवके साथ आरंभ करके मनुष्य ज्ञानकी ओर अग्रसर हो सकता है, पर शर्त्त यह है कि तुम वहीं रुक न जाओ, उसे ही उच्चतम सत्य न मान बैठो, बल्कि उसी एकतम ब्रह्मको परात्परा जननी, शाश्वत ब्रह्मकी चिच्छक्तिके रूपमें उपलब्ध करनेके लिये आगे बढ़ो। दूसरी ओर, यदि तुम परात्परा जननीके द्वारा अग्रसर होओ तो वह तुम्हें शांत नीरव एकतममें मुक्ति भी प्रदान करेंगी, तथा साथ ही सक्रिय एकतमकी अनुभूति भी प्रदान करेंगी, और वहांसे उस सत्यतक पहुंचना अधिक आसान है जिसमें वे दोनों एक तथा अविभाज्य हैं। उसके साथ-ही-साथ परात्पर और उनकी अभिव्यक्तिके बीच मनद्वारा उत्पन्न की हुई खाई पट जाती है और फिर उसके बाद

सत्यके अंदर ऐसी कोई दरार नहीं रह जाती जो सब कुछको अबोध्य बना दे। यदि इस प्रकाशमें तुम अपने गुरुकी दी हुई शिक्षाकी परीक्षा करोगे तो तुम देखोगे कि वह वही चीज है, बस, कुछ कम दार्शनिक भाषामें कही गयी है।

आदेशका जहांतक संबंध है, लोग अधिकतर आवश्यक विभेद किये बिना ही उसकी चर्चा करते हैं, पर इन भेदोंको स्पष्ट करना जरूरी है। भगवान् हमारे सामने कई तरहसे बोलते हैं और सर्वदा वह हमें ऐसा आदेश नहीं देते जो अनुल्लंघनीय हो। जब वह अनुल्लंघनीय होता है तब वह स्पष्ट और अदम्य होता है, मनको उसका पालन करना पड़ता है और उसके विषयमें कोई संदेह नहीं उठता, भले ही जो आदेश आया हो वह बुद्धिकी पूर्वनिर्धारित भावनाओंके विरुद्ध ही क्यों न हो। ऐसा ही आदेश मुझे मिला था जब मैं पांडिचेरी आया था। परंतु अधिकांश समय जो कुछ कहा जाता है वह एक सूचना होता है या उससे भी कुछ कम, महज एक संकेत होता है जिसका पालन मन नहीं भी कर पाता क्योंकि मनपर उसकी अनुल्लंघनीय आवश्यकताकी छाप नहीं पड़ती। वह एक ऐसी चीज होता है जो दी जाती है पर लादी नहीं जाती, बल्कि संभवतः यह भी कह सकते हैं कि वह कोई ऐसी चीज होता है जो दी भी नहीं जाती बल्कि उसका एक सुझाव ऊपरके दिव्य सत्यसे आता है।



शंकरने जो अविभक्त विशुद्ध चेतनाको ब्रह्मके रूपमें परिकल्पित किया है वही यदि ब्रह्मके विषयमें तुम्हारा भी मत हो तो इस योगके मार्गको तुम्हें नहीं चुनना चाहिये; क्योंकि यहां विशुद्ध चेतना और सत्ताकी अनुभूति केवल पहला पग है और लक्ष्य नहीं है। परंतु अंदरसे उठनेवाले किसी आंतरिक सृजनात्मक प्रवेगके लिये किसी अविभक्त चेतनामें कोई स्थान नहीं हो सकता—समस्त कर्म और सृजन आवश्यक रूपसे उसके लिये विजातीय होंगे।

मेरा योग इस अपर्याप्त भूमिपर आधारित नहीं है कि आत्मा (अंतरात्मा नहीं) शाश्वत रूपसे मुक्त है। यह प्रतिज्ञा अपनेसे परे कहीं नहीं ले जाती, अथवा, यदि इसका उपयोग प्रारंभबिंदुके रूपमें किया जाय तो यह उतनी ही अच्छी तरह इस निर्णयतक ले जा सकती है कि कर्म और सृष्टिका कोई मूल्य-महत्त्व नहीं है। पर प्रश्न यह नहीं

है, वल्कि यह है कि आया सृष्टिका कोई अर्थ है या नहीं, आया कोई ऐसा परात्पर तत्त्व है या नही जो न केवल एक विशुद्ध अविभक्त चेतना और सत्ता है वल्कि सृष्टिकी सक्रिय ऊर्जाका मूलस्रोत और आधार भी है और आया वैश्व सत्ताका उसके लिये कोई अर्थ और मूल्य है या नहीं। यह एक ऐसा प्रश्न है जो शब्दों और भावनाओंमें वादविवाद करनेवाले तात्विक तर्क-वितर्कके द्वारा नहीं, वल्कि आध्यात्मिक अनुभवके द्वारा हल किया जा सकता है जो कि मनसे परे जाता और आध्यात्मिक सत्य-वस्तुओंमें प्रवेश करता है। प्रत्येक मन अपने ही तर्कसे संतुष्ट रहता है, पर आध्यात्मिक उद्देश्योंके लिये उस संतोषका कोई औचित्य नहीं, इसके सिवा कि यह एक ऐसा संकेत होता है कि कहांतक और किस घारासे प्रत्येक मनुष्य आध्यात्मिक अनुभवके क्षेत्रमें जानेके लिये तैयार है। यदि तुम्हारी तर्कवुद्धि तुम्हें परात्परसंवंघी शंकरकी भावनाकी ओर ले जाती है तो यह इस वातका संकेत हो सकता है कि अद्वैत वेदांत (मायावाद) तुम्हारी प्रगतिका पथ है।

यह योग विश्वसत्ताका मूल्य स्वीकार करता है और इसे एक सद्वस्तु मानता है; इसका उद्देश्य है एक उच्चतर सत्य-चेतना या दिव्य अतिमानसिक चेतनामें प्रवेश करना जिसमें कर्म और सृष्टि अज्ञान और अपूर्णताकी नही, वल्कि सत्य, ज्योति और भागवत आनंदकी अभिव्यक्ति हैं। पर इसके लिये मर्त्य मन, प्राण और शरीरका उस उच्चतर चेतनाके प्रति आत्मसमर्पण अनिवार्य है, क्योंकि मर्त्य मानव-प्राणीके लिये स्वयं अपने ही प्रयासके वलपर मनसे परे एक अतिमानसिक चेतनामें प्रवेश करना अत्यंत कठिन है जिसके अंदर क्रियाशीलता मनकी नहीं, वल्कि एक विलकुल दूसरी शक्तिकी है। जो लोग एक ऐसे परिवर्तनकी आवश्यकता स्वीकार कर सकते है केवल उन्हें ही इस योगमें प्रवेश करना चाहिये।



मैं नही समझता कि तुम्हारे मित्रके प्रश्नोंका उत्तर देकर मैं तुम्हारी वहुत अधिक सहायता कर सकता हूं। मैं वस इन विषयोंके संवंधमें अपना निजी दृष्टिकोण वता सकता हूं।

(1) शंकरद्वारा दी गयी विश्वकी व्याख्या

आजकल यह कहना थोड़ा कठिन है कि वास्तवमें शंकरका दर्शन

क्या था: उसके असंख्य व्याख्याता हैं और उनमें कोई किसी दूसरेके साथ एकमत नहीं है। मैंने उनके वीसों टीकाकारोंका दिया हुआ वर्णन पढ़ा है और उनमेंसे प्रत्येकने अपनी निजी धाराका अनुसरण किया है। कुछ लोगोंका यह भी कहना है कि वह मायावादी बिलकुल नहीं थे, यद्यपि मायावादके सिद्धांतके सबसे बड़े व्याख्याताके रूपमें वह बराबर ही प्रसिद्ध रहे हैं, बल्कि यों कहें कि दार्शनिक इतिहासमें वह सबसे महान् यथार्थवादी रहे हैं। शंकरके एक प्रसिद्ध अनुयायीने तो यहांतक घोषणा की थी कि मेरा दर्शन और शंकरका दर्शन मिलता-जुलता है, यह एक ऐसा कथन था जिसने मुझे हक्का-बक्का कर दिया। हम समझा करते थे कि शंकरका दर्शन यह था कि परात्पर सद्वस्तु एक देशकालातीत निरपेक्ष सत्ता (परब्रह्म) है जो समस्त रूप या गुणसे परे है, समस्त कर्म या सृष्टिसे परे हैं, और यह जगत् मायाकी एक सृष्टि है, पूर्णतः असत्य नहीं, पर सत्य केवल कालमें और उस समय जब हम कालमें निवास करते हैं; एक बार जब हम सद्वस्तुका ज्ञान पा लेते हैं तो हम देखते हैं कि माया और जगत्का तथा जगत्के अंदरकी समस्त वस्तुओंका कोई स्थायी या सच्चा अस्तित्व नहीं है। यह जगत्, यह माया यदि अस्तित्वरहित नहीं है, तो भी मिथ्या है, जगन्मिथ्या; यह चेतनाकी एक भूल है, यह है और यह नहीं है; यह अपने मूलमें एक अयुक्तिसंगत और अव्याख्येय रहस्य है, यद्यपि हम इसकी प्रक्रियाको देख सकते हैं अथवा कम-से-कम यह समझ सकते हैं कि यह कैसे अपनेको चेतनाके ऊपर आरोपित करती है। ब्रह्म मायाके अंदर ईश्वरके रूपमें दिखायी देता है जो मायाके कार्योंको धारण करता है और बाह्यतः व्यक्तिगत जीव वास्तवमें स्वयं ब्रह्मके सिवा और कुछ नहीं है। परंतु अंतमें यह सब मायाकी ही एक काल्पनिक कहानी; मिथ्या प्रतीत होता है, कोई वास्तवमें सत्य वस्तु नहीं प्रतीत होता। यदि यही शंकरका दर्शन है तो यह मुझे अस्वीकार्य और अविश्वास्य है, चाहे जितनी चतुरतापूर्वक यह कल्पित हो और चाहे जितनी निर्भीकता और प्रखरताके साथ सुतर्कित क्यों न हो। यह मेरी बुद्धिको संतोष नहीं देता और न मेरे अनुभवके साथ मेल ही खाता है।

मैं नहीं समझता कि इस 'युक्तिवाद'का ठीक-ठीक अर्थ क्या है। यदि इसका अर्थ यह है कि यह विरोधियोंको तर्कमें हरा देनेके लिये ही है तो फिर दर्शनके इस भागका कोई मौलिक औचित्य नहीं है। शंकरका

सिद्धांत स्वयं अपने-आपको निराकृत करता है। या तो उनका मतलब यह था कि यही विश्वकी पर्याप्त व्याख्या है अथवा उनका ऐसा मतलब नहीं था। परंतु उनका ऐसा ही मतलब था, उसे युक्तिवाद कहकर खारिज कर देनेसे कोई लाभ नहीं। मैं मायावादियोंकी इस पक्की घोषणा-को समझ सकता हूं कि समूचा प्रश्न ही अवैध है, क्योंकि माया और संसार दोनोंका वास्तवमें अस्तित्व ही नहीं है; यथार्थमें, यह समस्या ही कि संसार अस्तित्वमें कैसे आया, मायाका केवल एक अंग है, मायाकी तरह ही असत्य है और वास्तवमें उठता ही नहीं। पर, यदि कोई व्याख्या देनी ही हो, तो फिर वह सत्य, वैध और संतोषजनक व्याख्या होनी चाहिये। यदि दो स्तर हों और प्रश्न रखते समय हम उन दोनों स्तरोंको मिलाजुला देते हों तो तर्क केवल तभी मूल्यवान् हो सकता है जबकि दोनों स्तरोंका किसी प्रकारका अस्तित्व हो और तर्क और व्याख्या निम्नतर स्तरपर तो सत्य हों पर उस चेतनाके लिये कोई अर्थ न रखते हों जो उससे ऊपर चली गयी है।

(2) अद्वैत

लोग अद्वैतके विषयमें इस ढंगसे बोलते हैं मानो वह मायावादी ब्रह्म-वाद ही हो, ठीक वैसे ही जैसे वे वेदांत और अद्वैतको एक कहते हैं। परंतु बात ऐसी नहीं है। भारतीय दर्शनकी कितनी ही पद्धतियां हैं जो एकमेव सद्वस्तुको अपना आधार बनाती हैं, पर वे जगत्की सत्यताको, 'बहु'की सत्यताको 'बहु'के अंदर विद्यमान विभेदोंकी सत्यता तथा एकमेवकी एकरूपताकी सत्यताको भी स्वीकार करती हैं (भेदाभेद)। परंतु 'बहु' एकमेवके अंदर तथा एकमेवके द्वारा अपना अस्तित्व रखता है, विभेद उस तत्त्वकी अभिव्यक्तिके भीतरका वैभिन्न्य है जो मूलतः सर्वदा वही बना रहता है। इसे हम वास्तवमें सत्ताके वैश्व विधानके रूपमें देखते हैं जहां एकत्व सर्वदा आधार होता है और एकत्वके अंदर अंतहीन बहुत्व और विभेद होता है। उदाहरणार्थ, मनुष्यजाति एक है परंतु मनुष्य बहुत प्रकारके हैं, एक वस्तु है जो पत्ता या फूल कहलाती है पर पत्ते और फूलके अनेक रूप, नमूने और रंग होते हैं। इसके भीतरसे हम सत्ताके एक मौलिक रहस्यके अंदर दृष्टिपात कर सकते हैं, उस रहस्यके अंदर जो स्वयं एकमेव सद्वस्तुमें विद्यमान है। अनंतकी एकता कोई ऐसी वस्तु नहीं जो सीमित हो, अपने एकत्वमें बंदी

हो; वह अनंत बहुत्वका रूप लेनेमें भी समर्थ है। परात्पर सद्वस्तु एक निरपेक्ष सत्ता है जो न तो एकत्वसे सीमित है न बहुत्वसे ही, पर एक साथ वह दोनों होनेमें समर्थ है। कारण, वे दोनों ही उसके दो पक्ष या रूप हैं, यद्यपि एकत्व तो मौलिक रूप है और बहुत्व एकत्वपर निर्भर है।

यथार्थवादी तथा साथ ही मायावादी अद्वैतका होना संभव है। 'दिव्य जीवन' का दर्शन वैसा ही यथार्थवादी अद्वैत है। जगत् 'वास्तव'की एक अभिव्यक्ति है और इसलिये स्वयं भी वास्तव है। सद्वस्तु अनंत और शाश्वत भगवान् है, अनंत और शाश्वत सत्, चिच्छक्ति और आनंद है। इस भगवान्ने अपनी शक्तिसे जगत्की सृष्टि की है या यों कहें कि अपनी ही अनंत सत्तामें उसे अभिव्यक्त किया है। पर यहां भौतिक जगत्में अथवा इसके मूलमें उन्होंने अपनेको उस वस्तुमें छिपा रखा है जो उनसे विपरीत, अ-सत्, निश्चेतनता और जड़ता प्रतीत होती है। यही वह चीज है जिसे हम लोग आजकल निश्चेतन कहते हैं और ऐसा लगता है कि इसी निश्चेतनने अपनी निश्चेतन शक्तिसे इस जड़भौतिक विश्वको उत्पन्न किया है, पर यह केवल एक बाहरी रूप है, क्योंकि हम अंतमें देखते हैं कि जगत्की सभी व्यवस्थाएँ केवल किसी सर्वोच्च गुह्य प्रज्ञाकी क्रियाके द्वारा ही व्यवस्थित की गयी हो सकती हैं। जो 'सत्ता' निश्चेतन शून्य प्रतीत होनेवाली वस्तुमें छिपी हुई है वह जगत्में सबसे पहले जड़तत्त्वमें प्रकट होती है, फिर प्राणमें, फिर मनमें और अंतमें आत्मा-रूपमें। जो आपातदृष्ट निश्चेतन शक्ति सृष्टि करती है वह यथार्थतः भगवान्की चिच्छक्ति है और जड़तत्त्वमें गुप्त उसका चेतना-पक्ष प्राणमें उन्मज्जित होना आरंभ करता है, अपना कुछ अधिक स्वरूप मनमें प्राप्त करता है और अपने सच्चे स्वरूपको आध्यात्मिक चेतनामें और अंतमें अतिमानसिक चेतनामें प्राप्त करता है जिसके माध्यमसे हम दिव्य सद्वस्तुका ज्ञान प्राप्त करते हैं, उसमें प्रवेश करते हैं और उसके साथ मुक्त हो जाते हैं। इसे ही हम क्रमविकास कहते हैं जो चेतनाका क्रमविकास है और आत्माका वस्तुओंके भीतर क्रमविकास है और केवल बाहरी रूपमें भी 'जातियों'का क्रमविकास है। इसी तरह सत्ताका आनंद मूल जड़त्वसे सबसे प्रथम सुख और दुःखके अपने विपरीत रूपोंमें प्रकट होता है और फिर उसे आत्माके आनंदमें अथवा, जैसा कि उपनिषदोंमें कहा गया है, ब्रह्मके आनंदमें अपनेको पाना होता है। विश्वकी व्याख्याकी यही केंद्रीय विचारधारा है जो 'दिव्य जीवन'में प्रस्तुत की गयी है।

(3) निर्गुण और सगुण

वास्तववादी अद्वैतमें सगुणको निर्गुणसे स्पष्ट अथवा उससे गौण या निम्न भी माननेकी कोई आवश्यकता नहीं; दोनों ही एक सद्वस्तुके समान पक्ष है; उसकी नीरवता और विश्रामकी स्थिति तथा उसकी कर्म तथा क्रियाशील शक्तिकी स्थिति हैं; शाश्वत विश्रांति और शांतिकी निश्चल नीरवता शाश्वत कर्म और क्रियाशीलताका आधार होती है। एकमेव सद्वस्तु, भागवत पुरुष दोनोंमेंसे किसीसे भी बद्ध नहीं है, क्योंकि वह किसी प्रकार सीमित नहीं है; वह दोनोंको अधिकृत करता है। सच पूछा जाय तो इन दोनों स्थितियोंमें कोई असंगति नहीं है, क्योंकि वहु और एकके, एकत्व और विभेदके बीच दूसरा कोई नहीं है। वे विश्वके शाश्वत पहलू हैं जो, यदि उनमेंसे कोई एक निकाल दिया जाय तो, अपना अस्तित्व ही खो देंगे, और यह मानना तर्कसंगत है कि वे दोनों उस सद्वस्तुसे आये जिसने विश्वको अभिव्यक्त किया है और दोनों ही सत्य हैं। हम केवल आपातदृश्य विरोधसे जो वास्तवमें विरोध नही है वल्कि केवल एक स्वाभाविक युगपत् स्थिति है—तभी छुट्टी पा सकते है जब हम उनमेंसे एक या दूसरेको एक भ्रम मान लेंगे। पर यह मान लेना मुश्किलन युक्तिसंगत कहा जा सकता है कि शाश्वत सद्वस्तु एक शाश्वत भ्रमका अस्तित्व रहने देती है जिसके साथ उसका कोई मतलब नहीं या वह अपनी सत्तापर किसी निरर्थक वैश्व मायाको धारण करती और जबर्दस्ती थोपती है और कोई अन्य कार्य और वास्तविक कार्य करनेकी कोई शक्ति उसमें नहीं है। भगवान्‌की शक्ति सर्वदा ही विद्यमान है, जैसे निश्चल-नीरवतामें वैसे ही कर्ममें, वह नीरवतामें निष्क्रिय और अभिव्यक्तिमें सक्रिय है। यह मानना एकदम संभव नहीं कि दिव्य सद्वस्तुमें कोई शक्ति या ऊर्जा नहीं है और उसमें एक वैश्व असत्य, एक विश्वव्यापी झूठी वस्तुकी—मिथ्याकी ही सृष्टि करनेकी एकमात्र शक्ति है।

(4) संमिश्रण और विघटन

निस्संदेह, सभी संमिश्रण, अपने-आपमें अखंड वस्तुएं न होनेके कारण; बल्कि संघटन होनेके कारण, विघटित हो सकते हैं। जीवनके विषयमें भी यह सत्य है, यद्यपि यह कोई भौतिक संमिश्रण नहीं है, कि उसमें एक मोड़ तो है जन्म अथवा संघटनका और, जब वह एक विशेष

विंदुतक पहुंच जाता है तो, दूसरा मोड़ आता है विघटन, ह्रास और मृत्युका। परंतु जीवनसंबंधी इन विचारों या इस नियमको सुरक्षित रूपमें स्वयं वस्तुओंपर लागू नहीं किया जा सकता। अंतरात्मा कोई संमिश्रण नहीं है वल्कि एक अखंड वस्तु है, अपने-आपमें एक वस्तु है; वह विघटित नहीं होता, वल्कि अधिक-से-अधिक अभिव्यक्तियोंमें प्रविष्ट होता और उससे वाहर निकल जाता है। यह वात उन आकारोंके विषयमें भी सत्य है जो निर्मित भौतिक या निर्मित प्राणिक आकारोंसे भिन्न हैं; वे विघटित नहीं होते वल्कि प्रकट होते और अदृश्य हो जाते हैं अथवा अधिक-से-अधिक अभिव्यक्तिमेंसे गायव हो जाते हैं। स्वयं मन, किन्हीं विशिष्ट विचारोंके विपरीत, एक मूलभूत और स्थायी वस्तु है; यह भागवत चेतनाकी एक शक्ति है। इसी तरह निर्मित जीवंत शरीरोंके विपरीत, प्राण भी है; वैसी ही, मेरी रायमें, वह चीज भी है जिसे हम भौतिक शक्ति कहते हैं जो यथार्थमें गतिशील मौलिक पदार्थकी शक्ति है, आत्माकी एक शक्ति है। विचार, जीवन, भौतिक वस्तुएं इन ऊर्जाओंकी रचनाएं हैं, विशिष्ट ऊर्जाकी क्रीड़ाके अभ्यासके अनुसार विरचित अथवा महज अभिव्यक्त हैं। मूलतत्त्वोंका जहांतक प्रश्न है, भला किसी मूलतत्त्वकी विशुद्ध स्वाभाविक स्थिति क्या है? आधुनिक सायंसके अनुसार, जिन्हें मूलतत्त्व कहा जाता था वे संमिश्रण सिद्ध हो गये और यदि कोई विशुद्ध प्राकृतिक स्थिति हो भी तो, वह विशुद्ध ऊर्जाकी एक स्थिति होगी; यही वह शुद्ध स्थिति है जिसमें संमिश्रणोंको—जिन्हें हम मूलतत्त्व कहते हैं वे भी इसमें शामिल हैं,—जव वे विघटित होकर निर्वाणमें जाते हैं, अवश्य चला जाना चाहिये।

(5) निर्वाण

तव निर्वाण क्या है? कट्टर वौद्धमतमें इसका अर्थ अंतरात्मा नहीं,—क्योंकि उसका अस्तित्व ही नहीं—वल्कि एक मानसिक संमिश्रणका या संयोजनों या संस्कारोंकी धाराका विघटन है, जिन्हें हम भूलवश अपना स्वरूप मानते हैं। मायावादी वेदांतमें इसका तात्पर्य है एक झूठे और असत्य व्यक्तिगत आत्माका विघटित होना नहीं वल्कि एक सच्चे आत्मा या ब्रह्ममें विलीन हो जाना; यह उस व्यक्तित्वकी भावना और अनुभूति है जो इस तरह विलीन हो जाता और समाप्त हो जाता है,—हम कह सकते हैं कि वह एक झूठी ज्योति है जो एक सच्ची ज्योतिमें

निर्वापित हो जाती है (निर्वाणको प्राप्त हो जाती है)। आध्यात्मिक अनुभूतिमें यह कभी-कभी एक सीमाहीन वैश्व चेतनामें व्यक्तित्वके समस्त बोधका लोप होता है; जो व्यक्ति था वह एक वैश्व चेतना और वैश्व ऊर्जा तथा कर्मके प्रवाहके लिये केवल एक केंद्र या प्रणालीके रूपमें विद्यमान रह जाता है। अथवा, यह एक परात्पर सत्ता और चेतनामें व्यक्तित्वके लोपका अनुभव हो सकता है जिस चेतनामें विश्व और व्यक्ति दोनोंका बोध विलुप्त हो जाता है। अथवा, फिर यह एक परात्पर स्थिति हो सकता है जो विश्व-कर्मके विषयमें ज्ञान रखती और उसे अवलंब प्रदान करती है। पर व्यक्तिसे हमारा मतलब क्या है? हम साधारणतया जिस चीजको उस नामसे पुकारते हैं वह एक प्राकृत अहं होता है, जो प्रकृतिका एक साधन है और उसके कार्यको मन और शरीरमें एक साथ धारण करता है। इस अहंका विलोप करना होगा, अन्यथा पूर्णमुक्ति प्राप्त करना संभव नहीं; पर व्यक्तिगत आत्मा या अंतरात्मा यह अहं नहीं है। व्यक्तिगत अंतरात्मा आध्यात्मिक सत्ता है जिसका वर्णन कभी-कभी इस प्रकार किया जाता है कि यह भगवान्‌का शाश्वत अंश है, पर इसका वर्णन इस प्रकार भी किया जा सकता है कि यह स्वयं भगवान् ही है जो बहु-रूप अपनी अभिव्यक्तिको सहारा देता है। यही सच्चा आध्यात्मिक व्यक्ति है जो अपने पूर्ण सत्य रूपमें तब प्रकट होता है जब हम अहंसे तथा व्यक्तित्वके अपने मिथ्या पृथकात्मक बोधसे छुटकारा पा जाते हैं, परात्पर तथा विश्वव्यापी भगवान् तथा सर्वभूतोंके साथ अपनी एकताका अनुभव प्राप्त कर लेते हैं। यही चीज है जो दिव्य जीवनको संभव बनाती है। निर्वाण उसकी ओर जानेका एक पग है; मिथ्या पृथकात्मक व्यक्तित्वका विलोप हो जाना अपनी सच्ची शाश्वत सत्ताको उपलब्ध करने और उसमें निवास करनेकी, भगवानमें दिव्य रूपसे निवास करनेकी एक आवश्यक शर्त्त है। परंतु इसे हम जगत्‌में और जीवनमें कर सकते हैं।

(6) पुनर्जन्म

अगर क्रमविकास एक सत्य है-और यह केवल जातियोंका एक शारीरिक क्रमविकास ही नहीं बल्कि चेतनाका क्रमविकास है, तो यह एक आध्यात्मिक तथ्य होगा और केवल भौतिक तथ्य नहीं हो सकता। ऐसी हालतमें, सच पूछा जाय तो, व्यक्ति ही है जो विकसित होता है

और अधिकाधिक विकसित और पूर्ण चेतनामें वर्द्धित होता है और स्पष्ट ही इसे एक ही मानवजीवनकी एक छोटी-सी अवधिके अंदर नहीं पूरा किया जा सकता। यदि किसी सचेतन व्यक्तित्वका विकास होता है तो पुनर्जन्म होना आवश्यक है। पुनर्जन्म एक युक्तिसंगत आवश्यकता है और एक आध्यात्मिक तथ्य है जिसका हम अनुभव भी कर सकते हैं। पुनर्जन्मके प्रमाणोंका, कभी-कभी बेहद विश्वासदायक स्वभाववाले प्रमाणोंका अभाव नहीं है, पर अभीतक उनको सावधानीपूर्वक पंजीवद्ध और एक साथ एकत्र नहीं किया गया है।

(7) क्रमविकास

विश्वसंबंधी अपनी व्याख्यामें मैंने आध्यात्मिक क्रमविकासके इस महत्त्वपूर्ण तथ्यको उपस्थापित किया है और उसे यहांके हमारे जीवनका अर्थ कहा है। यह भौतिक सत्ता और चेतनासे होनेवाले आरोहणोंकी एक क्रमशृंखला है जो पहले प्राणतक, प्राणात्माद्वारा अधिकृत सत्तातक, वहांसे पूर्णतः विकसित मनुष्यमें संसिद्ध मनोमय सत्तातक और वहांसे मानसिक चेतनाके परे विद्यमान पूर्ण चेतनामें, अतिमानसिक चेतना और अतिमानसिक सत्तामें, ऋत-चित्‌में चली जाती है जो आध्यात्मिक सत्ताकी पूर्ण चेतना है। मन ही हमारी अंतिम सचेतन अभिव्यक्ति नहीं हो सकता, क्योंकि मन मूलतः एक अज्ञान है जो ज्ञानकी खोज करता है; एकमात्र अतिमानसिक सत्य-चैतन्य ही वह चीज है जो हमें सच्चा और संपूर्ण आत्मज्ञान और जगत्-ज्ञान प्रदान कर सकती है; बस, उसीके द्वारा हम अपनी सच्ची सत्ताको तथा अपने आध्यात्मिक विकासकी परिपूर्णताको प्राप्त कर सकते हैं।



यह वाक्य[1] अपनी अभिव्यंजनामें थोड़ा शिथिल है। इसका अर्थ यह नहीं है कि माया ब्रह्मकी स्वतंत्रता है, बल्कि यह है कि "मायाका सिद्धांत महज इतना है कि ब्रह्म उन परिस्थितियोंसे स्वतंत्र है जिनके द्वारा वह अपनेको अभिव्यक्त करता है।" यह सीमित लीला वह नहीं

---

[1] "मायाका अर्थ इससे अधिक और कुछ नहीं है कि ब्रह्म उन परिस्थितियों से स्वतंत्र है जिसके द्वारा वह अपनेको अभिव्यक्त करता है।"

—श्रीअरविंद, "हमारा योग और उसके उद्देश्य"

है, क्योंकि वह असीम है; यह केवल एक प्रसीमित (आंशिक) अभिव्यक्ति है, पर वह शर्तों (परिस्थितियों)से वद्ध नहीं है जैसे कि यह लीला वद्ध है। यह जगत् उसके कुछ अंशका एक वाह्य आकार है जिसे उसने इसके अंदर डाला है, पर वह उस आकारसे वहुत अधिक है। यह संसार असत्य या मायामय नहीं है, पर हमारा वर्तमानमें देखनेका ढंग अथवा जगत्संवंधी हमारी चेतना अज्ञानपूर्ण है, और इसलिये जगत्को "हम जिस रूपमें देखते हैं" उसे एक माया कहा जा सकता है। यहां तक तो मायासंवंधी विचार सही है। परंतु हम यदि जगत्को उस रूपमें देखें जैसा कि वह वास्तवमें है, उसे ब्रह्मकी एक आंशिक और विकसनशील अभिव्यक्तिके रूपमें देखें तो फिर उसे एक माया नहीं कहा जा सकता, वल्कि एक लीला कहा जा सकता है। वह अपनी लीलासे भी कहीं और अधिक है, पर वह इसमें है और यह उसमें है; यह कोई माया नहीं है।



निर्वाणके विषयमें

जव मैं 'आर्य'[1]में लिखता था तव मैं मनके सामने तथा मनकी भाषामें वस्तुओंसंवंधी अधिमानसिक दृष्टिको प्रस्तुत करता था, यही कारण था कि मुझे कभी-कभी युक्ति-तर्कका प्रयोग करना पड़ता था। क्योंकि ऐसे विषयमें—जो वुद्धि और अतिवौद्धिकके वीचकी कड़ी होता है—तर्कका एक स्थान होता है, यद्यपि उसे वह प्रधान पद नहीं प्राप्त हो सकता जो उसे विशुद्ध वौद्धिक दर्शनशास्त्रोंमें प्राप्त होता है। स्वयं मायावादी भी अपना दृष्टिकोण अथवा अपना अनुभव कठोर युक्तिपूर्ण तर्कद्वारा प्रस्थापित करनेका प्रयत्न करता है। जव वह मायाकी व्याख्या करने लगता है केवल तभी वह, प्रकृतिकी खोजमें संलग्न वैज्ञानिककी तरह, इस विश्व-रहस्यकी रचनाकी प्रक्रियासंवंधी अपने विचारोंको व्यवस्थित और सुसंगठित करनेके सिवा और कुछ नहीं कर पाता; वह इस वातकी कोई व्याख्या नहीं दे पाता कि कैसे और क्यों यह भ्रमात्मिका अघटित घटना घटीयसी माया उत्पन्न हुई। वह वस इतना हो सकता है, "ठीक है, पर वह यहां है।"

निस्संदेह वह यहां है। परंतु प्रश्न यह है, सवसे पहले, कि वह

---

[1] श्रीअरविंदद्वारा सम्पादित दार्शनिक पत्रिका जो सन् १९१४से १९२१ तक प्रकाशित होती रही।

क्या है? क्या वह वास्तवमें एक भ्रमात्मिका शक्ति है या और कुछ? अथवा उसके विषयमें मायावादीका विचार कहीं भूलभरी प्रथम दृष्टि तो नहीं है, यहांतक कि शायद खुद ही एक भ्रम तो नहीं है? और फिर, "भ्रम-भ्रांति ही क्या एकमात्र या उच्चतर शक्ति है जो भागवत चेतना या अतिचेतनामें है?" निरपेक्ष (ब्रह्म) एक निरपेक्ष सत्य है, मायासे रहित है, अन्यथा मुक्ति पाना संभव नहीं होगा। तो क्या परम और निरपेक्ष सत्यमें और कोई दूसरी शक्ति नहीं है, है केवल मिथ्यात्वकी एक शक्ति और उसके साथ-साथ, निश्चय ही, क्योंकि वे दोनों एक संग ही रहती हैं, मिथ्यात्वको विलीन कर देने या त्याग देनेकी शक्ति ही,—और वह फिर भी है सदा-सर्वदा? मेरा संकेत यह था कि यह सुननेमें जरा विचित्र लगता है। पर विचित्र हो या न हो, अगर बात ऐसी है तो यह ऐसी ही है—क्योंकि, जैसा कि तुमने सूचित किया है, अनिवर्चनीयको न्यायशास्त्रके नियमोंके अधीन बांधा नहीं जा सकता। परंतु यह कौन निर्णय करेगा कि बात ऐसी ही है? तुम कहोगे कि जो वहां पहुंचते हैं। पर कहां पहुंचते हैं? पूर्ण और उच्चतम, पूर्ण परम्, तक। क्या मायावादीका निराकार ब्रह्म वह पूर्ण, वह समग्र है—क्या वह अति उच्चतम है? क्या उस उच्चतमसे भी उच्चतर, परात्परम्, कुछ नहीं है या नहीं हो सकता? यह कोई तर्कका प्रश्न नहीं है, यह एक आध्यात्मिक सत्यका, एक चरम और पूर्ण अनुभवका प्रश्न है। इस विषयका समाधान तर्क-वितर्क पर नहीं निर्भर करना चाहिये बल्कि एक बढ़नेवाले, निरंतर ऊपर उठानेवाले और विस्तारित करनेवाले आध्यात्मिक अनुभवपर निर्भर करना चाहिये—एक ऐसे अनुभवपर जो अवश्यमेव निर्वाण और मायाके अनुभवको अंतर्हित करता हो अथवा उनमेंसे गुजर चुका हो, अन्यथा वह पूर्ण नहीं होगा और उसका कोई निश्चयात्मक मूल्य नहीं होगा।

अब, निर्वाणपर पहुंचना मेरे अपने योगका सबसे पहला मौलिक परिणाम था। इसने मुझे एकाएक एक ऐसी स्थितिमें फेंक दिया जो ऊपर और विचारसे खाली थी, किसी मानसिक या प्राणिक क्रियासे कलुषित नहीं थी। उस समय कोई अहंभाव नहीं था, कोई सच्चा जगत् नहीं था—उस समय निश्चल-नीरव इंद्रियोंके द्वारा देखनेपर ऐसा लगता था कि कोई चीज देख रही है अथवा अपनी एकांत नीरवतापर निस्सार आकारोंका, सच्चे सारसे रहित मूर्त छायाओंका एक जगत् वहन करती

है। न तो कोई 'एक' था और न कोई 'बहु' ही, बस, ठीक निरपेक्ष 'तत्' था, आकारहीन, संबंधहीन, केवल, अवर्णनीय, अचिन्त्य, निरपेक्ष, फिर भी चरम रूपमें सत्य और नितांत वास्तव। यह कोई मानसिक उपलब्धि नहीं थी और न कोई ऐसी चीज जो कहीं ऊपर दिखायी देती हो,—कोई विविक्त विचारणा नहीं थी,—वह भावात्मक थी, एकमात्र प्रत्यक्ष सद्वस्तु थी—यद्यपि कोई आकाशीय भौतिक जगत् नहीं था जिसने भौतिक जगत्के इस बाह्य रूपको परिव्याप्त कर रखा हो, उसे अधिकृत कर रखा हो अथवा यों कहें कि उसे परिप्लावित और निमज्जित कर दिया हो, किसी सद्वस्तुके लिये कोई स्थान या अवकाश न छोड़ा हो, बल्कि जो स्वयं ही विद्यमान हो और अन्य किसी वस्तुको बिलकुल ही वास्तव, प्रत्यक्ष या सारयुक्त प्रतीत न होने देता हो। मैं नहीं कह सकता कि उस अनुभवमें कोई वस्तु उल्लासकारी अथवा परमानंददायी थी, जब वह उस समय मेरे पास आयी,—(अवर्णनीय आनंद तो मुझे वर्षों बाद मिला),—पर जो कुछ वह उपलब्धि ले आयी वह थी एक अकथनीय शांति, एक अतिमहान् नीरवता, मुक्ति और स्वातंत्र्यका एक असीम बोध। मैंने उस निर्वाणमें दिन और रात निवास किया और उसके बाद ही उसने अपने अंदर अन्य चीजोंको आने देना या अपनेको थोड़ासा परिवर्त्तित करना आरंभ किया, और उस अनुभवका आंतरिक मर्म, उसकी सतत स्मृति और उसके वापस आनेकी शक्ति तबतक बनी रही जबतक कि अंतमें उसने ऊपरसे आनेवाली एक महत्तर अतिचेतनामें विलीन होना आरंभ नहीं कर दिया। परंतु इस बीच अनुभूतियोंके बाद अनुभूतियां आती रहीं और उस मौलिक अनुभूतिके साथ एक रूप होती गयीं। एक प्रारंभिक स्थितिमें ही मायामय जगत्के भावने एक ऐसे भावको स्थान दे दिया जिसमें माया[1] केवल एक तुच्छ उपरितलीय व्यापार थी और उसके पीछे थी एक विराट् दिव्य सद्वस्तु और उसके ऊपर थी एक सर्वोच्च भागवत सद्वस्तु और प्रत्येक वस्तुके हृदयमें विद्यमान थी एक प्रखर भागवत सद्वस्तु और वह उपरितलीय व्यापार पहले-पहल ऐसा लगा था मानो केवल कोई चलचित्रका रूप

---

[1] वास्तवमें यह इस अर्थमें माया नहीं है कि कोई आधारहीन और असत्य वस्तु चेतनापर आरोपित हो गयी है, बल्कि यह सचेतन मन और इंद्रियकी एक गलत व्याख्या है और अभिव्यक्त सत्ताका मिथ्याकारी दुरुपयोग है।

या छाया हो। और यह इंद्रियोंमें पुनः कारावद्ध होना नहीं था, कोई परम अनुभूतिका ह्रसित रूप या पतन नहीं था, वल्कि वह अनुभूति इस रूपमें आयी थी मानो वह सत्यका सतत उन्नत होता हुआ और विस्तारित होता हुआ रूप हो। उस समय सच पूछो तो आत्मा वस्तुओंको देखता था, इंद्रियां नहीं, और शांति, निश्चल-नीरवता तथा आनंत्यके अंदर स्वातंत्र्य वरावर वना रहा, यह जगत् या सभी जगत् ऐसे मालूम होते थे मानो भगवान्‌की कालातीत शाश्वततामें घटित होनेवाली कोई सतत घटना हों।

बस, मायावादको समझनेमें मेरी सारी कठिनाई वही है। निर्वाण मेरी मुक्त चेतनामें मेरी उपलव्धिका प्रारंभ, पूर्णवस्तुकी ओर जानेका प्रथम पग सिद्ध हुआ, एकमात्र सच्ची संभवनीय सिद्धि अथवा शीर्षस्थानीय निष्पत्ति नहीं। वह विना वुलाये, विना खोजे आया, यद्यपि विलकुल आदरपूर्वक गृहीत हुआ। मैंने पहले उसके विषयमें तनिक भी सोचा-विचारा नहीं था, उसके लिये मुझमें कोई अभीप्सा नहीं थी, सच पूछो तो मेरी अभीप्सा ठीक उससे विपरीत वस्तुके लिये थी, संसारकी सहायता करने और संसारमें अपना काम करनेके लिये आध्यात्मिक शक्ति पानेकी थी, फिर भी वह आया—विना कोई शिष्टाचार दिखाये कि "क्या मैं अंदर आऊं" अथवा "आपकी आज्ञासे" आदि। वह ठीक इस प्रकार घटित हुआ और जमकर वैठ गया मानो वह अनंतकालके लिये छाया हो अथवा मानो वह वास्तवमें वहां सदासे ही विद्यमान रहा हो। और वह फिर धीरे-धीरे वढ़कर एक ऐसी चीज वनने लगा जो उसके प्रारंभिक स्वरूपसे घटकर नहीं वल्कि उससे महत्तर थी। तव भला मैं मायावादको कैसे स्वीकार कर सकता हूं या स्वयं अपनेको उस सत्यके विरुद्ध लड़नेके लिये कैसे उकसा सकता हूं जो शंकरके तर्कके ऊपरसे मेरे ऊपर लादा गया है?

पर मेरा आग्रह यह नहीं है कि प्रत्येक व्यक्तिको मेरे अनुभवसे गुजरना चाहिये अथवा उस सत्यका अनुसरण करना चाहिये जो उसका परिणाम है। यदि कोई व्यक्ति अपने आत्माके सत्यके रूपमें या अपने मनके सत्यके रूपमें अथवा विश्व-प्रपंचसे वाहर निकलनेके उनके पथके रूपमें मायावादको स्वीकार करता है तो इसमें मुझे कोई आपत्ति नहीं। मैं इस विषयमें आपत्ति केवल तव करता हूं जव कोई जवर्दस्ती मेरे गले उतारनेकी कोशिश करता है अथवा वस्तुओंकी एकमात्र संभव, संतोषप्रदायी

और सर्व-समावेशक व्याख्याके रूपमें संसारके गले उतारनेकी चेष्टा करता है। क्योंकि वह ऐसा विलकुल नहीं है। उसके अतिरिक्त और भी बहुत-सी व्याख्याएं संभव हैं; वह विलकुल ही संतोषप्रद नहीं है, क्योंकि अंतमें वह किसी चीजकी व्याख्या नहीं करता; और वह सर्व-व्यावर्तक है,—और तवतक वैसा ही रहेगा जवतक कि वह अपने तर्कसे विरत नहीं होता—, विलकुल ही सर्व-समावेशक नहीं है। पर उससे कुछ आता-जाता नहीं। कोई सिद्धांत गलत या कम-से-कम एकपक्षीय और अपूर्ण हो सकता है और फिर भी अत्यंत व्यावहारिक तथा उपयोगी हो सकता है। इस वातका प्रचुर प्रमाण हमें विज्ञानके इतिहासमें प्राप्त हो चुका है। सच पूछा जाय तो कोई भी सिद्धांत, वह चाहे दार्शनिक हो या वैज्ञानिक, इसके सिवा वह और कुछ नहीं होता कि वह मनके लिये एक अवलंव, वस्तुओंके साथ व्यवहार करनेमें उसे सहायता देनेवाला एक व्यावहारिक उपाय, उसे सहारा देनेवाली एक लाठी होता है जो उसे अधिक विश्वासपूर्वक चलने तथा अपनी कठिन यात्रामें आगे वढ़ते रहनेकी शक्ति देती है। मायावादकी इस वर्जनकारिता तथा एकपक्षिताने ही उसे एक ऐसे आध्यात्मिक प्रयासके लिये एक मजवूत लाठी वना दी है या एक शक्तिशाली उत्तेजक वस्तु वना दी है जो एकपक्षी, आधारभूत और व्यावर्तक होना चाहता है। यह (मायावाद) अपने-आपसे तथा जीवनसे वाहर निकलकर एक छोटे रास्तेसे अतिचेतनामें चले जानेके मनके प्रयासको सहायता देता है। अथवा यों कहा जा सकता है कि मनमें विद्यमान 'पुरुष' मन और प्राणकी सीमाओंसे निकलकर अतिचेतन अनंतमें चला जाना चाहता है। सिद्धांततः, मनके लिये ऐसा करनेका पथ है अपने समस्त वोधों तथा प्राणके समस्त कार्योंको अस्वीकार करना और उन्हें मायाके रूपमें देखना तथा उसी दृष्टिसे उनके साथ व्यवहार करना। व्यवहारतः, जव मन अपने-आपसे पीछे हटता है, वह सहज ही एक ऐसी संवंधहीन शांतिमें प्रवेश कर जाता है जिसमें किसी चीजका कोई महत्त्व नहीं होता,—क्योंकि उसकी निरपेक्षताके अंदर कोई मानसिक या प्राणिक मूल्य नहीं है—और जहांसे मन वड़ी तेजीसे अतिचेतन, मनविहीन समाधि, सुषुप्ति में ले जानेवाले उस महान् छोटे पथकी ओर चला जा सकता है। उस गतिकी परिपूर्णताके अनुपातमें वे सभी वोध जिन्हें उसने एक समय स्वीकार किया था उसके लिये असत्य वन जाते हैं—मिथ्या, माया वन जाते हैं। वह उस समय निमज्जित होनेके अपने मार्गपर होता है।

अतएव मायावाद निर्वाणपर एकमात्र जोर देकर, चाहे वस्तुओंसंबंधी एक मानसिक सिद्धांतके रूपमें उसमें जितने भी दोष हों, एक महान् आध्यात्मिक उद्देश्यको सिद्ध करता है और, एक पथके रूपमें, बहुत ऊपर और दूर ले जा सकता है। यहांतक कि, यदि मन ही अंतिम शब्द होता और शुद्ध आत्माके अतिरिक्त उसके परे कुछ न होता तो मैं इसे एकमात्र पथ स्वीकार करनेसे पराङ्मुख न होता। कारण, मनने अपने बोधोंके द्वारा और प्राणने अपनी कामनाओंके द्वारा इस जगत्के जीवनको जैसा बना दिया है वह एक बहुत बुरा गड़बड़झाला है; और जब किसी अधिक अच्छी चीजकी आशा नहीं की जा सकती, तो इससे बाहर निकल जानेका सबसे छोटा रास्ता ही सर्वोत्तम होगा। पर मेरा अनुभव यह है कि मनसे परे कोई चीज है; मन यहांपर आत्माका अंतिम शब्द नहीं है। मन एक अज्ञान-चेतना है और इसके बोध मिथ्या; अशुद्ध या अपूर्णसे भिन्न और कुछ नहीं हो सकते। जब उसके बोध सत्य भी होते हैं तो वे सत्यके आंशिक प्रतिबिंब ही होते हैं, स्वयं सत्यका यथार्थ शरीर नहीं होते। परंतु एक सत्य-चेतना है, जो केवल स्थाणु और आत्मनिरीक्षणात्मक ही नहीं है, बल्कि क्रियाशील और सृजनक्षम भी है, और मैं उसे पाना पसंद करता हूं और यह देखना चाहता हूं कि वह वस्तुओंके विषयमें क्या कहती है और वस्तुओंसे भागने का सबसे छोटा मार्ग अपनानेके सिवा जो मार्ग उसे अज्ञानने उसके अपने ही अवसानके लिये प्रदान किया है—और कुछ कर सकता है या नहीं।

फिर भी, निर्वाणके प्रति तुम्हारा आकर्षण यदि केवल मन और प्राणका एक झुकाव ही न हो बल्कि तुम्हारे मनके सच्चे मार्गका तथा अंतरात्माके निर्गमन-पथका सूचक हो तो मुझे कोई आपत्ति नहीं होगी। परंतु मुझे ऐसा लगता है कि यह केवल प्राण-पुरुषका चरम असंतोषके कारण अपनी अतृप्त कामनाओंसे पीछे हटना है, अंतरात्माका अपने सच्चे पथपर प्रसन्नतापूर्वक कूद जाना नहीं है। स्वयं यह वैराग्य भी एक प्राणिक क्रिया है; प्राणिक वैराग्य प्राणिक कामनाकी ही दूसरी पीठ है—यद्यपि मन वहां अपना तर्क देने और समर्थन करनेके लिये निस्संदेह मौजूद है। यह वैराग्य भी, यदि यह एकमुखी और ऐकांतिक हो तो निर्वाण तक ले जा सकता या निर्देश कर सकता है। परंतु तुम्हारे व्यक्तित्वके बहुतसे पहलू हैं अथवा यों कहें कि तुम्हारे अंदर बहुतसे

व्यक्तित्व हैं। इन व्यक्तित्वोंकी क्रियाएं विसंगत होनेके कारण ये एक-दूसरेके मार्गमें बाधक होते हैं, जैसा कि उस समय घटित होता है जब ये बाह्य मनके द्वारा अपनेको अभिव्यक्त करते हैं और सच पूछा जाय तो यही चीज तुम्हारे साधनमार्गमें सबसे अधिक बाधक हुई है। तुम्हारे अंदर एक ऐसा प्राणिक व्यक्तित्व है, जो सफलता और उपभोगकी ओर मुड़ा था, उसे पाया था और उसीमें व्यस्त रहना चाहता था। परंतु उस पथपर चलनेमें उसे सत्ताके बाकी अंगोंका सहयोग नहीं प्राप्त हुआ। फिर एक दूसरा प्राणिक व्यक्तित्व है जिसने कुछ और अधिक गंभीर भोगकी इच्छाकी थी और दूसरेको यह सुझाव दिया था कि वह इन असंतोषजनक चीजोंको भलीभांति छोड़ सकता है यदि उसे कोई वैसा ही भोग उच्चतर भोगोंके किसी परियोंके देशमें प्राप्त हो। फिर एक आंतरप्राणिक व्यक्तित्व है जो तुम्हारे अंदरका वैष्णव हैं और जिसने भगवान् कृष्ण और भक्ति और आनंदको चाहा था। फिर एक ऐसा व्यक्तित्व है जो कवि और संगीतज्ञ है तथा इन चीजोंके द्वारा सौंदर्यकी खोज करता है। फिर एक मानसिक-प्राणिक व्यक्तित्व है जिसने, जब प्राणको अपने रास्तेमें खड़े देखा, तपस्याके एक घोर संघर्षपर बल दिया, और वह भी, निस्संदेह, वैराग्य और निर्वाणका अनुमोदन करता है। एक भौतिक-मानसिक व्यक्तित्व है जो 'रसेल'-मतवादी है, बहिर्मुखी और संदेहवादी है। एक दूसरा मानसिक-भावावेगमय व्यक्तित्व है जिसकी सभी भाव-भावनाएं भगवान्‌में विश्वास करनेके लिये, योग, भक्ति, गुरुवादके लिये है। फिर चैत्य पुरुष भी है जिसने तुम्हें साधनामें प्रवृत्त किया है और जो अपने प्रकट होनेके समयकी प्रतीक्षा कर रहा है।

इन सब लोगोंके साथ तुम क्या व्यवहार करना चाहते हो? यदि तुम निर्वाण चाहते हो, तो तुम्हें या तो उन्हें निकाल बाहर करना होगा या गला घोंटकर मार डालना होगा अथवा मारकर मूर्च्छित कर देना होगा। सभी प्रामाणिक ग्रंथ हमें विश्वास दिलाते हैं कि ऐकांतिक निर्वाणका कार्य अत्यंत कठिन व्यापार है (दुःखं देहवद्भिः, गीताका कथन है), और दूसरोंको दबा देनेका तुम्हारा अपना प्रयत्न भी उत्साह-जनक नहीं था,—तुम्हारे अपने ही वर्णनके अनुसार तुम्हें शुष्क और हताश स्थितिमें, चूसे हुए संतरेकी तरह छोड़ दिया, जिसमें कहीं रस न छूटा हो। यदि अभीप्सित स्वर्गतक जानेका तुम्हारा मार्ग रेगिस्तान ही हो तो फिर कोई बात नहीं। पर—हां, यदि वैसा न हो तो एक

दूसरा मार्ग है—यह वह मार्ग है जिसे हम सारी सत्ताका एकीकरण, समन्वयीकरण कहते हैं। वह बाहरसे नहीं किया जा सकता, वह मन और प्राण-पुरुषके द्वारा नहीं किया जा सकता—वे निस्संदेह सारे मामलेको चौपट कर देंगे। वह तो केवल भीतरसे, अंतरात्माके द्वारा, आत्माके द्वारा किया जा सकता है जो केंद्रीकारक है, स्वयं ही इन त्रिज्याओंका केंद्र है। इन सबमें कुछ सत्य है जो दूसरोंके यथार्थ सत्यके साथ सुसमंजस हो सकता है। क्योंकि, निर्वाणमें एक सत्य है—निर्वाण और कुछ नहीं, वह तो बस उस ब्रह्मकी शांति और स्वातंत्र्य है जो स्वयं अपने-आपमें स्थित है, जगत् हो या न हो, विश्व-व्यवस्था हो या विश्व-विशृंखलता। भक्ति और भगवान्के लिये हृदयकी पुकारमें एक सत्य है—यह दिव्य प्रेम और आनंदका सत्य है। तपस्याके संकल्पमें भी एक सत्य है—यह आत्माके उसके अंग-प्रत्यंगोंपर प्रभुत्वका सत्य है। संगीतज्ञ और कवि भी एक सत्यके लिये होते हैं—वह सत्य है सौंदर्यके द्वारा आत्माकी अभिव्यक्ति। मानसिक स्वीकारोक्ति करनेवालेके पीछे एक सत्य है, यहांतक कि मानसिक शंकाशील, 'रसेल'-मतवादीके पीछे—यद्यपि उससे बहुत अधिक पीछे—एक सत्य है, वह सत्य है मिथ्या आकारोंकी अस्वीकृतिका सत्य। यहांतक कि दो प्राणिक व्यक्तित्वोंके पीछे भी एक सत्य है, अहंकारके द्वारा नहीं वरन् भगवान्के द्वारा आंतरिक और बाह्य जगतोंको अधिकृत करनेका सत्य। यही वह समन्वयीकरण है जिसके लिये हमारा योग है—परंतु इसे किसी बाहरी व्यवस्थाके द्वारा नहीं संसिद्ध किया जा सकता, इसे केवल भीतर पैठकर, चैत्य और आध्यात्मिक केंद्रसे देखकर, संकल्प कर और कार्य करके संसिद्ध किया जा सकता है। क्योंकि सत्ताका सत्य वहीं है और समन्वयका मर्म भी वहीं है।

⊙

मनुष्य विश्वलीलासे कोई संबंध न रखनेवाले मूलभूत निष्क्रिय आत्माके विषयमें सज्ञान हो सकता है। फिर विश्व-प्रकृतिकी क्रियाके विषयमें क्रमशः जागृत हुए बिना प्रत्येक वस्तुमें सर्वव्यापक विराट् स्थाणु आत्माके विषयमें भी सचेत हुआ जा सकता है। विश्वात्मा या ब्रह्मकी पहली अनुभूति बहुधा उस तत्त्वकी अनुभूति होती है जो सभी आकारों, नामों, क्रियाओं और गतिविधियोंसे अपनेको पृथक् करता है, अपने-आपमें ही विद्यमान रहता है, विश्वको इस तरह देखता है मानो वह केवल निस्सार

और सद्वस्तुसे खाली सिनेमाके जैसे आकारोंका एक समूह हो। वह मेरा अपना भी ब्रह्मके अंदर निर्वाणका प्रथम पूर्ण अनुभव था। उसका यह मतलव नहीं कि आत्मा और ब्रह्मके वीच एक दीवार है, उसका मतलव यह है कि आधारभूत आत्म-अस्तित्व और अभिव्यक्त जगत्के वीच एक प्रकारका विभाजन है।



मैं समझता हूं कि अद्वैतवादियोंके अनुसार ईश्वर केवल मायाके अंदर ब्रह्मका प्रतिविंव है—जैसे ब्रह्म वाह्यतः जगत्के रूपमें दिखायी देता है जिसमें केवल एक व्यावहारिक सत्य है, यथार्थ सत्य नहीं, उसी तरह ब्रह्म आंतरिक रूपमें भगवान्, ईश्वर दिखायी देता है और वह भी कोई यथार्थ सत्य नहीं, एक व्यावहारिक सत्य होगा, जो एक जगत्हीन शाश्वततामें नितांत निस्संग संवंधहीन ब्रह्म है और हो सकता है। कम-से-कम यही मैंने पढ़ा है—मैं नहीं जानता कि स्वयं शंकर ऐसा कहते हैं या नहीं। आधुनिक अद्वैतवादी वरावर ही यह कहते हैं कि शंकरका वह मतलव नहीं था जिसे लोग कहते हैं कि उनका मतलव था—अतएव हमें शंकरके प्रति कोई मत आरोपित करते समय सावधान रहना चाहिये।



वे यह दिखाना चाहते हैं कि शंकर उतने प्रचंड मायावादी नहीं थे जितना कि उन्हें प्रस्तुत किया जाता है—उन्होंने जगत्को एक प्रकारका क्षणिक सत्य वताया, शक्तिको स्वीकार किया आदि-आदि। पर ये चीजें (यदि मानलें कि उन्होंने किया) वे रियायतें हैं जो उनके अपने दर्शनके युक्ति-तर्कके साथ विसंगत हैं। उनका दर्शन तो यह है कि केवल ब्रह्मका अस्तित्व है और वाकी सव कुछ अज्ञान और भ्रम है। वाकीका सत्य केवल मायाके अंदर एक क्षणिक और इसलिये भ्रमपूर्ण सत्य है। उन्होंने फिर यह भी कहा कि कर्मके द्वारा ब्रह्मको नहीं पाया जा सकता। यदि यह उनका दर्शन नहीं था तो मैं यह जानना चाहूंगा कि उनका दर्शन क्या था। पर जो हो, उनके दर्शनका यही मर्म लोगोंने समझा है। अव जव कि लोगोंका साधारण झुकाव कठोर मायावादसे अलग दिशामें है, वहुतेरे अद्वैतवादी, ऐसा लगता है कि, एक वेड़ेमें संरक्षण ग्रहण

करना तथा अपने साथ शंकरको भी संरक्षण ग्रहण करनेके लिये प्रवृत्त करना चाहते हैं।

विवेकानंदने शंकरके दर्शनको थोड़े परिवर्तनके साथ स्वीकार किया था और उनमें सबसे प्रधान था दरिद्र-नारायणकी सेवा, जो कि बौद्ध करुणा और आधुनिक परोपकारका मिश्रण है।



निस्संदेह, शंकरका मतलब मायावाद रहा होगा। यह कभी संभव नहीं कि सभी लोगोंने तबतक उनके विचारोंको (जो जरा भी प्रच्छन्न या रहस्यमय नहीं थे) गलत ही समझा हो जबतक कि उनके आधुनिक पक्षपोषकोंको यह पता नहीं लग गया कि वास्तवमें वे विचार क्या थे।



निश्चय ही शंकर मायावादके समर्थक हैं या बन जाते हैं। उनकी 'भज गोविन्दम्' कविता भी भावमें मायावादी है। मैं उनकी इन पुस्तकोंसे परिचित नहीं हूं—इसलिये प्रश्नके उस पक्षके विषयमें कुछ कहना मेरे लिये कठिन है।



चित्तशुद्धि राजयोगकी चीज है। वस्तुतः विशुद्ध अद्वैतकी प्रक्रिया है विचार और विवेकके द्वारा अपनेको पृथक् कर लेना और यह अनुभव करना कि "मैं मन नहीं हूं, प्राण नहीं हूं आदि-आदि।" उस हालतमें शुद्धिकी कोई आवश्यकता नहीं होगी—आत्मा प्रकृतिसे, चाहे वह अच्छी हो या बुरी, अलग हो जायगा और उसे एक मशीन समझेगा, जो आत्माका अब सहारा न मिलनेके कारण स्वयं ही शरीरके साथ-साथ नष्ट हो जायगी। निस्संदेह, चित्तशुद्धिका सहारा भी लिया जा सकता है, पर चित्तवृत्तिके निरोधके लिये लिया जा सकता है न कि भगवान्‌के यंत्रके रूपमें उनकी अधिक अच्छी कार्यकारिताके लिये। शंकर इस बातपर जोर देते हैं कि मुक्ति प्राप्त करनेसे पहले समस्त कर्म समाप्त हो जाने चाहियें—जीवको अपनेको अकर्त्ता अनुभव करना चाहिये, विशुद्ध ज्ञान-योगमें कर्मके अंदर या कर्मके द्वारा कोई समाधान नहीं प्राप्त होता। अतएव शंकर भला क्रियाशीलताको कैसे स्वीकार कर सकते थे? यदि

वह चित्तशुद्धिको आवश्यक मानते भी हैं तो वह कर्मसे छुटकारा पानेके लिये एक तैयारीके रूपमें ही मानते होंगे, और अन्य किसी चीजके लिये नहीं।



जब सबके अंदर एक विराट् आत्माकी अनुभूति स्थायी हो जाती है और वह सभी अवस्थाओं और किसी भी परिस्थितिमें सभी क्षण बनी रहती है तो मूल "मैं"—पनका बोध विलीन हो जाता है। साधारणतया यह चीज सबसे पहले पुरुषचेतनामें आती है और प्रकृतिकी क्रियाओंमें तुरंत नहीं फैलती। परंतु, प्रकृतिकी प्रतिक्रियाओंमें यदि "मैं"-पनकी क्रियाएं होती भी हैं तो अंतरस्थ पुरुष उन्हें इस रूपमें देखता है कि यह पुरानी मशीनका पूर्ववत् दौड़ते रहना है और उन्हें वह अब अपनी चीज नहीं अनुभव करता। अधिकांश वेदांती यहीं रुक जाते हैं, क्योंकि वे यह समझते हैं कि वे प्रतिक्रियाएं मृत्युके समय उनमेंसे झड़ जायंगी और सब कुछ एकमेवके अंदर विलीन हो जायगा। परंतु प्रकृतिके रूपांतरके लिये यह आवश्यक है कि पुरुषका यह अनुभव और उसका इस प्रकार देखना सभी भागों—मन, प्राण, शरीर, अवचेतनामें फैल जाना चाहिये। फिर प्रकृतिकी 'अहं'-क्रियाएं भी धीरे-धीरे, एक क्षेत्रके बाद दूसरे क्षेत्रमें, विलीन हो सकती है और अंतमें कोई क्रिया बाकी नहीं रह जायगी। इसके लिये शरीरके कोषोंतक और सत्ताके प्रत्येक स्पंदनमें पूर्ण समताका होना आवश्यक है—समं हि ब्रह्म। फिर मनुष्य कर्मके अंदर भी उससे बिलकुल मुक्त हो जाता है। व्यक्ति बना रहता है पर वह तुच्छ पृथकात्मक अहं नहीं होता, बल्कि विश्वात्माका एक रूप और शक्ति होता है जो अपनेको सभी वस्तुओंके साथ एक, विश्वात्मक परात्परका एक कर्मशील केंद्र और यंत्र अनुभव करता है तथा दिव्य उपस्थिति और कर्मके आनंदसे भरपूर होता है, किंतु स्वतंत्र रूपसे विचार और कार्रवाई नही करता अथवा अपने तईं कोई कार्य नहीं करता। उसे अहंभाव नहीं कहा जा सकता। भगवान्को केवल तभी अहं कहा जा सकता है यदि वह एक पृथक् 'पुरुष' हों और भगवान्संबंधी ईसाई भावनाके अनुसार अपनी पृथकतासे सीमित हों (यद्यपि वहां भी गुह्य ईसाई मत उस सीमाको दूर कर देता है)। जो "मैं" उस भांति पृथक् नही वह बिलकुल कोई "मैं" नहीं है।



मुझे संदेह है कि जिस स्थितिका तुम वर्णन करते हो वह सिद्ध वेदान्तीकी है या नहीं—अवश्य ही सिवा इसके कि व्यक्तित्वके बोधका अभाव हो और कामना तथा प्रकृतिकी क्रियाओंके साथ तादात्म्यका बोध न हो। फिर भी, शायद जड़वत् परमहंस (जड़ भरतकी तरह) की स्थिति उससे मिलती-जुलती हो सकती है। प्रारब्ध कर्मका सिद्धांत उससे भी और आगे जाता है—वह यह रूप लेता है कि यदि प्राणिक क्रियाएं होती भी हों तो वह भी प्रकृतिकी मशीनका चलते रहना है और वह मृत्युके समय झड़ जायगा। वे संभवतः झड़ जा सकते हैं। परंतु मैं प्रकृतिके रूपांतरका सिद्धांत इस असंभव मतपर आधारित नहीं करता कि निष्क्रिय मुक्ति ही अंतिम लक्ष्य है—निष्क्रिय मुक्ति आवश्यक तो है, पर मैं नहीं मानता कि उसे अंतिम मानना ही विश्वसत्तामें आनेका लक्ष्य है। मैं विश्वास करता हूं कि निष्क्रिय मुक्ति केवल एक प्रारंभ है, भगवान्की ओर जानेका प्रथम पग है। यदि कोई प्रथम पगको ही यह समझता है कि उसके लिये बस इतना ही संभव है और उससे वह संतुष्ट है तो उसके ऐसा माननेमें मुझे कोई आपत्ति नहीं।



तुम्हारी आपत्ति ठीक है। सर्प-रज्जुकी उपमा जगत्की अस्तित्व-हीनताको प्रदर्शित करनेके लिये प्रयुक्त नहीं हो सकती, उसका बस यह अर्थ होगा कि जगत्को हमारा देखना जगत् जैसा वास्तवमें है उसे देखना नहीं है। पूर्ण भ्रमकी भावनाको नटके रस्सीपर चढ़नेकी कलाके द्वारा कहीं अधिक अच्छी तरह प्रदर्शित किया जा सकता है जहां न तो कोई रस्सी है और न कोई चढ़नेवाला, और फिर भी हमको विश्वास होता है कि वे वहां मौजूद हैं।



मायावादियोंके सभी रूपक विफल सिद्ध होते हैं जब तुम उनकी तहतक पैठ जाते हो—वे अपने-आपमें एक भ्रम हैं। शरीरके साथ तादात्म्य एक भूल है, कोई भ्रम नहीं है। हम शरीर नहीं हैं पर फिर भी शरीर हमारी सत्ताका ही कुछ अंश है। अनुभूति होनेपर भ्रांतिमूलक तादात्म्य समाप्त हो जाता है—कुछ अनुभूतियोंमें शरीरका अस्तित्व बिलकुल ही अनुभूत नहीं होता। पूर्ण उपलब्धिके अन्दर शरीर हमारे अन्दर

होता है, हम उसमें नहीं होते, यह हमारी विशालतर सत्तामें एक यांत्रिक रचना होता है—हमारी चेतना उसे अतिक्रांत करती है पर उसे परिव्याप्त भी करती है—हमारा आत्मा बने रहना बंद किये बिना भी वह विलुप्त हो सकता है। यही इस विषयका सारा रहस्य है।



यह वैदांतिक अद्वैतका लयका अनुभव है। यह अनुभवका एक पक्ष है, भगवान्‌का संपूर्ण या उच्चतम सत्य नहीं है।



लयकी ओर जानेकी प्रवृत्ति मनकी एक सृष्टि है, यह आत्माकी एकमात्र संभव नियति नहीं है। जब मन अपने निजी अज्ञानको दूर करनेका प्रयत्न करता है तो उसे लयके सिवा उससे भागनेका और कोई रास्ता दिखायी नहीं देता, क्योंकि वह यह समझता है कि उसके अपनेसे परे विश्व-सत्ताका कोई दूसरा उच्च तत्त्व नहीं है—उसके परे केवल शुद्ध आत्मा, निरपेक्ष निर्व्यक्तिक भगवान् है। जो लोग हृदयके (प्रेम भक्तिके) पथसे जाते हैं वे लयको नहीं स्वीकार करते, वे विश्वास करते हैं कि परे भगवान्‌के साथ शाश्वत सखा-भावकी या लयके बिना भगवान्‌में निवास करनेकी एक स्थिति है। यह सब अतिमानसीकरणसे बिलकुल भिन्न बात है। तब भला तुम्हारे प्रारंभबिंदुका क्या होगा कि लय ही अंतरात्माकी अनिवार्य नियति है और अवतारका व्यक्तिगत अवतरण ही इस अनिवार्य लयसे उसकी रक्षा करता है!



यहां मूलके दो स्थल हैं। प्रथम यह कि एक बार भगवान्‌तक पहुंच जानेपर जीवके लिये पहले लयके सिवा और कोई दूसरी संभावना नहीं थी। दूसरी संभावनाएं भी थीं; जैसे, उच्चतर लोकमें चला जाना, भगवान्‌में अथवा भगवान्‌की सत्ताके अंदर निवास करना। दोनोंका ही तात्पर्य है जन्मको अस्वीकार करना और पृथ्वीपर की लीलाको त्याग देना। दूसरा यह है कि केवल अवतरित भगवान्‌के साथ रहनेके लिये तथा इस तरहके कारणोंसे ही अंतरात्मा लयको छोड़नेके लिये सहमत हुआ। महत्त्वपूर्ण बात है सत्ताका अतिमानसीकरण जो कि पार्थिव

क्रमविकासमें भगवान्‌का आशय है और वह साधित होनेमें विफल नहीं हो सकता। उस वस्तुको सिद्ध करनेके लिये अवतरण या अवतार महज एक साधन है। इसलिये तुम्हारा कथन अपनी अपूर्णताके कारण गलत हो जाता है।



परंतु उन्हें (मायावादी वेदांतियोंको) इन चीजोंका (अधिमानस, अतिमानस आदिका) कोई सुस्पष्ट बोध नहीं प्राप्त था क्योंकि वे ऊंचे-से-ऊंचे अध्यात्मभावापन्न उच्चतर मनमें निवास करते थे, और अन्य बातोंका जहां तक प्रश्न है, वे अधिमानससे भी केवल चीजें ग्रहण कर सकते थे—वे गभीर समाधि (सुषुप्ति) के सिवा उसमें प्रविष्ट नहीं हो सके। उनके लिये प्रज्ञा और ईश्वर सुषुप्तिके स्वामी थे।

(2)

हमारे योगमें निर्वाण उच्चतर सत्यका प्रारंभ है, क्योंकि यह अज्ञानसे उच्चतर सत्यकी ओर जानेका मार्ग है। अज्ञानको निर्वापित होना ही होगा जिसमें कि सत्य अभिव्यक्त हो सके।



मैं नहीं समझता कि मैंने लिखा है, पर एक बार मैंने ऐसा कहा था कि जो आत्मा निर्वाणमें चले गये हैं वे वृहत्तर ऊर्ध्वमुखी चापको पूरा करनेके लिये वापस आ सकते हैं (आयेंगे ही नहीं)। मैंने कहीं लिखा है, जहांतक मैं समझता हूं, कि इस योगके लिये (यहां इतना और भी जोड़ा जा सकता है कि अभिव्यक्तिकी स्वाभाविक परिपूर्ण व्यवस्थामें) निर्वाणका अनुभव पूर्ण सिद्धिकी ओर जानेकी केवल एक मंजिल या मार्ग हो सकता है। मैंने यह भी कहा है कि ऐसे बहुतसे दरवाजे हैं जिनसे मनुष्य परब्रह्मकी सिद्धिकी स्थितिमें प्रवेश कर सकता है, और निर्वाण उनमेंसे एक है पर किसी भी दृष्टिसे वह एकमात्र पथ नहीं है। तुम रामकृष्णकी बात याद कर सकते हो कि 'जीवकोटि' सीढ़ीके ऊपर चढ़ सकता है, पर वापस नहीं आ सकता, जबकि 'ईश्वर-कोटि' इच्छानुसार ऊपर चढ़ सकता और नीचे उतर सकता है। यदि बात ऐसी है तो, जीवकोटि वे आत्मा हो सकते हैं जो केवल मनके

द्वारा जड़तत्त्वसे निश्चल-नीरव आत्मातकके वक्र पथको पूरा करते हैं और ईश्वरकोटि वे हो सकते हैं जो संपूर्ण सत्यको प्राप्त करते हैं और इसलिये आरोहण और अवरोहणको युक्त कर सकते हैं तथा सत्ताके "दोनों छोरों"को अपनी एकाकी सत्तामें धारण करते हैं।



इस योगकी सिद्धि निर्वाण या निर्विकल्प समाधिकी अपेक्षा निम्नतर नहीं बल्कि कहीं उच्चतर है।



यदि वास्तवमें बुद्धने आत्मासंबंधी सभी वैदांतिक परिकल्पनाओंका विरोध किया और अस्वीकार किया हो तो फिर यह बात कभी सच्ची नहीं हो सकती कि बुद्ध अंतिम सद्वस्तुके स्वरूपके विषयमें समस्त तात्त्विक परिकल्पनाओं या सुस्पष्ट घोषणाओंसे विरत रहे। जो दृष्टि तुमने उनकी निर्वाणसंबंधी परिकल्पनाके बारेमें ग्रहण की है वह महायान-पंथीय व्याख्या तथा उसके "ध्रुवं"की धारणासे मिलती-जुलती प्रतीत होती है जिसके विषयमें यह आपत्ति की जा सकती है कि वह उसके विपरीत 'शून्यम्'की शून्यवादी धारणाकी तरह बहुत पीछेकी विकसित भावना है। बुद्धने जो शिक्षा बहुत निश्चित रूपमें दी वह यह थी कि जगत् 'अनात्मा' है और व्यक्तिका कोई वास्तविक अस्तित्व नहीं है क्योंकि संसारमें जिस चीजका अस्तित्व है वह है क्षण-प्रति-क्षण बहने वाली अस्थायी चेतनाकी एक धारा और पृथक् व्यक्ति संस्कारोंके एक बंडलसे अवास्तव रूपमें गठित है और बंडलके विलीन होनेपर विलीन हो सकता है। यह वेदांतिक अद्वैतके इस विचारके साथ मेल खाता है कि कोई सच्चा पृथक् व्यक्ति नहीं है, निर्व्यक्तिक और विश्वव्यापी और परात्पर एकमेव आत्मासे संबंधित दूसरे वेदांतिक विचारका जहांतक प्रश्न है, ऐसा नहीं लगता कि बुद्धने अमूर्त और तात्त्विक प्रश्नोंपर कोई सुस्पष्ट और अभ्रांत घोषणा की हो। परन्तु संसार अथवा संसारकी सभी वस्तुएं 'अनात्मा' हों तो फिर किसी विश्वव्यापी आत्माके लिये कोई स्थान नहीं रह सकता, अधिक-से-अधिक केवल एक परात्पर सद्वस्तुके लिये ही रह सकता है। उनकी निर्वाण-संबंधी जो धारणा थी वह विश्वके परेकी किसी चीजकी थी, पर उन्होंने यह व्याख्या नहीं की

कि वह क्या है, क्योंकि सद्वस्तुके विषयमें किसी अमूर्त तात्त्विक कल्पना-जल्पनाके साथ उनका कोई सरोकार नहीं था; उन्होंने अवश्य ही उसे अनावश्यक और असंगत समझा होगा, और उनमें किसी प्रकारसे संलग्न होनेपर सच्चे उद्देश्यसे पथभ्रष्ट होनेकी संभावना देखी होगी। वस्तुओं-संबंधी उनकी व्याख्या सूक्ष्म-दार्शनिक नहीं बल्कि मनोवैज्ञानिक थी और उनकी पद्धतियां भी सभी मनोवैज्ञानिक थीं—चेतनाके मिथ्या संपर्कोंको भंग कर देना जो कामना और दुःखके जारी रहनेका कारण हैं, इस तरह विशुद्धतः प्रापंचिक (असत्य नहीं) जगत्‌में जन्म और मृत्युके बहावसे मुक्त हो जाना। जिस जीवन पद्धतिसे यह मुक्ति साधित हो सकती है वह भी एक मनोवैज्ञानिक पद्धति थी—सम्यक् ज्ञान और सम्यक् कर्मको विकसित करनेवाला अष्टांग मार्ग। उनका उद्देश्य था उपयोगमूलक और कठोर रूपमें व्यावहारिक और वैसी ही थीं उनकी पद्धतियां; दार्शनिक कल्पनाएं तो केवल मनको एकमात्र आवश्यक वस्तुसे अलग खींच ले जायंगी।

जीवनके प्रति बुद्धके मनोभावका जहांतक प्रश्न है, मैं बिलकुल ही नहीं देख पाता कि किस प्रकार "मनुष्यजातिकी सेवा" या जगत्-जीवनको सुधारनेका कोई आदर्श उनके उद्देश्यका अंग हो सकता था, जबकि जीवनसे निकलकर किसी परात्परमें चले जाना उनका उद्देश्य था। उनका अष्टांग मार्ग उसी ध्येयकी ओर जानेका उपाय था; वह स्वयं अपने-आपमें कोई ध्येय नहीं था या निश्चय ही किसी रूपमें कोई ध्येय नहीं था। स्पष्ट ही, यदि यथार्थ ज्ञान और यथार्थ कर्म जीवनका सामान्य नियम बन जायं तो संसारमें एक महान् सुधार हो जायगा, पर बुद्धके प्रयोजनके लिये वह एक आनुषंगिक परिणाम होगा और उनके सर्वप्रमुख लक्ष्यका अंग बिलकुल नहीं होगा। तुम कहते हो "स्वयं बुद्धने मनुष्य-जातिकी सेवा करनेकी आवश्यकताका जोरदार समर्थन किया था; उनका आदर्श था आंतरिक शाश्वतताकी एक चेतनाको प्राप्त करना और फिर ज्योतिर्मय प्रभाव और कर्मका स्रोत बन जाना।" पर कहां और कब बुद्धने ये बातें कही थीं, इन शब्दोंका प्रयोग किया था या इन भावनाओंको व्यक्त किया था? "मानवजातिकी सेवा" एक बहुत आधुनिक और यूरोपीय धारणा प्रतीत होती है; इससे मुझे गीताकी कुछ यूरोपियन व्याख्याओंकी याद हो आती है जो महज अपने कर्तव्यको अनासक्त भावसे पूरा करनेको ही गीताकी शिक्षा मानती हैं अथवा यह घोषणा करती हैं

कि गीताकी संपूर्ण भावना है सेवा। मनुष्यवर्ग या मनुष्यजातिपर ऐकांतिक रूपसे जोर देना या अत्यधिक जोर देना भी यूरोपियन भाव है। महायान बौद्ध मतने करुणाके ऊपर, सबके साथ सहानुभूतिपर, वसुधैव कुटुम्बकम् पर जोर दिया था ठीक जिस तरह कि गीता सर्वभूतके साथ एकत्वकी अनुभूति और सर्वभूतके कल्याणमें निरत रहनेकी; सर्वभूतहिते रताःकी बात कहती है, पर इसका अर्थ केवल मनुष्यजाति नहीं है, बल्कि समस्त भूत है और वसुधाका अर्थ है समस्त पार्थिव जीवन। क्या बुद्धका कोई ऐसा वचन है जो इस कथनका समर्थन करे कि निर्वाण प्राप्त करनेका उद्देश्य या एक उद्देश्य था ज्योतिर्मय प्रभाव और कर्मका स्रोत बन जाना? आंतरिक शाश्वतताकी चेतनाका शायद वह परिणाम हो, पर क्या हम वास्तवमें यह कह सकते हैं कि वही बुद्धका आदर्श, उद्देश्य था जिसे उन्होंने अपनी दृष्टिमें रखा या और जिसके लिये वह आये थे?



ऐसा कोई कारण नहीं कि बौद्धधर्मसंबंधी प्रकरण निकाल दिया जाय। यह बौद्धधर्मकी शिक्षाका एक पक्ष देता है जिसे लोग बहुत अधिक नहीं जानते या साधारणतया जिसकी उपेक्षा करते हैं, क्योंकि अधिकांश लोग उस शिक्षाको निर्वाण (शून्यवाद) और आध्यात्मिक मानवहितवाद कहकर प्रस्तुत करते हैं। कठिनाई यह है कि बौद्धधर्मकी आधुनिक व्याख्याओंमें विशेषकर इन्हीं पक्षोंपर अधिक बल दिया गया है और जिस किसी टीका-टिप्पणीसे मैं गुजरा होऊं, वह इन्हीं व्याख्याओंके विचारके अनुसार थी और उसमें वही एकपक्षीय बल था। निस्संदेह, मुझे पता है कि महायान-पथमें तथा जापानियोंके अमिताभ बुद्धके धर्म-संप्रदायमें इससे विपरीत प्रवृत्तियां विद्यमान हैं और वह एक भक्ति-संप्रदाय है। आजकल शंकरके बारेमें भी कहा जाता है कि उनके मतका एक दूसरा पक्ष भी था—पर उनके अनुयायियोंने एकमात्र महान् माया-वादपर, भक्तिके प्रति हीनभावनापर, कर्मकी निरर्थकता पर—जगन्मिथ्या पर ला खड़ा कर रखा है।



यह स्मरण रखना चाहिये कि बुद्ध सदा ही यह आलोचना करना

अस्वीकार करते थे कि जगत्‌के परे क्या है। परंतु थोड़ा कुछ जो उन्होंने कहा उससे ऐसा प्रतीत होता है कि वे पर-शाश्वतसे अवगत थे जो वेदांतिक परब्रह्मके समान है, पर जिसका वर्णन करनेको वह बिलकुल अनिच्छुक थे। निर्वाणकी अभावात्मक स्थितिके अतिरिक्त जगत्‌के परे किसी भी चीजको अस्वीकार कर देना बादके युगकी शिक्षा है, बुद्धकी नहीं।



बौद्धोंका निर्वाण और अद्वैतवादियोंका मोक्ष एक ही वस्तु हैं। यह एक ऐसी उपलब्धि है जिसमें मनुष्य अपने-आपको अब इस नाम या इस आकारका कोई पृथक् व्यक्ति नहीं अनुभव करता, बल्कि एक अनंत शाश्वत, देहहीन (यद्यपि वह देशमें है), कालहीन (यद्यपि वह कालमें है), आत्मा अनुभव करता है। ध्यान रखो, मनुष्य इस स्थितिमें पूर्णतया भलीभांति कार्य कर सकता है और यह एकमात्र समाधिके द्वारा ही प्राप्य नहीं है।



यह (बुद्धका निर्वाण) एक ही चीज है (जो कि गीताका ब्रह्मनिर्वाण है)। बस, गीता इसे ब्रह्ममें निर्वाण कहकर वर्णित करती है जबकि बुद्ध उसे कोई नाम न देना पसंद करते हैं और उस विषयमें कुछ न कहना पसंद करते हैं जिसमें निर्वाण घटित हुआ। कुछ बादके बौद्धमतोंने उसका शून्य कहकर वर्णन किया जो चीनके ताओके समान है जिसका वर्णन इस प्रकार किया गया है कि वह वह 'कुछ नहीं' है जो सब कुछ है।



बौद्ध-धर्म कई प्रकारका है और पूर्णतः शून्यवादी मत केवल एक प्रकार है। अधिकांश बौद्ध मत एक नित्य वस्तुको स्वीकार करते हैं जो कर्म और संस्कारोंके राज्यसे परे है। यहांतक कि शून्यपंथियोंके शून्यका वर्णन भी लाओत्सेके ताओकी तरह किया गया है जो एक 'कुछ नहीं' है जो सब कुछ है। अतएव एक उच्चतर 'मानसोत्तर' स्थिति स्वीकार की गयी है जिसे चेतनाके एक प्रबल अनुशासनके द्वारा पानेकी कोशिश

मनुष्य करता है और इसलिये इसे आध्यात्मिकताका नाम दिया जा सकता है।



(बौद्धोंके) एकके विषयमें विभिन्न विवरण मिलते हैं। मैंने कहींपर ठीक ऐसा पढ़ा था कि बौद्धोंका एकमेव वह परम-बुद्ध हैं जिनसे सभी बुद्ध आते हैं—पर मुझे यह ऐसा लगा मानो किसी आधुनिक मनसे उत्पन्न वैदांतिक भाषामें बौद्धधर्मका कोई नया रूप हो। बौद्ध-धर्मका नित्य तत्त्व सदा ही विश्वातीत और अनिर्वचनीय माना गया है—यही कारण है कि बुद्धने कभी यह समझानेकी चेष्टा नहीं की कि वह क्या है; क्योंकि न्यायतः कोई भला अनिर्वचनीयके विषयमें कैसे बात कर सकता है? उसका वास्तवमें विश्व-ब्रह्मांडके साथ कोई सरोकार नहीं है जो कि संस्कारों और कर्मकी एक चीज है।



अनंतताकी ओर जाने या उसमें प्रवेश करतेपर सदा एक ही प्रकारकी छाप मनपर नहीं पड़ती। उस मार्गपर ही यह बहुत अधिक निर्भर करता है जिससे कि मन उसकी ओर जाता है। कुछ लोग पहले इसे इस रूपमें अनुभव करते हैं मानो यह अनंत ऊपर हो, दूसरे यह अनुभव करते हैं मानो यह हमारे चारों ओर हो जिसमें मन (एक शक्तिकी तरह) अपनी सीमाएं खोकर विलीन हो जाता है। कुछ लोग मानस-ऊर्जाको अनंतके अंदर लय होते हुए नहीं अनुभव करते, बल्कि पूर्णतः निष्क्रिय होते हुए अनुभव करते हैं। दूसरे लोग विशुद्ध सत्में ऊर्जाको पतित होते हुए या अंतर्धान होते हुए अनुभव करते हैं। कुछ लोग पहले अनंतको एक विराट् सत्ताके रूपमें अनुभव करते हैं जिसमें सब कुछ डूब जाता और विलुप्त हो जाता है; दूसरे, जैसा कि तुम लिखते हो, ऊपर ज्योतिके एक अनंत सागरके रूपमें और कुछ लोग ऊपर शक्तिके एक अनंत सागरके रूपमें अनुभव करते हैं। यदि बौद्धोंके किन्हीं विशिष्ट दलोंने अपने अनुभवमें उसे एक असीम शून्यके रूपमें अनुभव किया तो, उसके विपरीत, वैदांतिक लोग उसे एक आकारहीन और पूर्ण भावात्मक स्वयं-सत्के रूपमें देखते हैं। निःसंदेह, ये विभिन्न अनुभूतियां विभिन्न दर्शनोंमें परिणत की गयीं और प्रत्येक दर्शनने अपनी धारणाको ही

अंतिम बताया। परंतु प्रत्येक कल्पनाके पीछे एक ऐसा अनुभव था। तुम जिसको एक पूर्णतया रिक्त, ऊर्जा या ज्योतिसे रहित, पूर्णतः जड़ मानस-तत्त्व कहते हो वह वंध्या शांति और शून्य स्थिरताकी अवस्था है जो मुक्तिकी एक अवस्था है या हो सकती है। परंतु पीछे यह अपनेको अनंत सत्ता, चेतना (अपने अंदर ऊर्जाको लिये हुए) और अंतमें आनंदसे पूर्ण अनुभव कर सकती है।



"योग और उसके उद्देश्य" का यह उद्धरण[1] उस अध्यात्मभावापन्न मनके दृष्टिकोणके अनुसार लिखा गया है जो सीधे, अतिमानसके भीतरसे गुजरे विना या उसमें विलीन हुए विना चरम सत्यकी ओर जाता है। मन अपनी समस्त क्रियाओं और रचनाओंको दूर फेंककर और प्रत्येक वस्तुको उस शुद्ध सत्, सदात्मा में वदलकर अपनेको अध्यात्मभावापन्न वनाता है जिससे सभी वस्तुएं और क्रियाएं आती हैं और जो प्रत्येक वस्तुको अवलंव प्रदान करता है। जव वह और भी परे जाना चाहता है तो वह और भी आगे प्रत्याख्यान करता और एक असत् पर पहुंचता है जोकि इस समस्त जगत्का अभाव-रूप है और फिर भी कुछ है जो मन, वाणी या निर्धारक अनुभवके लिये अचिंतनीय है। वह अद्वैतवादी वेदांतियोंका निश्चल-नीरव अज्ञेय, तुरीय या निराकार और संवंधरहित केवल ब्रह्म है, शून्यवादी वौद्धोंका शून्य है, चीनी लोगोंका ताओ या सर्वव्यापी और परात्पर शून्य है, महायान-पंथका अव्याख्येय और अनिर्वचनीय नित्य है। वहुतेरे ईसाई रहस्यवादी भी एक पूर्ण अज्ञानकी आवश्यकताकी चर्चा करते हैं जिसमें कि चरम अनुभूतिको प्राप्त किया जाय तथा वे भागवत अंधकारकी भी वात कहते हैं—उनका मतलव है समस्त मानसिक ज्ञानको झाड़ फेंकना, मनको शून्य वना देना और उसे अव्यक्तमें, परम् अव्यक्तम् में निमज्जित कर देना। यह सव परात्परको पानेके मनके पथ हैं—क्योंकि अव्यक्तके परे, तमसः परस्तात्, ही है वह

---

[1]"सद्-आत्माके वहुत पीछे असत्की नीरवता है जिसे वौद्ध शून्यवादियोंने शून्यके रूपमें अनुभव किया और उस नीरवताके परे हैं परात्पर पुरुष (पुरुषो वरेण्य आदित्यवर्णस् तमसः परस्तात्)।"

—श्रीअरविंद लिखित "योग और उसके उद्देश्य"

परात्पर, गीताका पुरुषोत्तम, उपनिषदोंका पर पुरुष। वह अव्यक्तके अंधकारके विपरीत आदित्यवर्ण है; यह एक रूपक है, पर महज रूपक ही नहीं है, क्योंकि यह एक प्रतीक है, ऐसा प्रतीक है जो सूक्ष्म दृष्टिके द्वारा प्रत्यक्ष दिखायी देता है, और महज एक प्रतीक ही नहीं है, बल्कि, जैसा कि हम कह सकते हैं, आध्यात्मिक अनुभवका एक सत्य है। योगमें सूर्य अतिमानसका प्रतीक है और अतिमानस परात्परकी पहली शक्ति है जिसे मनुष्य उस सीमाके परे पाता है जहां अध्यात्मभावापन्न मनका अनुभव समाप्त हो जाता है और अविकृत दिव्य चेतना परा प्रकृतिके राज्यका प्रारंभ करती है। यह वही ज्योति है जिसकी झांकी वैदिक ऋषियोंको मिली थी और यह ईसाई रहस्यवादियोंके मध्यवर्त्ती अंधकारके विपरीत है; क्योंकि अतिमानस संपूर्ण ज्योति है और वहां कोई अंधकार नहीं है। मनके लिये परात्पर 'अव्यक्तात् परम् अव्यक्तम्' है, पर हम यदि अतिमानसकी ओर जानेवाली रेखाका अनुसरण करें तो यह, हम जिस वर्द्धमान प्रत्याख्यानके भीतरसे जा रहे हैं उससे भिन्न, एक वर्द्धमान अभिपुष्टि दिखायी देगा।

योगमें आंतरिक नेत्रसे सदा ही प्रकाश दिखायी देता है, यहांतक कि बाहरी आंख से भी दिखायी देता है, परंतु प्रकाश कई प्रकारका होता है; सभी प्रकाश न तो परात्पर ज्योति परमज्योतिः हैं और न वहांसे आते ही हैं।



विश्व केवल एक आंशिक अभिव्यक्ति है और ब्रह्म उसके आधारके रूपमें सत् है। परंतु एक 'वह' भी है जो अभिव्यक्त नहीं हुआ है और अभिव्यक्तिसे परे है तथा अभिव्यक्तिके आधारके अंदर धृत नहीं है। बौद्धों और दूसरोंने अंतिम वस्तुके रूपमें असत्की धारणा वहींसे प्राप्त की।

इसे दूसरा अर्थ इस प्रकार दिया जाता है—सत्=सनातन, असत् =क्षणिक और असत्य।



एक विशाल शांतिपूर्ण शून्यके रूपमें, जिसे हम जगत्से मुक्ति समझते हैं, आत्माका वह अनुभव है जिसे हम, बौद्ध हों या न हों, बराबर ही

प्राप्त कर सकते हैं। यह निर्वाणका नकारात्मक पक्ष है—इसे मनके लिये सबसे पहले पाना बिलकुल स्वाभाविक है, यदि वह प्रत्यावर्तककी नकारात्मक गतिका अनुसरण करे; और यदि तुम इसीको पकड़े रहो तथा इससे आगे जाना अस्वीकार कर दो, इस मुक्त असत्‌से संतुष्ट हो जाओ तो तुम स्वभावतः ही बौद्धोंकी तरह इस सिद्धांतका समर्थन करोगे कि शून्य ही शाश्वत सत्य है। लाओत्से कहीं अधिक दूरदर्शी है, क्योंकि उसने उसके विषयमें यह कहा था कि यह वह शून्य है जो सब कुछ है। निस्संदेह, बहुतोंको पहले आत्माका भावात्मक अनुभव होता है, शून्यके रूपमें नहीं होता बल्कि अद्वैतवादियों (शंकर)की तरह शुद्ध संबंधहीन सत्‌के रूपमें अथवा एकमेव सद्‌वस्तुके रूपमें होता है।



वे लोग (जिन्हें निर्वाणका अनुभव प्राप्त है) यह नहीं अनुभव करते हैं कि उनका कोई जरा भी अस्तित्व है। बौद्ध निर्वाणकी स्थितिमें वे यह अनुभव करते हैं मानो ऐसी कोई चीज बिलकुल ही नहीं है, केवल आकारहीन एक अनंत शून्य है। अद्वैत निर्वाणमें केवल एक विराट् सत् अनुभूत होता है, कोई भी पृथक् सत्ता कहीं दृष्टिगोचर नहीं होती। निश्चय ही, वहां आकार तो होते हैं, पर वे केवल आकार होते हैं, पृथक् सत्ताएं नहीं। मन शांत-नीरव होता है, विचार बंद हो गये होते हैं—कामनाएं, आवेग, प्राणिक क्रियाएं कोई भी नहीं होतीं। वहां चेतना होती है पर केवल एक आकारहीन, सीमाहीन मूलभूत चेतना होती है। शरीर हिलता-डुलता और कार्य करता है, पर शरीरका बोध वहां नहीं होता। कभी-कभी वहां केवल शुद्ध सत्‌की चेतना, कभी-कभी केवल विशुद्ध चेतना होती है और कभी-कभी जो कुछ होता है वह केवल एक अविराम असीम आनंद होता है। उस समय यह कहना संदिग्ध होता है कि बाकी सब कुछ वास्तवमें विलीन हो गया है या केवल आवृत हो गया है, पर जो हो, वह एक ऐसा अनुभव होता है मानो उन सबका लय हो गया हो।



अहंकार और उसकी सतत विद्यमानताको वे (बौद्ध लोग) एक भ्रम कहते हैं, एक नियत धाराके अंदर शक्तियों और भावनाओंके निरंतर

प्रवाहित होनेका परिणाम कहते हैं। उनकी दृष्टिमें अहंकी कोई वास्तविक रचना नही है। मुक्तिका जहांतक प्रश्न है, वह है दुःख आदिसे मुक्ति प्राप्त करनेके लिये,—यह दुःखादि शक्तियोंका कष्टकर प्रवाह है तथा दुःख-दर्दसे छुटकारा पानेके लिये उनके सातत्यको भंग करना ही होगा। यह सब तो ठीक है, पर यह आरंभ कैसे हुआ, इसका एकदम अंत ही क्यों होना चाहिये, और मुक्तिसे किसी व्यक्तिको लाभ कैसे होता है जबकि वहां कोई है ही नहीं, है केवल विचार और कर्मका एक ढेर—ये सब असमाधेय रहस्य हैं। पर क्या यही कठिनाई मायावादियोंके साथ भी नहीं है, क्योंकि वास्तवमें कोई जीव है ही नहीं, है केवल ब्रह्म और ब्रह्म तो स्वभावसे ही सदाके लिये मुक्त और अबद्ध है? तो फिर मायाका यह सब वाहियात मामला अस्तित्वमें आया कैसे और कौन मुक्त होता है? बस, यही बात तो प्राचीन ऋषियोंने अंतमें कही थी, "कोई बद्ध नहीं है, कोई मुक्त नही है, कोई मुक्त होनेकी चेष्टा नहीं करता।" यह सब एक मूल-भ्रांति था (यद्यपि था एक दीर्घस्थायी भ्रम)। मैं समझता हूं, बौद्धोंने भी ऐसा कहा था।



बुद्ध और शंकर दोनोंके अनुसार मुक्तिका अर्थ है किसी परात्पर नित्यमें, जो व्यक्तिभावापन्न नहीं है, व्यक्तिका लय—अतएव न्यायतः व्यक्तिगत जीवमें विश्वास करना मुक्त होनेसे रोकता है जबकि संसारमें दुःख-कष्टकी भावना यहांसे भागनेकी प्रवृत्तिको उत्पन्न करती है।



"चले जाना"[1] शब्द यह सूचित करता है कि उनका मतलब उस

---

[1] "महान् आत्मा......और भी उच्चतर विकासकी ओर चले जानेका अपना अधिकार त्याग देते हैं और समस्त सजीव प्राणियोंकी भलाईके लिये विश्वके अंदर बने रहते हैं......। ये ही वे बोधिक शक्तियां हैं......जो मनुष्य जातिको......पृथ्वी पर पूर्णता प्राप्त सामाजिक व्यवस्थाकी ओर ले जाती हैं।" डा० डब्ल्यू० वाई० इवान्स-वेंज कृत 'तिब्बती योग और गुह्य सिद्धान्त।" (Tibetan Yoga and Secret Doctrines') ।

विकाससे नहीं है जो पृथ्वीपर होता है बल्कि विश्वसे परे कहींपर होता है, भगवान् जानें कहां होता है। ऐसी हालतमें निर्वाण अन्य लोकोंकी ओर जानेके पथपर कोई एक स्थान या लोक होगा और जीव एक जगत्से दूसरे जगत्में विकसित होता होगा—उदाहरणार्थ, पृथ्वीसे निर्वाणमें और निर्वाणसे किसी पर-निर्वाणके लोकमें। यह संपूर्णतः यूरोपियन भावना है और यह एकदम विश्वासयोग्य नहीं कि यह मत बौद्धलोग मानते हैं। भारतीय भावना यह थी कि क्रमविकास यहां (पृथ्वीपर) होता है और देवतागण भी यदि अपने देवत्वसे परे जाना और मुक्ति पाना चाहते हैं तो उन्हें इस उद्देश्य-सिद्धिके लिये पृथ्वीपर आना पड़ता है। सच पूछा जाय तो पाश्चात्य अध्यात्मवादी लोग तथा अन्यान्य लोग ऐसा समझते हैं कि पृथ्वीपर जन्म लेना प्रगतिका एक स्तर है और पृथ्वीसे निम्नकोटिके किसी स्थानसे जीव यहां आता है। एक बार जब पृथ्वीपर जन्म हो जाता है तो फिर मनुष्य वापस नहीं जाता, बल्कि किसी दूसरे जगत्में जाता है जहां वह तबतक रहता है जबतक कि वह और किसी श्रेष्ठतर जगत्में जानेके लिये प्रगति नहीं कर पाता और इसी तरह और भी आगे-आगे चलता रहता है। फिर, यह "पृथ्वीपर पूर्णताप्राप्त सामाजिक व्यवस्था" भी निश्चय ही कोई बौद्ध-धर्मीय भावना नहीं है, बौद्धोंने कभी इसका स्वप्न नहीं देखा—उनका मुख्य काम था मनुष्योंको निर्वाणकी ओर जानेमें सहायता करना, यहां (पृथ्वीपर) पूर्णताप्राप्त सामाजिक व्यवस्थाकी ओर जानेमें सहायता करना नहीं। यह सब बौद्धधर्मके बिलकुल विपरीत है।



निर्वाण एक साथ ही पथका अंत (जिसके परे कुछ भी खोजनेके लिये न हो) और फिर केवल एक विश्राम-गृह अथवा यों कहें कि, उच्चतर पथका प्रारंभ (जिसके बाद कभी भी सब कुछ खोजना बाकी हो) नहीं हो सकता....। समाधान यह होगा कि यह निम्नतर प्रकृतिमेंसे निकलनेके निम्नतर पथका अंत है और उच्चतर विकासका प्रारंभ है। ऐसी अवस्थामें हमारे योगकी शिक्षाके साथ इसका ठीक-ठीक मेल बैठ जायगा।



भला यह निरपेक्ष (Absolute)[1] वेदांतके निरपेक्षसे भिन्न कैसे है? अथवा यह मुक्ति वैदांतिक मुक्तिसे भिन्न कैसे है? यदि बात ऐसी होती तो फिर बौद्धधर्म और वैदांतिक संप्रदायोंके बीच यह सब झगड़ा कभी न हुआ होता। यह बौद्ध-धर्मका कोई नवीन संस्करण होगा अथवा यह कोई बादमें होनेवाला उसका विकास होगा जिसमें बौद्ध-धर्मने अपनेको घटाकर अद्वैतका रूप ले लिया होगा।

परंतु, क्या यह उच्चतर विकास वास्तवमें कोई बौद्ध-धर्मका विचार है या केवल कोई इस बातका यूरोपियन वर्णन है कि निर्वाण क्या होगा?



ऐसे वर्णनमें[2] कोई अंतर नहीं है और फिर 'सोल' (soul) शब्दका क्या अर्थ है, सिवा इसके कि यह 'निर्व्यक्तिक' कहा गया है—पर स्पष्ट ही यहां निर्व्यक्तिकका प्रयोग उस वस्तुके विपरीत किया गया है जो नाम, शरीर और आकारपर आश्रित है, जिसे व्यक्तित्व कहा जाता है। यूरोपियन लोग विशेष रूपसे, पर दार्शनिक विचारोंसे रहित लोग भी, बड़ी आसानीसे इस बाह्य व्यक्तित्वको ही 'सोल' (अंतरात्मा) समझनेकी

---

[1]"इस तरह समस्त प्रज्ञा-परमिताके आधारके रूपमें विद्यमान शून्यताका सिद्धांत...दृश्य वस्तुओंमें अंतर्हित निरपेक्षको स्वीकार करता है, क्योंकि निरपेक्ष ही दृश्य वस्तुओंका मूल स्रोत और अवलंब है। ...और, अज्ञानसे मुक्त बोधि-प्रकाशित मनके द्वारा वस्तुओंका अंतिम विश्लेषण करनेपर द्वैत विलीन हो जाता है पर सर्वमें एक, एकमें सर्व रह जाता है।"—डा० डब्ल्यू० वाई० ईवान्स-वेंज द्वारा लिखित 'तिब्बती योग एंड सिक्रेट डाक्ट्रीन्स"।

[2]"एक निर्व्यक्तिक तत्व; विश्व-ब्रह्मांडकी पिंड-रूपमें यह प्रतिमूर्त्ति, सारी सृष्टिमें, अथवा संसारके अन्दर प्रसीमित सत्ताकी स्थितियोंमें विद्यमान रहती है...। परन्तु निर्व्यक्तिक चैतन्य-तत्त्वको किसी भी तरह किसी नामके द्वारा, अथवा शारीरिक आकार अथवा किसी सांसारिक मनके द्वारा प्रकटित व्यक्तित्वके साथ एकात्म नहीं किया जा सकता...वह अपने-आपमें अ-सांसारिक है, एक ऐसी सत्ता है जो असृष्ट, अजन्मा, अरूप, मानवीय कल्पना या परिभाषासे अतीत है और इसलिये काल और देशका अतिक्रमण करती है... यह आदिहीन और अंतहीन है।" —डा० डब्ल्यू० वाई० ईवान्स-वेंज लिखित पुस्तक "तिब्बतन योग एंड सिक्रेट डाक्ट्रीन्स"।

मूल करेंगे और फिर वे अजन्मा और अनंत सत्ताको 'सोल' (अंतरात्मा) का नाम देना अस्वीकार करेंगे। तब क्या वे उसे आत्मा समझते हैं? परंतु कठिनाई यह है कि प्राचीन बौद्धोंने आत्माकी कल्पनाका भी परित्याग कर दिया था। अतएव हम पूर्णतः निराधार स्थितिमें रह जाते हैं। शून्यवादी बौद्धोंकी शिक्षा खूब स्पष्ट और बोधगम्य है; उसके अनुसार कोई आत्मा (soul) नहीं है, है केवल निरवच्छिन्न संस्कारोंका एक गट्ठर अथवा ऐसे संस्कारोंकी एक धारा जो विना निर्वाचित हुए अपने-आपको पुनरुज्जीवित करते रहते हैं। परंतु यह महायानियोंका मामला कुछ-कुछ वेदांतके साथ ढीला-ढाला और संक्षिप्त समझौता प्रतीत होता है।



अधिकांश योगोंमें ऐसे तत्त्व हैं जो इस योगमें प्रवेश करते हैं, अतएव, यदि कोई चीज बौद्ध-धर्ममें भी हो तो इसमें कोई आश्चर्यकी बात नहीं। परंतु निर्वाणके परे किसी उच्चतर विकासकी जैसी इस प्रकारकी धाराणाएं मुझे विशुद्ध बौद्ध धारणाएं नहीं प्रतीत होतीं, अवश्य ही जबतक कि बौद्ध-धर्मकी कोई ऐसी शाखा ही न हो जिसने लेखक-द्वारा व्याख्यात विषय जैसी कोई चीज विकसित की हो। मैंने बुद्धकी शिक्षाके अंगके रूपमें इसे कभी नहीं सुना—उन्होंने सर्वदा निर्वाणको ही लक्ष्य बताया और दार्शनिक रूपसे इस बातकी आलोचना करना अस्वीकार कर दिया कि इस निर्वाणका क्या रूप होगा।



जैन दर्शनका संबंध व्यक्तिगत पूर्णतासे है। हमारा प्रयास बिलकुल भिन्न है। हम एक नवीन शक्तिके रूपमें अतिमानसको उतार लाना चाहते हैं। ठीक जिस तरह आजकल मनुष्यजातिके अंदर मन चेतनाकी स्थायी स्थिति है, उसी तरह हम एक ऐसी जातिकी सृष्टि करना चाहते हैं जिसमें अतिमानस चेतनाकी स्थायी स्थिति होगा।

(3)

यह बात सत्य नहीं है कि गीता श्रीअरविंदके संदेशका समूचा आधार प्रदान करती है; क्योंकि ऐसा लगता है कि गीता संसारमें जन्म

लेना बंद हो जानेको अंतिम लक्ष्य अथवा कम-से-कम योगकी चरम परिणति स्वीकार करती है। वह आध्यात्मिक विकासकी भावनाको अथवा उच्चतर लोकों तथा अतिमानसिक सत्य-चेतना और उस चेतनाको पार्थिव जीवनके पूर्ण रूपांतरके साधनके रूपमें नीचे उतार लानेकी भावनाको उपस्थापित नहीं करती।

श्रीअरविंदकी व्याख्याके अनुसार ऋग्वेदमें और उपनिषदोंके एक या दो प्रकरणोंमें अतिमानसकी, सत्य-चेतनाकी भावना विद्यमान है, पर उपनिषदोंमें यह केवल उस विज्ञानमय पुरुषकी परिकल्पनामें ही बीज रूपमें विद्यमान है जो मनोमय, प्राणमय और अन्नमय पुरुषके परे है; ऋग्वेदमें यह भावना विद्यमान तो है पर है केवल एक मौलिक तत्त्वके रूपमें, इसको विकसित नहीं किया गया है और इसका वह मौलिक तत्त्व भी हिन्दू परंपरामेंसे तिरोहित हो गया है।

हिन्दू-परंपराके मुकाबले श्रीअरविंदकी शिक्षाकी नवीनता प्रदर्शित करनेवाली चीजोंमेंसे कुछ ये हैं—एक तो यह भावना कि यह जगत् न तो मायाकी सृष्टि है और न केवल भगवान्‌की लीला, न अज्ञानमें होनेवाले जन्मोंका एक चक्र जिसमेंसे हमें बाहर निकल जाना होगा, बल्कि अभिव्यक्तिका एक क्षेत्र है जिसमें अंतरात्माका तथा जड़तत्त्वकी प्रकृतिका विकास होता है और यह विकास जड़तत्त्वसे प्राण और मनमेंसे होता हुआ मनसे परेके किसी तत्त्वकी ओर तबतक होता रहता है जबतक कि जीवनमें सच्चिदानंदकी पूर्ण अभिव्यक्ति नहीं हो जाती। बस, यही चीज इस योगका आधार है और जीवनको एक नया अर्थ प्रदान करती है।



यहां कोई यथार्थ विरोध नहीं है; ये दोनों प्रसंग[1] गीताकी योग पद्धतिमें उसके योगकी—जिसकी उच्चतम क्रिया है पूर्ण समर्पण—दो भिन्न-भिन्न क्रियाओंको सूचित करते हैं। मनुष्यको सबसे पहले अपनी निम्नतर प्रकृतिको जीतना होता है, निम्नतर क्रियाओंमें ग्रस्त आत्माको

---

[1] "उद्धरेदात्मनाऽऽत्मानं—आत्माके द्वारा आत्माका उद्धार करो" (गीता 6-5); तथा "सर्वधर्मान् परित्यज्य—समस्त धर्मोंका त्याग कर दो।" (गीता 18-66)।

उच्चतर आत्माकी सहायतासे मुक्त करना होता है और वह इस तरह दिव्य प्रकृतिमें उन्नीत होता है; उसके साथ-ही-साथ मनुष्य अपने सभी कर्मोको, योगके आंतरिक कार्यके सहित, यज्ञ-रूपमें पुरुषोत्तमको, परात्पर और अंतर्यामी भगवान्को अर्पित करता है। जब मनुष्य उच्चतर आत्मामें ऊपर उठ जाता है तब उसे ज्ञान प्राप्त होता है, वह मुक्त होता है, वह अन्य सभी धर्मोका त्याग कर, एकमात्र दिव्य चेतना, दिव्य संकल्प और शक्ति तथा दिव्य आनंदमें निवास करता हुआ भगवान्के प्रति पूर्ण समर्पण करता है।

हमारा योग ठीक गीताके योगके साथ नहीं मिलता-जुलता, यद्यपि यह उन सभी बातोंका अपने अंदर समावेश करता है जो गीताके योगकी प्रमुख बातें हैं। हम अपने योगमें पूर्ण समर्पणकी भावना, संकल्प और अभीप्सासे आरंभ करते हैं पर साथ ही हमें निम्नतर प्रकृतिका परित्याग करना होता है, उससे अपनी चेतनाको मुक्त करना होता है, निम्नतर प्रकृतिमें ग्रस्त आत्माका उच्चतर प्रकृतिमें मुक्तिकी ओर जानेवाले आत्माके द्वारा उद्धार करना होता है। यदि हम इस द्विविध क्रियाको न करें तो यह खतरा है कि हम तामसिक और इसलिये झूठा आत्मसमर्पण कर बैठेंगे, कोई प्रयास नहीं करेंगे, तपस्या नहीं करेंगे और इसलिये कोई प्रगति भी नहीं करेंगे। अथवा बहुत हुआ तो हम भगवान्के प्रति नहीं बल्कि भगवान्की किसी स्वनिर्मित मिथ्या भावना या मूर्त्तिको, जो हमारे राजसिक अहंका ही एक छद्मरूप होती है या उससे भी कहीं अधिक बुरी कोई चीज होती है, राजसिक समर्पण कर बैठेंगे।



जबतक हम वर्तमान विश्व-चेतनामें निवास करते हैं तबतक यह जगत्, जैसा कि गीताने कहा है, **'अनित्यमसुखम्'** है। उससे विमुख ही केवल भगवान्की ओर मुड़ने और भागवत चेतनामें निवास करनेपर ही हम, जगत्के द्वारा भी, शाश्वत भगवान्को प्राप्त कर सकते हैं।



बहुतसे विषयोंमें गीताकी भाषा कभी-कभी स्व-विरोधी प्रतीत होती है, क्योंकि वह दो आपात विरोधी सत्योंको स्वीकार करती है और उनमें समन्वय स्थापित करनेकी चेष्टा करती है। वह संसारसे प्रयाण कर

ब्रह्ममें चले जानेके आदर्शको एक संभावनाके रूपमें स्वीकार करती है; फिर साथ ही वह भगवान्में (वह कहती है, 'मुझमें') मुक्त जीवन विताने तथा जगत्में जीवन्मुक्तके रूपमें कार्य करनेकी संभावनाको भी प्रस्थापित करती है। वह इस अंतिम समाधानपर ही सबसे अधिक जोर देती है। इसीलिये रामकृष्ण 'ईश्वरकोटि आत्माओं'को जीवों (जीव-कोटियों)से ऊंचा स्थान देते हैं जो सीढ़ीसे उतर सकते हैं तथा साथ ही उसपर चढ़ सकते हैं, 'जीवकोटि'के जीव तो एक वार ऊपर चढ़ जानेके वाद फिर भागवत कर्मके लिये नीचे उतरनेकी शक्ति कहीं रखते। पूर्ण सत्य अतिमानसिक चेतनामें है तथा जीवन और जड़तत्त्वपर वहांसे कार्य करनेकी शक्ति भी उसीमें है।



गीताका वर्णन यह कहकर नहीं किया जा सकता कि यह प्रेमधर्मका ग्रंथ है। वह जो कुछ विवृत करती है वह है ज्ञान, भक्ति और कर्मका योग जो आध्यात्मिक चेतना तथा भगवान् और उनके अंदर सर्वभूतके साथ एकत्वकी अनुभूतिपर आधारित है। वहां भक्तिको, भगवान्की भक्ति तथा उनके प्रति प्रेमको, जिसमें सर्वभूतोंके साथ एकत्व और सर्वभूतोंके प्रति प्रेम भी सन्निहित है, एक ऊंचा स्थान दिया गया है, पर सदा ही ज्ञान और कर्मके साथ संवंध रखते हुए ऊंचा स्थान दिया गया है।



पर याद रखो कि गीताके लेखकका उद्देश्य यह नहीं था कि वह रूपक हो—यदि तुम चाहो तो यह कह सकते हो कि अव हमें एक रूपककी तरह इसकी व्याख्या करके इसके पुराने युद्ध-तत्त्वको निकाल देना चाहिये। गीता योग है, वाह्यजीवन और कर्ममें प्रयुक्त आध्यात्मिक सत्य है—पर वह कर्म कोई भी कर्म हो सकता है, यह आवश्यक नहीं कि वह कर्म गीताके कर्मसे मिलता-जुलता हो। वस, कर्ममें प्रयुक्त आध्यात्मिक चेतनाके तत्त्वको वनाये रखना होगा—जिस विशेष उदाहरणको गीताने प्रयुक्त किया है उसे प्राचीन जगत्से संवंधित एक वस्तु माना जा सकता है।



गीता स्पष्ट रूपसे भगवती माताकी वात नहीं कहती; वह वरावर

ही पुरुषोत्तमको आत्मसमर्पण करनेकी बात कहती है—वह भगवती माताका जिक्र केवल पराप्रकृतिके रूपमें करती है जो जीव बनती है—'जीवभूता', अर्थात् जो भगवान्‌को 'बहु'के अंदर अभिव्यक्त करती है और जिसकी सहायतासे परात्पर प्रभुने इन सब जगतोंकी सृष्टिकी है तथा वह स्वयं अवतारके रूपमें उतरते हैं। गीता वैदांतिक परंपराका अनुसरण करती है जो पूरी तरहसे भगवान्‌के ईश्वर-रूपपर जोर देती है और भगवती माताकी बात बहुत कम करती है, क्योंकि उसका उद्देश्य है जगत्-प्रकृतिसे पीछे हट जाना और उसके परे जाकर चरम उपलब्धि प्राप्त करना; तांत्रिक परंपरा शक्ति या ईश्वरी-रूपपर अधिक जोर देती है और सबको भगवती मातापर ही निर्भर रहनेको बाध्य करती है, क्योंकि उसका उद्देश्य है विश्व-प्रकृतिको वशमें करना और उसपर शासन करना तथा उसीके द्वारा चरम उपलब्धि प्राप्त करना। यह योग इन दोनों पक्षोंपर जोर देता है; भवगती माताके प्रति आत्मसमर्पण करना आवश्यक है, क्योंकि इसके विना इस योगका उद्देश्य ही सिद्ध नहीं हो सकता।

पुरुषोत्तमके संपर्कमें भगवती माता जगतोंसे ऊपरकी परात्परा दिव्य चेतना और शक्ति, आद्याशक्ति हैं; वह परात्परको अपने अंदर धारण करती हैं और अक्षर तथा क्षरके द्वारा भगवान्‌को विभिन्न जगतोंमें अभिव्यक्त करती हैं। अक्षरके संपर्कमें वह वही पराशक्ति हैं जो समस्त सृष्टिके पीछे अपने अंदर पुरुषको निष्क्रिय-निश्चल रूपमें धारण करती हैं। और स्वयं भी उसके अंदर स्थिर-निश्चल रहती हैं। क्षरके संपर्कमें वह सचल विश्व-शक्ति हैं जो सभी सत्ताओं और शक्तियोंको प्रकट करती हैं।



मुझे नहीं मालूम कि पुरुषोत्तम-चेतना जैसी कोई चीज है जिसे मनुष्य अपने लिए प्राप्त कर सकता या अनुभूत कर सकता है; क्योंकि, गीताके अनुसार पुरुषोत्तम हैं परात्पर प्रभु, परम पुरुष जो अक्षर और क्षरके परे हैं तथा 'एक' और 'बहु' दोनोंको धारण करते हैं। गीता कहती है कि मनुष्य ब्राह्मी-चेतनाको प्राप्त कर सकता है, अपनेको पुरुषोत्तमके सनातन अंशके रूपमें अनुभव कर सकता एवं पुरुषोत्तममें निवास कर सकता है। पुरुषोत्तम-चेतना परात्पर पुरुषकी चेतना है और

मनुष्य अहंका लोप होने तथा अपने सच्चे स्वरूपका साक्षात्कार करनेके बाद उसमें निवास कर सकता है।

⊙

ऋषियोंके समयमें और उससे पहले भी भारतकी आध्यात्मिक विचारधारामें सांख्य और वेदांतके तत्त्व सर्वदा ही मिलेजुले थे। सांख्य-वर्णित सत्ताके संघटक तत्त्वोंको (पुरुष, प्रकृति, पंचतत्त्व, इंद्रिय, बुद्धि आदिको) सर्वत्र स्वीकार किया जाता था तथा प्रत्येक जगह कपिलकी चर्चा बड़े आदरके साथ की जाती थी। गीतामें उनकी गणना महान् विभूतियोंमें की गयी है; श्रीकृष्ण कहते हैं—"मुनीनां कपिलो मुनिः—मुनियोंमें मैं कपिल मुनि हूं।"

(4)

वेद और वेदांत एकमेव परम सत्यका एक पक्ष है; शक्तिपर बल देनेवाला तंत्र उसका दूसरा पक्ष है; इस योगमें सत्यके सभी पक्ष ग्रहण किये जाते हैं, पर उन व्यवस्थित रूपोंमें नहीं जो उन्हें प्राचीन समयोंमें दिया गया था, बल्कि अपने सारतत्त्वके रूपमें ग्रहण किये जाते हैं और उन्हें उनके पूर्णतम और उच्चतम महत्त्वतक ले जाया जाता है। परंतु वेदांत दिव्य ज्ञानके सिद्धांतों और मूल तत्त्वोंकी चर्चा अधिक करता है और इसलिये उसके अधिकांश आध्यात्मिक ज्ञान और अनुभवको 'आर्य' पत्रिकामें पूरेका पूरा ले लिया गया है। तंत्र विधियों, प्रक्रियाओं तथा सुसंगठित शक्तियोंकी चर्चा अधिक करता है—ये सब चीजें, जैसी कि वे हैं, ग्रहण नहीं की जा सकीं, क्योंकि पूर्णयोगको अपनी निजी विधियां और प्रक्रियाएं विकसित करनेकी आवश्यकता है; परंतु चक्रोंके भीतरसे चेतनाका आरोहण तथा अन्य तांत्रिक ज्ञान उस रूपांतरकी प्रक्रियाके पीछे विद्यमान है जिसको मैं इतना अधिक महत्त्व प्रदान करता हूं—साथ ही यह सत्य भी विद्यमान है कि श्रीमांकी शक्तिकी सहायताके बिना कुछ भी संपन्न नहीं किया जा सकता।

कुंडलिनीको जगाकर चक्रोंके भीतरसे ऊपर उठा ले जानेकी प्रक्रिया तथा चक्रोंकी शुद्धिकी प्रक्रिया भी तांत्रिक ज्ञान है। हमारे योगमें चक्रोंकी शुद्धि और उनका उद्घाटन इच्छापूर्वक करनेकी कोई पद्धति नहीं है और

न किसी सुनिश्चित प्रक्रियाके द्वारा कुंडलिनीको ऊपर उठानेकी ही पद्धति है। दूसरी ही प्रक्रियाका प्रयोग किया जाता है और फिर भी विभिन्न स्तरोंसे तथा उनमेंसे होते हुए ऊपर उच्चतर चेतनासे युक्त होनेके लिये चेतनाका आरोहण होता है; चक्रोंका तथा उन लोकों (मानसिक, प्राणिक, भौतिक) का भी उद्घाटन होता है जिनपर इन चक्रोंका आधिपत्य होता है; फिर अवरोहण भी होता है जो कि आध्यात्मिक रूपांतरकी प्रधान कुंजी है। अतएव, मैं कह ही चुका हूं, इस योगमें रूपांतरकी प्रक्रियाके पीछे तांत्रिक ज्ञान विद्यमान है।



हमारे योगमें इच्छापूर्वक चक्रोंका उद्घाटन नहीं किया जाता, वे अपने-आप शक्तिका अवतरण होनेसे खुल जाते हैं। तांत्रिक साधनामें वे क्रमशः नीचेसे ऊपर खुलते हैं, मूलाधार सबसे पहले खुलता है; हमारे योगमें वे ऊपरसे नीचे खुलते हैं। परंतु मूलाधारसे शक्तिका आरोहण अवश्य होता है।



तंत्रमें एक विशेष प्रक्रियाके द्वारा चक्रोंका उद्घाटन किया जाता है और कुंडलिनी-शक्ति जागृतकी जाती है और उसके आरोहणकी क्रिया मेरुदंडके भीतर अनुभूत होती है। यहां (इस योगमें) ऊपरसे दिव्य शक्तिका दबाव पड़ता है और उसीसे कुंडलिनी-शक्ति जगती है और चक्र भी खुल जाते हैं। चेतनाका एक प्रकारका आरोहण होता है और वह ऊपर जाकर उच्चतर चेतनाके साथ युक्त हो जाती है। यह क्रिया बार-बार होती है (कभी-कभी एक प्रकारका अवरोहण भी अनुभूत होता है) और उससे अंतमें सभी चक्र खुल जाते हैं तथा चेतना शरीरसे ऊपर उठ जाती है। उसके बाद एक अवस्थामें जाकर वह ऊपर ही अवस्थित रहती है और विश्व-चेतना तथा विराट् आत्मामें विस्तारित हो जाती है। यही इसका सामान्य तरीका है, पर कभी-कभी यह प्रक्रिया बहुत क्षिप्र गतिसे होती है और ऊपर सहसा और सुनिश्चित उद्घाटन, हो जाता है।



इस योगमें शक्तिका आरोहण और अवरोहण अपने निजी तरीकेसे

घटित होता है। तांत्रिक पुस्तकोंमें जो सब विवरण दिये गये हैं उनके घटित या अनुभूत होनेकी कोई आवश्यकता नहीं होती। बहुतसे साधक तो चक्रोंके विषयमें सचेतन होते हैं, पर दूसरे एक साधारण रूपमें ही, चक्रसे चक्रमें नहीं वरन् स्तरसे स्तरमें, आरोहण या अवरोहणका अनुभव करते हैं; वे शक्तिको पहले मस्तकमें, फिर हृदयमें, फिर नाभिस्थलमें और उसके नीचे भी अवतरित होते हुए अनुभव करते हैं। तांत्रिक वर्णनके अनुसार चक्रोंमें अवस्थित देवताओंका साक्षात्कार करना बिलकुल ही आवश्यक नही है, पर कुछ लोग विभिन्न केंद्रोंमें श्रीमाताजीको अनुभव करते हैं। इन सब विषयोंमें हमारी साधना पुस्तकोंमें दिये गये ज्ञानके साथ नहीं चिपकी रहती, वह केवल पीछे विद्यमान केंद्रीय सत्यको बनाये रखती है और प्राचीन रूपों और चिह्नोंकी अधीनता स्वीकार किये बिना स्वाधीन रूपसे उसे उपलब्ध करती है। तांत्रिक पुस्तकोंमें चक्रोंका जो अर्थ दिया गया है यहां उनका उससे एकदम भिन्न अर्थ है।



हां, हमारे योगका लक्ष्य है ऊर्ध्वमें भगवान्के साथ साक्षात् संपर्क स्थापित करना और ऊपरसे दिव्य चेतनाको सभी केंद्रोंमें उतार लाना। मानसिक, प्राणिक और सूक्ष्म-भौतिक लोकोंसे संबंध रखनेवाली गुह्य शक्तियोंको प्राप्त करना हमारा लक्ष्य नहीं है। मनुष्यको मार्गमें विभिन्न दिव्य शक्तियों और व्यक्तित्वोंका संपर्क प्राप्त हो सकता है, पर उन्हें केंद्रोंमें स्थापित करनेकी कोई आवश्यकता नहीं, यद्यपि कभी-कभी अपने-आप ही साधनाके क्रममें कुछ समयके लिये ऐसा घटित होता है (जैसे कि श्रीमाताजीके चार व्यक्ति-रूपोंके साथ होता है)। परंतु ऐसा करनेका कोई नियम नहीं है। हमारे योगका उद्देश्य है नमनीय होना और भागवत शक्तिको प्रकृतिके अनुसार सभी आवश्यक कार्य करने देना, पर ये सब चीजें अपने ब्योरोंमें प्रत्येक व्यक्तिके साथ अलग-अलग हो सकती हैं।



गुह्य विद्या प्रकृतिकी प्रच्छन्न शक्तियोंके ज्ञान तथा उनके समुचित प्रयोगको कहते है।

गुह्य शक्तियां वे शक्तियां हैं जो आपातदृश्य रूपों और व्यापारोंके

पर्देके पीछे जानेपर ही जानी जा सकती हैं—विशेषतः वे सूक्ष्म भौतिक और अतिभौतिक लोकोंकी शक्तियां होती हैं।



साधारणतया, सभी अति आंतरिक और सभी असामान्य मनोवैज्ञानिक अनुभवोंको अंगरेजीमें 'साइकिक' (मनोवैज्ञानिक या आत्मिक) कहा जाता है। मैं 'साइकिक' शब्दको मन और प्राणसे पृथक अंतरात्माके अर्थमें प्रयुक्त करता हूं। उस अर्थमें अंतरात्माकी सभी क्रियाओं और अनुभूतियोंको 'साइकिक' (चैत्य) कहा जा सकता है; उन सबको 'चैत्य' या 'साइकिक' कहा जा सकता है जो चैत्यपुरुषसे निःसृत होती या सीधे उसका स्पर्श करती हैं। जहां मन और प्राण प्रमुख होते हैं वहां अनुभूतिको मनोवैज्ञानिक या मानसिक (बाह्य या गुह्य) कहा जायगा। "आध्यात्मिक"-का 'निरपेक्ष'के साथ कोई अनिवार्य संबंध नहीं है। तब इसमें संदेह नहीं कि 'निरपेक्ष' की अनुभूति आध्यात्मिक है। आत्माके, उच्चतर चेतनाके तथा ऊर्ध्वस्थित भगवान्‌के साथके सभी संपर्क आध्यात्मिक हैं। अन्य संपर्क भी हैं जिनको इतनी कठोरतापूर्वक श्रेणीबद्ध नहीं किया जा सकता अथवा एकको दूसरेके विरुद्ध नहीं रखा जा सकता।

आध्यात्मिक उपलब्धि सबसे अधिक महत्त्व रखती है और अनिवार्य होती है। मेरी समझमें सबसे उत्तम यह है कि गुह्य प्रदेशोंमें प्रवेश करनेसे पूर्व सर्वप्रथम आध्यात्मिक और चैत्य विकास साधित कर लिया जाय तथा उसे उसी पूर्णताके साथ साधित किया जाय। जो लोग पहले गुह्य प्रदेशोंमें प्रवेश करते हैं उनकी आध्यात्मिक उपलब्धि दीर्घकालके लिये रुक जाती है—दूसरे लोग तो गुह्य प्रदेशके जटिल जालोंमें फंस जाते हैं और इस जीवनमें उनसे बाहर नहीं निकलते। निस्संदेह, कुछ लोग दोनोंको, गुह्य और आध्यात्मिक अनुभवोंको, एक साथ जारी रख सकते हैं और उनको एक-दूसरेका सहायक बना सकते हैं; परंतु जो प्रक्रिया मैं बताता हूं वह कहीं अधिक सुरक्षित है।

हमारे लिये सबसे प्रधान लक्ष्य होने चाहियें भगवान्‌के साथ युक्त होना तथा चैत्य पुरुष—गुह्य नियमों तथा व्यापारोंका ज्ञान तो प्राप्त करना होगा पर उन्हें केवल एक साधन समझना होगा न कि प्रमुख लक्ष्य। गुह्य शक्तियोंका एक विशाल क्षेत्र है और वह कठिन है तथा अपने खतरोंसे खाली नहीं है। उसका त्याग करनेकी

आवश्यकता तो नहीं है पर उसे सर्वप्रथम स्थान भी नहीं देना चाहिये।



सूक्ष्म शक्तियोंके संपर्कमें रहकर सूक्ष्मलोकमें कार्य करना और उसके साथ-साथ शरीरसे बाहर निकल जाना कोई आध्यात्मिक उद्देश्य नहीं है बल्कि ये सब बातें गुह्यविद्याके क्षेत्रसे संबंध रखती हैं। यह सब योगके लक्ष्यका कोई अंग नहीं हैं। इसके अतिरिक्त, आश्रममें उपवास करनेकी अनुमति भी नहीं दी जाती, क्योंकि इसका अभ्यास आध्यात्मिक प्रयासके लिये बहुत बार सहायक होनेकी अपेक्षा हानिकारक होता है।

जिस उद्देश्यका सुझाव तुम्हें दिया गया है वह गुह्य शक्तियोंकी खोजका एक अंग प्रतीत होता है; ऐसी खोजको भारतमें आध्यात्मिक गुरुओंने अधिकतर नापसंद ही किया है, क्योंकि यह निम्नतर लोकोंकी वस्तु है और सामान्यतया साधकको एक ऐसे पथपर धकेल देती है जो उसे भगवान्‌से बहुत दूर ले जा सकता है। विशेषकर, सूक्ष्म लोक (अथवा, जैसा कि हम इसे नाम देते हैं, प्राणजगत्)की शक्तियों और सत्ताओंके संपर्कके साथ-साथ महान् विपत्तियां जुड़ी होती हैं। इस लोककी सत्ताएं बहुधा आध्यात्मिक जीवनके सच्चे उद्देश्यकी विरोधिनी होती हैं, वे साधकके साथ संपर्क स्थापित करती हैं, उन्हें शक्तियां तथा गुह्य अनुभव प्रदान करती हैं और इसमें उनका उद्देश्य केवल यही होता है कि वे उसे आध्यात्मिक पथसे दूर हटा ले जायं या फिर वे उसपर अपना निजी नियंत्रण स्थापित करें अथवा अपना मतलब पूरा करनेके लिये उसे अधिकृत कर लें। बहुधा दिव्य शक्तियोंके रूपमें अपनेको उपस्थापित करके वे पथभ्रष्ट करती हैं, गलत सुझाव और प्रेरणाएं देती हैं तथा आंतरिक जीवनको विकृत कर डालती हैं। बहुतसे ऐसे लोग हुए हैं जो, प्राणलोककी इन शक्तियों और सत्ताओंसे आकर्षित होकर, अंतमें एक सुनिश्चित आध्यात्मिक पतनके शिकार हुए है अथवा मानसिक और भौतिक विकृति तथा अस्तव्यस्ततामें जा पड़े है। जब आंतरिक उद्‌घाटनके फलस्वरूप चेतना विस्तारित होती है तब अनिवार्यतः मनुष्यका संपर्क प्राणजगत्‌के साथ होता है और वह उसमें प्रवेश करता है, पर उसे कभी भी अपने-आपको इन सत्ताओं और शक्तियोंके हाथमें सौंप नहीं देना चाहिये अथवा उनके सुझावों और प्रेरणाओंके द्वारा परिचालित

नहीं होना चाहिये। यह आध्यात्मिक जीवनका एक प्रधान खतरा है और यदि साधक अपने लक्ष्यपर पहुंचना चाहता हो तो उसके लिये इस खतरेसे बचनेके लिये सावधान रहना आवश्यक है। यह सच है कि योगमें चेतनाके फैलनेसे उसके अंदर बहुतसी अतिभौतिक या असामान्य शक्तियां आ जाती हैं; शरीर-चेतनासे बाहर निकल जाना, सूक्ष्म पद्धतियोंसे अतिभौतिक लोकोंमें कार्य करना आदि योगीके लिये स्वाभाविक क्रियाएं हैं। परंतु इन शक्तियोंकी खोज नहीं की जाती, वे स्वाभाविक तौरपर ही आती हैं, और उनमें सूक्ष्म-शरीरीय विशेषता नहीं होती। फिर, उनका प्रयोग शुद्ध आध्यात्मिक तौरपर ही करना चाहिये, कहनेका तात्पर्य, भागवत संकल्पसे और भागवत शक्तिके द्वारा, एक यंत्रके रूपमें, करना चाहिये, पर कभी प्राणलोककी शक्तियों और सत्ताओंके साधनके रूपमें नहीं करना चाहिये। ऐसी शक्तियोंके लिये उनकी सहायताकी चाह करना महान् भूल है।

दीर्घकालतक उपवास करनेसे स्नायु-सत्तामें एक प्रकारकी उत्तेजना उत्पन्न हो सकती है और यह उत्तेजना अक्सर सुस्पष्ट कल्पनाएं और मतिभ्रम पैदा करती है जिन्हें लोग सच्ची अनुभूतियां समझ बैठते हैं। ऐसे उपवासके सुझाव प्रायः ही प्राणिक सत्ताओंसे आते हैं, क्योंकि उससे चेतना एक ऐसी असंतुलित स्थितिमें जा गिरती है जो कि उनके प्रयोजनोंके अनुकूल होती है। अतएव यहां इसके लिये प्रोत्साहन नहीं दिया जाता। यहां तो उस नियमका पालन करना होता है जिसका निर्देश गीता देती है—गीता कहती है, "योग उसके लिये नहीं है जो बहुत अधिक खाता है या जो खाता ही नहीं"—भोजनका मर्यादित उपयोग होना चाहिए जो शरीरके स्वास्थ्य और सामर्थ्यको बनाये रखनेके लिये पर्याप्त हो।

तुम जिस प्रकारके संप्रदायका वर्णन करते हो उस तरहका कोई संप्रदाय या समाज भारतमें नहीं है। यहां ऐसे योगी हैं जो गुह्य शक्तियोंको आयत्त करने और प्रयुक्त करनेका प्रयत्न करते हैं पर यहां यह सब व्यक्तिगत रूपमें होता है—कुछ व्यक्ति एक गुरु-विशेष से इसे सीखते हैं। यूरोपके गुह्यवादी ऐसे उद्देश्यसे स्थापित जिन गुह्य संस्थाओं, सभा-भवनों और संप्रदायोंका वर्णन करते हैं उस तरहकी चीजें एशियामें नहीं मिलतीं।

जहांतक गुप्त रखनेकी बात है, गुरुके निर्देशनों तथा अपने निजी अनुभवोंके विषयमें एक प्रकारकी समझदारी बरतना तथा चुप रहना बराबर ही उचित होता है, पर पूर्णतः गुप्त रखना या इन सब चीजोंको रहस्यमय बना देना उचित नहीं है। एक बार जब एक गुरु चुन लिया

जाता है तब उससे कोई बात छिपाकर नहीं रखनी चाहिये। पूर्णतः गुप्त रखनेका सुझाव बहुधा सूक्ष्म शक्तियोंकी एक चतुराई होता है जिससे वे शिक्षण और साहाय्य प्राप्त करनेकी चेष्टामें बाधा पहुंचाते हैं।



तुम्हारे ये सभी "परीक्षण" प्राण-प्रकृति और उससे संबंधित मनके ऊपर आधारित हैं; इस आधारपर कार्य करनेपर मिथ्यात्व तथा मौलिक मूल-भ्रांतिसे बचनेका कोई उपाय नहीं। चाहे जितनी भी शक्तियां (तुच्छ या महान्) क्यों न विकसित हों, वे सत्यसे अलग भटकनेसे नहीं बचा सकती; और, तुम यदि अहंकार, दर्प और शक्तिके प्रदर्शनकी भावनाको अपने अंदर घुस आने दो और अपनेको अविकृत कर लेने दो तो तुम निश्चय ही मूल-भ्रांतिके अंदर तथा राजसिक माया और अविद्याकी शक्तिके अंदर पतित हो जाओगे। हमारा उद्देश्य शक्तियोंको प्राप्त करना नहीं है, बल्कि दिव्य सत्य-चैतन्यकी ओर ऊपर उठना तथा उसके सत्यको नीचे अपने निम्नतर अंगोंमें उतार लाना है। सत्यके साथ समस्त आवश्यक शक्तियां आयेंगी, पर हमारी अपनी शक्तिके रूपमें नहीं, वरन् भगवान्‌की शक्तिके रूपमें। सत्यके साथ हमारा संपर्क राजसिक मनोमय और प्राणमय आत्मप्रस्थापनके द्वारा नही, बल्कि केवल चैत्य पवित्रता और समर्पणके द्वारा ही वर्द्धित हो सकता है।



अष्टसिद्धियां, जो कि साधारण योगके द्वारा प्राप्त होती हैं, प्राणकी शक्तियां होती हैं अथवा, राजयोगमें प्राप्त होनेवाली शक्तियोंकी तरह, मानसिक सिद्धियां होती हैं। सामान्यतया वे अपने प्रयोगमें अनिश्चित तथा अस्थिर होती है तथा जिस प्रक्रियासे प्राप्त होती हैं, उन्हींके पालनपर निर्भर करती हैं।



भौतिक प्रकृतिका मतलब केवल शरीर ही नही है, बल्कि इस पदसमूहके अंदर समूचे भौतिक मन, प्राण तथा स्थूल प्रकृतिका रूपांतर शामिल है—यह रूपांतर उन भागोंपर सिद्धियोंको आरोपित करके नहीं किया जाता, बल्कि एक नयी भौतिक प्रकृतिको उत्पन्न करके किया जाता

है जो एक नवीन विकासके अंदर अतिमानसिक सत्ताका आवास होगी। मुझे नहीं मालूम कि यह कार्य किसी हठयौगिक अथवा अन्य प्रक्रियाके द्वारा किया गया है। मानसिक या प्राणिक गुह्य शक्ति केवल उच्चतर लोककी सिद्धियोंको व्यक्तिगत जीवनमें ला सकती है—उस संन्यासीकी तरह जो कोई भी विष विना हानि उठाये खा सकता था, पर आखिरकार वह मरा एक विषसे ही जब कि वह सिद्धिकी शर्त्तोंका पालन करना भूल गया। अतिमानसिक शक्तिकी जिस क्रियाकी परिकल्पना हमने की है वह कोई ऐसा प्रभाव नहीं है जो भौतिक सत्तापर पड़कर उसे असामान्य शक्तियां प्रदान करता है, वल्कि वह तो उसमें इस प्रकार प्रवेश कर जाना और परिव्याप्त हो जाना है जिससे वह संपूर्णतः एक अतिमानस-भावापन्न भौतिक सत्तामें परिवर्तित हो जायगा। इस बातको मैंने वेद या उपनिषद्से नहीं सीखा था, और मैं नहीं जानता कि इस तरहकी कोई वात उनमें है भी या नहीं। अतिमानसके वारेमें जो कुछ मैंने पाया है वह मुझे प्राप्त प्रत्यक्ष ज्ञान है, कहींसे संग्रहीत ज्ञान नहीं है। इसे प्राप्त करनेके वाद ही मैंने इसका समर्थन करनेवाले कुछ मंत्रोंको उपनिषद् और वेदमें पाया।

वैदांतिक परंपराके ऐसे वहुतसे योगी हैं जो सिद्धियों तथा अंतिम मुक्ति दोनोंका अनुसरण करते हैं—वे लोग, मैं समझता हूं, यह कहेंगे कि हम निर्वाणके पथपर चलते हुए सिद्धियोंको ग्रहण करते हैं। पर समन्वय अतिमानसमें है—उस भागवत सत्यमें है जो एक साथ ही निष्क्रिय और सक्रिय है, अज्ञानका अपसरण और निर्वापन है, भागवत ज्ञानमें पुनर्सृजन है।



मैंने स्वयं योग-वाशिष्ठ नहीं पढ़ा है, पर उसके विषयमें मैंने जो कुछ पढ़ा है उससे ऐसा लगता है कि वह पुस्तक किसी ऐसे व्यक्तिके द्वारा लिखी गयी होगी जिसे असाधारण गुह्य ज्ञान प्राप्त होगा।

(5)

मुझे ऐसा लगता है कि मूल्यांकनके ये विभेद इस कारण उत्पन्न होते हैं कि मन भगवान्को प्राप्त करनेके मार्गके किसी एक-न-एक पक्षपर अधिक जोर देता है अथवा उपलब्धिके एक पक्षको दूसरेसे अधिक महत्त्व

प्रदान करता है। जब मनुष्य भगवान्‌की ओर जानेका प्रयत्न हृदयके द्वारा, प्रेम और भक्तिके द्वारा करता है तो उसकी उच्चतम परिणति एक परात्पर आनंदमें, प्रेमके द्वारा प्राप्त भगवान्‌के मिलनेके अवर्णनीय उल्लास अथवा परमानंदमें होती है। चैतन्यके संप्रदायने इस मार्गको सर्वाधिक और निस्संदेह एकमात्र महत्त्व प्रदान किया और इसे ही कृष्णचेतनाका संपूर्ण सत्य माना। परंतु परात्पर आनंद समस्त सत्ताके मूलमें तथा अंतमें विद्यमान है और यही उसे प्राप्त करनेका एकमात्र पथ न तो है और न हो ही सकता है। मनुष्य उसे वासुदेव-चेतनाके द्वारा प्राप्त कर सकता है जो कि कही अधिक विशालतर, अधिक बौद्धिक मार्ग है,—जैसा कि हम गीताकी पद्धतिमें देखते हैं जहां ज्ञान, कर्म और भक्ति सब कृष्णमें, एकमेवमें, परात्परमें, सर्वमें केंद्रित हैं और वैश्व चेतनाके द्वारा ज्योतिर्मय परात्परतामें जा पहुंचते हैं। फिर तैत्तिरीय उपनिषद्‌में वर्णित पथ भी है, वह वेदांतकी आनंदकी शिक्षा है। ये निश्चय ही विशालतर पद्धतियां हैं, क्योंकि ये सारी सत्ताको उसके सभी भोगों-सहित तथा सत्ताके सभी तरीकोंसे भगवान्‌तक ले जाती हैं। यदि ये अपने प्रारंभिक बिंदुपर कम तीव्र हैं, अपनी क्रियामें अधिक विशाल तथा अधिक धीमी हैं तो यह माननेका कोई कारण नहीं कि ये अपनी मंजिलके शिखरोंपर कम तीव्र हैं। सब उसी एक परात्पर अवस्थाको प्राप्त करते हैं, चाहे वे अपने अंदरकी हर आध्यात्मिक वस्तुको समेट एक बृहत् उन्नयन-में उसतक ले जानेके लिये विशाल गतिके साथ चलें या फिर बाकी सब कुछ अलग-थलग रख एकांगी एकान्तिक तीव्रता और एकमुखी उल्लासके साथ ऊपर उठें। पर कौन बतायेगा कि दोनोंमें से गंभीरतर कौन-सा है? संकेंद्रित प्रेममें एक अपनी गंभीरता होती है जिसे मापा नहीं जा सकता; संकेंद्रित ज्ञानमें एक विशालतर गहराई होती है, पर कोई यह नहीं कह सकता कि वह अधिक गंभीर होती है।

वैश्व मूल्य परात्पर सत्ताके सत्यके केवल प्रतिबिंब होते हैं जो उस कालिक अनुभवके निम्नतर सत्यमें प्रतिफलित होते हैं जो पृथकात्मक होता है तथा एकमेव सत्ताके हजारों पक्षोंको अलग-अलग देखता है। जब मनुष्य मनके द्वारा अथवा अभिव्यक्त सत्ताके किसी एक अंगके द्वारा ऊपर उठता है तो इन पक्षोंमेंसे कोई एक या अधिक पक्ष अधिकाधिक उन्नीत हो सकते हैं तथा अपनी चरम परात्पर तीव्रता प्राप्त करनेकी ओर प्रवृत्त हो सकते हैं, और जिस किसी पक्षको इस प्रकार अनुभव किया

जाता है उसे ही अध्यात्मभावापन्न मानसिक चेतना चरम वस्तु घोषित कर देती है, परंतु जब मनुष्य मनसे परे चला जाता है, सब कुछ केवल उन्नीत होनेकी ही नहीं, वरन् परस्पर घुलमिल जानेकी ओर प्रवृत्त होता है जबतक कि पृथग्भूत पक्ष अपनी मूल एकताको पुनः नहीं प्राप्त कर लेते, एकीभूत समस्तकी अखंडताके अंदर अविभाज्य नहीं बन जाते। मन चेतना अथवा आनंदसे रहित सत्ता (सत्) की धारणा बना सकता और उसका अनुभव कर सकता है और यह चीज अपनी अधिकतम अभिव्यक्ति प्राप्त करती है निश्चेतनाके अंदर जो कि जड़तत्त्वका गुण है। इसी तरह मन आनंद या प्रेमकी धारणा एक पृथक् तत्त्वके रूपमें बना सकता है; वह यह भी अनुभव करता है कि प्रेम या आनंदकी समाधि अथवा मूर्च्छामें चेतना और सत्ता अपने आपको खो देते हैं। उसी तरह, सीमित व्यक्ति असीम 'पुरुष' में अपनेको खो देता है, प्रेमी परम प्रेमास्पदमें अपनेको खो देता है, अथवा यों कहें कि सव्यक्तिक निर्व्यक्तिक में अपनेको खो देता है—प्रेमी प्रेम और आनंदकी परात्पर सद्वस्तुमें अपनेको निमग्न, खोता हुआ अनुभव करता है। मन सव्यक्तिक और निर्व्यक्तिककी परिकल्पना पृथक् सत्योंके रूपमें करता है और उन्हें वैसा ही अनुभव करता है तथा उनमेंसे किसी एकको सर्वोच्च तत्त्वके रूपमें देखता और घोषित करता है, जिसमें कि सव्यक्तिक निर्व्यक्तिकमें लयको प्राप्त हो सके अथवा, इसके विपरीत, निर्व्यक्तिक परात्पर और दिव्य 'पुरुष' की अखंड सत्य-सत्तामें विलीन हो जाय—इस दृष्टिमें निर्व्यक्तिक साकार भगवान्का केवल एक गुण या शक्ति होता है। परंतु मनके परे जानेपर जब मनुष्य आध्यात्मिक अनुभवके शिखरपर पहुंचता है तो वह इन सब चीजोंको एकके अंदर घुलमिलकर एकाकार होता हुआ अनुभव करना आरंभ करता है। चेतना, सत्ता, आनंद अपनी अविभाज्य एकतामें, सच्चिदानंदमें वापस आ जाते हैं। सव्यक्तिक और निर्व्यक्तिक इस तरह अविभाज्य रूपमें एक हो जाते हैं कि एकको दूसरेके विरुद्ध सत्य प्रतिपादित करना अज्ञानका कार्य प्रतीत होता है। एकीकरणकी यह प्रवृत्ति ही अतिमानसिक चेतना और अनुभूतिका आधार है; वैश्व अथवा सृष्टिसंबंधी उद्देश्योंके लिये अतिमानस किसी एक पक्षको प्रधान रूपमें सामने रख सकता है जहां उसकी आवश्यकता है, पर वह उसके पीछे अथवा उसके अंदर विद्यमान सर्वसे सज्ञान रहता है और अपने दृष्टिकोणके अंदर कहीं किसी प्रकारके विभाजन या विरोधको नहीं

आने देता। इस कारण अतिमानसिक सृष्टि एक बहुविध समस्वरता होगी, कोई ऐसी पृथकात्मक प्रक्रिया नहीं होगी जो एकमेवको विभिन्न भागोंमें खंडित करती या विश्लेपित करती है और इन भागोंको एक-दूसरेके विरुद्ध रखती है अथवा उन्हें विरोधीके रूपमें एक-दूसरेके विरुद्ध खड़ा करती है और पीछे समन्वयपर पहुंचनेके लिये उनका संश्लेषण करती तथा एक साथ जोड़ती है अथवा अविभाज्य एकमेवको प्राप्त करनेके लिये किसी एक या सभी भागोंको बहिष्कृत कर देती है।

तुम कहते हो कि वैष्णव-परंपरा सव्यक्तिक आनंदोंपर जोर देता है जैसा कि भावोंके वर्गीकरणमें देखा जाता है, और तुम कहते हो कि ये भाव क्षणिक और द्रुत हृदयानुभव हैं और इनमें विशालता या प्रसारताका अभाव होता है। इसमें संदेह नहीं, जबकि वे सर्वप्रथम अनुभूत होते हैं और जैसा कि वे सीमित चेतनाके द्वारा उसकी सामान्य क्रिया और गतिविधिमें अनुभूत होते हैं। पर इसका कारण केवल यह है कि मनुष्यकी भावात्मक सत्ता इस अपूर्ण शरीर-यंत्रके द्वारा उस समय अधिकतर तीव्रताके आवेगके साथ कार्य करती है जब वह इन चीजोंको ऊंचे उठा ले जाना चाहती है और फिर न तो उनकी सतत क्रिया या उनके विस्तारको और न उनके उन्नीत आवेशको बनाये रख पाती है। परंतु जैसे-जैसे व्यक्ति वैश्व भाव ग्रहण करता जाता है (भागवत केंद्रके रूपमें अपने उच्चतर व्यक्तित्वको खोये बिना व्यक्तिका वैश्वभावापन्न होना एक ऐसी प्रक्रिया है जो अतिमानसिक सत्यकी ओर ले जाती है), यह अक्षमता दूर होना आरंभ कर देती है। तब दास्य या मधुर या किसी दूसरे भावके पीछे विद्यमान सत्य अथवा भावोंका परस्पर घुलमिल जाना एक ऐसी सतत स्थिति बन जाता है जो विशाल और विस्तीर्ण होता है,—यदि, संयोगवश, अपने इस विस्तारके कारण वे अपनी अल्पतर तीव्रताओंका कुछ अंश खो देते हैं तो वे उन्हें हजारगुना उस समय फिर पाते हैं जबकि विश्वभावापन्न व्यक्ति परात्पर सत्ताकी ओर अग्रसर होता है। उस समय एक चिर-विस्तरणशील अनुभव प्राप्त होता है जो आध्यात्मिक अनुभूतिके तत्त्वोंको ऊपर उठाता है और ऊपर उठानेवाली और रूपांतर करनेवाली इस प्रक्रियाके अंदर वे तत्त्व जो कुछ थे उससे भिन्न और महत्तर वस्तु बन जाते हैं और अपने उन्नयनके कारण वे सबसे पहले आध्यात्मिक वैश्व स्थितिमें, फिर सर्वग्रमालिंगनकारी परात्पर पूर्ण स्थितिमें अपना स्थान अधिकाधिक प्राप्त करते हैं।

एक ओर शंकर और रामानुज तथा दूसरी ओर चैतन्यके बीच कृष्ण-विषयक दृष्टिकोणमें जो विभेद है वह उनके अनुभवके झुकावके कारण उत्पन्न होता है। शंकर और रामानुजके लिये कृष्ण केवल विष्णुके एक रूप थे, क्योंकि प्रेम और भक्तिका जो आनंदमय रूप कृष्णके साथ संयुक्त हो गया था वह उनके लिये संपूर्ण वस्तु नहीं था। चैतन्यकी तरह गीताने भी, पर एक भिन्न दृष्टिकोणसे, कृष्णको स्वयं भगवान् माना। चैतन्यके लिये वह परम प्रेम और आनंद थे, और चूंकि चैतन्यके लिये दिव्य प्रेम और आनंदका अनुभव ही उच्चतम परात्पर अनुभव था, इसलिये कृष्ण भी उनके लिये परात्पर भगवान् होंगे ही। गीताके रचयिताके लिये कृष्ण परम ज्ञान और शक्ति तथा साथ ही परम प्रेमके मूलस्रोत थे, एक साथ ही संहारकर्त्ता, पालनकर्त्ता और सृष्टिकर्त्ता थे, अतएव विष्णु अनिवार्यतः इस विराट् भगवान्के केवल एक रूप थे। निस्संदेह, महाभारतमें कृष्णका वर्णन विष्णुके एक अवतारके रूपमें आता है, पर इसका यह अर्थ लेकर उसे रद्द किया जा सकता है कि कृष्ण विष्णु-रूपको अपना सम्मुखीन आकार बनाकर अभिव्यक्त हुए; क्योंकि, हम यदि अभिव्यक्तिको क्रमविकसनशील मानें तो यह बात न्यायसंगत है कि महत्तर देवता अन्योंकी अपेक्षा देरसे अभिव्यक्त हो सकता है। यह बात ठीक वैसी ही है जैसी कि वेदमें वर्णित विष्णु एक छोटे इंद्र हैं, उपेन्द्र हैं, पर पीछे चलकर वह अपने अग्रजको अतिक्रांत कर जाते हैं और परिणामस्वरूप त्रिमूर्त्तिमें उनसे ऊपर स्थान ग्रहण करते हैं।

कृष्णके रूपके विषयमें जो वैष्णव भावना है उसके विषयमें मैं विशेष कुछ नहीं कह सकता। रूप अभिव्यक्तिका मौलिक साधन है और उसके बिना, यह कहा जा सकता है कि, किसी चीजकी अभिव्यक्ति पूर्ण नहीं होती। यद्यपि न्यायतः निराकार आकारका पूर्ववर्त्ती होता है तो भी यह मानना अयुक्तिसंगत नहीं है कि निराकारके अंदर आकार अंतर्हित होता है और एक रहस्यमय प्रच्छन्नावस्थामें पहलेसे विद्यमान रहता है, अन्यथा वह अभिव्यक्त हो कैसे हो सकता था? कारण, किसी अन्य प्रक्रियाका तात्पर्य होगा असत्की सृष्टि, अनभिव्यक्ति, यदि ऐसी बात है तो यह मानना भी उसी तरह न्यायसंगत होगा कि कृष्णका एक शाश्वत रूप है, एक आत्मिक शरीर है। जहांतक उच्चतम सद्वस्तुका प्रश्न है, इसमें संदेह नहीं कि वह सद्वस्तु निरपेक्ष सत् है, पर क्या यह केवल वही है? निरपेक्ष सत् एक अमूर्त्त वस्तुके रूपमें अपने अंदरसे

अन्य सभी चीजोंको वहिष्कृत कर सकता है और एक प्रकारका बहुत भावात्मक शून्य वन जा सकता है। परंतु एक सद्वस्तु-रूपी निरपेक्ष सत्की परिभाषा कौन कर सकता है और कह सकता है कि वह अपनी अकल्पनीय गहराइयोंमें, अपनी निःसीम दुर्वोधतामें क्या है या क्या नहीं है? मन साधारणतया निरपेक्ष सत्के विषयमें यही कल्पना कर सकता है कि वह केवल उसकी अपनी दैशिक, कालिक या अन्य धारणाओंका अभाव है। परंतु मन यह नहीं कह सकता कि अभिव्यक्तिके आधारमें क्या है अथवा अभिव्यक्ति क्या है अथवा अपने भावात्मक शून्यके भीतरसे कोई अभिव्यक्ति आखिर हुई ही क्यों है—और, हमें याद रखना होगा, वैष्णव इस परिकल्पनाको भगवान्का चरम और आदि सत्य नहीं मानते। अतएव यह वात एकदम असंभव नहीं है कि जिसे हम दैशिक आकारके रूपमें परिकल्पित करते हैं वह देशरहित निरपेक्ष सत्की किसी शक्तिसे मिलता-जुलता हो। मैं यह सव सत्यके किसी सुनिश्चित विवरणके रूपमें नहीं कह रहा हूं, मैं केवल इतना ही संकेत कर रहा हूं कि वैष्णवोंकी स्थिति अपनी निजी भूमिपर न्यायतः या सिद्धांततः अमान्य होनेसे कोसों दूर है।'



वैष्णव-मतावलंवी जगत्को लीला मानते हैं, पर वास्तविक लीला दूसरी जगह, शाश्वत वृंदावनमें है। जो धर्म साकार भगवान्में विश्वास रखते हैं वे सभी विश्वको एक सद्वस्तु मानते हैं, एक लीला या भगवदिच्छासे निर्मित एक सृष्टि मानते हैं, पर मानते हैं क्षणिक न कि शाश्वत। उनका लक्ष्य है ऊपरकी शाश्वत स्थिति।



पृथ्वीपर अस्थायी स्वर्ग-राज्यकी भावना पुराणोंमें पायी जाती है और इसकी कल्पना कुछ वैष्णव संतों या कवियोंने की है; परंतु यह एक भक्तिजन्य भावना है, इसका पूर्वानुमान करनेके लिये कोई दार्शनिक आधार नही दिया गया है। मेरी समझमें तांत्रिकों द्वारा अपूर्णताओंको जीतनेकी वात व्यक्तिगत उपलव्धि है, न कि सामूहिक।



तुमने जो अहंकारपूर्ण समृद्ध मानव-जीवन विताया होता उसका वर्णन किया है और तुम कहते हो, "आप स्वीकार करेंगे कि वह एकदम

तुच्छ जीवन न होता।" कागजपर वह बहुत मनोरम और संतोषजनक भी लगता है, जैसा कि तुम उसका वर्णन करते हो। परंतु उसमें कोई सच्चा या चरम संतोष नहीं है, सिवा उन लोगोंके लिये जो कोई दूसरी वस्तु खोजनेके लिये अत्यंत सामान्य या तुच्छ हैं, और फिर वे लोग भी वास्तवमें संतुष्ट या प्रसन्न नहीं होते,—और अंतमें, वह थका देता और मजा किरकिरा कर देता है। शोक और रोग, लड़ाई और झगड़ा, निराशा, भ्रमनिवृत्ति तथा सभी प्रकारके मानवीय कष्ट आते हैं और उसकी मनोरमताको चूर-चूर कर देते हैं—और फिर आते हैं ह्रास और मृत्यु। बस, यही है अहंकारपूर्ण प्राणिक जीवन और युग-युगांतरसे मनुष्यने इसे ऐसा ही पाया है, और फिर भी इसीके लिये तुम्हारे प्राणका यह भाग अनुताप करता है। जब तुम महज मानव-चेतनाको ही काम्य माननेपर इतना अधिक बल देते हो तो भला यह देखनेमें क्यों असफल होते हो कि दुःख-कष्ट ही उसका बिल्ला है? जब मानव-चेतनासे दिव्य चेतनामें होनेवाले परिवर्तनमें प्राण बाधा डालता है तो जिस चीजका वह समर्थन करता है वह यह है कि दुःख-शोक तथा उनके साथ आनेवाली सभी चीजोंको पानेका उसे हक है; निस्संदेह, किन्हीं प्राणिक और मानसिक सुखों और तृप्तियोंके द्वारा वह सब परिवर्त्तित और उपशमित तो होता है पर होता है बहुत आंशिक रूपमें ही और केवल कुछ समयके लिये ही। तुम्हारे अपने जीवनमें भी, उसने तुम्हारे लिये सारा मजा किरकिरा कर देना आरंभ कर दिया था और यही कारण था कि तुमने उससे मुंह मोड़ लिया। निस्संदेह, बुद्धि और कलात्मक सृजनके सुख वहां थे, पर मनुष्य केवल एक कलाकार ही नहीं हो सकता; उसमें एक बाहरी, नितांत मानव, निम्नतर प्राणिक अंश भी है और, थोड़ेसे लोगोंको छोड़ सभीके अंदर, यही भाग सबसे अधिक हो-हल्ला मचानेवाला तथा हठी होता है। परंतु तुम्हारे अंदर कौनसी चीज असंतुष्ट थी? वह थी, सबसे पहले, अंतरस्थ अंतरात्मा, और उसके द्वारा उच्चतर मन और उच्चतर प्राण। तब भला भगवान्पर यह दोषा-रोपण क्यों करते हो कि उन्होंने तुम्हें योगकी ओर मोड़कर या यहां ले आकर गलत रास्ता दिखाया है? यह तो महज तुम्हारी आंतर सत्ता तथा तुम्हारी प्रकृतिके उच्चतर भागोंकी मांगके उत्तरमें ही किया गया है। यदि तुम्हें इतनी अधिक कठिनाई हो रही है और तुम अशांत हो गये हो तो इसका कारण यह है कि तुम अभी भी विभक्त हो और

तुम्हारे निम्नतर प्राणके अंदरकी कोई चीज अभी भी उस चीजके लिये अनुताप कर रही है जिसे उसने खो दिया है, अथवा वह अपने सहयोगके मूल्यके रूपमें अथवा क्षतिपूर्तिके रूपमें—ऐसे मूल्यके रूपमें जो उसे तुरत चुका दिया जाना चाहिये—आध्यात्मिक जीवनमें वैसी ही और उसीके समतुल्य कोई चीज मांगती है। वह यह विश्वास करना अस्वीकार करती है कि एक महत्तर क्षतिपूर्ति भी है, एक विशालतर प्राणिक जीवन उसके लिये प्रतीक्षा कर रहा है, कोई सुनिश्चित वस्तु भी है जिसमें पुरानी न्यूनता और अशांति तथा अंतिम असंतोष नहीं रहेगा। मूर्खता भागवत पथप्रदर्शनमें नहीं है, बल्कि तुम्हारे इस विभ्रांत और मलिन भागकी उस मांगके अयुक्तिसंगत रूपमें तथा हठपूर्वक विरोध करनेमें है जो केवल इस योगद्वारा ही नहीं की गयी है, बल्कि सभी योगोंके द्वारा की जाती है—वह तो तुम्हारे ही अपने अंतरात्मा तथा उच्चतर प्रकृतिकी संतुष्टिके लिये आवश्यक शर्त्त है।

"मानवीय" प्राणिक चेतना बराबर ही इन दो ध्रुवोंके बीच घूमती रही है, एक तो सामान्य प्राणिक जीवन, जो संतुष्ट नहीं कर सकता तथा दूसरा, इससे विमुख हो संन्यासीके समाधानकी स्वीकृति। भारत पूर्णरूपसे इस दुविधाजनक स्थितिमेंसे गुजर चुका है, यूरोप एक पूरे परीक्षणके बाद निरे अहंमय प्राणिक जीवनकी असफलताको अब फिर एक बार अनुभव करना आरंभ कर रहा है। प्राचीन योग—जिनकी साक्षी तुम पेश करते हो—इन्ही दो ध्रुवोंके बीचकी क्रियापर आधारित हैं। एक ओर तो हैं शंकर और बुद्ध और अधिकांश लोग, यदि उसी रास्तेसे नही जाते, तो उसी दिशामें जरूर जाते हैं; फिर दूसरी ओर हैं वैष्णव या तांत्रिक धाराएं जो प्राणिक प्रवेगके किसी प्रकारके सूक्ष्मीकरणके साथ वैराग्यभावको जोड़ देनेका प्रयास करती है। और ये धाराएं कहां जाकर समाप्त हुईं? वे जा गिरीं दूसरे ध्रुवपर, प्राणिक आक्रमणके हाथमें, यहांतक कि भ्रष्टता और अपने मूल भावके नाशकी स्थितिमें। आजकल लोगोंकी सामान्य प्रवृत्ति है उन दोनोंमें सामंजस्य बैठानेके प्रयासकी ओर, और कभी-कभी तुमने इस प्रयासके कुछ नेताओंकी ओर संकेत किया है और उनके विषयमें मेरी राय पूछी है जबकि तुम्हारी राय प्रतिकूल थी। परंतु ये लोग महज धूर्त्त-ढोंगी ही नहीं हैं, और अगर उनमें कोई चीज दोषपूर्ण है (जिसके विषयमें मैं निर्णय नहीं देता), तो इसका कारण केवल यही हो सकता है कि वे अहंपूर्ण प्राणिक-कामनामय

प्रकृतिके इस निम्नतर ध्रुवके चुंबकवत् आकर्षणका विरोध करनेमें असमर्थ हैं। और, वे यदि विरोध करनेमें असमर्थ हैं तो इसका कारण यह है कि उन्होंने उस सच्ची शक्तिको नहीं पाया है जो उस आकर्षणको केवल निष्प्रभाव ही कहीं बनायेगी और ह्रास तथा निम्नमुखी पतनको ही नहीं रोकेगी, बल्कि जीवनी-शक्ति और जड़तत्त्वमें उसकी अभिव्यक्तिको नष्ट करने अथवा दूर फेंक देनेके बदले उन्हें उनके अपने गभीरतर सत्यमें रूपांतरित और व्यवहृत और संतुष्ट करेगी। कारण, वैसा केवल अति-मानस-शक्तिके द्वारा ही किया जा सकता, अन्य किसी शक्तिके द्वारा नहीं।

तुम वैष्णव-तांत्रिक परंपराकी दुहाई देते हो; चैतन्य, रामप्रसाद, रामकृष्णकी साक्षी देते हो। मैं उनके विषयमें थोड़ा-बहुत जानता हूं और, यदि मैंने उन्हींको दुहराने की कोशिश नहीं की तो इसका कारण यह है कि मुझे उनके अंदर वह समाधान, वह सामंजस्य नहीं मिलता जिसकी मैं खोज कर रहा हूं। रामप्रसादसे लिया हुआ तुम्हारा उद्धरण मुझे जरा भी सहायता नहीं देता—और यह तुम्हारे दावेका भी समर्थन नहीं करता। रामप्रसाद किसी सशरीर भगवान्की नहीं, वरन् एक शरीर-रहित और अदृश्य भगवान्की—अथवा आंतरिक अनुभूतिमें केवल सूक्ष्म आकारमें दृश्य भगवान्की बात कह रहे हैं। जब वह श्रीमांके सम्मुख अपने दावे या अभियोगको तबतक बनाये रखनेकी बात कहते हैं जबतक कि श्रीमां उन्हें अपनी गोदमें नहीं उठा लेतीं, तो वह किसी बाहरी प्राणिक या भौतिक संपर्ककी बात नहीं कहते, बल्कि आंतरिक चैत्य अनुभवकी बात कहते हैं। निश्चित रूपमें, वह श्रीमांके सामने इस बातका प्रतिवाद कर रहे हैं कि उन्हें बाह्य प्राणिक और भौतिक प्रकृतिके अंदर रखा गया है और वह श्रीमांके सामने हठ करते हैं कि उन्हें चैत्य-आध्यात्मिक स्तरपर श्रीमांके साथके आध्यात्मिक एकत्वमें उठा लिया जाय।

यह सब बहुत अच्छा और बहुत सुन्दर है, पर यह पर्याप्त नहीं है: एकत्वको निश्चय ही सबसे पहले आंतरिक चैत्य-आध्यात्मिक अनुभवके अंदर प्राप्त करना होगा, क्योंकि उसके बिना कोई भी यथार्थ या स्थायी वस्तु नहीं संपन्न की जा सकती; परंतु उसके साथ-ही-साथ बाहरी चेतना और जीवनमें, प्राणिक और भौतिक स्तरोंमें भी उन्हींकी अपनी धारामें भगवान्की उपलब्धि होनी चाहिये। यही चीज है जिसे तुम, अपने मन-द्वारा समझे बिना और यह जाने बिना कि उसे कैसे किया जा सकता है। चाहते हो और मैं भी चाहता हूं; बस, मैं प्राणिक रूपांतरकी

आवश्यकता महसूस करता हूं, जबकि तुम यह समझते और दावा करते हुए प्रतीत होते हो कि इसे कोई मौलिक रूपांतरके विना, प्राण जैसा है उसे वैसा ही छोड़कर, पूरा हो जाना चाहिये। प्रारंभमें, अतिमानसके रहस्यका पता लगानेसे पहले, स्वयं मैंने भी प्राणके साथ आध्यात्मिक चेतनाके मिलनके द्वारा सामंजस्य खोजनेकी चेष्टा की थी, परंतु मेरा अनुभव और सभी अनुभव यह बतलाते हैं कि यह किसी सुनिश्चित और अंतिम वस्तुतक नहीं ले जाता—यह जहां आरम्भ हुआ था वहीं; मानवस्वभावके दो ध्रुवोंके मध्यमें समाप्त हो जाता है। एक संपर्क ही पर्याप्त नहीं है, एक प्रकारका रूपांतर अनिवार्य है।

उत्तरकालीन वैष्णव भक्तिकी परंपरामें मानव-प्रेमको भगवान्‌की ओर मोड़कर प्रेमके द्वारा प्राणिक आवेगोंका सूक्ष्मीकरण करनेका प्रयास किया गया। इसने एक प्रबल और तीव्र प्रयास किया और उसे बहुतसे मूल्यवान और सुन्दर अनुभव प्राप्त हुए; परंतु उसकी कमजोरी भी वहां विद्यमान थी कि वह अंतरस्थ भगवान्‌की ओर अभिमुख केवल एक आंतरिक अनुभवके रूपमें ही यथार्थ बना रहा और उसी बिंदुपर वह रुक गया। चैतन्यका प्रेम (प्रबल) उदात्तीकृत प्राणकी अभिव्यक्तिके साथ संयुक्त दिव्य चैत्य प्रेमके सिवा और कुछ नहीं था। परंतु जब-जब वैष्णवधर्मने उनसे पहले या पीछे किसी महत्तर बाह्यीकरणका प्रयास किया, तब-तब हम जानते हैं कि क्या घटित हुआ—प्राणवृत्तियोंमें विकृति, अत्यधिक भ्रष्टाचार और अधःपतन। तुम चैतन्यके उदाहरणको चैत्य या दिव्य प्रेमके विरुद्ध साक्षी-रूपमें नहीं रख सकते; उनका प्रेम महज प्राणिक मानवीय-जैसी कोई चीज नहीं था; अपने सार-रूपमें, यद्यपि अपने बाह्यरूपमें नहीं, वह बहुत कुछ रूपांतरकी ओर पहला कदम था, जिसकी हम साधकोंसे मांग करते हैं, हम चाहते हैं कि वे अपने प्रेमको चैत्य प्रेमका रूप दें और प्राणका उपयोग उसके ही अपने उद्देश्यके लिये न करें, बल्कि अंतरात्माकी उपलब्धिकी अभिव्यक्तिके रूपमें करें। यह पहला कदम है और शायद कुछ लोगोंके लिये यह पर्याप्त हो सकता है, क्योंकि हम प्रत्येक व्यक्तिसे अतिमानसिक बननेके लिये नहीं कह रहे हैं; परंतु भौतिक स्तरपर होनेवाली किसी पूर्ण अभिव्यक्तिके लिये अतिमानसिकका होना अनिवार्य है।

पश्चात्कालीन वैष्णव परंपरामें साधना एक ऐसा रूप लेती है जिसमें मानवीय प्राणिक प्रेमके सभी प्रमुख भावोंको भगवान्‌की ओर प्रयुक्त

किया जाता है; विरह, 'अभिमान', यहांतक कि पूर्ण विछोह (कृष्णके मथुरा चले जानेके जैसा) तकको इस योगका प्रधानतत्त्व बना दिया जाता है। परंतु यह सब—स्वयं साधनामें, न कि वैष्णव कविताओंमें—महज एक पथ माना जाता था जिसका अंत है मिलन अर्थात् पूर्ण एकत्व; परंतु कुछ लोगोंने जो इन अशोभन तत्त्वोंपर जोर दिया है उससे प्रायः ऐसा प्रतीत होता है कि इस प्रकारके प्रेम-योगका यदि एकदम उद्देश्य ही नहीं तो कम-से-कम इसका संपूर्ण साधन तो लड़ाई-झगड़ा, विछोह और 'अभिमान' आदि ही हैं। फिर, इस पद्धतिका प्रयोग केवल अंतरस्थ भगवान्के प्रति, न कि भौतिक रूपमें शरीरधारी भगवान्के लिये, किया गया था और इसका संबंध भगवान्की खोजके अंदर आंतरिक चेतनाकी विशेष स्थितियों और प्रतिक्रियाओंके साथ था। शरीरयुक्त भागवत अभिव्यक्तिके संबंधोंमें, अथवा, मैं यह भी जोड़ दूं कि, गुरुके साथ शिष्योंके संबंधोंमें, ऐसी चीजें मानवीय अपूर्णताके परिणामस्वरूप ही उठ सकती हैं, पर उन्हें उन संबंधोंके सिद्धांतका कोई अंग नहीं बनाया गया है। मैं नहीं समझता कि वे गुरु-शिष्यके संबंधोंके कोई नियमित और स्वीकृत अंग थे। इसके विपरीत, गुरुवादमें गुरुके साथ शिष्यका संबंध सर्वदा ही पूजा, आदर, पूर्णतः हर्षयुक्त विश्वास, बिना किसी संदेहके पथप्रदर्शनकी स्वीकृतिका संबंध माना जाता है। सशरीर भगवान्के प्रति अपरिवर्त्तित प्राणिक संबंधोंका प्रयोग तो ऐसी क्रियाओंकी ओर ले जा सकता है और ले भी गया है जो योगकी प्रगतिके लिये सहायक नहीं होतीं।

रामकृष्णका योग भी केवल अंतरस्थ भगवान्की आंतरिक अनुभूतिकी ओर ही मुड़ा हुआ था—कुछ कम नहीं, पर अधिक भी नहीं। मेरी समझमें भगवान्के लिये सब कुछ त्याग देनेवाले साधककी भगवान्से की गयी मांगके विषयमें जो रामकृष्णका वचन है वह किसी बाहरी मांगकी अपेक्षा एक आंतरिक मांगका समर्थन है; मांग किसी भौतिक रूपमें मूर्त्तिमान भगवान्की अपेक्षा आंतरिक भगवान्से की गयी थी; वह पूर्ण आध्यात्मिक एकत्वकी मांग थी—भगवत्प्रेमी भगवान्को खोजता है, पर भगवान् भी भगवत्प्रेमीसे मिलते हैं और अपने-आपको उसे दे देते हैं। इस विषयमें आपत्ति करनेकी कोई बात नहीं; ऐसी मांग भगवान्के सभी अन्वेषक करते हैं; परंतु इस भागवत मिलनकी रीतिका जहांतक प्रश्न है, वह हमें बहुत दूरतक आगे नहीं ले जाता। जो हो, मेरा लक्ष्य है भौतिक स्तरपर उपलब्धि करना और

में महज रामकृष्णकी अनुभूतिको दुहरानेके लिये सहमत नहीं हो सकता। मुझे यह भी याद होता मालूम होता है कि बहुत दीर्घकालतक वह अपने अंदर समाहित हो गये थे और उनका समूचा जीवन अपने शिष्योंके साथ नहीं बीता था। उन्हें पहले एकांतमें ही सिद्धि प्राप्त हुई थी और जब वह बाहर आये और सबसे मिलने लगे तो कुछ ही वर्षोमें उनका शरीर क्षीण हो गया। उसमें, मेरी समझमें, उन्हें कोई आपत्ति नहीं थी। क्योंकि, जब केशवचन्द्र मर रहे थे तो, उन्होंने यह सिद्धांत भी घोषित कर दिया था कि आध्यात्मिक अनुभव शरीरको क्षीण कर ही डालता है। परंतु साथ ही जब उनसे यह पूछा गया कि उनके गलेमें बीमारी क्यों हुई तो उन्होंने उत्तर दिया कि यह उनके शिष्योंका पाप है जिसे शिष्योंने उनके ऊपर फेंका है और उसे उन्हें निगलना पड़ा है। उन्हींकी तरह महज एक प्रकारकी आंतरिक उपलब्धिसे संतुष्ट न रहनेके कारण मैं इन विचारोंको या इन परिणामोंको स्वीकार नहीं कर सकता, क्योंकि यह सब मुझे भौतिक स्तरपर भगवान् और साधकके सफल मिलनके जैसा नहीं प्रतीत होता, भले ही आंतरिक जीवनके लिये यह चाहे जितना भी सफल क्यों न रहा हो।

कृष्णने महान् कार्य किये और वह बहुत स्पष्ट रूपमें भगवान्के अवतार थे। परंतु महाभारतका एक प्रसंग मुझे याद है जिसमें वह यह शिकायत करते है कि उनके अनुगामियों और पूजकोंने उनके जीवनको अशांत बना दिया है, वे निरंतर मांग करते हैं, दुर्वचन कहते हैं और अपने असंस्कृत प्राणिक स्वभावको उनके ऊपर फेंकते रहते हैं। और गीतामें वह इस मानव-जगत्को अनित्य और दुःखपूर्ण घोषित करते हैं और अपने दिव्य कर्मके सिद्धांतके बावजूद, लगभग यह स्वीकार करते हुए प्रतीत होते हैं कि इसे त्याग देना ही आखिरकार सबसे उत्तम समाधान है। अतीतकी परंपराएं अपने निजी स्थानमें, भूतकालमें, बहुत महान् हैं, पर मैं नहीं समझता कि क्यों हमें महज उन्हींको दुहराना चाहिये और आगे नहीं जाना चाहिये। पृथ्वीपर होनेवाले चेतनाके आध्यात्मिक विकासमें महान् अतीतके बाद एक अधिक महान् भविष्य अवश्य आना चाहिये।

एक नियम है जिसकी तुम सब लोग पूरी तरह उपेक्षा करते हुए प्रतीत होते हो—वह है भौतिक रूपमें शरीर धारण करने तथा भौतिक स्तरपर दिव्य उपलब्धि प्राप्त करनेकी कठिनाइयोंके विषयमें। अधिकांश

लोगोंके लिये यह महज एक विकल्प प्रतीत होता है, या तो भगवान् पूरी शक्तिके साथ नीचे उतर आते हैं और कार्य संपन्न हो जाता है, कोई कठिनाई, कोई आवश्यक शर्त्त, कोई नियम विधान या प्रक्रिया नहीं होती, होता है केवल चमत्कार और जादू, अथवा, वह भगवान् नहीं हो सकता। फिर तुम सब लोग (अथवा लगभग सभी लोग) आग्रह करते हो कि भगवान्को मनुष्य होना चाहिये, मानव-चेतनामें बने रहना चाहिये और तुम मनुष्यको भगवान् बनानेके किसी भी प्रयासका विरोध करते हो। दूसरी ओर, यदि मानवीय कठिनाइयां आती हैं, यदि शरीरमें थकान उत्पन्न होती है, विरोधी शक्तियोंके साथ झूलता हुआ संघर्ष चलता है, बाधाएं, रुकावटें, बीमारियां आती हैं तो लोग हतोत्साह, व्यग्रता, अविश्वास, शायद रोषके साथ चीत्कार कर उठते हैं और कोई-कोई यह कहना आरंभ कर देते हैं कि, "ओह, यहां भगवान् नामकी कोई चीज है ही नहीं!"—मानो हम प्राणिक और भौतिक रूपसे तो अरूपांतरित व्यक्तिगत मानव-चेतनामें, उसके साथके अपरिवर्तित संपर्कमें बने रह सकते हों, उसकी मांगोंको पूरा करते हों और फिर भी सभी परिस्थितियोंमें तथा सभी स्थितियोंमें थकान और संघर्ष और रोगसे मुक्त रह सकते हों। यदि मैं मानव-चेतनाको दिव्यभावापन्न करना चाहता हूं, अतिमानसको, सत्य-चेतनाको, दिव्य ज्योतिको, दिव्य शक्तिको भौतिक सत्तामें उसे रूपांतरित करनेके लिये, वहां दिव्य सत्य, ज्योति, शक्ति, आनंद और प्रेमके महान् प्राचुर्यको सृष्ट करनेके लिये उतार लाना चाहता हूं तो उसका प्रत्युत्तर होता है विकर्षण या आतंक या अनिच्छा—अथवा एक संदेह कि क्या यह संभव है। एक ओर तो यह मांग है कि रोग तथा बाकी चीजें असंभव हो जानी चाहियें और दूसरी ओर है उस एकमात्र शर्त्तका उग्र परित्याग जिसके अधीन ये चीजें असंभव हो सकती हैं। मैं जानता हूं कि यह मानवीय प्राणिक मनकी स्वाभाविक असंगति है जो एक साथ ही दो असंगत और असंबद्ध वस्तुओंको चाहता है। परंतु वही एक कारण है जिससे मानवको रूपांतरित करना और उसके स्थानमें थोड़ी अधिक ज्योतिर्मय किसी चीजको ला रखना आवश्यक है।

परंतु क्या भगवान् तब इतनी भयानक, विकराल या घृणास्पद कोई वस्तु हैं जिसके भौतिकमें प्रवेश करनेकी, जिसके मानवको दिव्य बनानेकी भावना इस पराङमुखता, अस्वीकृति, विद्रोह या आतंकको उत्पन्न करे?

मैं यह समझ सकता हूं कि अपने तुच्छ सुख-दुःखोंसे, जीवनके क्षणिक अज्ञानमय नाटकसे आसक्त अशुद्ध प्राण उसे परिवर्तित करनेवाली वस्तुसे पराङ्मुख हो जाय; परंतु भला भगवान्‌से प्रेम करनेवाले, भगवान्‌को खोजनेवाले किसी साधकको चेतनासे दिव्य होनेसे क्यों डरना चाहिये? वह जिस चीजको खोजता है उसके साथ प्रकृतिमें एक बात जानेमें उसे क्यों आपत्ति होनी चाहिये, उसे सादृश्य मुक्तिसे क्यों पीछे हटना चाहिये? इस भयके पीछे साधारणतया दो कारण होते हैं: पहला, प्राणमें यह भावना विद्यमान है कि उसे तमसाच्छन्न, अमार्जित, मलिन, अहंकारपूर्ण, (आध्यात्मिक रूपमें), असंस्कृत, उत्तेजक कामनाओं और तुच्छ सुखों तथा दिलचस्प दुःखों (क्योंकि इसके स्थानमें आनेवाले आनंदसे भी वह हिचकता है) से परिपूर्ण होना बंद कर देना होगा। दूसरा, मनमें एक प्रकारकी अस्पष्ट अज्ञ यह धारणा विद्यमान है, जिसका कारण, मैं समझता हूं कि, संन्यास-परंपरा है, कि भागवत प्रकृति कोई ऐसी चीज है जो ठंडी, नंगी, खोखली, रूखी, दूर तथा अहंकारपूर्ण मानवीय प्राणिक जीवनकी शानदार संपदाओंसे रिक्त है। मानो दिव्य प्राण नामकी कोई चीज न हो और मानो वह दिव्य प्राण स्वयं अभी भी इतनी अपूर्ण मानवीय सृष्टिकी वर्तमान निःशक्त, संतप्त, तुच्छतया और क्षणिक रूपमें उत्तेजित और शीघ्र क्लांत प्राणशक्तिकी अपेक्षा अनंतगुना अधिक सौंदर्य, प्रेम, प्रभा, उष्णता, अग्नि, तीव्रता और आनंदके लिये दिव्य आवेग तथा क्षमतासे भरपूर न हो और जब उसे अभिव्यक्त करनेका साधन प्राप्त हो तो पार्थिव जीवनको इन वस्तुओंसे अनंतगुना अधिक परिपूर्ण न बना दे।

परंतु तुम कहोगे कि वास्तवमें हम भगवान्‌से पीछे नहीं हट रहे हैं, बल्कि उन्हें तो स्वीकार कर रहे हैं और उन्हें चाह रहे हैं (बशर्ते कि वह अत्यधिक दिव्य न हों)—वरन् हम विरोध कर रहे हैं अतिमानसका—जो बहुत ऊंची, दूरस्थ, अबोध्य, अगम्य वस्तु है, एक प्रकारका शुष्क निराकार ब्रह्म है। ऐसा वर्णित अतिमानस एक प्रकारका हौआ है जिसकी सृष्टि तुम्हारे प्राणिक मनके इस भागने अपनेको डराने तथा अपने मनोभावकी पुष्टिके लिये की है। इस विचित्र वर्णनके पीछे यह भावना विद्यमान प्रतीत होती है कि अतिमानस वैदान्तिक निराकार और अवर्णनीय परब्रह्मका ही एक नया संस्करण है—विशाल, महान्, अनुष्ण, शून्य, दूरस्थ, विध्वंसकारी और अभिभूतकारी; वह बिलकुल

ऐसा नहीं है, निस्संदेह, क्योंकि वह नीचे उतर सकता है, पर सभी व्यावहारिक उद्देश्योंके लिये वह ठीक उतना ही बुरा है! यह अजीव वात है कि तुम यह तो स्वीकार करते हो कि अतिमानसिक क्या हो सकता है इसका ज्ञान तुम्हें नहीं है, और फिर अपनी इन मनोस्थितियोंमें सुस्पष्ट रूपमें केवल यही घोषणा नहीं करते कि वह कैसा है, वल्कि वड़े जोरदार शब्दोंमें उससे संबंधित मेरे अनुभवको यह कहकर अस्वीकार कर देते हो कि उसका कोई व्यावहारिक मूल्य नहीं है अथवा मेरे सिवा दूसरे किसीके लिये कोई मूल्य नहीं है! मेरा कोई आग्रह नहीं है, मैंने तो यों ही उत्तर भर दिया है, क्योंकि मैं अभी तुमसे अ-मानव और दिव्य वननेके लिये नहीं कहता, अतिमानसिक वननेकी तो वात ही क्या; परंतु तुम चूंकि वरावर ही, जव तुमपर ये आक्रमण होते हैं, इसी वातपर वापस आ जाते हो और इसे ही अपने निरुत्साहकी धुरी——या कम-से-कम मुख्य आधार——वना लेते हो तो मैं उत्तर देनेके लिये वाध्य हो जाता हूं। अतिमानस वहुत ऊंचा, दूर, ठंडा और रूखा-सूखा नहीं है; वह कोई ऐसी चीज नहीं है जो पूर्ण प्राणिक और भौतिक अभि-व्यक्तिके विपरीत या उससे असंगत हो; इसके विपरीत, वह अपने अंदर पृथ्वीके ऊपर संभव प्राण-शक्ति और भौतिक जीवनकी पूर्ण परिपूर्णताकी एकमात्र संभावनाको वहन करता है। और क्योंकि वह ऐसा है, क्योंकि इसी रूपमें वह हमारे सामने प्रकट हुआ था इसीलिये, और अन्य किसी कारणसे नहीं, मैंने इसका अनुसरण किया है और लगातार तवतक किया है जवतक कि मैं इसके संपर्कमें नहीं आ गया और इसकी कुछ शक्ति और प्रभावको नीचे खींच लानेमें समर्थ नहीं हो गया। मेरा लगाव पृथ्वीके साथ है, परेके लोकोंके साथ, केवल उन्हींके तईं, मेरा कोई लगाव नहीं है; मैं पार्थिव सिद्धिके लिये प्रयास कर रहा हूं न कि सुदूरस्थित शिखरोंतक उड़ान लेनेके लिये। अन्य सभी योग इस जीवनको माया-मरीचिका अथवा क्षणिक अवस्था मानते हैं; एकमात्र अतिमानसिक योग ही इसे क्रमवर्द्धमान अभिव्यक्तिके लिये भगवान्‌द्वारा सृष्ट एक वस्तु मानता है और प्राण तथा शरीरकी संसिद्धिको अपने लक्ष्यके रूपमें ग्रहण करता है। अतिमानस शुद्ध रूपमें सत्य-चैतन्य है और अपने अवतरणके साथ वह जो कुछ ले आता है वह जीवनका पूर्ण सत्य, जड़तत्त्वमें विद्यमान चेतनाका पूर्ण सत्य है। निस्संदेह, इसे प्राप्त करनेके लिये मनुष्यको ऊंचे शिखरोंपर चढ़ना होगा, पर जैसे-जैसे मनुष्य ऊपर

चढ़ता है वैसे-वैसे वह नीचे भी उतरता जाता है। निस्संदेह, प्राण और शरीर आज जैसे हैं वैसे ही अज्ञ, अपूर्ण, अशक्त वस्तुएं बने रहनेके लिये नही है; पर अधिक पूर्ण जीवनी-शक्ति, अधिक पूर्ण शरीर-शक्ति देनेवाले परिवर्तनको हमें कोई पृथक्, अनुष्ण और अवांछनीय वस्तु क्यों मानना चाहिये? शरीर और प्राण अभी अधिक-से-अधिक जिस आनंदको पानेमें समर्थ हैं वह है प्राणिक मन या स्नायुओं या कोषोंकी क्षणिक उत्तेजना जो सीमित है, अपूर्ण है और तुरत विलीन हो जाती है: अतिमानसिक परिवर्तन होनेपर समस्त कोष, स्नायुएं, प्राणिक शक्तियां, मूर्त्त मानसिक शक्तियां हजारगुन आनंदसे परिपूर्ण हो सकती हैं, एक ऐसे तीव्र परमानंदको पानेमें समर्थ हो सकती हैं जो वर्णनातीत है और जिसे लुप्त होनेकी कोई आवश्यकता नहीं। कितना दूर, विकर्षक और अवांछनीय! अतिमानसिक प्रेमका अर्थ है आत्माका आत्माके साथ, मनका मनके साथ, प्राणका प्राणके साथ घनिष्ठ मिलन, और एकत्वके भौतिक अनुभवके द्वारा शरीर-चेतनाका संपूर्णतः परिप्लावन, शरीरके प्रत्येक भागमें, प्रत्येक कोषमें प्रेमास्पदकी उपस्थिति। यह चीज भी क्या कोई बड़ी दूरकी और बहुत ऊंची पर अवांछनीय है? अतिमानसिक परिवर्तन हो जानेपर वह वस्तु भी जिसका तुम आग्रह करते हो--बिना किसी संघर्ष और अप्रिय प्रतिक्रियाके साधकके साथ शरीरी भगवान्के मुक्त भौतिक मिलनकी संभावना भी संभव, सुनिश्चित और उन्मुक्त हो जाती है। यह भी, मेरी समझमें, कोई बहुत दूरकी और अवांछनीय वस्तु है? मैं इसी प्रकार लिखता रह सकता हूं—पृष्ठपर पृष्ठ, पर इस समयके लिये यह पर्याप्त है।



अतिमानसिक एक ऐसी चीज है जिसका आधार है पूर्ण शांति और वहां चाहे जितना भी तीव्र भागवत प्रेम क्यों न हो, वह शांतिको भंग नहीं करता बल्कि उसकी गहराईको बढ़ा देता है। चैतन्यका अनुभव अतिमानसका अनुभव नहीं था, बल्कि उस दिव्य प्रेम और आनंदका था जो ऊपरसे प्राणमें उतारा गया था—प्राणका प्रत्युत्तर होता है ईश्वरमुखी प्रेम और आनंदका चरम आवेग तथा उल्लास, जिसके परिणाम होते हैं ये सब विकार। चैतन्यने राधा-अनुभवकी इस श्रेष्ठतापर बल दिया था क्योंकि आनंद आध्यात्मिक मनके अनुभवोंसे उच्चतर है, कारण

आनंद, उपनिषदोंके अनुसार, अनुभवका उच्चतम लोक है। परंतु यह एक तर्कसंगत निर्णय है जिसे संपूर्णतः स्वीकार नहीं किया जा सकता— मनुष्यको उच्चतम आनंदतक पहुंचनेके लिये अतिमानसके भीतरसे होकर जाना होगा, और अतिमानसके अंदर सभी दिव्य शक्तियां (ज्ञान आदि तथा प्रेम और आनंद भी) एकीकृत और सुसमंजस स्थितिमें हैं। विभिन्न साधक किसी एक पक्षपर या दूसरेपर जोर देते और उसे उच्चतम मानते हैं पर इन सबका जो यह एकत्व है वही उच्चतम अनुभव और उपलब्धिका सच्चा आधार बन सकता है।



(भक्तियोगके) पुराने रूपोंको दुहराना आवश्यक नहीं है—चैत्य पुरुषकी भक्तिको बाहर प्रकट करना और हमारे विकासके अंदर स्वाभाविक रूपमें जो आकार आवें उन्हें ही उसे देना हमारी साधनाके लिये समुचित पद्धति है।



केवल मैंने ही वह कार्य नहीं किया है जिसे वैदिक ऋषियोंने नहीं किया था। चैतन्य और दूसरोंने भक्तिकी उस तीव्रताको विकसित किया जो वेदमें नहीं पायी जाती और बहुतसे दूसरे उदाहरण भी दिये जा सकते हैं। भला भूतकालको आध्यात्मिक अनुभवकी सीमा क्यों होना चाहिये?

हां, मैं नहीं मानता कि नयी जाति तर्कके द्वारा या तर्कके अनुसार सृष्ट की जा सकती है अथवा कोई जाति हो चुकी है। परंतु नयी जातिके निर्माणका विचार तर्कविरुद्ध क्यों होना चाहिये? . . . . जहांतक भूतकालीन ऋषियोंकी बात है, उनसे मैं नहीं घबराता। यदि प्राचीन ऋषियों और ज्ञानियोंके अनुभवसे परे जाना इतना दहलानेवाला है तो प्रत्येक नये ऋषि या ज्ञानीने एकके बाद एक वही दहलानेवाला कार्य किया है— बुद्ध, शंकर, चैतन्य आदि सबने वही बुरा कार्य किया है। यदि नहीं तो भला उनके नये दर्शनों, धर्मों तथा योग-पद्धतियोंको प्रारंभ करनेकी क्या आवश्यकता थी? यदि वे प्राचीन ऋषियों और ज्ञानियोंके जीवनों और अनुभवोंको ही महज जांचते रहे और चुपचाप दुहराते रहे तो फिर यह सब हलचल और हो-हल्ला क्यों? निश्चय ही, तुम कह सकते

हो कि वे महज प्राचीन सत्यकी व्याख्या बस यथार्थ रूपमें कर रहे थे—पर इसका अर्थ होगा कि किसी व्यक्तिने पहले यथार्थ रूपमें व्याख्या नहीं की थी या उसे नहीं समझा था—जो फिर "झूठका आरोप लगाना आदि" है। अथवा, तुम कह सकते हो कि सभी नये ज्ञानी (वे 'अ' के प्रिय भूतकालीन ऋषियोंमें, उनके युगमें नहीं थे) आदि, शंकर, रामानुज, मध्व आदि प्रत्येक उसी परम पुनीत वस्तुको दुहराते रहे जैसे कि उनसे पहले सभी प्राचीन ऋषियों और ज्ञानियोंने अथक रूपमें एक स्वरताके साथ दुहराया था। ठीक, ठीक, पर इस ढंगसे दुहराया ही क्यों जाय कि प्रत्येक दूसरेपर "झूठका आरोप" करे? सचमुच, अतीतके लिये यह चोट खाया हुआ आदर एक आश्चर्यजनक और भयावह वस्तु है। आखिरकार, भगवान् अनंत हैं और परम सत्यका उद्घाटन एक अनंत क्रियाधारा हो सकता है अथवा कम-से-कम, यदि बिलकुल उतना नहीं, तो भी उसमें नयी खोज और नये कथनके लिये, यहांतक कि शायद नयी उपलब्धिके लिये कुछ अवकाश हो सकता है, ऐसी चीज नहीं हो सकता जो एक ही खोपड़ीमें हो जो कि टूट गयी हो और उसके भीतरकी सभी चीजोंको सदाके लिये पहले ही ऋषि या ज्ञानीने निकाल लिया हो, जब कि दूसरोंको भी निष्ठापूर्वक उसी खोपड़ीको फिरसे तोड़ना होगा, प्रत्येकको "भूतकालीन" ऋषियों और ज्ञानियोंपर झूठका आरोप न लगानेके लिये थरथराते हुए संत्रस्त रहना होगा।



श्रीकृष्णने कभी किसी भौतिक रूपांतरको प्राप्त करनेका प्रयास नहीं किया, इसलिये इस तरहकी किसी चीजकी आशा उनसे नहीं की जा सकती।

न तो बुद्ध, न शंकर, न रामकृष्णको ही शरीरको रूपांतरित करनेका कोई विचार था। उनका लक्ष्य था आध्यात्मिक मोक्ष और अन्य कोई वस्तु नहीं। कृष्णने अर्जुनको कर्ममें मुक्त होनेकी शिक्षा दी, पर उन्होंने कभी किसी भौतिक रूपांतरकी बात नहीं कही।

मैं नहीं जानता कि हम इसे (युधिष्ठिरके अपने मर्त्य शरीरके साथ हिमालयस्थित स्वर्गीय राज्यमें प्रवेश करनेकी बातको) एक ऐतिहासिक तथ्य मान सकते हैं। स्वर्ग कहीं हिमालयमें नहीं है, वह चेतना और

सत्तत्वके दूसरे लोकमें स्थित एक दूसरा जगत् है। अतएव उस कहानीका चाहे जो भी अर्थ हो, पृथ्वीपर भौतिक रूपांतर सिद्ध करनेके प्रश्नके साथ उसका कोई सरोकार नहीं।



रामकृष्णने स्वयं कभी रूपांतरकी बात नहीं सोची और न इसके लिये प्रयत्न किया। उन्होंने जो कुछ चाहा था वह था श्रीमांकी भक्ति और उसके साथ-साथ जो कुछ ज्ञान श्रीमांने उन्हें दिया उसे उन्होंने ग्रहण किया तथा जो कोई कार्य श्रीमांने उनसे कराया उसे उन्होंने किया। वह प्रारंभसे ही अंतर्दृष्टि प्राप्त और चैत्य-ज्ञान-संपन्न थे, जैसे-जैसे वह आगे बढ़े वैसे-वैसे वह अधिकाधिक वैसे बनते गये। जिस रूपांतरकी हम चेष्टा करते हैं उसकी उन्हें कोई आवश्यकता नहीं थी; क्योंकि उन्होंने यद्यपि दिव्य मानव (ईश्वरकोटिके मनुष्य) की बात कही थी जो सीढ़ीसे नीचे उतरता और ऊपर चढ़ता है, पर उन्हें किसी नयी चेतना और नयी जाति तथा पार्थिव प्रकृतिके अंदर भागवत अभिव्यक्तिके विषयमें कोई धारणा नहीं थी।



चैतन्य या रामलिंगम्के विषयमें जो कुछ भी क्यों न घटित हुआ हो, उनके अंदर चाहे जितना भी शारीरिक रूपांतर क्यों न हुआ हो, वह शरीरके अतिमानसीकरणके उद्देश्यके साथ बिलकुल मेल नहीं खाता। उनका नया शरीर या तो अ-भौतिक अथवा सूक्ष्म-भौतिक शरीर था जो पृथ्वीके जीवनके लिये उपयुक्त नहीं था। यदि वैसा होता तो वे विलीन नहीं हो गये होते। अतिमानसीकरणका उद्देश्य है एक ऐसा शरीर जो, भौतिक जीवनमें जबतक मनुष्य बना हुआ है तबतक, पृथ्वीपर भौतिक चेतनाको अभिव्यक्त और मूर्त्तिमान करनेके उपयुक्त हो। यह पृथ्वीपर होनेवाले आध्यात्मिक विकासका एक पग है, न कि किसी अतिभौतिक जगत्की ओर जानेका एक पग। यह अतिमानसीकरण अतिमानस-योग-द्वारा प्राप्त परिवर्तनका अत्यंत कठिन अंग है और सब कुछ इस बातपर निर्भर करता है कि आया ऐसा पग उठानेकी संभावना उत्पन्न करनेके लिये वर्तमान कालमें चेतनके अंदर कोई पर्याप्त परिवर्तन लाया जा सकता है या नहीं, पर इस पगका स्वरूप उससे भिन्न है जो कि अन्य

योगोंका लक्ष्य है। इसलिये इन सब वाद-विवादोंकी बहुत उपयोगिता नहीं—मनुष्यको सबसे पहले सामान्य रूपसे मानसिक, प्राणिक और भौतिक चेतनाको पर्याप्त रूपमें अतिमानसभावापन्न बना लेना होगा—उसके बाद ही वह शरीरके अतिमानसीकरणकी बात सोच सकता है। चैत्य और आध्यात्मिक रूपांतरको सबसे पहले संपन्न होना होगा, केवल उसके बाद ही नीचे शरीरतक समूची सत्ताके अतिमानसीकरणकी आलोचना करना व्यावहारिक या लाभदायी होगा।



दिव्य सिद्धिका अर्थ है आध्यात्मिक सिद्धि—मनोआध्यात्मिक स्तरपर अथवा अधिमानसिक स्तरपर आत्मा, भगवान् या ब्रह्मकी उपलब्धि। यह एक ऐसी चीज है (किसी भी तरह मनो-आध्यात्मिक) जिसे हजारों कर चुके हैं। सो, इसे संसिद्ध करना स्पष्ट ही अतिमानसकी अपेक्षा अधिक आसान है। फिर कोई भी मनुष्य अतिमानसिक उपलब्धि नहीं प्राप्त कर सकता जबतक कि वह आध्यात्मिक उपलब्धि नहीं प्राप्त कर लेता....। यह सच है कि इनमेंसे कोई उपलब्धि तबतक प्रभावकारी रूपमें नहीं प्राप्त की जा सकती जबतक कि समूची सत्ता उसकी ओर नहीं मुड़ जाती—जबतक कि मनुष्यके अंदर साधनाकी वास्तविक तथा बहुत गंभीर भावना और सक्रिय स्वरूप नहीं आ जाते।....यह सच है कि मैं स्वयं अपने लिये नहीं बल्कि पृथ्वीके लिये तथा पृथ्वीपर उत्पन्न आत्माओंके लिये अतिमानसको चाहता हूं और इसलिये निश्चय ही कोई यदि अतिमानसको चाहे तो उसमें मुझे कोई आपत्ति नहीं हो सकती। परंतु इसकी कुछ शर्तें हैं। उसे सबसे पहले भागवत इच्छाको चाहना होगा और मार्गपर अंतरात्माका समर्पण और आध्यात्मिक उपलब्धि (कर्म, भक्ति, ज्ञान, आत्मपरिपूर्णताके द्वारा) चाहनी होगी....।

केंद्रीय सच्चाई पहली चीज है और किसी अभीप्साको बनाये रखनेके लिये पर्याप्त है—अभीप्साको चरितार्थ करनेके लिये सर्वांगीण सच्चाईकी आवश्यकता होती है....।

भागवत चेतनाकी विभिन्न अवस्थाएं हैं। फिर रूपांतरकी भी विभिन्न अवस्थाएं हैं। पहला है चैत्य रूपांतर जिसमें सब कुछ व्यक्तिगत चैत्य चेतनाके माध्यमसे भगवान्के संपर्कमें रहता है। दूसरा है आध्यात्मिक रूपांतर जिसमें सब कुछ वैश्व चेतनामें जाकर भगवान्में लीन हो जाता

है। तीसरा है अतिमानसिक रूपांतर जिसमें सब कुछ दिव्य विज्ञान-चेतनामें जाकर अतिमानसमावापन्न बन जाता है। केवल इस अंतिम रूपांतरके हो जानेके बाद ही मन, प्राण और शरीरका पूर्ण—मेरे अर्थमें पूर्ण—रूपांतर होना आरंभ हो सकता है।

तुम दो दृष्टियोंसे भूल करते हो। प्रथम, इस उपलब्धिका प्रयास नया नहीं है और कुछ योगियोंने इसे प्राप्त किया है, मैं मानता हूं—पर उस रूपमें नहीं जैसा मैं चाहता हूं। उन्होंने व्यक्तिगत सिद्धिके रूपमें इसे पाया था और योगसिद्धिसे इसे बनाये रखा—प्रकृतिके धर्मके रूपमें नहीं। द्वितीयतः, अतिमानसिक रूपांतर ठीक वही चीज नहीं है जो आध्यात्मिक-मानसिक है। वह मन, प्राण और शरीरका एक ऐसा परिवर्तन है जिसे मानसिक या अधिमानसिक आध्यात्मिक नहीं प्राप्त कर सकता। वे सभी लोग जिनका तुम हवाला देते हो, आध्यात्मिक थे, पर विभिन्न रूपमें। उदाहरणार्थ, कृष्णका मन अधिमानसमावापन्न था, रामकृष्णका अंतःप्रेरित, चैतन्यका आध्यात्मिक-चैत्य तथा बुद्धका आलोकित उच्चतर मन। मैं वी० जी० के विषयमें नहीं जानता—ऐसा लगता है कि वह प्रतिभाशाली तो थे, पर थे कुछ अस्तव्यस्त। यह सब अतिमानसिकसे भिन्न है। फिर परमहंसोंके प्राणकी बात लें। ऐसा कहा जाता है कि उनका प्राण या तो एक बालकी तरह (रामकृष्ण) या एक पागलकी तरह या एक पिशाचकी तरह या एक जड़वस्तुकी तरह (जैसे, जड़भरत) व्यवहार करता है। हां, इन सबमें कुछ भी अतिमानसिक नहीं है।

इनमेंसे कोई भी रूपांतर होनेपर मनुष्य भगवान्‌का उपयुक्त यंत्र नहीं हो सकता। मुख्य प्रश्न है कि किस बातके लिये यंत्र होना है?



परमहंसस्थिति सिद्धिका एक विशिष्ट स्तर है, दूसरे स्तर भी हैं जो उससे नीचे या ऊपर माने जाते हैं। उनके अपने स्थानमें उनके विषयमें मुझे कोई आपत्ति नहीं है। पर मैं तुम्हें याद दिला दूं कि मेरे योगमें प्राणकी सभी क्रियाओंको चैत्य पुरुष तथा आध्यात्मिक स्थिरता, ज्ञान और शांतिके प्रभावके अधीन अवश्य आ जाना चाहिये, यदि वे चैत्य या आध्यात्मिक संयमका विरोध करें तो वे समतोलता नष्ट कर देते हैं और रूपांतरका आधार निर्मित करना रोक देते हैं। यदि असमतोलता

अन्य योगोंके लिये अच्छा है तो यह उन लोगोंका मामला है जो उनका अनुसरण करते हैं। यह मेरे योगके अनुकूल नहीं है।



मैं नहीं जानता कि कुछ थोड़ेसे महान् योगियोंके सिवा किसीने वास्तवमें अपनी बाहरी प्रकृतिको बदला है। सभी आश्रमोंमें मैंने देखा है कि लोग ठीक दूसरे लोगोंके जैसे ही थे, या केवल कुछ प्रकारके बाहरी कर्मों (भोजन, इंद्रिय सुखभोग आदि) में कुछ विशेष नैतिक संयम, पर उनका सामान्य स्वभाव मानव-स्वभाव ही था (जैसा कि नारद और जनककी कहानीमें आता है)। पुराने योगोंका तो यह सिद्धांत भी है कि 'प्रारब्ध कर्म' और इसलिये आवश्यक रूपसे बाहरी चरित्रके स्थायी अवयव परिवर्त्तित नहीं होते—बस, मनुष्य आंतरिक उपलब्धि प्राप्त करता है और उनसे वह अपनेको पृथक् कर लेता है जिससे कि वे मृत्युके समय गंदे वस्त्रकी तरह नीचे गिर पड़ते हैं और आत्माको निर्वाणमें प्रवेश करनेके लिये स्वतंत्र छोड़ देते हैं। हमारा उद्देश्य है एक आध्यात्मिक परिवर्तन, न कि केवल कोई नैतिक संयम; पर यह केवल तभी आ सकता है जबकि पहले तो भीतरसे आध्यात्मिक परित्याग किया जाय और फिर ऊपरसे अतिमानसिक अवतरण हो।



मैं किसी (वैदिक ऋषि) को नहीं जानता जिसने इस समय जन्म लिया हो। पौराणिक कहानियोंके अनुसार ऐसे बहुतसे ऋषि अवश्य हुए होंगे जो 'जितेन्द्रिय जितक्रोध' होनेसे बहुत दूर थे। परंतु ऐसे योगी भी बहुत हैं जो आत्माकी आंतरिक अनुभूति पाकर ही संतुष्ट हो जाते हैं पर राजसिक या तामसिक स्वभावकी क्रियाओंको ऊपरी सतहपर होने देते हैं और यह विश्वास करते हैं कि ये शरीरके साथ-साथ झड़ जायेंगे।



आश्चर्य! आत्माका साक्षात्कार कोई करणीय अथवा किसीके सामने प्रशंसनीय वस्तु नहीं है—"कोई बहुत कठिन स्थिति नहीं" है जिसमें अहंसे मुक्ति, सबमें एकमेवकी सचेतनता, वैश्व अज्ञानसे बाहर सुस्थित

तथा पूर्ण परात्पर स्थिति एवं उच्चतम, अनंत और शाश्वतके साथ एकत्वमें चेतनाकी स्थिरता सम्मिलित है!

कुछ नया नहीं है! भला कोई चीज नयी होनी ही क्यों चाहिये? आध्यात्मिक खोजका उद्देश्य है उसे ढूंढ़ निकालना जो शाश्वत रूपसे सत्य है, उसे ढूंढ़ निकालना नहीं जो कालके अंदर नवीन है।

भला पुराने योगों और योगियोंके विषयमें तुम्हें यह विलक्षण मनोभाव कहांसे प्राप्त हुआ? क्या वेदांत और तंत्रका ज्ञान कोई तुच्छ और नगण्य वस्तु है? तो क्या आश्रमके साधकोंने आत्मसाक्षात्कार प्राप्त कर लिया है और वे अहंकार और अज्ञानसे मुक्त जीवन्मुक्त बन गये हैं? यदि नहीं, तो फिर तुम क्यों कहते हो कि "यह कोई बहुत कठिन अवस्था नहीं है", "उनका लक्ष्य ऊंचा नहीं है", "क्या यह इतनी लंबी प्रक्रिया है?"

मैंने कहा है कि यह योग "नया" है, क्योंकि यह इस जगत्से केवल परे नहीं बल्कि इस जगत्में ही भगवान्को संपूर्ण रूपसे पाने तथा अतिमानसिक सिद्धि पानेको अपना लक्ष्य बनाता है। परंतु यह बात भला उस आध्यात्मिक उपलब्धिके प्रति महा अनादरका कैसे समर्थन करती है जो कि उतना ही इस योगका लक्ष्य है जितना कि किसी दूसरे योगका है?



पुराने योगोंको कोई बिलकुल आसान, महत्त्वहीन और निस्सार कहकर उन्हें तुच्छ समझना तथा बुद्ध, याज्ञवल्क्य एवं अतीतके अन्यान्य महान् आध्यात्मिक पुरुषोंकी अवमानना करना क्या बाहरसे देखनेपर भी बिलकुल मूर्खतापूर्ण नहीं है?



भला श्रीमाताजी ज्ञानयोगको क्यों नापसंद करेंगी? आत्माकी तथा विश्वात्माकी उपलब्धि (जिसके बिना आत्माकी उपलब्धि अपूर्ण होती है) हमारे योगके आवश्यक पग हैं; यह अन्य योगोंका अंत है, पर यह मानो हमारे योगका प्रारंभ है अर्थात् वह बिंदु है जहांसे इसकी अपनी विशिष्ट उपलब्धियां आरंभ होती हैं।

(6)

रूपांतरसे मेरा मतलब प्रकृतिका थोड़ासा परिवर्तन नहीं है—उदाहरणार्थ, उससे मेरा मतलब साधुता या नैतिक पूर्णता या यौगिक सिद्धियां (तांत्रिकोंकी जैसी) या कोई परात्पर (चिन्मय) शरीर नहीं है। मैं 'रूपांतर' शब्दका व्यवहार एक विशेष अर्थमें करता हूं—यह चेतनाका एक ऐसा परिवर्तन है जो मूलगत और पूर्ण है तथा कुछ सुनिश्चित प्रकारका है जिसके विषयमें ऐसी धारणा की गयी है कि यह परिवर्तन सत्ताके आध्यात्मिक विकासमें आगेकी ओर एक प्रबल और सुनिश्चित स्तर उत्पन्न करेगा जो कि उस स्तरसे कहीं अधिक महान् और उच्च प्रकारका होगा, अधिक वृहत्तर क्षेत्र और पूर्णता रखनेवाला होगा जो उस समय उत्पन्न हुआ था जबकि एक प्राणमय और स्थूल पशु-जगत्में सबसे पहले एक मानसभावापन्न जीव (मनुष्य) प्रकट हुआ था। यदि कोई इससे छोटी चीज घटित हो या कम-से-कम उस आधारपर यदि कोई सच्चा प्रारंभ न किया जाय, इस संसिद्धिकी ओर कोई मौलिक प्रगति न की जाय तो मेरा उद्देश्य संसिद्ध नहीं होता। कोई आंशिक सिद्धि, कोई मिली जुली और अनिर्णायिक वस्तु उस कार्यको पूरा नहीं करती जिसकी मैं जीवन और योगसे मांग करता हूं।

सिद्धिका प्रकाश वही चीज नहीं है जो कि 'अवतरण' है। स्वयं अपने-आपमें सिद्धि आवश्यक रूपसे समूची सत्ताको रूपांतरित नहीं कर देती; यह चेतनाके ऊपरी भागमें केवल एक प्रकारका उद्घाटन या उन्नयन या विस्तीर्णता ला सकती है जिसमें कि, प्रकृतिके भागोंमें कोई भी मौलिक परिवर्तन हुए विना, पुरुष-भागके अंदर कोई चीज उपलब्ध हो जाय। किसी व्यक्तिको चेतनाके आध्यात्मिक शिखरपर सिद्धिकी कोई ज्योति प्राप्त हो सकती है। पर नीचेके भाग जैसे थे वैसे ही बने रहते हैं। मैंने इस प्रकारके अनगिनत उदाहरण देखे हैं। महज मन या उसके किसी भागमें ही नहीं वल्कि समूची सत्तामें, नीचे भौतिक स्तर तथा उससे भी नीचेतक, पहले ज्योतिका अवतरण अवश्य हो जाना चाहिये, उसके वाद ही वास्तविक रूपांतर घटित हो सकता है। मनमें ज्योति आनेपर वह मनको या उसके किसी अंशको अध्यात्मभावापन्न वना सकती है या किसी-न-किसी रूपमें परिवर्त्तित कर सकती है, पर यह आवश्यक नहीं कि वह प्राण-प्रकृतिको भी परिवर्त्तित कर दे; प्राणमें

ज्योति आनेपर वह प्राणगत क्रियाओंको शुद्ध कर सकती तथा उन्हें विशाल बना सकती है अथवा प्राण-सत्ताको निश्चल-नीरव और अचल-अटल बना सकती है, पर शरीर तथा भौतिक चेतनाको वैसेका वैसा ही छोड़ सकती है, अथवा यहांतक कि उन्हें निश्चेष्ट स्थितिमें छोड़ सकती अथवा उनकी समतोलता भंग कर सकती है। और ज्योतिका अवतरण ही पर्याप्त नहीं है, सच पूछा जाय तो समूची उच्चतर चेतनाका, उसकी शांति, शक्ति, ज्ञान, प्रेम और आनंदका अवतरण होना आवश्यक है। इसके अतिरिक्त वह अवतरण मुक्त करनेके लिये पर्याप्त हो सकता है पर पूर्णता प्रदान करनेके लिये पर्याप्त नहीं हो सकता अथवा वह अंतर सत्तामें एक महान् परिवर्तन लानेके लिये पर्याप्त हो सकता है, जबकि वाह्य सत्ता एक अपूर्ण यंत्र, वेढंगी, अस्वस्थ अथवा अनभिव्यंजक बनी रह सकती है। अंतमें, साधनाद्वारा सिद्ध रूपांतर तबतक पूर्ण नहीं हो सकता जबतक कि सत्ताका अतिमानसीकरण नहीं हो जाता। चैत्यीकरण ही पर्याप्त नहीं है, वह तो केवल प्रारंभ है; आध्यात्मीकरण और उच्चतर चेतनाका अवतरण ही पर्याप्त नहीं है, वह तो केवल मध्यकी स्थिति है; चरम उपलब्धि प्राप्त करनेके लिये अतिमानसिक चेतना और शक्तिके कार्यकी आवश्यकता होती है। इससे कम कोई चीज किसी व्यक्तिको मर्जेमें पर्याप्त प्रतीत हो सकती है, पर वह पार्थिव चेतनाके लिये आगेकी ओर सुनिश्चित पग बढ़ाने के लिये पर्याप्त नहीं है जिसे वह किसी-न-किसी दिन अवश्य आगे बढ़ायेगी।

मैंने कभी ऐसा नहीं कहा है कि मेरा योग अपने समस्त तत्त्वोंमें कोई सर्वथा नवीन वस्तु है। मैंने इसे 'पूर्णयोग' नाम दिया है और इसका मतलब यह है कि यह पुराने योगोंके सारतत्त्व तथा उनकी बहुतसी प्रक्रियाओंको ग्रहण करता है—इसकी नवीनता है इसके लक्ष्यमें, दृष्टिकोणमें तथा इसकी पद्धतिकी सर्वांग-परिपूर्णतामें। प्रारंभिक अवस्थाओंमें, मात्र जिनकी ही चर्चा "पहेली" या "योगप्रदीप" या प्रकाशित होनेवाली नयी पुस्तक*—जैसी पुस्तकोंमें मैंने की है, ऐसी कोई बात नहीं जो प्राचीन योगोंसे इस योगका भेद सूचित करे, अवश्य ही उनमें ये बातें हैं कि इस योगके उदार-विशाल भावके मूलमें क्या उद्देश्य छिपा है, इसकी क्रियावलीमें कौनसा मनोभाव काम करता है और किस वैशिष्ट्यको

*योगके आधार।

यह अपने सम्मुख रखता है—साथ ही यह बात भी है कि इसके मनोविज्ञान तथा उसकी क्रियाओंकी सारी योजना क्या है; पर ये सब बातें इन पत्रोंमें क्रमबद्ध और योजनाबद्ध रूपमें विकसित नहीं की गयी थीं और न विकसित की जा सकी थीं, इसलिये इन बातोंको वे लोग नहीं पकड़ पाये हैं जो पहलेसे इस योगसे मानसिक घनिष्ठता या कुछ साधनाके द्वारा परिचित नहीं हैं। इस योगकी पिछली अवस्थाओंके बारेमें या पद्धतिको, जो थोड़ा-बहुत ज्ञात या अछूते प्रदेशोंमें जाती है, मैंने प्रकट नहीं किया है और न वैसा करनेकी अभी मेरी इच्छा है।

मैं यह भी अच्छी तरह जानता हूं कि ऐसे आदर्श और पुर्वानुमान हुए हैं जो ऊपरसे देखनेमें इसके समान मालूम होते थे—जैसे, मनुष्य-जातिकी परिपूर्णता, कुछ तांत्रिक साधनाएं, कुछ योगसाधनाओंद्वारा पूर्ण भौतिक सिद्धि प्राप्त करनेका प्रयास आदि-आदि । मैंने स्वयं इन बातोंकी ओर संकेत किया है और इस विचारको लोगोंके सामने रखा है कि मनुष्यजातिका आध्यात्मिक अतीत प्रकृतिदेवीकी एक तैयारी रहा है—केवल जगत्से परे भगवान्को प्राप्त करनेके लिये ही नहीं वरन् आगेकी ओर उस पगको उठानेकी तैयारी भी रहा है जिसे पार्थिव चेतनाका क्रमविकास अभी उठानेवाला है। अतएव मैं जरा भी यह परवा नहीं करता,—यद्यपि ये आदर्श कुछ हदतक मिलते-जुलते तो थे पर मेरे आदर्शके साथ अभिन्न नहीं थे—, आया यह योग और इसका उद्देश्य और पद्धति नवीन स्वीकार किये जाते हैं या नहीं; यह अपने-आपमें एक नगण्य विषय है। बस, एकमात्र महत्त्वपूर्ण बात यह है कि जो लोग इसे स्वीकार करते या इसका अभ्यास करते हैं वे इसे सत्य मानते हैं और अपनी उपलब्धिके द्वारा इसे सत्य बनाते हैं। इससे कुछ आता-जाता नहीं कि आया यह नया कहा जाता है या किसी पुराने योगकी पुनरावृत्ति या पुनःप्रवर्त्तन जिसे लोग भूल गये थे। मैंने कुछ साधकोंके पत्रोंमें इस योगको नवीन कहकर इसपर अधिक जोर दिया था जिसमें उन्हें समझाया जा सके कि पुराने योगोंके उद्देश्य और भावनाको दुहराना ही मेरी नजरोंमें पर्याप्त नहीं है, मैं तो प्राप्त करनेके लिये एक ऐसी चीजको सबके सामने प्रस्तुत कर रहा हूं जो अभीतक प्राप्त नहीं की गयी है, अभीतक जिसको स्पष्ट रूपमें देखा-समझा भी नहीं गया है, यद्यपि यह भूतकालीन समस्त आध्यात्मिक प्रयासका एक स्वाभाविक पर अभी भी गुप्त परिणाम है।

पुराने योगोंके मुकाबले यह इस कारण नया है कि:

(1) इसका लक्ष्य जगत् और जीवनसे बाहर निकलकर स्वर्ग या निर्वाणमें जाना नहीं है, बल्कि जीवन और जगत्को परिवर्त्तित करना है, और यह कोई गौण अथवा आनुषंगिक चीज नहीं, बल्कि एक सुस्पष्ट और प्रमुख उद्देश्य है। यदि अन्य योगोंमें अवतरणकी बात है तो फिर भी वह वहां केवल मार्गमें होनेवाली एक गौण घटना है अथवा आरोहणका परिणाम है—वहां आरोहण ही वास्तविक वस्तु है। यहां आरोहण प्रथम पग है, पर यह अवतरणके लिये एक साधन है। यहां आरोहणके द्वारा प्राप्त नवीन चेतनाका अवतरण ही साधनाकी मुहरछाप है। तंत्र और वैष्णव-साधनाका अंत भी जीवनसे मुक्ति ही है, यहां हमारा उद्देश्य है जीवनकी दिव्य संसिद्धि।

(2) यहां एक ऐसे लक्ष्यकी खोज की जा रही है जो व्यक्तिके लिये ही कोई दिव्य सिद्धिकी व्यक्तिगत उपलब्धि नहीं है, वरन् एक ऐसा लक्ष्य है जिसे पार्थिव चेतनाके लिये प्राप्त करना है, यह कोई एकमात्र विश्वातीत उपलब्धि नहीं, बल्कि वैश्व उपलब्धि है। जिस वस्तुको प्राप्त करना है वह भी दिव्य चेतनाकी एक शक्तिको (अतिमानसिक शक्तिको) नीचे उतार लाना है जो अभी पार्थिव प्रकृतिमें व्यवस्थित नहीं है या प्रत्यक्षतः सक्रिय नहीं है, यहांतक कि आध्यात्मिक जीवनमें भी नहीं, पर फिर भी जिसे व्यवस्थित करना और प्रत्यक्षतः सक्रिय बनाना है।

(3) इस उद्देश्यको सिद्ध करनेके लिये एक पद्धतिको प्रचारित किया गया है जो कि उतनी ही पूर्ण और सर्वांगपूर्ण है जितना कि इसके सम्मुख रखा हुआ लक्ष्य, अर्थात्, चेतना और प्रकृतिका संपूर्ण और सर्वांगीण परिवर्त्तन, जिसमें प्राचीन पद्धतियां ली तो गयी हैं पर केवल आंशिक कार्य तथा अन्य प्रमुख पद्धतियोंके वर्तमान सहायके रूपमें ली गयी हैं। इस पद्धतिको (पूरीकी पूरी पद्धतिको) या इसकी जैसी किसी पद्धतिको मैंने पुराने योगोंमें स्वीकृत या संसिद्ध नहीं देखा है। यदि मैंने देखा होता तो ऐसी हालतमें मैंने मार्ग बनाने और तीस वर्षतक खोज करते रहने तथा आंतर रचना करनेमें अपना समय न नष्ट किया होता, जब कि मैं यथासंभव सुरक्षित रूपमें उन पथोंपर सरपट चालसे चलकर शीघ्र ही पहुंच गया

होता तो जोकि पहलेसे ही प्रोज्वल, सुनिर्दिष्ट, पूर्णतः अंकित, पक्के, सुरक्षित और लोकप्रसिद्ध हैं। हमारा योग पुरानी पगडंडियोंपर ही दुबारा चलना नहीं है, वल्कि वह तो एक वड़ा ही साहसिक आध्यात्मिक कार्य है।



इससे मेरा मतलव था पृथ्वीपर अतिमानसिक चेतनाका अवतरण; अतिमानससे नीचेके सभी सत्य (यहांतक कि मानसिक स्तरपर उपलब्ध उच्चतम आध्यात्मिक अनुभवका सत्य भी, जो कि अवतक अभिव्यक्त सर्वोच्च सत्य है) या तो आंशिक या सापेक्षिक या दूसरे प्रकारसे अपूर्ण हैं तथा पार्थिव जीवनको रूपांतरित करनेमें असमर्थ हैं; वे उसे अधिक से अधिक केवल कुछ सुधार सकते और प्रभावित कर सकते हैं। अतिमानस वह वृहत् ऋत-चित् है जिसकी चर्चा प्राचीन ऋषियोंने की है; अवतक उसकी केवल झांकियां ही मिली हैं, कभी-कभी उसका कोई अप्रत्यक्ष प्रभाव या दवाव ही पड़ा है, पर उसे पृथ्वीकी चेतनामें नीचे नहीं उतारा और स्थापित किया गया है। इस प्रकार उसे उतार लाना ही हमारे योगका लक्ष्य है।

परंतु यह कहीं अधिक अच्छा है कि हम उस विषयमें व्यर्थके वौद्धिक वाद-विवादमें न उतर पड़ें। वुद्धिप्रधान मन यह समझ भी नहीं सकता कि अतिमानस है क्या; फिर भला उसे उस चीजके विषयमें वाद-विवाद करने देनेसे क्या लाभ जिसे वह जानता ही नहीं? सच पूछा जाय तो तर्क-वितर्कके द्वारा नहीं वल्कि सतत अनुभवके द्वारा, चेतनाका विकास तथा ज्योतिमें विस्तारित होनेपर ही मनुष्य वुद्धिके ऊपरकी चेतनाके उन उच्चतर स्तरोंमें पहुंच सकता है जहांसे वह भागवत विज्ञानकी ओर ऊपर दृष्टि डालना आरंभ कर सकता है। वे स्तर ही अतिमानस नहीं हैं, पर वे उसके ज्ञानके कुछ अंशको ग्रहण कर सकते हैं।

वैदिक ऋषियोंने पृथ्वीके लिये अतिमानसको कभी प्राप्त नहीं किया अथवा उन्होंने संभवतः इसका प्रयासतक नहीं किया। उन्होंने व्यक्तिगत रूपसे अतिमानसिक लोकतक ऊपर उठनेका प्रयत्न किया, पर उन्होंने उसे नीचे नहीं उतारा और न उसे पृथ्वी-चेतनाका एक स्थायी अंग ही वनाया। उपनिषदोंमें ऐसे मंत्र भी मिलते हैं जिनमें यह संकेत किया गया

है कि सूर्यके द्वारोंसे होकर गुजरना (सूर्य यहां अतिमानसका प्रतीक है) और साथ ही पार्थिव शरीरको बनाये रखना असंभव है। सच पूछा जाय तो इसी असफलताके कारण भारतका आध्यात्मिक प्रयास मायावादमें जाकर अपनी पराकाष्ठाको प्राप्त हुआ। हमारा योग आरोहण और अवरोहणकी एक द्विविध क्रिया है; मनुष्य क्रमशः चेतनाके उच्चतर स्तरोंमें ऊपर उठता जाता है, पर उसके साथ-ही-साथ वह उनकी शक्तिको भी न केवल मन और प्राणमें, बल्कि अंतमें शरीरतकमें नीचे उतार लाता है। और इन स्तरोंमें जो उच्चतम है, जिसे इसने अपना लक्ष्य बनाया है, वह है अतिमानस। जब उसे नीचे उतारा जा सकेगा केवल तभी पृथ्वीचेतनामें दिव्य रूपांतर साधित करना संभव होगा।



मैं नहीं कह सकता कि उन लोगों (वैदिक ऋषियों) में से कोई अतिमानसिक लोकतक पहुंचा या नहीं, पर वहांतक आरोहण करना उनका उद्देश्य था। 'स्वः' स्पष्ट ही मनस्का ज्योतिर्मय क्षेत्र है, यह अतिमानस तथा मानव-बुद्धिके बीचमें है और 'सूर्य' की किरणोंद्वारा निर्मित हुआ है। उपनिषदोंके कथनानुसार जो लोग 'सूर्य'की किरणोंके अंदर आरोहण करते हैं वे वापस आते हैं, पर जो लोग स्वयं 'सूर्य'में ऊपर उठ जाते हैं वे वापस नहीं आ सकते। इसका कारण यह है कि अतिमानसमें आरोहण करनेकी कल्पना तो की गयी थी, पर अतिमानसके (किरणोंके अवतरणसे भिन्न) यहां अवतरित होने और सुव्यवस्थित होनेकी कल्पना नहीं की गयी थी। हमें ऋषियोंके पुनर्जन्मके विषयमें परेशान होनेकी कोई जरूरत नहीं—यदि उनकी आवश्यकता होगी तो, मैं समझता हूं कि, वे लोग अवतरित होंगे।



यह बिलकुल संभव है कि यह श्लोक आनंद और ज्योतिके उच्चतर लोकोंमें ऊपर चले जानेका उल्लेख करता है और इसे मुक्ति या उद्धार कहा जा सकता है। पीछेके युगोंमें यह भावना बड़ी प्रबल थी कि इन सब उच्चतर जगतोंमें वापस आना अनिवार्य है और जब समस्त वैश्व-जीवनसे छुटकारा मिल जायेगा केवल तभी मुक्ति प्राप्त होगी। ऐसा लगता है कि वैदिक ऋषियोंका ध्यान मिथ्यात्व और अज्ञानसे ऊपरके

एक ज्योतिर्मय जगत् अथवा स्थितिमें आरोहण करनेकी ओर था। उपनिषद्में सूर्य अतिमानसिक सत्यका प्रतीक है और यह कहा गया है कि जो लोग उसमें जाते हैं वे वापस आ सकते हैं पर जो लोग स्वयं सूर्यके द्वारोंमेंसे होकर निकल जाते हैं वे वापस नहीं आते; संभवतः इसका अर्थ यह है कि अधिमानसके सुनहले ढक्कनके उस पार स्वयं अतिमानसमें आरोहण करना ही उनके लिये अंतिम मुक्ति थी। वेद कहते हैं कि सत्य सत्यके द्वारा आवृत है जहां सूर्य अपने रथसे घोड़ोंको खोलता है तथा वहां समस्त अगणित किरणें एक साथ 'एक'के अंदर खींच ली जाती हैं और इसे ही लक्ष्य माना जाता था। ईश उपनिषद् भी कहता है कि एक सुनहले ढक्कनने सत्यके मुंहको ढक रखा है और उसको दूर करनेपर सत्यका वह विधान दिखायी देता है, वह उच्चतम ज्ञान प्राप्त होता है जिसमें एकमेव 'पुरुष' ज्ञात होता है (सोऽहमस्मि)। और जिसे सूर्यका 'कल्याणतम' रूप कहा गया है। ऐसा लगता है कि ये सारी बातें अतिमानसिक अवस्थाओंकी ओर संकेत करती हैं जिनका प्रतीक सूर्य है।



वैदिक ऋषि प्राचीन ढंगके रहस्यवादी थे जो सर्वत्र, भारत, यूनान मिस्र तथा अन्यान्य स्थानोंमें, यह विश्वास करते थे कि जो सत्य और पद्धतियां हमें प्राप्त हैं वे बहुत पवित्र और गुह्य हैं, इन्हें अयोग्य लोगों के सामने प्रकट नहीं करना चाहिये अन्यथा वे इस ज्ञानको गलत समझेंगे, इसका अपप्रयोग करेंगे, अपव्यवहार करेंगे तथा इसे अपभ्रष्ट करेंगे। अतएव उनकी रचनाएं इस प्रकार व्यक्त हुई थीं कि उनका गुह्य अर्थ केवल दीक्षित लोगोंकी ही समझमें आ सकता था, निन्या वचांसि निवचनानि कवये*—गुह्य शब्द जो अपने अर्थको केवल ऋषियोंके सामने प्रकट करते हैं। वे साधारण जनके लिये तो एक ऊपरी सामान्य और धार्मिक अर्थ वहन करते थे और दीक्षित व्यक्तियोंके लिये गुप्त, गुह्य और आध्यात्मिक अर्थ। उनका उद्देश्य ही था कि लोगोंको वास्तविक सत्यका पता नहीं लगना चाहिये; वे चाहते थे कि उन्हें केवल वे ही बाहरी सत्य मालूम हों जिनके योग्य वे हैं।



*ऋग्वेद, 4. 3. 16.

मौलिक भेद इस शिक्षामें ही है कि एक सक्रिय दिव्य सत्य (अतिमानस) है और वह सत्य अज्ञानके वर्तमान जगत्में अवतरित हो सकता, एक नवीन सत्य-चेतनाको उत्पन्न कर सकता तथा जीवनको दिव्य बना सकता है। प्राचीन योग मनसे सीधे निरपेक्ष भगवान्‌तक चले जाते हैं और समस्त सक्रिय जीवनको अज्ञान, माया या लीला मानते हैं; जब तुम स्थाणु और अक्षर भागवत सत्यमें प्रवेश कर जाते हो तो, वे कहते हैं, तुम विश्व-लीलासे बाहर चले जाते हो।



इस योगका लक्ष्य है अतिमानसके अंदर भगवान्‌के साथ सचेतन एकत्व प्राप्त करना तथा प्रकृतिको रूपांतरित करना। साधारण योग सीधे मनसे वैश्व नीरवताकी किसी अलक्षण स्थितिमें चले जाते हैं और उसके द्वारा ऊपरकी ओर उच्चतममें जाकर विलीन हो जानेकी चेष्टा करते हैं। इस योगका लक्ष्य है मनको अतिक्रांत कर जाना और सच्चिदानंदके दिव्य सत्यमें प्रवेश कर जाना जो केवल स्थाणु ही नहीं बल्कि सक्रिय भी है, तथा उसी सत्यमें समूची सत्ताको ऊपर उठा ले जाना।



दिव्य एकत्व, हां—पर वैराग्यप्रधान साधनाओंके लिये यह निराकार ब्रह्मके साथ, जीवनसे परे अज्ञेयके साथ एकत्व था, अथवा, यदि ईश्वरके साथ एकत्व था तो फिर भी वह ईश्वर विश्वातीत चेतनामें था। उस दृष्टिकोणसे पतंजलि का यह सूत्र* काफी उपयुक्त है। जब वह योग कहते हैं तो उनका मतलब होता है योगकी प्रक्रिया, वह लक्ष्य जिसे उस प्रक्रियामें अपनी दृष्टिके सामने रखना होगा—क्योंकि चित्तवृत्तिका निरोध कर देनेपर मनुष्य समाधिमें चला जाता है और समाधि ही जीवन और जगत्‌से परे ब्रह्मके साथ अनन्यभावसे और पूर्ण रूपमें एकत्व प्राप्त करनेका एकमात्र पथ है।



प्राचीन योगोंमें जिस चीजकी खोज की जाती थी वह थी आत्माका

---

*योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः।

अनुभव जो आत्मा कि सदा मुक्त और भगवान्‌के साथ एक है। प्रकृतिको तो बस उतना ही परिवर्तित होनेकी आवश्यकता होती थी जिसमें कि इस ज्ञान और अनुभव में उसका बाधा बनना रुक जाय। प्रकृतिका पूर्ण परिवर्त्तन, नीचे शरीरतक, करनेका प्रयास कुछ योगोंद्वारा किया गया था पर फिर किया गया था और किसी भी चीजकी अपेक्षा कहीं एक "सिद्धि"के रूपमें, न कि पृथ्वी-चेतनाके अंदर एक नवीन प्रकृतिकी अभिव्यक्तिके रूपमें।



मनुष्यके मनसे ऊपर बहुतसे लोक हैं—अतिमानस ही एकमात्र लोक नहीं है, और उनमेंसे सभी लोकोंमें आत्माका साक्षात्कार किया जा सकता है,—क्योंकि वे सभी आध्यात्मिक लोक हैं।

मन, प्राण और शरीर केवल उपरितलीय चेतनामें ही जटिल रूपमें एक साथ मिलेजुले हैं—आंतर मन, आंतर प्राण, आंतर शरीर एक-दूसरे से पृथक् हैं। जो लोग पुराने योगोंद्वारा आत्माकी खोज करते हैं वे अपने-आपको मन, प्राण और शरीरसे अलग कर लेते हैं और इन सबके आत्माको इन चीजोंसे पृथक् अनुभव करते हैं। अतिमानसकी सहायताके बिना भी मन, प्राण और शरीरको एक-दूसरेसे पृथक् कर लेना पूरी तरह आसान है। यह चीज साधारण योगोंके द्वारा की जा चुकी है। इस योग और प्राचीन योगोंके बीच विभेद यह नहीं है कि वे अक्षम हैं और इन चीजोंको नहीं कर सकते—वे इन्हें बहुत अच्छी तरह कर सकते हैं—बल्कि विभेद यह है कि वे आत्माकी अनुभूतिसे आरंभ कर निर्वाण या किसी स्वर्गकी ओर जाते हैं और जीवनका परित्याग कर देते हैं, जबकि यह योग जीवनका परित्याग नहीं करता। अतिमानसकी आवश्यकता पार्थिव जीवन और सत्ताका रूपांतर करनेके लिये है न कि आत्मातक पहुंचनेके लिये। मनुष्यको सबसे पहले आत्माको उपलब्ध करना होगा, उसके बाद ही वह अतिमानसको प्राप्त कर सकता है।



मनुष्य किसी भी साधनाके अनुभवोंको इस साधनके एक अंगके रूपमें अनुभव कर सकता है।



आत्माकी अनुभूति अधिमानस या अतिमानसके विकसित होनेसे बहुत पहले ही प्राप्त हो जाती है; सभी युगोंमें सैकड़ों साधक उच्चतर मानस-लोकोंमें, बुद्धेः परतः आत्माका अनुभव प्राप्त कर चुके हैं, पर उन्हें अतिमानसिक सिद्धि नहीं प्राप्त थी। मनुष्य किसी भी स्तरपर, मानसिक, प्राणिक, यहांतक कि भौतिक स्तरपर भी, आत्मा या ब्रह्म या भगवान्की आंशिक अनुभूतियां प्राप्त कर सकता है, और जब मनुष्य साधारण मानवीय मनोलोकसे ऊपर किसी उच्चतर और वृहत्तर मनमें ऊपर उठ जाता है तो आत्मा अपनी संपूर्ण सज्ञान विशालतामें प्रत्यक्ष होना आरंभ कर देता है।

सच पूछा जाय तो आत्माकी इस विशालतामें पूर्ण प्रवेश हो जानेपर ही मानसिक क्रियाओंको बंद करना संभव होता है; मनुष्य आंतरिक नीरवता प्राप्त कर लेता है। उसके बाद यह आंतरिक नीरवता किसी प्रकारकी क्रिया होते रहनेपर भी बनी रह सकती है; सत्ता भीतर नीरव बनी रहती है, कर्म यंत्रोंमें चलता रहता है, और मनुष्य कर्मके सभी आवश्यक उपक्रमों और कार्यान्वयनोंको, चाहे वे मानसिक, प्राणिक या भौतिक ही हों, आत्माकी मौलिक शांति और स्थिरताको भंग किये बिना किसी उच्चतर स्रोतसे ग्रहण करता है।

अधिमानस तथा अतिमानस स्थितियां इससे भी और ऊपरकी कोई चीज हैं; परंतु इन्हें समझनेसे पहले मनुष्यको पहले आत्मानुभव, अध्यात्म-भावापन्न मन और हृदयका पूर्ण कार्य, चैत्य पुरुषकी जागृति, कारावरुद्ध चेतनाकी मुक्ति तथा आधारका पवित्रीकरण तथा संपूर्ण उद्घाटन अवश्य संसिद्ध कर लेना होगा। अभी उन अंतिम वस्तुओं (अधिमानस, अति-मानस) की बात मत सोचो, बल्कि सबसे पहले मुक्त प्रकृतिमें इन आधारशिलाओंको प्राप्त करो।



आध्यात्मीकरणका अर्थ है उच्चतर मानससे लेकर अधिमानसतक किसी भी उच्चतर स्तरमें विद्यमान उच्चतर शांति, शक्ति, ज्योति, ज्ञान, पवित्रता, आनंद आदिका अवतरण; क्योंकि इन स्तरोंमेंसे किसीमें भी आत्माकी अनुभूति प्राप्त की जा सकती है। इससे एक प्रकारका आंतरिक रूपांतर सिद्ध होता है; यंत्र-रूप प्रकृति केवल उतनी ही रूपांतरित होती है कि वह कुछ कार्य सिद्ध करनेमें वैश्व भगवान्का

एक यंत्र बन जाय, पर अंतरस्थ आत्मा शांत-स्थिर और मुक्त और भगवान्‌के साथ युक्त बना रहता है। परंतु यह एक अपूर्ण व्यक्तिगत रूपांतर है—यंत्र-रूप प्रकृतिका पूर्ण रूपांतर केवल तभी संसिद्ध हो सकता है जबकि अतिमानसिक परिवर्त्तन घटित हो। जबतक ऐसा नहीं हो जाता तबतक प्रकृति अनेक अपूर्णताओंसे भरी रहती है, पर उच्चतर लोकोंमें अवस्थित आत्मा उनकी कोई परवा नहीं करता, क्योंकि वह स्वयं मुक्त और अप्रभावित होता है। नीचे आंतर शरीरतक समूची आंतर सत्ता भी मुक्त और अप्रभावित हो सकती है। अधिमानस प्रभावकारी ज्ञानकी क्रियाओंकी सीमाओं, शक्तिकी क्रियाओंकी सीमाओंके अधीन होता है, आंशिक और सीमित सत्य आदिके अधीन होता है। एकमात्र अतिमानसके अंदर ही पूर्ण सत्य-चेतना (ऋत-चित्) प्रकट होती है।



सच्ची चेतनामें रहनेका मतलब है एक ऐसी चेतनामें रहना जिसमें मनुष्य किसी-न-किसी रूपमें भगवान्‌के साथ आत्मिक रूपमें युक्त होकर रहता है। परंतु इससे यह अर्थ नहीं निकलता कि इस प्रकार रहनेसे मनुष्यको सभी कर्मों, सभी वस्तुओं और सभी मनुष्योंका संपूर्ण, यथार्थ और निर्भ्रान्त सत्य प्राप्त हो जायगा।



भगवान्‌को किसी भी स्तरपर उस स्तरकी क्षमताके अनुसार उपलब्ध किया जा सकता है, क्योंकि भगवान् सर्वत्र विराजमान हैं। योगी और संत-महापुरुष भगवान्‌को अध्यात्मभावापन्न मनोलोकमें उपलब्ध करते हैं; इसका अर्थ यह नहीं है कि वे अतिमानसिक बन जाते हैं।



चूंकि वह एक महान् व्यक्ति है इसलिये क्या यह निष्कर्ष निकलता है कि जो कुछ वह सोचता या कहता है वह यथार्थ है? अथवा, चूंकि वह प्रकाशमें रहता है इसलिये क्या यह निष्कर्ष निकलता है कि उसका प्रकाश सर्वोच्च और पूर्ण है? "ऋत-चित्" एक ऐसा पद है जिसका व्यवहार मैं अतिमानसके लिये करता हूं। 'क' अतिमानसमें नहीं रहता। वह किसी सच्ची चेतनामें रह सकता है और रहता है, परंतु यह एक दूसरी ही बात है।



संभवतः तुम भी 'अ' की रायसे सहमत हो कि "भगवान् यहीं हैं, भला वह कहींसे अवतरित कैसे हो सकते हैं?" भगवान् यहां हो सकते हैं, पर उन्होंने यदि यहां अपनी ज्योतिको अज्ञानके अंधकारके द्वारा और अपने आनंदको दुःख-कष्टके द्वारा ढक रखा है तो, मैं समझ सकता हूं, इससे इस स्तरके लिये बड़ा अंतर पड़ जाता है और, यदि कोई उस मुहरबंद ज्योति आदिमें प्रवेश भी कर जाय तो इससे उस चेतनामें तो अंतर आ जाता है पर बहुत थोड़ा अंतर इस स्तर पर काम करनेवाली शक्तिमें आता है जो अंध या सम्मिश्र प्रकारकी बनी रहती है।



किसी भी स्तरपर भागवत शक्ति कार्य कर सकती है—वह अतिमानसिक शक्तिसे सीमित नहीं है। अतिमानसिक शक्ति भगवान्की शक्तिका केवल एक स्वरूप है।



पूर्णयोगका जो साधक निराकारपर एकाएक रुक जाता है वह कभी पूर्णयोगका साधक नहीं है। निराकारकी अनुभूति नीरव आत्माकी, शुद्ध सत्, चित् और आनंदकी अनुभूति है जिसमें किसी सत्स्वरूप, चेतनस्वरूप, आनंदस्वरूप पुरुषका कोई बोध नहीं होता। अतएव यह अनुभूति निर्वाणकी ओर ले जाती है। पूर्णयोगके ज्ञानके अंतर्गत आत्माकी और निराकार सच्चिदानंदकी अनुभूति महज एक पग है, यद्यपि एक बहुत महत्त्वपूर्ण पग है, अथवा सर्वांगपूर्ण ज्ञानका अंग है। यह एक प्रारंभ है, उच्चतम अनुभूतिका अंत नहीं है।



ये भावनाएं भगवान्के प्रति भौतिक चेतनाका, जब वह अपने-आपमें छोड़ दी जाती है, सामान्य मनोभाव हैं—पूर्ण संशयवाद और अनुभवकी अक्षमता।

निर्व्यक्तिक भगवान्का ज्ञान स्वयं अपने-आपमें पृथ्वीके स्थूल तथ्योंपर कोई प्रभाव नहीं डालता या कम-से-कम उसे प्रभाव डालनेकी कोई आवश्यकता नहीं होती। वह स्वयं सत्ताके अंदर केवल आंतरिक परिवर्तन ले आता है और, यदि वह परिवर्तन पूर्ण हो, अभौतिक या भौतिक

सभी वस्तुओंके प्रति एक नवीन दृष्टि और मनोभाव उत्पन्न करता है, परंतु भगवान्का पूर्ण ज्ञान भौतिक वस्तुओंमें भी परिवर्तन ला सकता है, क्योंकि वह एक ऐसी शक्तिको क्रियाशील बना देता है जो अंतमें इन भौतिक वस्तुओंपर भी क्रिया करती है जो कि भौतिक चेतनाको इतनी अधिक निरंकुश, अज्ञेय और अपरिवर्तनीय प्रतीत होती हैं।



भला क्यों कोई (विश्वव्यापी और परात्पर भगवान्को) यथार्थ रूपमें प्यार और अनुभव नही कर सकता? बहुतोंने ऐसा किया है। और यह क्यों मान लिया कि वह भगवान् अचल, नीरव और पृथक् हैं? विश्वव्यापी भगवान् मनुष्यके उतने ही समीप हो सकते हैं जितना कि उसका अपना आत्मा है और परात्पर भगवान् उतने ही घनिष्ठ हो सकते हैं जितना कि उसका घनिष्ठतम मित्र या प्रेमी। सच पूछो तो भौतिक चेतना को ही इसे अनुभव करनेमें कुछ कठिनाई होती है।

जैन-धर्मकी जो व्यक्तिगत देवत्व की उपलब्धि है वह जहांतक उसका उपयोग है वहांतक ठीक ही है—उसका दोष यह है कि वह अत्यधिक वैयक्तिक और विच्छिन्न है।



मैंने यह कभी नहीं सुना कि अन्य योगोंमें निश्चल-नीरवता अवतरित होती है—उन योगोंके द्वारा मन नीरवतामें चला जाता है। परंतु जबसे मैंने आरोहण और अवतरणकी बातको लिखना आरंभ किया है तबसे बहुतसे लोगोंने यह कहना शुरू कर दिया है कि इस योगमें कुछ भी नया नही है—अतएव मुझे आश्चर्य हो रहा है कि क्या लोगोंके आरोहण और अवतरणकी बात जाने बिना ही अथवा कम-से-कम इसकी प्रक्रियापर उनके ध्यान दिये बिना ही यह चीज उनके अंदर घटित हुआ करती थी! यह ठीक अपने मस्तकसे ऊपर उठ जाने और वहां स्थित हो जानेकी जैसी चीज है जिसे मैंने और दूसरोंने भी इस योगमें अनुभव किया है। जब मैंने सबसे पहले इसकी बात कही तो लोगोंने आंखें फाड़कर मेरी ओर ताका और समझा कि मैं कोई निरर्थक बकवास कर रहा हूं। विशालताका अनुभव पुराने योगोंमें अवश्य हुआ होगा क्योंकि उसके बिना कोई अपने अंदर विश्वको नहीं अनुभव कर सकता अथवा

शारीर चेतनासे मुक्त नहीं हो सकता अथवा अनंत ब्रह्मके साथ संयुक्त नहीं हो सकता। परंतु सामान्य रूपमें, जैसे कि तंत्रयोगमें है, लोग चेतनाके ब्रह्मरंध्रमें, मस्तकके शिखरपर ऊपर उठनेकी बात कहते हैं और उसे ही योगकी पराकाष्ठा मानते हैं। राजयोग निश्चय ही समाधिपर जोर देता है और उसे ही उच्चतम उपलब्धिका साधन मानता है। परंतु स्पष्ट ही यदि कोई अपनी जाग्रत् चेतनामें ब्राह्मीस्थितिको प्राप्त न हो तो उसकी उपलब्धिको पूर्णता नहीं प्राप्त होती। गीता सुस्पष्ट शब्दोंमें समाहित होनेकी बात कहती है (जो समाधिमें होनेकी जैसी ही है) और ब्राह्मीस्थितिको एक जाग्रत् अवस्था मानती है जिसमें मनुष्य रहता और सभी कर्म करता है।



मेरा भी सर्वदा यही विचार रहा है। मैं स्वयं अवतरणसंबंधी अनुभवोंके इस अभावकी व्याख्या इस प्रकार करता हूं कि प्राचीन योग मुख्यतया अनुभवके चैत्य-आध्यात्मिक-गुह्य क्षेत्रके अंदर सीमित रहे हैं—जिसमें उच्चतर अनुभव स्थिर मनमें अथवा एकाग्र हृदयमें एक प्रकारके अंतः-प्रवाह या प्रतिबिंबके रूपमें आते हैं—इस अनुभवका क्षेत्र ब्रह्मरंध्रसे नीचेकी ओर होता है। इससे ऊपर केवल समाधिमें ही लोग जाते थे अथवा किसी सक्रिय शक्तिके अवतरणके बिना ही निष्क्रिय मुक्तिकी किसी अवस्थामें जाते थे। जो कुछ भी सक्रिय होता था वह सब अध्यात्मभावापन्न मानसिक और प्राण-भौतिक चेतनामें घटित होता था। इस योगमें (किन्हीं चैत्य-आध्यात्मिक-गुह्य अनुभवोंके द्वारा निम्नतर क्षेत्रके तैयार हो जानेके बाद) चेतना ब्रह्मरंध्रसे ऊपरकी ओर खिंच जाती है और यथार्थ आध्यात्मिक चेतनासे संबंधित ऊपरके क्षेत्रोंमें चली जाती है। वह वहांसे केवल ग्रहण ही नहीं करती बल्कि उसके बदले उसे वहां ही रहना होता तथा वहांसे निम्नतर चेतनाको एकदम बदलना पड़ता है। क्योंकि आध्यात्मिक चेतनाकी एक अपनी क्रियाशक्ति है जिसका स्वभाव ही है ज्योति, शक्ति, आनंद, शांति, ज्ञान, अनंत विस्तार और उसे अधिकृत करना ही होगा तथा उसे समूची सत्तामें अवतरित होना ही होगा। अन्यथा मनुष्य मुक्ति तो पा सकता है पर पूर्णत्व और (एक सापेक्ष चैत्य-आध्यात्मिक परिवर्तनके सिवा) रूपांतर नहीं प्राप्त कर सकता। परंतु मैं यदि ऐसा कहूं तो सर्वत्र लोग इस अक्षम्य धृष्टताके

विरुद्ध हो-हल्ला मचाने लगेंगे कि मैं एक ऐसा ज्ञान प्राप्त कर लेनेका दावा करता हूं जो प्राचीन संतों और ज्ञानियोंको प्राप्त नहीं था, और उन्हें अतिक्रांत कर जानेका मिथ्या दावा करता हूं। इस संबंधमें मैं कह सकता हूं कि उपनिषदोंमें (विशेषतः तैत्तिरीयमें) इन उच्चतर लोकों तथा उनके स्वरूपका एवं समूची चेतनाको एकत्र कर उनमें ऊपर उठ जानेकी संभावनाका कुछ-कुछ संकेत मिलता है। परंतु इसे लोग पीछे भूल गये और केवल बुद्धिको ही सबसे ऊंची चीज कहने लगे जिसके ठीक ऊपर पुरुष या आत्माको मानने लगे, पर उन्हें इन उच्चतर लोकोंकी कोई स्पष्ट धारणा नहीं थी। अतएव, आरोहण तो संभवतः समाधिके समय अज्ञात और अवर्णनीय स्वर्गीय क्षेत्रोंमें होता था, पर कोई अवतरण संभव नही था—इसलिये यहां रूपांतरका कोई साधन नही था, कोई संभावना नही थी, केवल जीवनसे पलायन और गोलोक, ब्रह्मलोक, शिवलोक या निरपेक्षमें मुक्तिकी ही संभावना थी।



ऐसा संभव है कि लोगोंमें अवतरण हो पर इस बातकी ओर उनका ध्यान न हो कि यह अवतरण है, क्योंकि वे केवल परिणामको ही अनुभव करते हैं। साधारण योग आध्यात्मिक मनसे परे नही जाता—लोग मस्तकके शीर्ष-स्थानपर ब्रह्मके साथ मिलनको अनुभव करते है, पर वे मस्तकसे ऊपर स्थित किसी चेतनासे अवगत नही होते। उसी तरह सामान्य योगमें मनुष्य जाग्रत् निम्नतर चेतना (कुंडलिनी) को ब्रह्म-रंध्रतक ऊपर उठती हुई अनुभव करता है जहां प्रकृति ब्रह्म-चेतनाके साथ युक्त हो जाती है, पर वह अवतरणका अनुभव नही करता। कुछ योगियोंको संभव हे कि ये चीजें (अवतरण आदि) प्राप्त हुई हों, पर मैं नही जानता कि उन्होंने संपूर्ण साधनाके अंदर उनके स्वभाव-स्वरूपको, उनके मुख्य तत्त्व या स्थानको समझा था। कम-से-कम अपनी निजी अनुभूतिके अंदर इन चीजोंको पानेसे पहले मैंने कभी दूसरोंसे इनकी बात नही सुनी। इसका कारण यह है कि प्राचीन योगी जब आध्यात्मिक मनसे ऊपर गये तो समाधिमें प्रविष्ट हो गये, जिसका अर्थ है कि उन्होंने इन सब उच्चतर लोकोंमें सचेतन रहनेका प्रयास नही किया—उनका उद्देश्य होता था अतिचेतनामें प्रविष्ट हो जाना, न कि अतिचेतनाको नीचे जाग्रत् चेतनामें उतार लाना, जो कि मेरे योगका लक्ष्य है।

⊙

वेदोंमें किसी भी वैदिक देवताकी किसी व्यक्तिगत अंशविभूति या अवतारकी कोई भावना या अनुभूति नहीं है। जब ऋषि मनुष्यमें इन्द्र या अग्नि या सोमकी बात कहते हैं तब उस देवताकी वैश्व उपस्थिति, शक्ति या क्रियाकी बात कहते हैं। यह बात स्वयं उनकी भाषासे ही स्पष्ट हो जाती है जब कि वे अग्निके विषयमें कहते हैं कि वह मर्त्योंमें अमर है, मनुष्योंमें अमर ज्योति है, मनुष्य-प्राणियोंमें आंतरिक योद्धा, अतिथि है। यही बात इंद्र और सोमके विषयमें भी है। मनुष्यके अंदर देवताओंको गढ़नेका अर्थ है दिव्य शक्तियोंका सृजन—मनुष्य-प्रकृतिके अंदर इन्द्र ज्योतिकी शक्ति, सोम आनंदकी शक्ति है।

निस्संदेह, ऋषियोंने अपने ऊपर, अपने नजदीक, अपने इर्दगिर्द या अपने अंदर देवताओंकी वास्तविक उपस्थितिको अनुभव किया था, पर यह सब लोगोंका एक सामान्य अनुभव था, विशिष्ट या व्यक्तिगत नहीं था, किसी अंशविभूति या अवतारकी बात नहीं था। मनुष्य सिरके ऊपर या हृदयके अंदर या किसी एक या सभी चक्रोंमें भगवान्‌की या किसी दिव्य शक्तिकी उपस्थितिको देख सकता या अनुभव कर सकता है, वहां उपस्थितिका अनुभव कर सकता, रूपको जीवन्त देख सकता है; वह अपने सभी कर्मों, विचारों और हृद्‌गत भावोंमें उसके द्वारा परिचालित-शासित हो सकता है; वह अपने पृथक् व्यक्तित्वको उसके अंदर खो सकता है, उसके साथ एकात्म हो सकता और उसमें विलीन हो जा सकता है। परंतु यह सब भगवान् या भागवत शक्तिके अवतार या अंशविभूतिका निर्माण नहीं कर सकता। ये चीजें सार्वजनीन अनुभूतियां हैं और इन्हें कोई भी योगी प्राप्त कर सकता है; भगवान्‌के संबंधसे इस स्थितिको प्राप्त होना निश्चय ही योगका एक सामान्य उद्देश्य है।

एक अवतार इससे कुछ अधिक होता है, व्यक्तिके लिये कुछ विशिष्ट और व्यक्तिगत वस्तु होता है। उसका अर्थ है मानव व्यक्तिके स्थानमें किसी दिव्य सत्ताके व्यक्तित्वका स्थापित हो जाना और उसका सभी गतिविधियोंके अंदर अंतःप्रविष्ट हो जाना जिसमें कि उन सभी गति-विधियोंके अंदर तथा संपूर्ण प्रकृतिके अंदर एक सक्रिय व्यक्तिगत परिवर्तन घटित हो जाय; सहज चेतनाके विशेष गुणमें परिवर्तन या उसके हाथोंमें सामान्य समर्पण ही न हो, बल्कि सूक्ष्म घनिष्ठ व्यक्तिगत परिवर्तन हो। जब जन्मसे ही कोई अवतार होता है तो भी उसे मानवीय तत्त्वोंको ग्रहण करना पड़ता है, पर जब कोई अवतरण होता है तो वहां संपूर्ण

रूपसे चेतनाका प्रतिस्थापन (एक चेतनाके स्थानमें दूसरी चेतनाका आ जाना) होता है।

यह एक दीर्घ, सूक्ष्म और स्थायी प्रक्रिया है। अवतरणशील 'पुरुष' पहले एक प्रभावके रूपमें ऊपर छा जाता है, फिर एकके बाद एक सभी केंद्रोंमें प्रवेश करता है, कभी-कभी तो एक ही रूपमें, कभी-कभी भिन्न-भिन्न रूपोंमें, फिर समूची प्रकृति और उसकी क्रियाओंको अधिकृत कर लेता है। जो कुछ तुमने वर्णन किया है वह इस प्रक्रियासे नहीं मेल खाता; यह तुम्हारे अपने अंदर वैदिक अर्थमें और वैदिक ढंगसे देवताओंको गढ़नेका एक प्रयत्न प्रतीत होता है। यदि यह सफल हो तो यह उनकी शक्तियोंको तथा उनकी उपस्थितिके एक प्रकारके बोधको ला सकता है; यह किसी अवतारको नहीं उत्पन्न कर सकता। अवतार पूर्व-निर्दिष्ट होता है, वह तुम्हारे लिये चुना गया होता है; मानव-व्यक्ति अपने लिये अपनी व्यक्तिगत इच्छासे न तो किसी अवतारको चुन सकता है न निर्मित कर सकता है। ऐसा करनेका मतलब है एक आध्यात्मिक सर्व-नाशको निमंत्रित करना।

एक बात जरूर कही जा सकती है—कि इस योगका उद्देश्य कोई अवतरण कराना नहीं है; यह तो उद्देश्यको प्राप्त करनेकी केवल एक शर्त्त है या एक साधन है। हमने जो एक और केवल एक उद्देश्य अपने सामने रखा है वह है अतिमानसिक चेतना और अतिमानसिक सत्यको नीचे इस संसारमें उतार लाना; दिव्य सत्य ही, और कुछ नहीं, बस, दिव्य सत्य ही हमारा लक्ष्य है, और यदि हम इस सत्यको मूर्त्तिमान न कर सकें तो सैकड़ों अवतारोंसे कुछ आता-जाता नहीं। परंतु सच्चे अति-मानसिकको उतार लाना, सब प्रकारके मानसिक मिश्रणसे बच निकलना कोई आसान कार्य नहीं है। चक्रोंमें महज सूर्योंका अवतरण, सभी सातों चक्रोंमें सभी सातों सूर्योंका अवतरण हो तो भी वह केवल बीज है; वह स्वयं वस्तुका संपादित या पूर्ण होना नहीं है। साधक सूर्योंका अवतरण अनुभव कर सकता है, वह एक अवतारको लानेका प्रयास कर सकता है और उसका आरंभ भी हो सकता है, और फिर भी अंतमें वह असफल हो सकता है, यदि उसकी प्रकृतिमें कोई दोष हो अथवा सभी अग्निपरीक्षाओंमेंसे गुजरनेमें और पूर्ण आध्यात्मिक सफलताकी सभी कठोर शर्त्तोंको पूरा करनेमें चूक हो। अब मानव-प्राणीकी केवल समूची मानसिक, प्राणिक और भौतिक प्रकृतिको ही नहीं बल्कि

मानसिक चेतनाकी उन तीन स्थितियोंको भी जीतना और रूपांतरित करना होगा जो मानवीय और अतिमानसिकके बीचमें आती हैं और समस्त मनकी तरह ही महान् और घातक मूल-भ्रांतियोंको घुसने देनेमें समर्थ हैं। इससे पहलेतक अतिमानसिक प्रभाव, ज्योति, शक्ति, आनंदके अवतरण हो सकते हैं, पर अतिमानसिक सत्यको अधिकृत, व्यवस्थित, समस्त प्रकृतिके अधिकारमें नहीं रखा जा सकता। इससे पूर्व साधकको कभी यह नहीं समझना चाहिये कि उसने अतिमानसको अधिकृत कर लिया है, क्योंकि वह एक ऐसा भ्रम है जो सिद्धिको रोक देगा।

एक बात और। आनेवाली अनुभूतियां जितनी अधिक तीव्र होती हैं, अवतरित होनेवाली शक्तियां जितनी अधिक उच्च होती हैं, पथ-भ्रष्टता और मूल-भ्रांतिकी संभावनाएं भी उतनी ही अधिक हो जाती हैं। क्योंकि शक्तिकी स्वयं वह तीव्रता और स्वयं वह उच्चता ही निम्न प्रकृतिकी क्रियाओंको उत्तेजित कर देती तथा अत्यधिक बढ़ा देती है और उसके अंदर सभी विरोधी तत्त्वोंको उनकी पूरी शक्तिके साथ ऊपर उठा देती है, पर बहुधा वे तत्त्व सत्यका छद्मवेश धारण किये रहते हैं, बुद्धिसंगत प्रामाणिकताका मुखौटा पहने रहते हैं। सच पूछो तो आवश्यकता है एक महान् धैर्यकी, स्थिरता, शांति, समतोलता, निर्व्यक्तिक अनासक्ति तथा अहं या व्यक्तिगत मानवीय कामनाके समस्त कलंकसे रहित सद्हृदयताकी। अपनी निजी किसी भावनाके प्रति, किसी अनुभूति, किसी प्रकारकी कल्पना, मानसिक रचना या प्राणिक मांगके प्रति कोई आसक्ति नहीं होनी चाहिये; ये सब चीजें चाहे जितनी सुन्दर, युक्तिसंगत क्यों न प्रतीत हों, इन्हें खोज निकालनेके लिये विवेककी ज्योति निरंतर खेलती रहनी चाहिये। अन्यथा, परम सत्य अपने शुद्ध रूपमें प्रकृतिके अंदर स्थापित होनेका कोई अवसर नहीं प्राप्त करेगा।



तुम्हारे वर्णनमें जिन पद्धतियोंका उल्लेख है वे ज्ञानयोगकी सुस्थापित पद्धतियां हैं—(१) विचारधाराके बंद हो जानेपर एकमुखी एकाग्रता, (२) मन, प्राण, शरीरसे शुद्ध आत्माको पृथक् कर उसे पहचानने या प्राप्त करने और पीछे स्थित विशुद्ध 'मैं'में वापस आ जानेकी पद्धति, यह 'मैं' भी निर्व्यक्तिक आत्मामें विलीन हो सकता है। इसका सामान्य परिणाम होता है आत्मा या ब्रह्ममें विलय—जो ठीक वही चीज है

जिसे हम समझते हैं कि यहां सर्वात्मा (Overself) कहा गया है, क्योंकि वही वह चीज है जो कि सच्चा सर्वात्मा है। यह ब्रह्म या आत्मा सर्वत्र है, सब कुछ उसमें है, वह सबमें है, पर वह सबके अंदर प्रत्येककी व्यक्तिगत सत्ताके रूपमें नहीं है, वल्कि सबमें वह एक ही है—जैसे कि आकाशतत्त्व सबके अंदर है। जब सर्वात्माके अंदर विलयन पूर्ण हो जाता है तो कोई अहं नहीं रह जाता, कोई पृथक् करने योग्य 'मैं' नहीं रह जाता, न कोई निर्मित पृथक् व्यक्ति या व्यक्तित्व रह जाता है। सब कुछ एक अविभाज्य और अविभेद्य एकत्वभर रह जाता है जो चाहे सभी रचनाओंसे मुक्त होता है अथवा विना प्रभावित हुए सभी रचनाओंको अपने अंदर लिये होता है; मनुष्य उसका अनुभव दोनों रूपोंमें कर सकता है। एक ऐसी अनुभूति है जिसमें लगता है कि सभी वस्तुएं एक आत्माके अंदर चल रही है और यह आत्मा वहां सभी सत्ताओंमें अचल रूपसे विद्यमान है; फिर एक दूसरा अधिक पूर्ण और पक्का अनुभव है जिसमें वह केवल वैसा ही नहीं है वल्कि सब कुछ सुस्पष्ट रूपमें आत्मा, ब्रह्म, भगवान्के रूपमें अनुभूत होता है। पहले अनुभवमें यह संभव है कि सभी सत्ताओंको मायाकी सृष्टि कहकर विसर्जित कर दिया जाय, अकेले एकमेव आत्माको ही सत्य मानकर छोड़ दिया जाय—दूसरे अनुभवमें यह अधिक आसान है कि उन्हें माया-मरीचिकाके रूपमें नहीं वरन् आत्माकी सच्ची अभिव्यक्तियोंके रूपमें देखा जाय। परंतु मनुष्य सभी सत्ताओंको अंतरात्माओंके रूपमें, एकमेव भगवान्पर अवलंबित शाश्वत प्रकृतिमें विद्यमान स्वतंत्र सद्वस्तुओंके रूपमें भी देख सकता है। ये सब वेदांतके लिये परिचित विश्वात्मा (Overself) की विशेष अनुभूतियां हैं। परंतु दूसरी ओर, तुम कहते हो कि यह विश्वात्मा हृदयकेंद्रमें अवस्थित अनुभूत होता है, और जिसका वर्णन एक आच्छादित वस्तुके रूपमें किया जाता है जो अभिव्यक्त होनेपर सच्चा मनीषी, सभी कर्मोका स्रोत पर अब विचार और कर्मको सत्यके अंदर परिचालित करता हुआ प्रतीत होता है। अब पहला वर्णन तो हृदयस्थ 'पुरुष' के ऊपर लागू होता है जिसको गीता हृदयमें विराजमान ईश्वर कहती है और उपनिषदें पुरुष अंतरात्मा कहती हैं; दूसरा वर्णन मानसिक 'पुरुषपर, उपनिषदोंके 'मनोमयः प्राणशरीरनेता', मनोमय सत्ता या पुरुषपर लागू होता है जो प्राण और शरीरका नेतृत्व करता है। अतएव तुम्हारा प्रश्न ऐसा है जो दिये गये तथ्योंके अनुसार इन सभी अनुभवोंसे संबंध रखता

और इन्हें स्वीकार करता है, परंतु ये सभी एक साथ गुंथे हुए हैं, एकमेव 'पुरुष' के विभिन्न भावोंके बीच न तो कोई पर्याप्त विभेद या वर्गीकरण किया गया है और न करनेकी आवश्यकता समझी गयी है। भगवान्‌के समीप पहुंचने और उन्हें उपलब्ध करनेके हजारों रास्ते हैं और प्रत्येक रास्तेकी अपनी निजी अनुभूतियां हैं जिनका अपना सत्य है और सचमुचमें एक ऐसे आधारपर अवलंबित हैं जो तत्त्वतः एक है पर स्वरूपमें जटिल है, सबके लिये सुलभ है पर सबके द्वारा एक ही ढंगसे वर्णित नहीं है। इन विभिन्नताओंपर तर्कवितर्क करनेसे विशेष लाभ नहीं; प्रमुख बात है अपने निजी पथका अच्छी तरह और पूरी तरह अनुसरण करना। इस योगमें, चैत्य पुरुषका अनुभव भगवान्‌के एक अंशके रूपमें किया जा सकता है जो कि हृदयमें स्थित है जिसे भगवान् वहां सहारा दे रहे हैं। यह चैत्य पुरुष साधनाका भार अपने ऊपर ले लेता है और सारी सत्ताको सत्यकी ओर, भगवान्‌की ओर मोड़ देता है और इसका परिणाम मन, प्राण और भौतिक चेतनामें भी उत्पन्न होता है जिसकी चर्चा यहां विस्तारसे करनेकी आवश्यकता नहीं है,—यही है पहला रूपांतर।

उसके बाद हम एकमेव आत्मा, ब्रह्म, भगवान्‌को उपलब्ध करते हैं, सबसे पहले तो शरीर, प्राण और मनसे ऊपर, केवल हृदयमें इन तीनोंको सहारा देते हुए नहीं—ऊपर और मुक्त और अनासक्त, सबमें विद्यमान निष्क्रिय आत्माके रूपमें, और फिर सक्रिय रूपमें भी, ईश्वर-शक्तिके रूपमें, संसारको धारण किये हुए, उसमें व्याप्त रहते हुए तथा साथ ही उसे अतिक्रम करते हुए, विश्वलीलाके सभी पहलुओंको अभिव्यक्त करते हुए। परंतु सबसे प्रधान बात हमारे लिये यह है कि वह आत्मा परात्पर ज्योति, ज्ञान, शक्ति, पवित्रता, शांति और आनंदके रूपमें प्रकट होता है और उसके विषयमें हम सज्ञान होते हैं तथा वह हमारी सत्ताके अंदर अवतरित होता है और धीरे-धीरे हमारी सामान्य चेतनाके स्थानमें अपनी निजी क्रियाओंको स्थापित करता है—यही है दूसरा रूपांतर।

फिर हमें यह उपलब्धि होती है कि स्वयं चेतना ऊपरकी ओर उठ रही है, बहुतसे लोकोंमेंसे होती हुई, शारीरिक, प्राणिक, मानसिक, अधिमानसिक लोकोंसे होती हुई अतिमानसिक और आनंदमय लोकोंतक आरोहण करती है। यह कोई नयी बात नहीं है; तैत्तिरीय उपनिषद्‌में कहा गया है कि पांच पुरुष हैं, अन्नमय, प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय

(अतिमानसिक) और आनंदमय पुरुष। यह उपनिषद् कहती है कि अन्नमय पुरुषको प्राणमय पुरुषमें, प्राणमयको मनोमयमें, मनोमयको विज्ञानमयमें और विज्ञानमयको आनंदमय पुरुषमें खींच ले जाना होता है और इस प्रकार पूर्णता प्राप्त करनी होती है। परंतु इस योगमें हम केवल ऊपर उठाये जानेकी इस बातके विषयमें ही सज्ञान नहीं होते, बल्कि उच्चतर आत्माकी शक्तिके नीचे प्रवाहित होनेके विषयमें भी सचेतन होते है, और इससे यह संभावना उत्पन्न होती है कि अतिमानसिक पुरुष और प्रकृति अवतरित हों, हमारी वर्तमान प्रकृतिपर अधिकार जमावें और उसे परिवर्तित करें तथा उसे अज्ञानकी प्रकृतिसे सत्य-ज्ञानकी प्रकृतिमें (और विज्ञानके द्वारा आनंदकी प्रकृतिमें) रूपांतरित कर दें। यही है तीसरा या अतिमानसिक रूपांतर।

यह सब सर्वदा इसी क्रममें नहीं होता, क्योंकि बहुतोंके साथ ऐसा होता है कि चैत्य पुरुषके सामनेके भागमें आने और साधनाका भार ग्रहण करनेसे पहले ही आध्यात्मिक अवतरण अपूर्णतः होना प्रारंभ हो जाता है; किंतु आध्यात्मिक अवतरणके पूर्ण तथा अबाध रूपसे होनेसे पहले चैत्य विकासको संसिद्ध कर लेना होता है, और जबतक ये प्रथम दो रूपांतर पूर्ण और समग्र रूपसे संसिद्ध नहीं हो जाते तबतक इस अंतिम या अतिमानसिक रूपांतरका होना असंभव है। बस, यही है सारी बात जिसे हमने यथासंभव संक्षिप्त रूपमें कही है।

⊙

जो कुछ तुमने जानना चाहा है उसे बतानेके लिये एक पत्र पर्याप्त नहीं है, उसके लिये तो एक मोटी पोथी लिखनी होगी—विशेषकर ये सब बातें उन चीजोंसे संबंध रखती हैं जिनके विषयमें लोग 'कुछ नहीं'-से भी बहुत कम जानकारी रखते हैं और या तो वे कुछ नहीं समझेंगे या प्रत्येक बात ही गलत समझेंगे। मैं समझता हूं कि एक दिन आयगा जब मैं उनके विषयमें कुछ लिखूंगा पर अभी उनके विषयमें कोई बात करना अतिमानसिक शक्ति बिलकुल बरदाश्त नहीं करेगी। आध्यात्मिक रूपांतरके विषयमें कुछ बातें कहना संभव हो सकता है और इसी विषयको लेकर यह पत्र मैं समाप्त कर सकता हूं।

मैं यहां 'ग'की अनुभूतिसे संबंधित प्रश्नके विषयमें और कुछ अधिक कहना नहीं चाहता। जैसा कि मैं कह चुका हूं, तुलनाएं किसी

मतलबकी नहीं होतीं; प्रत्येक मार्गका एक अपना उद्देश्य, पथनिर्देशन और पद्धति होती है, और उनमेंसे एक मार्गका सत्य दूसरेके सत्यका मूल्य कम नहीं करता। भगवान् (अथवा अगर तुम चाहो तो आत्मा या ब्रह्म) के बहुतसे पक्ष हैं और उनकी उपलब्धि कई मार्गोंसे की जा सकती है—इन विभेदोंकी चर्चा करना अप्रासंगिक और व्यर्थ है।

"रूपांतर" एक ऐसा शब्द है जिसे स्वयं मैंने ही ("अतिमानस"की तरह) सबसे पहले व्यवहृत किया है। इसका व्यवहार मैंने पूर्णयोगकी किन्हीं आध्यात्मिक भावनाओं तथा आध्यात्मिक तथ्योंको प्रकट करनेके लिये किया है। अब दूसरे लोग भी इसे लेने लगे है और ऐसे अर्थमें व्यवहृत करने लगे है जिसका उस अर्थके साथ कोई संबंध नहीं जिसे मैंने उस शब्दको दिया था। 'रूपांतर' से मेरा मतलब आत्माके 'प्रभाव'के द्वारा प्रकृतिका शुद्धीकरण नहीं है। शुद्धीकरण तो चैत्य परिवर्तन अथवा चैत्य-आध्यात्मिक परिवर्तनका केवल एक अंग है—इसके अतिरिक्त इस शब्दके बहुतसे अर्थ हैं और बहुधा इसे एक नैतिक-धार्मिक अर्थ दिया जाता है जो मेरे उद्देश्यके लिये विजातीय है। आध्यात्मिक रूपांतरसे मेरा मतलब एक ऐसी चीजसे है जो सशक्तिक—क्रियाशील है (केवल आत्माकी मुक्ति या 'एकमेवाद्वितीय' की उपलब्धि नहीं जिसकी प्राप्ति बिना किसी अवतरणके भी आसानीसे हो सकती है)। 'रूपांतर'का अर्थ है आध्यात्मिक चेतनाको—स्थाणु और सक्रिय दोनोंको—अपनी सत्ताके प्रत्येक भागमें—नीचे अवचेतन भागतकमें—धारण करना। यह आत्माके प्रभावके द्वारा नहीं किया जा सकता जो चेतनाको मूलतः ज्योंका त्यों छोड़ देता, केवल मन और हृदयको विशुद्ध और आलोकित बनाता और प्राणको शांत करता है। इसका अर्थ है स्थाणु और सक्रिय भागवत चेतनाको इन सभी भागोंमें उतार लाना और उसे ही वर्तमान चेतनाके स्थानपर संपूर्ण रूपसे स्थापित कर देना। उस चेतनाको हम मन, प्राण और शरीरसे ऊपर अनावृत और अविमिश्र रूपमें पाते हैं। यह बहुतसे लोगोंके अकाट्य अनुभवद्वारा सिद्ध बात है कि वह अवतरित हो सकती है और यह मेरा अनुभव है कि उसके 'पूर्ण' अवतरणसे कम कोई चीज संपूर्ण रूपसे पर्दे और मिश्रणको दूर नहीं कर सकती तथा पूर्ण आध्यात्मिक रूपांतर नहीं साधित कर सकती। आत्मा क्या कर सकता है या वह अवश्य करेगा या उसका करना आवश्यक है या नहीं है—इन सब विषयोंके बारेमें किया जानेवाला कोई भी तात्त्विक या

यौक्तिक तर्क-वितर्क यहां संगत नही है और न उसका कोई मूल्य ही है। मैं यहां यह भी कह सकता हूं कि रूपांतर अन्य मार्गोंका केंद्रीय उद्देश्य नही है जैसा कि यह इस योगका उद्देश्य है। अन्य योगोंद्वारा केवल उतनी ही शुद्धि और परिवर्तनकी मांग की जाती है जितनी कि उन्हें मुक्तितक और जीवनके परे ले जा सके। निस्संदेह आत्माका प्रभाव उतना कर सकता है—जीवनसे आध्यात्मिक मुक्ति पानेके लिये अपनी समूची प्रकृतिमें—एकदम ऊपरसे नीचेतक—एक नयी चेतनाको पूर्णतः अवतरित कराकर यहांके जीवनको रूपांतरित करनेकी कोई आवश्यकता नही होती।



उपनिषदोंमें जिसे हृदय कहा गया है वह भौतिक हृदय-केंद्रसे मिलता-जुलता है; यह तांत्रिकोंका 'हृत्पद्म' है। यह एक सूक्ष्म केंद्र या चक्र है और ऐसा माना जाता है कि इसकी चोटी तो मेरुदंडपर है और यह सामनेकी ओर फैला हुआ है। इस क्षेत्रमें इसे ठीक कहांपर कोई अनुभव करता है इसका कोई विशेष महत्त्व नहीं; इसे वहां अनुभव करना और उससे परिचालित होना—बस यही मुख्य बात है। मैं नही कह सकता कि 'म'ने क्या अनुभव किया है—परंतु जिस वस्तुका वर्णन आत्माके रूपमें किया गया है वह निश्चय ही यह पुरुष अंतरात्मा है पर यहां उसका मतलब मुक्ति और मुक्त कर्मसे कही अधिक है, प्रकृतिके रूपांतरके साथ उसका कोई सरोकार नही। चैत्य उपलब्धि जो चीज ले आती है वह है प्रकृतिमें चैत्य परिवर्तन; वह प्रकृतिको शुद्ध करती और उसे एकदम भगवान्‌की ओर मोड़ देती है। उसके बाद अथवा उसके साथ-साथ आता है विश्वव्यापी आत्माका साक्षात्कार। ये ही दो चीजें है जिनका प्राचीन योगोंने आलिंगन किया और उनकी सहायतासे वे मोक्ष, निर्वाणको प्राप्त हुए या किसी प्रकारकी स्वर्गीय परात्परताकी ओर चले गये। जिस योगका हम यहां अभ्यास करते हैं वह मुक्ति और परात्परता दोनोंको अंतर्भुक्त करता है, पर यह मुक्ति या किसी प्रकारके निर्वाणको भी, यदि वह आये तो, पहला पग समझता है, वह उसे अपनी सिद्धिका अंतिम पग नहीं समझता। परात्परतातक या उसकी ओर जानेवाली जिस किसी चीजको वह प्राप्त करता है, वह उसके लिये एक आरोहण होता है और उसके साथ ही लगा रहता है

उपलब्ध शक्ति, ज्योति और चेतनाका अवतरण और इन्हीं अवतरणोंके द्वारा यहांपर आध्यात्मिक और अतिमानसिक रूपांतर साधित होता है। ऐसा नहीं प्रतीत होता कि 'म'की विचारधारामें इस बातको स्वीकार किया गया है। वह अवतरणको अनावश्यक और न्यायतः असंभव समझते हैं। उनका तर्क है कि "भगवान् तो यहीं हैं, भला उनका अवतरण कहांसे होगा?" परंतु भगवान् सर्वत्र हैं, वह ऊपर हैं और भीतर भी हैं; उनके बहुतसे निवासस्थान हैं, उनकी शक्तिरूपी धनुषमें बहुतसी डोरियां हैं, उनकी क्रियाशील चेतनाके बहुतसे स्तर हैं और उनमेंसे प्रत्येककी अपनी ज्योति और शक्ति है। वह हृदयमें विद्यमान अपने स्थानसे बंधे हुए नहीं हैं और न आंतरिक-आध्यात्मिक अनुभूतिके किसी एकमात्र शब्दसे सीमित हैं। हृदयकेंद्र और मानसकेंद्रके ऊपर उनका अतिमानसिक धाम भी है और वह वहांसे, यदि वह वैसा करना चाहें तो, अवतरित भी हो सकते हैं।



मैं समझता हूं कि रामतीर्थकी अनुभूतियां मानसिक स्तरकी अधिक थीं—उससे भिन्न अन्य कोई चीज नहीं थीं। उनमें उच्चतर मनका उद्घाटन हुआ था और उससे विश्वात्माका उन्हें साक्षात्कार हुआ था, पर मैं उनमें रूपांतरित मन और प्राणके होनेका कोई प्रमाण नहीं देखता। वह रूपांतर ज्ञानयोगका कोई परिणाम या उद्देश्य नहीं है। ज्ञानयोगकी सिद्धि यह है कि मनुष्य यह अनुभव करता है कि वह किसी ऐसी चीजके विस्तारके अंदर निवास कर रहा है जो निश्चल-नीरव, निराकार और विश्वव्यापी है (जिसे आत्मा कहा जाता है), और बाकी सभी चीजोंको ऐसे देखता है मानो वे केवल नाम और रूप हों। उनके अनुसार आत्मा ही सत्य है और अन्य कोई वस्तु सत्य नहीं है। "मेरा आत्मा ही अन्य रूपोंमें भी है"—यह अनुभूति उसका एक अंग है अथवा उस सिद्धिकी ओर जानेका एक पग है। परंतु उस सिद्धिकी परिपूर्णतामें 'मैं-मेरा' विलीन हो जाना चाहिये जिसमें कि केवल एक आत्मा ही रह जाय अथवा यों कहें कि केवल ब्रह्मका ही अस्तित्व रह जाय। क्योंकि आत्मा ब्रह्मका महज एक आंतरिक स्वरूप है, ठीक जैसे कि ईश्वर उसका बाह्य स्वरूप है। बस, यही है वेदांतिक "ज्ञान"। इसका फल है शांति, नीरवता, मुक्ति। जहांतक सक्रिय प्रकृति (मन,

प्राण, शरीर) का प्रश्न है, ज्ञानयोग, उसको रूपांतरित करनेको अपना लक्ष्य नहीं बनाता—(उसकी दृष्टिमें) उसका कोई लय नहीं, क्योंकि वह यह मानता है कि जब मुक्ति प्राप्त होगी तब मृत्युके समय वह पूरीकी पूरी झड़ जायगी। ज्ञानयोगमें बस उतना ही परिवर्तन अभीप्सित है जिससे कि अहंभावसे छुटकारा मिल जाय और यह अनुभूति प्राप्त हो जाय कि केवल परात्पर आत्मा, ब्रह्म ही सत्य है।



मैंने 'र'के लेखोंको नहीं पढ़ा है। मैं व्यक्तिगत रूपसे उनके व्यक्तित्वसे भी बिलकुल परिचित नहीं हूं और न यही जानता हूं कि उनके अनुभव किस स्तरके हैं। तुमने उनकी जो कुछ बातें उद्धृत की हैं वे या तो सरल श्रद्धाकी अभिव्यक्ति हो सकती हैं अथवा सर्वेश्वरवादी अनुभवकी। स्पष्ट ही, यदि उनका उपयोग यह सिद्धांत स्थापित करनेके लिये किया जाय या वे यह सिद्धांत स्थापित करनेके लिये अभिप्रेत हों कि भगवान् सर्वत्र हैं और सब कुछ हैं और इसलिये सब कुछ शुभ है क्योंकि सब कुछ भगवान् है तो वे बातें इस मतलबके लिये बहुत अपर्याप्त हैं। परंतु एक अनुभूतिके रूपमें इस भावना या अनुभूतिको प्राप्त करना वेदांतिक साधनामें एक बहुत मामूली बात है—वास्तवमें देखा जाय तो इसके बिना कोई वेदांतिक साधना हो ही नहीं सकती। स्वयं मुझे यह अनुभूति चेतनाके कई स्तरोंपर और अनगिनत रूपोंमें हुई थी तथा मैं ऐसे दर्जनों लोगोंसे मिला हूं जिन्हें बड़े सच्चे और स्पष्ट रूपमें यह अनुभव हुआ था—उन्हें यह केवल एक बौद्धिक सिद्धांत या बोधके रूपमें नहीं मिला था, बल्कि एक आध्यात्मिक सत्यके रूपमें मिला था जो उनके लिये इतना अधिक ठोस और वास्तव था कि उसे अस्वीकार करना असंभव था, भले ही उसमें साधारण बुद्धिको चाहे जितना भी विरोधाभास क्यों न दिखायी देता हो।

परंतु निस्संदेह, इसका तात्पर्य यह नहीं है कि यहांपर सब कुछ अच्छा है अथवा मूल्यांकनका जहांतक प्रश्न है, वेश्यालय और आश्रम एक जैसा ही अच्छा है। परंतु इसका अर्थ यह अवश्य है कि सभी एक ही अभिव्यक्तिके अंश हैं और वेश्याके आंतर हृदयमें भी वैसे ही भगवान् विराजमान हैं जैसे किसी संत या ऋषिके आंतर हृदयमें विराजमान हैं। फिर उनका अनुभव यह है कि एक ही दिव्य शक्ति है जो जगत्‌में,

उसकी अच्छी और बुरी सभी चीजोंमें कार्य कर रही है—वह एक ही विश्व-शक्ति है; वह आश्रमकी सफलता (या विफलता) और वेश्यालयकी सफलता (या विफलता) दोनोंमें काम करती है। इस जगत्में जो कुछ कार्य होता है वह उस शक्तिके प्रयोगसे होता है, यद्यपि यह प्रयोग प्रयोक्ताके स्वभावके अनुसार होता है, एक तो ज्योतिके कार्योंके लिये उसका उपयोग करता है, दूसरा अंधकारके कार्योंके लिये, और फिर दूसरा दोनोंकी मिलीजुली क्रियाओंके लिये।

मैं नहीं समझता कि कोई भी वेदांतिक (शायद कुछ आधुनिकभावापन्न लोगोंको छोड़कर) यह मानेगा कि यहां सब कुछ अच्छा ही है—कट्टर वेदांतिक मत यह है कि यहांपर सब कुछ अच्छे-बुरेकी एक ऐसी मिलावट है कि उसमेंसे दोनोंको अलग नहीं किया जा सकता; सब कुछ अज्ञानकी क्रीड़ा है और इसलिये द्वंद्वोंका खेल है। मेरा ख्याल है कि ईसाई पादरी लोग ऐसा मानते हैं कि जो कुछ भगवान् करते हैं वह सब नैतिक रूपमें अच्छा ही होता है और इसलिये जब वे यह देखते हैं कि ताओ धर्मवाले पुरोहित अपने धार्मिक कृत्योंके द्वारा वेश्यालयके कार्यमें सहायता पहुंचाते हैं तब उन्हें बड़ा धक्का पहुंचता है। पर क्या ईसाई पुरोहित युद्धमें मनुष्योंका नाश करनेके लिये भगवान्से सहायताकी प्रार्थना नहीं करते? और क्या उनमेंसे कुछ लोग मनुष्योंके संहार तथा स्त्रियों-बच्चोंकी भूखमरीके द्वारा प्राप्त विजयके अवसरपर 'त दम' का गान (Te Deums—भगवान्के प्रति कृतज्ञताका गान) नहीं करते? 'ताओ' धर्मवाले केवल निराकार 'ताओ' में विश्वास करते हैं और इसलिये उनकी विचारधारामें कहीं अधिक संगति है। वेदांतिक भी यह विश्वास करते हैं कि परात्पर शुभ और अशुभके परे है, पर जिस वैश्व शक्तिको परात्परने यहां स्थापित किया है वह द्वंद्वोंके द्वारा और इसलिये शुभ और अशुभ, हर्ष और शोक दोनोंके द्वारा कार्य करती है, अतएव उनके पास एक ऐसा सिद्धांत है जो कम-से-कम अनुभवके इस द्विविध तथ्य—एक ओर परात्परका अनुभव जो सर्व-ज्योतिर्मय, सर्व-आनंदमय और सर्व-सौंदर्यमय है तथा दूसरी ओर इस जगत्का अनुभव जिसमें प्रकाश और अंधकार, हर्ष और शोकका मिश्रण है, जो कुछ सुन्दर और जो कुछ कुत्सित है उसका मिलित रूप है—के लिये कारण बताता है। वेदान्तिकोंका कहना है कि द्वन्द्व पृथकात्मक अज्ञानके कारण उद्भूत होते हैं और जबतक तुम पृथकात्मक अज्ञानको स्वीकार करते हो तबतक तुम

उससे (द्वन्द्वसे) मुक्त नहीं हो सकते; परंतु अपने अनुभवमें उस अज्ञानसे पीछे हट आना और सबमें तथा सर्वत्र भगवान्‌का साक्षात्कार पाना संभव है। उस समय तुम सब वस्तुओंके पीछे ज्योति, आनंद और सौंदर्यको उपलब्ध करना आरंभ कर देते हो और यही एकमात्र करणीय है। फिर तुम एकतम दिव्य शक्तिको अनुभव करना भी आरंभ कर देते हो और अपने अंदर तथा दूसरोंके अंदर ज्योतिकी वृद्धिके लिये उसका उपयोग कर सकते हो या उसे स्वयं अपनेको व्यवहृत करने दे सकते हो। उस समय अब तुम अपने अहंभावकी संतुष्टि और अज्ञान तथा अंधकारके कार्योंके लिये वैसा नहीं करते।

अब निष्ठुरतासंबंधी जटिल समस्यापर आवें। मैं नहीं जानता कि 'र' इसका क्या उत्तर देंगे। इसका एक उत्तर यह हो सकता है कि चैत्य पुरुषके द्वारा अंतःस्थ भगवान्‌का अनुभव होता है और चैत्य पुरुषका स्वभाव ही है भागवत ज्योति, सामंजस्य और प्रेमका स्वभाव, पर वह मानसिक और प्राणिक अहंकारद्वारा आवृत होता है जिनसे कि संघर्ष, घृणा, कठोरता आदि स्वभावतः ही उद्भूत होते हैं। अतएव यह स्वाभाविक है कि मनुष्य दयामें भगवान्‌का स्पर्श अनुभव करे, जब कि वह निष्ठुरताको प्रकृतिके एक छद्मवेश या विकृतिके रूपमें अनुभव करता है, यद्यपि उसका यह अनुभव भगवदुपलब्धिप्राप्त मनुष्यको इस छद्मवेशके पीछे विद्यमान भगवान्‌को अनुभव करने और पानेसे नहीं रोक सकता। मैं ऐसे उदाहरण भी जानता हूँ जिनमें सबमें भगवान्‌के दर्शनके साथ-साथ विश्वप्रेमका तीव्र अनुभव लगा हुआ था अथवा एक आंतरिक सामंजस्यका ऐसा विशाल अनुभव संलग्न था जिसमें अपने चारों ओरके लोगोंको, यहांतक कि अत्यंत अनगढ़, कठोर और निष्ठुरको प्रेमिल और सहायक बना देनेका विलक्षण प्रभाव था। 'र'ने दयालुताके विषयमें जो कुछ कहा है उसके मूलमें शायद इसी प्रकारकी कोई अनुभूति है।

भागवत क्रियाके विषयमें वैदांतिक अनुभव यह है कि भले-बुरेके अस्तव्यस्त मिश्रणके पीछे कोई चीज कार्य कर रही है जिसे वह भगवान्‌के रूपमें अनुभव करता है और अपने निजी जीवनमें भी वह पीछेकी ओर दृष्टि डाल सकता तथा देख सकता है कि कौन-कौनसे सुखकर या दुःखकर पग उसकी प्रगतिके लिये अभिप्रेत थे एवं किस प्रकार वे उसकी आत्माकी प्रगतिको आगे बढ़ा ले गये। स्वभावतः ही यह बात पूर्ण रूपमें तभी आती है जब अनुभूति आगे बढ़ती है; उससे पहले

उसे श्रद्धाके बलपर ही चलना पड़ा था और उसने कई बार अपनी श्रद्धाको भंग होते हुए अनुभव किया होगा तथा कुछ समयके लिये उसे दुःख-कष्ट, शंका-संदेह और निराशाके अधीन होना पड़ा होगा।

मेरे लेखोंका जहांतक प्रश्न है, मैं नहीं जानता कि मेरा कोई लेख ऐसा है जो इस कठिनाईको हल कर सकेगा। तुम्हें अधिकतर वैदांतिक अनुभवका ही वर्णन मिलेगा, क्योंकि मैं उसीके भीतरसे गुजरा था, यद्यपि इस समय मैं उसके परेकी किसी चीजमें पहुंच गया हूँ। मुझे लगता है कि वह सब, जो कुछ परे है उसतक पहुंचनेके लिये, अत्यंत चरम और मौलिक तैयारी है, पर मैं यह नहीं कहता कि उस सबमेंसे गुजरना अनिवार्य है। परंतु समाधान चाहे जो हो, मुझे ऐसा लगता है कि वैदान्तिकका इस बातपर जोर देना ठीक है कि वहां (परात्परपर) पहुंचनेके लिये हमें इन दोनों तथ्योंको—यहांपर (जगत्में) अशुभ और दुःख-कष्टकी प्रधानताको और जो अनुभव इन सब चीजोंसे मुक्त है उसको—स्वीकार करना चाहिये। सच पूछा जाय तो इस क्रमवर्धमान अनुभवके द्वारा ही हम इस समाधानको पा सकते हैं, भले ही वह अनुभव समन्वयके द्वारा आवे या किसी विजयशील अवतरण या (जगत्से दूर) किसी पलायनके द्वारा आवे। यदि हम इस स्वयंसिद्ध सिद्धांतको अपना आधार बनाकर आरंभ करें कि वर्तमान समयमें तथा वस्तुओंके कठोर एवं बाह्य तथ्यमें दुःख-कष्ट और बुराईकी प्रधानता ही उन सब चीजोंका खंडन करती है जिन्हें दूसरी ओर संतों और योगियोंने अनुभव किया है, इस बातको अस्वीकार करती है कि भगवान्को उपलब्ध किया जा सकता है, तो फिर कोई समाधान प्राप्त करना संभव नहीं प्रतीत होता।



ना, मेरा मतलब निश्चय ही यह नहीं था कि वैदांतिक, जो जगत्के बाह्य रूपोंके पीछे एक महत्तर क्रियाको देखता है, इस स्थूल जगत्से भिन्न किसी दूसरे जगत्में निवास करता है। यदि मेरा मतलब यह होता तो जो कुछ मैंने लिखा था वह अप्रासंगिक या निरर्थक हो जायगा। मेरा मतलब था उस वैदांतिकसे जो इस जगत्में, इसके सभी दुःख-कष्ट और अज्ञान और कुरूपता और बुराईको लेकर, निवास करता है तथा इन चीजों—मित्रोंकी प्रवंचना और परित्यक्तता, जीवनमें बाह्य

उद्देश्यों और कामनाओंकी असफलता, आक्रमण और उत्पीड़न, पूंजीभूत रोग, निरंतर होनेवाली कठिनाई, संघर्ष, योगमें होनेवाले पतन—की पूरी मात्रा प्राप्त कर चुका है। मेरा कहना यह नही है कि वह एक दूसरे लोकमें वास करता है, बल्कि यह है कि वह जगत्की अग्निपरीक्षाओं, आघातों और विपत्तियोंका सामना एक भिन्न तरीकेसे करता है। वह इन्हें इस जगत्के स्वभावके रूपमें देखता है तथा उस अहं-चेतनाका परिणाम समझता है जिसमें कि वह रहता है। इसलिये वह एक दूसरी चेतनामें उन्नीत होनेका प्रयास करता है जिसमें पहुँचनेपर वह उस चीजको अनुभव करता है जो बाह्य रूपके पीछे विद्यमान है, और जैसे-जैसे वह उस विशालतर चेतनामें उन्नीत होता है वैसे-वैसे वह पीछे होनेवाली उस क्रियाको अधिकाधिक अनुभव करना आरंभ कर देता है जो उसे आत्मामें वर्द्धित होनेमें उसे सहायता करती होती है और उसे प्रभुत्व तथा अहंकार और अज्ञानसे मुक्तिकी ओर ले जाती होती है तथा वह यह देखता है कि सब कुछका उपयोग उसी उद्देश्यकी सिद्धिके लिये किया गया है। जबतक वह इस चेतनामे नही पहुंच जाता और वस्तुओंके विषयमें उसके बृहत्तर ज्ञानको नही प्राप्त कर लेता तबतक उसे श्रद्धाके बलपर ही चलते रहना होता है। उसकी यह श्रद्धा कभी-कभी उसका साथ छोड़ दे सकती है, पर वह फिर वापस आती और उसे इन सब कठिनाइयोंमेंसे बाहर निकाल ले जाती है। प्रत्येक मनुष्य इस श्रद्धा और इस चेतनाको स्वीकार करनेके लिये बाध्य नही है, पर आध्यात्मिक जीवनकी दृष्टिसे इस श्रद्धा और चेतनाके पीछे एक महान् और सत्य वस्तु विद्यमान है।



एक बात, मैं अनुभव करता हूँ कि, मुझे अवश्य कहनी चाहिये और वह है भारतकी आत्माके विषयमें की गयी तुम्हारी टिप्पणीके बारेमें और "पारलौकिकताको बहिष्कृत कर इहलौकिकतापर दिये जानेवाले इस बल"के विषयमे की गयी 'अ'की आलोचनाके बारेमें। मैं ठीक-ठीक नही जानता कि किस प्रसंगमें उसने यह आलोचना की थी और इहलौकिकतासे उसका क्या मतलब है; पर मैं इस संबंधमें अपनी स्थितिको बतला देना आवश्यक महसूस करता हूँ। मेरा अपना जीवन और मेरा योग, मेरे भारत आनेके समयसे ही, सदा इहलौकिक और

पारलौकिक दोनों रहे हैं, इहलौकिक या पारलौकिक किसीकी ओर मेरा कोई ऐकांतिक भाव नहीं रहा है। सभी मानवीय हितके कार्य, मैं समझता हूँ, इहलौकिक हैं और उनमेंसे अधिकांशने मेरे मानस-क्षेत्रमें और कुछने, राजनीतिकी तरह, मेरे जीवनमें प्रवेश किया है। परंतु इसके साथ-ही-साथ, जबसे मैंने बंबईके अपोलो बंदरमें भारतकी मिट्टीपर पैर रखे, मैंने आध्यात्मिक अनुभूतियाँ प्राप्त करना आरंभ कर दिया, परंतु ये अनुभूतियां जगत्से विच्छिन्न नहीं थीं बल्कि इसके साथ उनका एक आंतरिक तथा अनंत संबंध था, जैसे कि स्थूल देशको परिव्याप्त करनेवाले अनंतका बोध एवं स्थूल वस्तुओं और शरीरोंमें निवास करनेवाले अंतर्यामी भगवान्का अनुभव। उसके साथ-ही-साथ मैंने देखा कि मैं अतिभौतिक जगतों और स्तरोंमें प्रवेश कर रहा हूँ और स्थूल जगत्पर उनका प्रभाव पड़ रहा है और एक परिणाम उत्पन्न हो रहा है और इसलिये मैंने जिन्हें सत्ताके दो छोर कहा है उनमें तथा उनके बीचमें जो कुछ भी विद्यमान है उस सबमें मैं कोई कठोर विभाजन अथवा असमाधेय विरोध नहीं खड़ा कर सका हूँ। मेरे लिये सब कुछ ब्रह्म है और मैं भगवान्को सर्वत्र देखता हूँ। प्रत्येक व्यक्तिको इहलौकिकताको त्याग देने और केवल पारलौकिकताको पसंद करनेका अधिकार है, और उसे यदि इस चुनावसे शांति मिलती है तो वह बहुत भाग्यशाली है। मैंने, व्यक्तिगत रूपसे, शांति पानेके लिये यह चुनाव करना आवश्यक नहीं अनुभव किया है। अपने योगमें भी मैंने अपने दृष्टि-क्षेत्रमें आध्यात्मिक और भौतिक दोनों जगतोंको समाविष्ट करनेके लिये तथा केवल व्यक्तिगत मुक्तिके लिये नहीं वरन् यहां दिव्य जीवन स्थापित करनेके लिये, मनुष्योंके हृदयों और पार्थिव जीवनमें भागवत चेतना और भागवत शक्तिको प्रतिष्ठित करनेकी चेष्टा करनेके लिये अपनेआपको प्रचालित अनुभव किया। यह मुझे उतना ही आध्यात्मिक लक्ष्य प्रतीत होता है जितना कि अन्य कोई भी उद्देश्य और पार्थिव अन्वेषणों और पार्थिव वस्तुओंको इस जीवनके दायरेके अंदर ले लेनेका यह तथ्य, मेरी समझमें, इसकी आध्यात्मिकताको कलुषित नहीं कर सकता अथवा इसके भारतीय स्वरूपको बदल नहीं सकता। सच पूछा जाय तो सद्वस्तुके विषयमें, जगत् तथा वस्तुओंके विषयमें तथा भगवान्के विषयमें मेरा दृष्टिकोण और अनुभव कम-से-कम बराबर यही रहा है; मुझे तो ऐसा लगता है कि इन सबके विषयमें लगभग यही उतना पूर्ण

सत्य है जितना कि संभव है और इसीलिये मैंने इसके अनुसंधानको पूर्णयोगका नाम दिया है। निस्संदेह प्रत्येक व्यक्ति इस प्रकारके पूर्णत्वको त्याग देने या इसपर अविश्वास करनेके लिये, अथवा एकदम संपूर्ण पारलौकिकताकी आध्यात्मिक आवश्यकतामें विश्वास रखनेके लिये स्वतंत्र है, पर उससे मेरे योगका अभ्यास करना असंभव हो जायगा। मेरा योग अवश्य ही अन्य जगतोंकी, सर्वोच्च आत्माके लोक तथा बीचके अन्य लोकोंकी और हमारे जीवन तथा भौतिक जगत्पर पड़नेवाले उनके संभवनीय प्रभावोंकी पूरी अनुभूतिको अपने अंदर समाविष्ट करता है; परंतु कोई यदि दिव्य जीवनके तथा इस भौतिक जगत्पर आत्माकी विजयके इस आदर्शको स्वीकार करे तो यह भी बिल्कुल संभव होगा कि एकमात्र परात्पर पुरुषके या ईश्वरके किसी एक रूपके ही, जगत्के प्रभु और हमारे तथा हमारे कर्मोंके अधीश्वरके रूपमें शिवके, कृष्णके अथवा विश्वव्यापी सच्चिदानंदके ही साक्षात्कारपर बल दिया जाय और इस योगके मुख्य परिणामोंको प्राप्त किया जाय तथा उसके बाद वहांसे सर्वांगपूर्ण परिणामोंकी ओर अग्रसर हुआ जाय। वस्तुओंके तथा सत्ताके सत्यके विषयमें जो मेरा यह दृष्टिकोण और अनुभव है, इसीने मुझे 'दिव्य जीवन' और 'सावित्री' लिखनेमें समर्थ बनाया है। परात्परका, ईश्वरका अनुभव निश्चय ही प्रधान वस्तु है; पर प्रेम और भक्तिके साथ उनके पास जाना, अपने कर्मोंके द्वारा उनकी सेवा करना और उन्हें जानना, निश्चय ही बौद्धिक ज्ञानके द्वारा नही वरन् आध्यात्मिक अनुभवमें जानना भी पूर्णयोगके मार्गमें आवश्यक है। यदि तुम 'क' के इस आग्रहको स्वीकार करते हो कि यही तुम्हारा पथ होना चाहिये, कोई दूसरा नही तो तुम्हें इसीको प्राप्त और उपलब्ध करना होगा, फिर कोई ऐकांतिक पारलौकिकता तुम्हारा पथ नही हो सकती। मुझे विश्वास है कि इसे प्राप्त करने और भगवान्का साक्षात्कार करनेमें तुम बिलकुल सक्षम हो। तुम निरंतर जो अपनी क्षमताके विषयमें संदेह करते रहते हो उसमें मैं कभी भी हिस्सा नही बंटाता रहा हूं और संदेहोंका निरंतर आते रहना यह विश्वास करनेका कोई प्रबल कारण नही कि इन्हें कभी जीता नही जा सकता। इस तरह निरंतर संदेहोंका आना बहुत लोगोंकी साधनाका एक प्रमुख भाग रहा है जो अंतमें उससे बाहर निकले और अपने लक्ष्यतक पहुंच गये। यहांतक कि बहुत बड़े-बड़े योगियोंकी साधना ऐसे तीव्र और सतत पुनरावर्तनोंसे खाली नही रही है, कभी-कभी तो वे

लोग ऐसे सतत आक्रमणोंके विशेष लक्ष्य रहे हैं जैसा कि मैंने 'सावित्री'में कई स्थलोंपर यथार्थतः सूचित किया है, और वह बात वास्तवमें मेरे अपने अनुभवोंपर आधारित थी। इन बातोंके पुनरावर्तनोंका स्वभाव ही यह है कि सामान्यतया एक ही प्रकारके विपरीत अनुभव निरंतर आते रहते हैं, एक ही प्रकारकी अनिष्टकारी बाधा आती रहती है, ऐसे विचार आते हैं जो साधनाके भविष्यसंबंधी समस्त श्रद्धा-विश्वास और निष्ठापर पानी फेर देनेवाले होते हैं, हम सत्यके रूपमें जो कुछ जानते हैं उसके विषयमें निराश करनेवाली शंकाएँ उठती हैं, योगका त्याग कर देनेके आवेग आते हैं अथवा पतनके अन्य विनाशकारी परामर्श प्राप्त होते हैं। निस्संदेह, ये आक्रमण जो धारा ग्रहण करते हैं वह सबके लिये एक ही नहीं होती, पर फिर भी उनमें थोड़ा-बहुत प्रबल सादृश्य होता है। मनुष्य अंतमें विजयी हो सकता है यदि वह इन आक्रमणोंका स्वरूप और मूल समझने लगे और उनको निरीक्षण करने, उनके भंवरमें ग्रस्त या अंतर्लीन हुए बिना उन्हें सहने, अंतमें उनकी क्रियाओंका साक्षी होने और उन्हें समझने तथा मनके अनुमोदनको तब भी अस्वीकार कर देनेकी क्षमता आयत्त करना आरंभ कर दे जब कि प्राण अभी भी भंवरमें हिलोरें खाता हो और अत्यंत बाहरी भौतिक मन अभी भी विपरीत सुझावोंको प्रतिबिंबित करता हो। अंतमें ये आक्रमण अपनी शक्ति खो देते हैं और प्रकृतिमेंसे झड़ जाते हैं; इनका पुनरावर्तन दुर्बल हो जाता है अथवा उसमें टिके रहनेकी शक्ति नहीं होती : यहांतक कि, यदि अनासक्ति पर्याप्त रूपमें सशक्त हो तो उसे बहुत शीघ्र या तुरत काट डाला जा सकता है। जो प्रबलतम मनोभाव ग्रहण करनेकी आवश्यकता है वह यह है कि ये चीजें वास्तवमें जैसी हैं उन्हें उसी रूपमें देखा जाय : उन्हें उन अंधकारपूर्ण शक्तियोंका बाहरसे होनेवाला आक्रमण समझा जाय जो भौतिक मन या प्राणभागमें विद्यमान किन्हीं उद्‌घाटनोंका लाभ उठाती हैं, पर उन्हें अपना सच्चा अंग अथवा अपनी निजी प्रकृतिकी स्वाभाविक रचना न माना जाय। इन आक्रमण-कारियोंकी प्रिय पद्धति है भौतिक मनमें अस्तव्यस्तता और अंधकार पैदा कर देना और उसके अंदर भ्रांत भावनाओं, अंध विचारों, मिथ्या धारणाओंको डाल देना या जाग्रत् कर देना और यदि इन सब चीजोंको उस मनसे उसकी अपनी यथार्थतापर, अथवा अपनी धारणाओं और निष्कर्षोंकी स्वाभाविक सत्यताके ऊपर अतिरिक्त विश्वास होनेके कारण समर्थन

प्राप्त हो तो उन्हें तबतक एक खुला मैदान प्राप्त हो जाता है जबतक कि सच्चा मन आकर अपना दावा नहीं स्थापित करता और बादलोंको छिन्न-भिन्न नहीं कर देता। इन आक्रमणकारियोंका दूसरा उपाय है निम्नतर प्राण-भागोंमें कोई घाव या पीड़ादायक बोध उकसा देना और जबतक संभव हो तबतक उन्हें घायल या पीड़ित बनाये रखना। ऐसी स्थितिमें मनुष्यको अपनी प्रकृतिके अंदरके इन उद्घाटनोंको खोज निकालना होता है और ऐसे आक्रमणोंको न आने देनेके लिये स्थायी रूपसे बंद कर देना अथवा तुरत या जब संभव हो तब इन आक्रामकोंको बाहर निकाल देना सीखना होता है। ऐसी चीजोंका बार-बार होते रहना किसी मौलिक अक्षमताका प्रमाण नहीं है; यदि कोई यथार्थ आंतरिक मनोभाव ग्रहण कर ले तो इन्हें वह जीत सकता है और अवश्य जीत लेगा। हमें अपने जीवन और कर्मके अधीश्वरपर, यदि वह दीर्घकालतक अपनेको छिपाये रखें तब भी, विश्वास बनाये रखना चाहिये, और तब वह अपने उचित समयपर अपनी दिव्य उपस्थितिको अवश्य प्रकाशित कर देंगे।

तुमने बराबर गुरुवादपर विश्वास किया है: ऐसी स्थितिमें मैं तुमसे कहूंगा कि तुम अपने गुरु और उनके पथप्रदर्शनपर विश्वास बनाये रखो और सिद्धिके लिये ईश्वरपर भरोसा रखो, मेरे अटल प्रेम और स्नेहमें, श्रीमाताजीके स्नेह और दिव्य सद्भाव तथा प्यारभरी करुणापर विश्वास बनाये रखो, समस्त आक्रमणोंके सामने दृढ़ताके साथ खड़े रहो और लगातार आध्यात्मिक लक्ष्यकी ओर, सर्वानंदमयके, ईश्वरके सर्वसिद्धिदायक और सर्वसंतोषदायक स्पर्शकी ओर आगे बढ़ते रहो।



मैंने जो पत्र भेजनेका वादा किया था उसे आज भेज रहा हूं; तुम देखोगे कि यह तुम्हारे पत्रके ठीक-ठीक शब्दोंका उत्तर उतना नहीं है जितना कि यह मनके (या कहीं अधिक प्राणके) आक्षेपों और अज्ञानोंके विरुद्ध "जीवनके दिव्यीकरणके सिद्धांतका समर्थन" है; मन या तो गलत समझता है या इससे हिचकता है—अथवा, शायद गलत समझता है क्योंकि वह हिचकता है, और वह हिचकता भी इस कारण है कि मेरी पद्धति और मेरे उद्देश्य दोनोंको वह गलत समझता है। परंतु मेरा यह समर्थन पूर्ण नहीं है, बल्कि इसमें यहां-वहां किसी मुख्य

प्रश्नको उठा दिया गया है या उसका उत्तर दिया गया है। बाकी चीजें बादमें आयेंगी।

परंतु सभी भाषाओंमें गलतफहमीकी गुंजायश है; अतएव यह अच्छा हो कि मैं पत्र भेजते हुए कुछ बातोंको स्पष्ट कर दूं या स्पष्ट करनेकी चेष्टा करूं।

यद्यपि मानवीय वस्तुओंपर किये गये अतिरिक्त (क्योंकि विपरीत) आग्रहका उत्तर देनेके लिये मैंने दिव्य वस्तुओंपर अधिक बल दिया है, इससे यह नही समझना चाहिये कि मैं प्रत्येक मानवीय वस्तुका परित्याग करता हूँ,—योगके अंगके रूपमें मानवीय प्रेम या पूजा या मानवीय पथके किसी भी रूपका त्याग करता हूँ। ऐसा मैंने कभी नहीं किया है, अन्यथा यह आश्रम अस्तित्वमें ही नही आ पाता। जो साधक योगमें प्रवेश करते हैं वे मनुष्य हैं और उन्हें यदि आरंभमें और पीछे बहुत दिनोंतक मानवीय ढंगसे आगे न बढ़ने दिया जाय तो वे योगका आरंभ करनेमें समर्थ नहीं होंगे अथवा उसे जारी रखनेमें समर्थ नहीं होंगे। वाद-विवाद केवल इसलिये खड़ा होता है कि "मानवीय" शब्द व्यवहारमें प्रयुक्त होता है और यह केवल मानवीय प्राण (और बाहरी मन) से मिलती-जुलती किसी चीजके लिये नहीं, वरन् मानवीय प्राणिक अहंभावके किन्हीं रूपोंके लिये प्रयुक्त होता है। परंतु मानवीय प्राणके अंदर और भी बहुतसी चीजें हैं और वह उत्तम सामग्रीसे भरा हुआ है। योगकी बस सारी मांग यह है कि यह सामग्री उचित रूपमें और समुचित आध्यात्मिक मनोभावके साथ उपयोगमें लायी जानी चाहिये तथा साथ ही यह भी मांग है कि भगवान्‌की ओर जानेका मानवीय मार्ग निरंतर मानवीय विद्रोहमें तथा उनके विरुद्ध निंदामें नहीं बदलना चाहिये। और इस बातकी मांग हम स्वयं उस मार्गकी तथा उस मार्गपर चलनेवाले मनुष्यकी केवल सफलताके लिये कर रहे हैं।

स्वयं दिव्यीकरणका अर्थ मानवीय तत्त्वोंका विनाश नहीं है। उसका अर्थ है उन्हें ग्रहण करना, उन्हें उनकी पूर्णताका मार्ग दिखाना, उन्हें शुद्धि तथा पूर्णताद्वारा उनकी पूर्ण शक्ति और आनंदमें उठा ले जाना और उसका मतलब है समस्त पार्थिव जीवनको उसकी परिपूर्ण शक्ति और आनंदमें ऊपर उठा ले जाना।

यदि मानवीय प्राण-प्रकृतिमें कोई प्रतिरोध, परिवर्तनकी विरोधिनी शक्तियोंका, ऐसी शक्तियोंका जो अपूर्णता तथा यहांतक कि विकृतिमें

आनंद लेती हैं, कोई दबाव न हो तो यह परिवर्त्तन विना किसी कठिनाईके एक स्वाभाविक और कष्टरहित विकासके द्वारा साधित होगा—जैसे, उदाहरणार्थ काव्य और संगीतकी तुम्हारी अपनी क्षमताएं यहां ज्योतिके अधीन तथा आध्यात्मिक और चैत्य प्रभावकी वर्षाके नीचे तीव्रता और आसानीके साथ विकसित हुई हैं, क्योंकि तुम्हारे अंदरकी प्रत्येक चीजोंने इस परिवर्तनको चाहा और तुम्हारा प्राण अपूर्णताओंको स्वीकार करने, किसी भी अनुचित मनोभावको, जैसे महज नामकी कामनाको, झाड़ फेंकनेके लिये तथा समर्पित और पूर्ण होनेके लिये इच्छुक था। जीवनके दिव्यीकरणका, वास्तवमें, अर्थ है जीवन-यापनकी एक महत्तर कला; क्योंकि अहं और अज्ञानद्वारा उत्पन्न जीवनयापनकी वर्तमान कला एक ऐसी चीज है जो अपेक्षाकृत हीन, असंस्कृत और अपूर्ण है (कला, संगीत और साहित्यके निम्नतर रूपोंकी तरह जो अभी भी सामान्य मानव-मन और प्राणके लिये अधिक आकर्षक हैं), और सच पूछा जाय तो एक आध्यात्मिक और चैत्य उद्घाटन और परिमार्जनके द्वारा ही वह अपनी सच्ची परिपूर्णताको प्राप्त कर सकती है। ऐसा केवल तभी हो सकता है जब कि यह दिव्य प्रकाश और ज्योति-शिखामें निमज्जित हो जाय जिससे कि इसका सारा उपादान-द्रव्य अपनी समस्त बोझिल मैलसे मुक्त हो जाय और सच्ची धातुमें परिणत हो जाय।

दुर्भाग्यवश प्राणमें प्रतिरोध है, बहुत ही अंधकारपूर्ण और हठी प्रतिरोध है। इसके कारण योगमें एक नकारात्मक तत्त्वकी आवश्यकता होती है, उन वस्तुओंके त्याग-रूपी एक तत्त्वकी आवश्यकता होती है जो रास्तेमें आ खड़ी होती हैं और—जो रूप कुरूप और निरर्थक होते हैं उनपर विलीन हो जानेके लिये, जो रूप उपयोगी तो होते हैं पर अपूर्ण होते हैं या विकृत हो गये होते है उनपर बने रहने या अपनी सच्ची क्रिया पुनः प्राप्त करनेके लिये दबावकी आवश्यकता होती है। प्राणके लिये यह दबाव दुःखदायी होता है, प्रथमतः, इस कारण कि वह अंधकारपूर्ण होता है और समझता नहीं और, द्वितीयतः, इस कारण कि उसके कुछ भाग ऐसे होते है जो यह चाहते हैं कि उन्हें उनकी अपनी भद्दी गति-क्रियामें छोड़ दिया जाय और जो परिवर्तित होना नहीं चाहते। यही कारण है कि चैत्य मनोभावका हस्तक्षेप इतना अधिक सहायक होता है। क्योंकि चैत्य पुरुषमें समुचित विश्वास, तत्पर समझ-बूझ और संवेदनशीलता, सहज-स्वाभाविक समर्पण-भाव होता है; वह जानता है कि

गुरुका स्पर्श सहायता देनेके लिये होता है न कि आघात पहुंचानेके लिये, अथवा, कवितामें वर्णित राधाकी तरह वह जानता है कि जो कुछ प्रियतम करते हैं वह भागवत परमोल्लासकी ओर ले जानेके लिये होता है।

इसके साथ-ही-साथ तुम्हें योग-क्रियाके अभावात्मक पक्षको देखकर ही योगका विचार नही करना चाहिये, वल्कि उसके भावात्मक पक्षको देखकर करना चाहिये; क्योंकि अभावात्मक पक्ष क्षणिक और अस्थायी होता है और वह विलीन हो जायगा, केवल भावात्मक पक्ष ही आदर्शके लिये और भविष्यके लिये मूल्य रखता है। यदि तुम उन अवस्थाओंको लो जो अभावात्मक पक्षसे तथा अस्थायी क्रियासे संवंध रखती हैं और उन्हें ही भविष्यका विधान एवं योगके स्वभावका सूचक समझो तो तुम एक वहुत वड़ा गलत फैसला करोगे, एक वहुत वड़ी भूल कर वैठोगे। इस योगमें जीवनका परित्याग नही किया जाता या भगवान् और साधकों-के वीच समीपता और घनिष्ठता नही स्थापित की जाती। इसका आदर्श भौतिक तथा साथ ही अन्य स्तरोंपर अधिकतम सामीप्य और एकत्व स्थापित करनेका, जीवनकी अत्यंत दिव्य विशालता और पूर्णता और हर्षको प्राप्त करनेका प्रयास करता है।



श्रीअरविंदको[1] हक्सले (Huxley) की टिप्पणियोंपर कोई राय नहीं

---

[1]. श्रीअरविन्दने ये अपने विचार "इसके शिखरोंतक हम सर्वदा ही पहुँच सकते हैं" वाक्यांशके संबंधमें लिखवा दिये थे। यह वाक्यांश 'दिव्य जीवन' ग्रंथ-के निम्नांकित उद्धरणोंमें आया हुआ है और इसकी आलोचना आल्डुअस हक्सलेने अपनी पुस्तक 'पेरेनियल फिलासफी' (पृ० 74) में की है:

"पृथ्वीका स्पर्श सदा ही पृथ्वीपुत्रके लिये नवशक्तिदायक होता है, उस समय भी जब कि वह अतिभौतिक ज्ञानकी खोज करता है। वल्कि यह भी कहा जा सकता है कि वास्तवमें हम तभी उसकी पूर्णताके साथ अतिभौतिकको —उसके शिखरोंतक हम सर्वदा ही पहुँच सकते हैं—अधिकृत कर सकते हैं जब कि हम अपने पैर दृढ़तासे भौतिकपर जमाये रखते हैं। उपनिषद् जब कभी विश्वमें अभिव्यक्त होनेवाले परमात्माको चित्रित करती है तो वह कहती है, "पृथ्वी उसका (भगवान्‌का) पादपीठ है।" (अमेरिकन संस्करण पृ० 13)

देनी है, वह उनसे पूर्ण एकमत हैं। परंतु "इसके शिखरोंतक हम सर्वदा ही पहुंच सकते है" वाक्यांशमें आया हुआ शब्द 'हम' अति स्पष्ट रूपमें ही समस्त सामान्य मनुष्यजातिको सूचित नहीं करता, वल्कि उनको सूचित करता है जो आंतरिक आध्यात्मिक जीवनमें पर्याप्त रूपसे विकसित हो चुके हैं। यह संभव है कि श्रीअरविंद अपने निजी अनुभवकी वात सोच रहे हों। केवल सामान्य परिणामोंके साथ तीन वर्षोंतक श्रीअरविंदके आध्यात्मिक प्रयास करनेके वाद एक योगीने उन्हें मन शांत करनेका एक उपाय वतलाया। इसे वह वतलायी हुई पद्धतिका अनुसरण कर दो या तीन दिनोंमें पूरी तरह कर लेनेमें सफल हुए। मनके चिंतन, हृदयके संवेदन तथा चेतनाकी सभी सामान्य क्रियाओंमें संपूर्ण नीरवता स्थापित हो गयी थी, था केवल चारों ओरकी वस्तुओंका वोध और पहचान और उसके साथ किसी प्रकारका विचार या अन्य प्रतिक्रिया जुड़ी हुई नही थी। अहंभाव विलीन हो गया था और साधारण जीवनकी क्रियाएँ तथा वाणी और कर्म एकमात्र प्रकृतिकी किसी अभ्यासगत क्रियाके द्वारा संपन्न हो रहे थे और ऐसा अनुभव नही था कि वे सव अपनी चीजें है। परंतु उस समय जो वोध वना हुआ था वह देखता था कि सभी वस्तुएं नितांत असत्य हैं; असत्यताका यह वोध वड़ा दुर्दम्य और व्यापक था। केवल कोई अनिर्वचनीय सद्वस्तु सत्य दिखायी देती थी जो देश और कालसे अतीत थी और जिसका किसी भी वैश्व क्रियाके साथ कोई संवंध नही था, पर फिर भी जिधर कोई मुड़ता उधर ही वह मिलता था। यह अवस्था कई महीनोंतक अक्षुण्ण वनी रही और जव असत्यताका वोध विलीन हो गया तथा विश्व-चेतनामें हिस्सा वंटाना फिर आरंभ हुआ तो भी आंतरिक शांति और स्वतंत्रता, जो कि इस अनुभूतिके फलस्वरूप प्राप्त हुई थी, सभी उपरितलीय क्रियाओंके पीछे स्थायी रूपसे वनी रही एवं स्वयं उस अनुभूतिका सारतत्त्व भी खो नही गया था। उसी समय एक अनुभूति वीचमें आ पड़ी; उनसे भिन्न किसी चीजने उनकी गत्यात्मक क्रियाशीलता (उनके समस्त वाह्य क्रियाकलाप) को अपने हाथमें ले लिया और वही उनके द्वारा वोलने और कार्य करने लगी, उनके अंदर न तो कोई अपना व्यक्तिगत विचार था और न कोई कार्य-प्रवृत्ति थी। यह चीज क्या थी यह वात श्रीअरविंदको तवतक अज्ञात थी जवतक कि उन्हें ब्रह्मके सक्रिय पक्ष, ईश्वर, की अनुभूति नही हो गयी और उन्होंने अपनेको अपनी समस्त साधना और कर्ममें उसीके द्वारा परिचालित होते हुए स्वयं

अनुभव नहीं कर लिया। ये अनुभूतियां और इनके वाद आनेवाली दूसरी अनुभूतियाँ—जैसे, सवमें आत्मा और आत्मामें सवकी, आत्माके रूपमें सवकी, सवमें भगवान् और भगवान्में सवकी अनुभूतियां—ही वे शिखर हैं जिनका संकेत श्रीअरविंद करते हैं और उनतक, वह कहते हैं कि, हम सर्वदा ऊपर उठ सकते हैं; क्योंकि उन्होंने उनके सामने कोई लंवी या दुर्निवार कठिनाई नहीं उपस्थित की। सच पूछा जाय तो उनके सामने जो सच्ची कठिनाई आयी जिसे पूर्ण रूपमें हल करनेमें उन्हें कई दशकोंतक आध्यात्मिक प्रयास करना पड़ा वह यह थी कि आध्यात्मिक ज्ञानको सर्वथा संसारमें तथा ऊपरी मनोवैज्ञानिक और वाह्य जीवनमें कैसे प्रयुक्त किया जाय और किस तरह इनका रूपांतर प्रकृतिके उच्चतर स्तरोंपर तथा मन, प्राण और शरीरके सामान्य स्तरोंपर भी—नीचे अवचेतना और आधाररूप निश्चेतनातक और ऊपर चरम सत्य-चेतना या अतिमानसतक, केवल जिसमें पहुंचनेपर ही सक्रिय रूपांतर संपूर्ण रूपसे सर्वांगीण और पूर्ण हो सकता है—साधित किया जाय।



इन उद्धरणोंसे[1] मझे यह पता नहीं चलता कि यहांपर वर्णित रूपांतर-का सच्चा स्वरूप क्या है। ऐसा लगता है कि यह कोई मानसिक और नैतिक वस्तु है जो भगवत्प्रेमसे साधित होती है और पृथक्त्वमें एक प्रकारका एकत्व है जो अध्यात्मभाव देनेवाले तत्त्वरूप इस दिव्य प्रेमके द्वारा संसिद्ध होता है।

ईश्वर-प्रेम और इस प्रेमके द्वारा पृथक्त्वमें एकत्व तथा किन्हीं मानसिक, नैतिक, भावात्मक—शायद भौतिक संभावनाओंको भी (क्योंकि वैष्णव लोग एक नवीन चिन्मय शरीरकी वात कहते हैं) संसिद्ध करके प्रकृतिका एक प्रकारका रूपांतर, यह सव वैष्णव योगका मूलतत्त्व है। इसलिये यहां ऐसी कोई चीज नहीं है जो एशियायी रहस्यवादकी उस परंपरामें पहलेसे ही विद्यमान नहीं थी जो सव्यक्तिक ईश्वरपर निर्भर करती है और इस वातपर आग्रह करती है कि मनुष्यका एक शाश्वत पूर्व-अस्तित्व है और व्यक्तिसत्ताका विनाश नहीं होता, वह सदा वनी रहती है। प्रकृतिको आध्यात्मिक रूपसे उसकी उच्चतम संभावनाओंतक

[1] आंरी मास्सी (Henri Massis) की पुस्तक 'ला देफान्स द लोक्सीदां' से।

ऊपर उठा ले जाना तांत्रिक साधनाका एक अंग है—इसलिये यह चीज भी भारतीय योगमें अनपस्थित नही है। ऐसा लगता है कि अधिकांश यूरोपियन लेखकोंकी तरह यह लेखक भी केवल मायावाद और बौद्ध मतको जानता है और उन्हें ही एशियाका संपूर्ण ज्ञान (Sagesse asiatique) स्वीकार करता है; पर यहां भी वह उनकी भावना और अनुभवका गलत अर्थ लगाता है। अपने उग्र रूपमें भी अद्वैत सत्ताके विलोप, शून्यत्वकी स्वीकृति, सत्स्वरूपके अंत और सारतत्त्वके विनाशको अपना ध्येय नहीं बनाता। एकमात्र एक विशेष प्रकारका शून्यवादी बौद्ध धर्म ही उसे अपना ध्येय बनाता है और ऐसा होनेपर भी उस शून्यका वर्णन दूसरी ओर शाश्वत कहकर किया जाता है। सच पूछा जाय तो इन साधनाओंका लक्ष्य होता है कालसे शाश्वतमें चले जाना, ससीमको उतार फेंकना और असीमको धारण कर लेना, अहंकारकी सीमाओं और उसके परिणामों अर्थात् कामना-वासना और दुःख-क्लेश आदिको, एक मिथ्याकृत जीवनको त्याग देना जिसमें कि सच्चे आत्मरूपमें निवास किया जा सके। ये वर्णन उस ईसाई लेखकके उस अनुभूतिसंबंधी तथा उसकी अनंतता, स्वतंत्रता, परमोच्च शांति और ब्रह्मानंदके उल्लाससंबंधी अज्ञानको ही प्रकट करते हैं जिसकी वह निंदा करता है। वास्तवमें वह सीमित व्यक्तिगत व्यक्तित्वका निर्वाण है पर वैश्व और फिर परात्पर चेतनामें मुक्ति है—विचार और जीवनका निर्वाण है पर एक सीमारहित चेतना और ज्ञान और सत्तामें मक्ति है। व्यक्तित्व विलुप्त हो जाता है पर विलुप्त हो जाता है अपनेसे महत्तर किसी वस्तुमें, न कि अपनेसे तुच्छ किसी वस्तुमें और न महज शून्य (Neant) में। यदि कहा जाय कि वह आदर्श पार्थिव जीवनका परित्याग करता है तो वही तो ईसाई आदर्श भी करता है, क्योंकि ईसाई आदर्शका उद्देश्य है उस पार्थिव जीवनसे परे (इस एकमात्र पार्थिव जीवनसे परे, क्योंकि वहां पुनर्जन्मको नहीं स्वीकार किया जाता), जो कि केवल शोक-संतापकी एक उपत्यका है और एक क्षणिक अग्निपरीक्षा है, किसी स्वर्गीय जीवनमें चले जाना। यह आध्यात्मिक व्यक्तित्वको बनाये रखनेपर आग्रह करता है, पर वैसे ही वैष्णव धर्म, शैव धर्म और अन्यान्य 'एशियायी' आदर्श भी करते हैं। एशियायी ज्ञानके बहुविध पक्षके विषयमें लेखकका अज्ञान उस ज्ञानकी इस निंदाका सारा मूल्य ही छीन लेता है।

जो वाक्यांश तुम्हें ऐसे लगते हैं कि वे कम-से-कम ऊपरसे देखनेमें

रूपांतरके हमारे आदर्शके साथ मिलते-जुलते हैं वे सामान्य ढंगके हैं और विना हिचकिचाहटके लगभग प्रत्येक आध्यात्मिक साधनाके द्वारा गृहीत हो सकते हैं, यहांतक कि मायावाद भी मार्गके एक स्तर या अनुभवके रूपमें उन्हें अन्तर्भूत करनेके लिये इच्छुक हो जायगा। सब कुछ इस बातपर निर्भर करता है कि तुम उन शब्दोंमें क्या तात्पर्य रखते हो, चेतना और जीवनमें होनेवाले किस वास्तविक परिवर्तनको सूचित करनेके लिये वे अभिप्रेत हैं। यदि रूपांतरका अर्थ हो "प्रेमसे पूर्ण बौद्धिक ज्योतिके अंदर" भगवान्के साथ जीवके एकत्वके द्वारा "पापसे संतत्वमें" पहुंचना—जिसका कि इन उद्धरणोंमें अत्यंत स्पष्ट वर्णन है—, तो यह बिलकुल ही मिलती-जुलती चीज नहीं है, बल्कि रूपांतरसे मेरा जो मतलब है उससे यह कोसों दूर है। कारण, जो रूपांतर मेरा उद्देश्य है वह पापसे संतत्वकी ओर जाना नहीं है, बल्कि अज्ञानकी निम्न प्रकृतिसे अज्ञानसे परे दिव्य ज्योति, शांति, सत्य, भागवत शक्ति और आनंदकी दिव्य प्रकृतिकी ओर जाना है। यह एक परम स्वयंसत् शुभकी ओर यात्रा करता है और पाप और पुण्यकी सीमित संघर्षशील मानवीय परिकल्पनाको पीछे छोड़ देता है; सच पूछो तो कोई बौद्धिक ज्योति उसकी अभीप्साका सूर्य नहीं है वरन् एक आध्यात्मिक अति-बौद्धिक अतिमानसिक ज्योति है; उसका अंतिम शिखर संतत्व नहीं है बल्कि दिव्य चेतना है—अथवा, यदि तुम चाहो तो कह सकते हो कि अंतरात्मत्व, ब्रह्मत्व, सज्ञान आत्मत्व, दिव्यत्व है। अतएव रूपांतरके इन दोनों प्रकारों या मात्राओंके बीच बड़ा भारी अंतर है।

1. "यह एक वीरतापूर्ण त्याग है जहां अंतरात्मा मुक्त कर्मके शिखरपर पहुंच जाता है, जहां व्यक्ति रूपांतरित हो जाता है, जहां उसकी शक्तियां भगवत्कृपाके द्वारा पवित्र और दिव्य हो जाती हैं, पर उनका सारतत्त्व नष्ट नहीं होता।"

यहां मुक्त कर्मका क्या तात्पर्य है? हमारे लिये मुक्तिका मतलब है अंधकार, सीमाबंधन, मूल-भ्रांति, दुःख-क्लेश और अज्ञ निम्नतर प्रकृतिकी क्षणभंगुरतासे मुक्ति, पर साथ ही भगवान्के प्रति संपूर्ण समर्पण। मुक्त कर्म हमारे अंदर और हमारे द्वारा भगवान्का कर्म होता है; दूसरा कोई कर्म मुक्त कर्म नहीं हो सकता। यह बात उद्धरण दो और तीनमें स्वीकृत हुई प्रतीत होती है; पर यह बोध, यह धारणा उतनी ही पुरानी है जितनी कि स्वयं आध्यात्मिक ज्ञान—यह कोई

रोमन कैथोलिक मतकी विशेष बात नहीं है। फिर भगवत्कृपाद्वारा शक्तियोंके पवित्र और दिव्य होनेका क्या अर्थ है? यदि यह कोई नैतिक पवित्रीकरण हो तो यह बहुत थोड़ी दूर ही जाता है और दिव्यीकरण नही ले आता। फिर, यदि दिव्यीकरण बौद्धिक ज्योतिसे सीमित हो तो वह वरन् अधिकसे अधिक एक तुच्छ चीज ही होगा। प्राचीन भारतीय आध्यात्मिकताका भी एक ऐसा लक्ष्य था, पर इसकी अपेक्षा उसका विस्तार और उसकी ऊंचाई कहीं अधिक थी। कोई आध्यात्मिक साधना सारतत्त्वके विनाशद्वारा शुद्धीकरण या दिव्यीकरणको अपना लक्ष्य नही बनाती—ऐसी कोई चीज हो ही नहीं सकती, स्वयं यह कथन ही अर्थहीन और स्वविरोधी है। सत्ताका सारतत्त्व अविनश्वर है। यहांतक कि अत्यंत कठोर अद्वैत साधना भी ऐसे किसी विनाशको लक्ष्य नहीं बनाती; उसका उद्देश्य है सारभूत आत्माकी शुद्धतम शुद्धता। रूपांतरका उद्देश्य भी शुद्ध आत्माकी यह सारभूत शुद्धि है, पर वह परमा प्रकृतिकी शुद्धि और दिव्यताकी मांग करता है। सच पूछा जाय तो सत्ताका सारतत्त्व नहीं बल्कि हमारी अविकसित अपूर्ण प्रकृतिके आनुषंगिक गुण नष्ट होते हैं और दिव्य प्रकृतिकी अभिव्यक्तिके द्वारा पदच्युत किये जाते हैं। ब्रह्मवादी अद्वैत व्यक्तिके सारतत्त्वके विनाशको नहीं, अहंके विनाशको अपना लक्ष्य बनाता है; वह 'एक'के साथ तादात्म्य प्राप्त करके अहंका विनाश साधित करता है, प्रकृति-निर्मित अहंको शाश्वत आत्माके सत्तत्वमें विलीन करके साधित करता है, इसके लिये, वह कहता है, व्यक्तिका सारतत्त्व अहं नहीं है, सारतत्त्व है— सोऽहम्, तत् त्वम् असि। हमारी रूपांतरकी भावनामें भी अहंका विनाश, वैश्व और दिव्य चेतनामें उसका विलयन शामिल है, पर उस विनाशके द्वारा हम अपने सच्चे या आध्यात्मिक व्यक्ति-स्वरूपको पुनः प्राप्त करते हैं जो कि भगवान्‌का शाश्वत अंश है।

2. "ईसाईका ध्यान भगवत्कृपा[1] और भागवत जीवनकी स्थितिसे अविच्छेद्य होता है। यदि इसे विनष्ट हो जाना हो तो फिर वास्तवमें उसका व्यक्तित्व उन सब चीजोंसे अनासक्त होनेमें सफल होता है जो कि

---

[1] भगवत्कृपाकी भावना केवल ईसाई आध्यात्मिक भावना ही नहीं है—यह भावना वैष्णव धर्म, शैव धर्म, शक्ति धर्म आदिमें विद्यमान है,—यह उतनी ही पुरानी भावना है जितनी कि उपनिषदें।

वह स्वयं नहीं है, उन सब बंधनोंको छिन्न करनेमें सफल होता है जो उसके हाड़-मांसके व्यक्तित्वसे जुड़े होते हैं, जिसमें कि जीवंत भगवान् उसपर अधिकार जमा सकें, उसे ग्रहण कर सकें तथा उसमें निवास कर सकें।"

3. "मुक्तिका अर्थ है, सर्वप्रथम, अपनी प्रकृतिमें विद्यमान निम्नतर वस्तुको उस वस्तुके अधीन कर देना जो कि उसमें उच्चतर है।"

इन उद्धरणोंको उपर्युक्त अर्थमें ग्रहण किया जा सकता है और यह कहा जा सकता है कि ये हमारे आदर्शसे मिलते-जुलते हैं। परंतु यहांपर "व्यक्तित्व" शब्दका प्रयोग भ्रमात्मक है। व्यक्तित्व एक क्षणिक रचना है और उसे शाश्वत बनानेका अर्थ होगा अज्ञान और सीमाबंधनको शाश्वत बनाना। सच्चा "मैं" न तो मानसिक अहं है और न वह वर्तमान व्यक्तित्व जो कि महज एक मुखौटा है, बल्कि वह शाश्वत "मैं" है जो विभिन्न जीवनोंमें व्यक्तित्वोंको ग्रहण करता है। ईसाइयों और यूरोपियनों-की जो यह परिकल्पना है कि पृथ्वीपर महज एक जीवन होता है, उसीसे यह भ्रांति उत्पन्न होती है और हमारा वर्तमान व्यक्तित्व ऐसा प्रतीत होता है मानो यही हमारा संपूर्ण स्वरूप हो।....फिर, वास्तवमें हमारा शारीरिक व्यक्तित्व ही ऐसा नहीं है जिसके साथ अज्ञान हमें बांध रखता है, बल्कि मानसिक व्यक्तित्व और प्राणिक व्यक्तित्व भी ऐसे ही हैं। यदि रूपांतरको सच्चा रूपांतर होना हो और अज्ञानकी ज्योतियोंका ही महज एक नया रूप अथवा कुछ उन्नत रूप न रहना हो तो ये सभी बंधन छिन्न करने होंगे, मन और प्राणके अपूर्ण रूपोंको अतिक्रांत करना होगा, मनको मनके परेकी किसी वस्तुमें, प्राणको दिव्य प्राणमें रूपांतरित करना होगा।

4. "आत्माकी (एशियाई वैरागीकी) यह एकांतावस्था...... वह वास्तविक आध्यात्मिक एकांत, वह सक्रिय एकांत नहीं है जहां प्रेमसे परिपूर्ण बौद्धिक ज्योतिके अंदर आत्माका भगवान्‌के साथ एकत्व प्राप्त होनेपर पापका पुण्यमें रूपांतर सिद्ध होता है।"

मैं सिद्ध होनेवाले रूपांतरके इस विवरणपर अपनी टिप्पणी पहले ही दे चुका हूं और अब केवल एक ही बाकी बात जोड़ देनेकी आव-श्यकता है। भगवान्‌में प्राप्त आत्माकी एकांतावस्थाको निस्संदेह सक्रिय होना चाहिये और साथ ही निष्क्रिय और स्थिर भी; परंतु कोई भी व्यक्ति, जिसने शाश्वत आत्माकी निश्चल-नीरव और गतिहीन एकांता-

वस्थाको नहीं प्राप्त किया है, उच्चतर दिव्य प्रकृतिकी मुक्त और सर्वांगपूर्ण क्रियाशीलताको नहीं प्राप्त कर सकता। कारण, कर्म निश्चल-नीरवतापर आधारित है और निश्चल-नीरवताके द्वारा ही वह मुक्त होता है।

5. "......ईसाईका जीवन—क्रमोन्नतिशील रहस्यवादीका जीवन जो कि एक समृद्धि है, मानव-व्यक्तिकी एक अनंत अभिवृद्धि है।"

यह रूपांतरकी हमारी भावना नही है—क्योंकि मानव-व्यक्ति प्राण और शरीरसे सीमित मनोमय पुरुष है। इसकी समृद्धि और अभि-वृद्धि उस सिद्धांतकी चरम सीमाके परे नहीं जा सकती, यह केवल अपनी वर्तमान दरिद्रता और संकीर्णताको ही विस्तारित और अलंकृत कर सकती है। वह मानसिक प्रज्ञासे निकलकर एक महत्तर सत्य और ज्योतिमें ऊपर नहीं उठ सकती अथवा उसे उसकी पूर्णताके साथ पार्थिव प्रकृतिमें उतार नहीं सकती जो कि हमारी परिकल्पनाके अनुसार रूपांतरका उद्देश्य है।

6. "एशियाईके लिये व्यक्तित्व मनुष्यका पतन है; ईसाईके लिये यह स्वयं भगवान्‌की योजना है, एकत्वका आधार है, सृष्टिका स्वाभाविक शिखर, जो संपूर्ण रूपमें भागवत कृपाका आवाहन करता है।"

मनुष्यमें इस एक जीवनका जो व्यक्तित्व है वह अज्ञानके अंदरकी रचना है, इसलिये एक प्रकारका पतन है; यह सत्ताका शिखर नहीं हो सकता। हम यह भी नहीं स्वीकार करते कि यह पार्थिव सृष्टिका शिखर है, पर यह कहते हैं कि ऐसे उच्चतर शिखर हैं जहां हमें ऊपर चढ़ना है और पार्थिव प्रकृतिमें उनकी शक्तियोंको प्रकट करना है। पार्थिव सृष्टि प्रकृतिमें प्रच्छन्न भागवत चैतन्यका क्रमविवर्तन है जो प्रारंभमें अज्ञानद्वारा सीमित और आवृत होता है। उसे अभी अज्ञानसे बाहर निकल-कर ऊपर उठना है—अतएव मानव-व्यक्तिके परे भागवत व्यक्तिमें पहुंचना है। यही वह आध्यात्मिक क्रमविकास है जिसमें भागवत योजना अपनी केंद्रीय और अर्थपूर्ण धाराको अभिव्यक्त करती है और संपूर्ण सृष्टिका सर्वोच्च भागवत कृपाकी ओर आवाहन करती है।

अतएव तुम देखोगे कि यहां हमारे आदर्शके साथ रूपांतरका सादृश्य केवल ऊपरी सतहपर, शब्दोंमें है, पर शब्दोंका जो सार है उसमें नही है, वह तो बहुत ही संकीर्ण और दूसरे प्रकारका है। वहां जो सादृश्य और अनुरूपता विद्यमान है, वह इस कारण है कि उनमें एक ऐसी चीज है (चेतनाका एक प्रकारका परिवर्तन) जो सभी

आध्यात्मिक साधनाओंमें एक जैसी होती है; क्योंकि, सबमें, पूर्व या पश्चिममें, अनुभवका सारतत्त्व एक जैसा होता है—केवल उनकी विकासधारा, क्षेत्र, किसी विशिष्ट दिशाकी ओर झुकाव या फिर सत्यके संपूर्णत्वविषयक उनके संकल्पमें भेद होता है।



ईसाइयोंकी परिकल्पना (स्वर्ग-राज्य) और अतिमानसिक अवतरणकी भावनाके बीच कोई संबंध नहीं है। ईसाई परिकल्पना यह मानती है कि एक ऐसी स्थिति है जिसे धार्मिक भाव और नैतिक शुद्धिके द्वारा प्राप्त किया जा सकता है। परंतु ये चीजें, व्यक्तिके लिये जो भी मूल्य क्यों न रखती हों, संसारको बदलनेमें मानसिक आदर्शवाद अथवा इस उद्देश्यके लिये अभीतक अभिप्रेत किसी भी अन्य शक्तिसे अधिक समर्थ नहीं हैं। ईसाई लोग राजसिक और तामसिक अहंकारके स्थानमें सात्त्विक धार्मिक अहंकारको बैठानेके लिये कहते हैं, पर, यद्यपि एक व्यक्तिगत उपलब्धिके रूपमें इसे किया जा सकता है, यह जनसमूहके अंदर अपनेको संसिद्ध करनेमें न तो कभी सफल हुआ है और न कभी सफल होगा।

इसके पीछे कोई उच्च आध्यात्मिक या मनोवैज्ञानिक ज्ञान नहीं है और यह मानव-चरित्रके मूल आधार तथा कठिनाईके मूल स्रोत मन, प्राण और शरीरके द्वन्द्वकी अवहेलना करता है। जबतक चेतनाकी एक नयी शक्ति नहीं अवतरित हो जाती जो द्वन्द्वके अधीन न हो पर फिर भी सक्रिय हो, जो एक नया आधार प्रदान करे और मनसे ऊपर चेतनाके केंद्रको उठा ले जाय, तबतक पृथ्वीपर ईश्वरका राज्य केवल एक आदर्श ही रह सकता है, सामान्य पार्थिव चेतना तथा पार्थिव जीवनमें संसिद्ध एक तथ्य नहीं बन सकता।

3. धर्म, नैतिकता, आदर्शवाद तथा योग

अध्यात्म-जीवन, धर्मजीवन और साधारण मानव-जीवन जिसका एक अंग नैतिकता है—ये तीनों विलकुल अलग चीजें हैं और हमें यह जानना चाहिये कि हम क्या चाहते हैं और तीनोंको एक साथ मिला-जुला नही देना चाहिये। साधारण जीवन उस औसत मानव-चेतनाका जीवन होता है जो अपने सच्चे स्वरूपसे और भगवान्‌से विच्छिन्न होती है और मन, प्राण और शरीरके सामान्य अभ्यासोंके द्वारा परिचालित होती है जो कि अज्ञानकी विधियां है।

धार्मिक जीवन उसी अज्ञ मानव-चेतनाकी क्रिया है जो पृथ्वीसे भगवान्‌की ओर मुड़ती या मुड़नेकी चेष्टा करती है, पर अभी भी करती है ज्ञानके विना, और किसी मत या पंथके कट्टर विश्वासों और नियमोंके द्वारा परिचालित होती है जो यह दावा करता है कि पार्थिव चेतनाके वंधनोंसे वाहर निकलकर किसी आनंददायी परात्परमें चले जानेका मार्ग हमें प्राप्त हो गया है। धार्मिक जीवन आध्यात्मिक जीवनकी ओर जानेका प्रथम मार्ग हो सकता है, पर वहुत बार यह विना कोई पथ पाये नाना धार्मिक कृत्यों, अनुष्ठानों और प्रथाओं अथवा सुनिश्चित भावनाओं और आचारोंके चारों ओर चक्कर भर काटना होता है।

आध्यात्मिक जीवन, इसके विपरीत, सीधे चेतनाके एक परिवर्तनसे आरंभ होता है, अपने सच्चे आत्मा तथा भगवान्‌से विच्छिन्न, अज्ञ सामान्य चेतनासे एक महत्तर चेतनामें होनेवाले परिवर्तनसे आरंभ होता है जिसमें जाकर मनुष्य अपने सच्चे स्वरूपको प्राप्त करता है और पहले भगवान्‌के साथ एक प्रत्यक्ष और जीवंत संपर्क स्थापित करता है और उसके वाद उनके साथ एकत्वमें स्थित हो जाता है। आध्यात्मिक साधकके लिये चेतनाका यह परिवर्तन ही वह प्रमुख वस्तु है जिसकी वह खोज करता है और अन्य किसी चीजका कोई महत्त्व नहीं।

नैतिकता साधारण जीवनका एक अंग है, यह किन्हीं मानसिक नियमोंके द्वारा वाहरी आचरणको संयमित करने अथवा इन नियमोंके द्वारा अपने चरित्रको ऐसा वनानेका प्रयत्न है जो किसी मानसिक आदर्शका मूर्त्त रूप हो। परंतु आध्यात्मिक जीवन मनसे परे चला जाता

है; वह आत्माकी गंभीतर चेतनामें प्रविष्ट हो जाता है और आत्माके सत्यके अनुसार कार्य करता है। नैतिक जीवन और भगवान्को प्राप्त करनेकी आवश्यकताके विषयमें जो प्रश्न किया गया है, उसका उत्तर इस बातपर निर्भर करता है कि जीवनके उद्देश्योंकी संसिद्धिका अर्थ क्या है। यदि आध्यात्मिक चेतनामें प्रवेश करना उसका एक अंग है तो महज नैतिकता तुम्हें वह चीज नहीं देगी।

राजनीति अभी जैसी है उसका आध्यात्मिक जीवनके साथ कोई सरोकार नहीं। यदि कोई आध्यात्मिक पुरुष अपने देशके लिये कुछ करता है तो वह उसे भगवान्की इच्छा पूरी करनेके लिये और भगवान्-द्वारा प्रदत्त कार्यके एक अंगके रूपमें करता है, अन्य किसी सामान्य मानवीय प्रयोजनसे नहीं करता। अपने किसी भी कार्यमें वह सामान्य मानसिक और प्राणिक प्रयोजनोंसे नहीं परिचालित होता जो कि साधारण मनुष्योंको चलाते हैं, बल्कि आत्माके सत्यके अनुसार और उस आंतरिक आदेशसे कार्य करता है जिसके मूल स्रोतको वह जानता है।

जिस पूजाकी बात उस पत्रमें कही गयी है वह धार्मिक जीवनसे संबंध रखती है। यदि उसे अत्यंत गम्भीर धार्मिक भावनाके साथ ठीक तरहसे किया जाय तो वह मन और हृदयको कुछ हद तक तैयार कर सकती है, पर उससे अधिक उससे कोई लाभ नहीं होगा। परंतु पूजा यदि ध्यानके अंगके रूपमें की जाय अथवा आध्यात्मिक सद्वस्तु और आध्यात्मिक चेतनाके लिये सच्ची अभीप्सा रखते हुए तथा भगवान्के साथ संपर्क और एकत्व प्राप्त करनेकी तीव्र उत्कंठाके साथ की जाय तो वह आध्यात्मिक रूपमें प्रभावशाली हो सकती है।

यदि तुम्हारे हृदय और अंतरात्मामें आध्यात्मिक परिवर्तनकी सच्ची अभीप्सा है तो तुम अपना पथ और मार्गदर्शक प्राप्त कर लोगे। महज मानसिक खोज और पूछताछ आत्माके दरवाजोंको खोलनेके लिये पर्याप्त नहीं हैं।



भगवान्से हमें जो कुछ मिल सकता है केवल उसीके लिये उनको खोजना स्पष्ट ही उचित मनोभाव नहीं है; पर इन चीजोंके लिये उनको खोजना यदि पूर्ण रूपसे मना कर दिया जाय तो संसारके अधिकांश लोग उनकी ओर बिलकुल नहीं मुड़ेंगे। मैं समझता हूं कि

इसीलिये इसे स्वीकार किया गया है कि वे आरंभ कर सकें—यदि उन्हें श्रद्धा हो तो वे जो कुछ मांगते हैं उसे पा सकते हैं और यह समझ सकते हैं कि इसे जारी रखना अच्छी बात है। फिर एक दिन वे हठात् इस विचारको ग्रहण कर सकते हैं कि आखिरकार यही एक-मात्र करने योग्य बात नहीं है, इससे भी अधिक अच्छे तरीके हैं और अधिक अच्छा मनोभाव है जिसके साथ मनुष्य भगवान्‌की ओर जा सकता है। यदि जो कुछ वे चाहते हैं उसे नहीं पाते और फिर भी भगवान्‌के पास आते है और उनपर विश्वास रखते हैं तो यह इस बातको सूचित करता है कि वे तैयार हो रहे हैं। हमें इसे अप्रस्तुत लोगोंके लिये बाल-पाठशालाओंके रूपमें देखना चाहिये। पर निस्संदेह यह आध्यात्मिक जीवन नहीं है, यह केवल प्रारंभिक धार्मिक दृष्टिकोण है। आध्यात्मिक जीवनका नियम है दे देना और मांग न करना, परंतु साधक भागवती शक्तिसे सहायता देने या स्वस्थ बनाये रखने या स्वास्थ्य प्रदान करनेके लिये प्रार्थना कर सकता है, यदि वह इसे अपनी साधनाके एक अंगके रूपमें करें जिसमें कि उसका शरीर आध्यात्मिक जीवनके लिये समर्थ और उपयुक्त हो सके तथा भागवत कार्यके लिये एक सुयोग्य यंत्र हो सके।



यह सही है कि अधिकसे अधिक प्रकृतिके केवल ऊपरी सतहको थोड़ा परिवर्तित करते हैं। किन्तु वे बहुत जल्द विकृत होकर लौकिक अभ्यासजन्य पूजा के एक नित्यकर्म तथा कठोर सिद्धांतोंका रूप ले लेते हैं।



हिन्दू-धर्मके विषयमें मेरा वही विचार नही है जो कि 'ज' का है। धर्म सर्वदा अपूर्ण होता है, क्योंकि वह मनुष्यकी आध्यात्मिकता तथा उसके उन प्रयासोंका मिश्रण होता है जिन्हें वह अपनी निम्न प्रकृतिको अज्ञानपूर्वक समुन्नत करनेकी चेष्टा करते समय करता है। हिन्दू-धर्म मुझे एक महामंदिर प्रतीत होता है, जो आधा टूटा-फूटा है, पूजा-समारोहमें महान् है, बहुधा ब्योरेमें विलक्षण लगता है पर सर्वदा अर्थ-पूर्ण विलक्षण होता है—जगह-जगह टूट रहा है अथवा बुरी तरह

घिस गया है, पर है एक महामंदिर, जिसमें अभी भी अदृश्य देवकी पूजा होती है और जो लोग समुचित मनोभावके साथ इसमें प्रवेश करते हैं उन्हें उस देवकी सच्ची उपस्थितिका अनुभव हो सकता है। इसमें प्रवेश करनेके लिये जो बाहरी सामाजिक ढांचा निर्मित हुआ है, वह दूसरी बात है।



मैं मनुष्य जातिके और विशेषतः भारतके आध्यात्मिक इतिहासको एक दिव्य प्रयोजनका सतत विकास मानता हूँ, एक ऐसी पुस्तक नहीं मानता जो पूर्ण हो गयी है और जिसकी पंक्तियोंको निरंतर दुहराते रहना होगा। यहांतक कि उपनिषदें तथा गीता भी अंतिम नहीं थीं। यद्यपि उनमें सभी चीजें बीजरूपमें हो सकती हैं। इस विकासमें भारतका वर्तमान आध्यात्मिक इतिहास एक बहुत ही महत्त्वपूर्ण अवस्था है और जिन नामोंका मैंने उल्लेख किया है उनका मेरे विचारमें उन दिनों एक विशेष महत्त्व था—मुझे वे उस धाराको सूचित करते हुए प्रतीत होते थे जहांसे भावी आध्यात्मिक विकासको अत्यंत प्रत्यक्ष रूपमें अग्रसर होना है, रुकना नहीं बल्कि आगे बढ़ना है। मैं कह दूं कि भविष्यमें मनुष्य जातिके लिये किसी भी, नवीन या प्राचीन धर्मका प्रचार करना मेरे उद्देश्यसे बहुत अलग है। इस विषयकी मेरी परिकल्पना यह है कि किसी धर्मकी स्थापना नहीं करनी है, बल्कि वह रास्ता खोल देना है जो अभी भी बंद है।



यदि इस वक्तव्य[1] का अर्थ यह है कि धर्मका रूप कोई स्थायी

---

1. धर्म-परिवर्तन संबंधी डा० अम्बेदकर के विचारों पर महात्मा गांधीने निम्नांकित वक्तव्य दिया था। उसी वक्तव्य पर यह टिप्पणी की गयी है।
"पर धर्म कोई मकान या चोगा नहीं है जो इच्छानुसार बदला जा सकता है। यह शरीर की अपेक्षा कहीं अधिक मनुष्यके आत्माका एक अविभाज्य अंग है। धर्म वह गांठ है जो मनुष्यको उसके सिरजनहारके साथ बांध रखती है और जब शरीर नष्ट हो जाता है, जैसाकि उसे होना ही है, तब उसके बाद भी धर्म बना रहता है।"

और अपरिवर्तनीय वस्तु है तो इसे स्वीकार नहीं किया जा सकता। पर धर्मका अर्थ यहां यदि भगवान्‌के साथ संपर्क स्थापित करने का मार्ग हो तो यह सत्य है कि उसका अर्थ है वह वस्तु जो आंतर सत्तासे संबंध रखती है और उसे किसी व्यक्तिगत, सामाजिक या सांसारिक सुविधाके लिये किसी मकान या चोगेकी तरह बदला नहीं जा सकता। यदि परिवर्तन करना हो तो वह केवल किसी आंतरिक आध्यात्मिक कारण, अंतरसे होनेवाले किसी विकासके कारणसे ही किया जा सकता है। कोई भी व्यक्ति धर्मके किसी रूप या किसी विशेष मतवाद या पद्धतिसे बँधा नहीं रह सकता, पर यदि वह किसी स्वीकार किये हुए धर्मको दूसरे धर्मके लिये बाहरी कारणोंसे छोड़ देता है तो इसका मतलब है कि आंतरिक रूपसे उसका कोई धर्म ही नहीं था और उसका पुराना और नया धर्म, दोनों ही महज खोखला सिद्धांत है। मूल रूपमें, मैं समझता हूँ, इस वक्तव्यका सार यही है। यहां जिस परिवर्तनकी सिफारिश के विरुद्ध आपत्ति उठायी गयी है, उसका उद्देश्य परम सत्यकी ओर जानेके किसी भिन्न मार्गका चुनाव या आंतरिक आध्यात्मिक आत्म-अभिव्यक्तिकी कामना नहीं है;—यहांपर प्रस्तावित लक्ष्य है सामाजिक स्थिति और प्रतिष्ठाका परिवर्धन जो कोई आध्यात्मिक उद्देश्य बिलकुल नहीं है, वह तो बस पैसे या विवाह के खातिर परिवर्तन है। यदि मनुष्यके अपने अंदर कोई धर्म नहीं है तो वह अपने सांप्रदायिक विश्वासको किसी भी उद्देश्यसे बदल सकता है; पर उसके अंदर यदि कोई धर्म हो तो उसे वह बदल नही सकता; उसे वहां केवल किसी आंतरिक आध्यात्मिक आवश्यकताके प्रत्युत्तरमें ही बदल सकता है। यदि किसी मनुष्यमें कृष्णके रूपमें भगवान्‌के प्रति भक्ति है तो वह भलीभांति यह नहीं कह सकता कि "मैं ईसाके लिये कृष्णको दूर भगा दूंगा जिससे मैं सामाजिक रूपसे प्रतिष्ठित बन सकूं।"



वैराग्य निश्चय ही लक्ष्यकी ओर अग्रसर होनेका एक मार्ग है—परम्परागत मार्ग है और यदि कष्टपूर्ण है तो अति शक्तिशाली है। मानवीय प्राणिक भोगोंकी कामना नष्ट कर देना, साहित्यिक अथवा अन्य सफलता, प्रशंसा, प्रसिद्धि आदिकी लालसाको निकाल बाहर करना, यहांतक कि आध्यात्मिक सफलता, योगके आंतरिक भोगको प्राप्त करनेके

आग्रह तकका विनाश कर देना सदासे लक्ष्यकी ओर जानेकी सीढ़ियां माने जाते रहे हैं—बशर्ते कि मनुष्य भगवान्‌को पानेके अपने एकमात्र आग्रह को बनाये रखे। मैं स्वयं वैराग्यके कहीं अधिक दुःखपूर्ण मार्गकी अपेक्षा समताके कहीं अधिक शांतिपूर्ण मार्गको पसंद करता हूं, जिस मार्गकी ओर कृष्णने संकेत किया है। परंतु किसीके स्वभावका दबाव या किसीकी आंतरिक सत्ताका दबाव ऐसा हो कि वह उसी उपायसे प्रकृतिकी कठिनाइयोंके भीतरसे अपना रास्ता काटना चाहती हो तो इसे एक वैध धाराके रूपमें स्वीकार करना ही होगा। ऐसी हालतमें जिस चीजसे छुटकारा पानेकी जरूरत है वह है प्राणकी निराशाका वह स्वर जो इस चिल्लाहटको प्रत्युत्तर देता है, जिसकी तुमने चर्चा की है कि वह कभी भगवान्‌को नहीं पायेगा क्योंकि उसने अभी तक उनको नहीं प्राप्त किया है अथवा यह कि अभी तक कोई प्रगति नहीं हुई है। निस्संदेह, प्रगति हुई है, कहींपर तुम्हारे अंदर चैत्य पुरुषका यह महत्तर दबाव, स्वयं यह अनासक्ति निरंतर बढ़ रही है। बस, आवश्यक बात है डटे रहना, जो रस्सी तुम्हें ऊपर खींच रही है उसे इस कारण काट न देना कि वह तुम्हारे हाथको जख्मी बना रही है, बस, एक ही आग्रहको बनाये रखना, भले ही दूसरे सब तुम्हारे अंदरसे झड़ जायं।

यह स्पष्ट है कि तुम्हारे अंदर कोई चीज विगत जीवनकी अपूर्ण धाराको अभी चलाये जा रही है और तुम्हें वैराग्यके इस पथपर और भक्तिके इस अधिक तूफानी मार्गपर धकेल रही है,—हमारे और तुम्हारे भी एक कम दुःखदायी मार्गको पसंद करनेके बावजूद—कोई चीज है जो बाह्य प्रकृतिके प्रति उग्र होनेके लिये दृढ़ संकल्प है जिसमें कि वह अपने-आपको अपनी गुह्य अभीप्साको चरितार्थ करनेके लिये मुक्त कर ले। परन्तु उस वाणीके इन सुझावोंकी ओर कान मत दो जो यह कहती है कि "तुम सफल नहीं होओगे और प्रयास करनेसे कोई लाभ नहीं।" यह एक ऐसी बात है जिसे आत्माके मार्गमें कभी नहीं कहना चाहिये, चाहे वह मार्ग उस समय जितना भी कठिन क्यों न प्रतीत हो। उस समस्त अभीप्साको बनाये रखो जिसे तुम इतनी सुन्दरताके साथ अपनी कविताओंमें प्रकट करते हो; क्योंकि यह निश्चित ही तुम्हारे अंदर है और गहराइयोंसे ऊपर प्रकट होती है, और यह यदि दुःख-कष्टका कारण है,—जैसी कि महान् अभीप्साएं एक ऐसे संसार और स्वभावमें होती हैं, जहां उनका विरोध करनेवाली इतनी अधिक वस्तुएं हैं—तो

यह इस वातका आश्वासन और निश्चयता भी है कि भविष्यमें यह अभिव्यक्त और विजयी होगी।



मैंने पहले संन्यासप्रधान तथा तामसिक प्रकारके वैराग्यके विरुद्ध आपत्ति की थी। तामसिक प्रकारसे मेरा मतलव है वह भाव जो जीवनसे हार जानेपर आता है, इसलिये नही आता कि मनुष्य वास्तवमें जीवनसे ऊव गया है, वल्कि इस कारण आता है कि मनुष्य जीवनका सामना नही कर सका अथवा उसके पुरस्कारोंको जीत नहीं सका; क्योंकि वह योगको विकलांग या दुर्वल लोगोंका अनाथालय समझकर और भगवान्‌को विश्व-श्रेणीमें अनुत्तीर्ण वच्चोंके लिये समाश्वासक पुरस्कार समझकर उनके पास आता है। जिस मनुष्यने संसारकी देनों या उपहारोंका आस्वादन किया है पर उन्हें अपर्याप्त या अंतमें स्वादरहित अनुभव किया है और जो एक उच्चतर और सुन्दरतर आदर्शकी ओर मुड़ता है उसका अथवा जिसने जीवनके युद्धोंमें अपना पार्ट अदा किया है, पर यह देखा है कि मेरी अंतरात्मा इससे भी महान् किसी चीजकी मांग करती है उसका वैराग्य पूर्णतः सहायक होता है और योगके लिये एक वहुत अच्छा द्वार होता है। सात्त्विक वैराग्य भी वैसे ही सहायक होता है जो यह जान चुका है कि जीवन क्या है और जो कुछ जीवनके पीछे और ऊपर है, उसकी ओर मुड़ जाता है। संन्यासप्रधान वैराग्यसे मेरा मतलव उस वैराग्यसे है जो जीवन और जगत्‌को एकदम अस्वीकार कर देता है और अनिर्वचनीयके अंदर विलीन हो जाना चाहता है—मैं इसके विरुद्ध उन लोगोंके लिये आपत्ति करता हूं जो इस योगमें आते हैं, क्योंकि यह मेरे लक्ष्यके साथ मेल नहीं खाता, क्योंकि मेरा लक्ष्य है जीवनमें भगवानको उतार लाना। पर कोई यदि जीवनमें, जैसा कि यह है, संतुष्ट है तो फिर जीवनमें भगवानको उतार लानेके लिये प्रयास करनेका कोई कारण नही,—अतएव जीवनसे, जैसाकि यह है, असंतोषके भावमें वैराग्यपूर्ण रूपसे स्वीकार्य है और यहांतक कि एक विशेष अर्थमें मेरे योगके लिये अपरिहार्य है।



प्राणके अति प्रवल खिंचावके प्रतिकारके रूपमें वैराग्यकी एक

अस्थायी स्थितिकी उपयोगिताको मैं पूर्णतया स्वीकार करता हूं। परंतु वैराग्य सर्वदा ही जीवनसे मुंह मोड़नेकी प्रवृत्ति रखता है और वैराग्यके अंदरका तामसिक तत्त्व—निराशा, अवसाद इत्यादि—सत्ताकी अग्निको विनष्ट कर देता है तथा कुछ लोगोंको दुविधाकी स्थितिमें ले जा सकता है जिससे कि वे पृथ्वीको भी खो बैठें और स्वर्ग भी न पा सकें। इसलिये मैं वैराग्यके स्थानमें जो चीजें छोड़नेकी हैं—कामवासना, मिथ्याभिमान, अहं-केंद्रितता, आसक्ति इत्यादि—उनके सुदृढ़ और प्रशांत परित्यागके भावको ला बिठाना पसंद करता हूं, पर उसके अंदर उन क्रियाशीलताओं और शक्तियोंका त्याग शामिल नहीं है जो साधनाके और भागवत कर्मके साधन बनाये जा सकते हैं, जैसे कला, संगीत, कविता इत्यादि, यद्यपि इन्हें एक नया आध्यात्मिक अथवा चैत्य आधार, एक गंभीरतर अंतःप्रेरणा, भगवान् या दिव्य वस्तुओंकी ओर प्रवृत्ति प्राप्त करनी होगी। जीवनका त्याग किये बिना, जीवनानंद या जीवनी शक्तिको मारे या क्षीण किये बिना योग किया जा सकता है।



नहीं, मैंने यह नहीं कहा था कि तुमने राजसिक या तामसिक वैराग्यको पसंद किया। मैंने केवल यह समझाया था कि वह, स्वयं अपने-आप, प्राणकी क्रियाके परिणामस्वरूप कैसे सात्त्विक वैराग्यके स्थानमें आ गया था जो वैराग्य कि भगवान्‌को पानेकी चेष्टा करनेके लिये संसारसे मुंह मोड़नेके पहले आनेवाला और उसका कारण अथवा उसके साथ आनेवाला या उसका परिणाम माना जाता है। तामसिक वैराग्य प्राणकी हिचकसे उत्पन्न होता है जब वह यह अनुभव करता है कि उसे जीवनके आनंदको छोड़ना होगा और उदासीन तथा आनंदहीन बन जाना होगा। राजसिक वैराग्य तब आता है जब प्राण जीवनके सुखको खोना आरंभ करता है, पर यह शिकायत करता है कि उसके स्थानमें उसे कुछ नहीं मिल रहा है। कोई व्यक्ति ऐसी वृत्तियां पसंद नहीं करता; वे मनसे स्वतंत्र रूपमें मानव-प्रकृतिकी अभ्यासगत प्रतिक्रियाओंके रूपमें आती हैं। मैंने इन चीजोंको अनासक्ति, वर्धमान शांत अभीप्सा, विशुद्ध भक्ति, भगवान्‌के प्रति ज्वलंत समर्पण भावके द्वारा अस्वीकार करनेका सुझाव आगे बढ़ानेवाली सच्ची क्रियाके रूपमें दिया था।



एक सात्त्विक वैराग्य भी है—पर बहुतसे लोगोंको राजसिक या तामसिक प्रकारका वैराग्य होता है। राजसिक वैराग्य स्वयं अपने जीवनकी अवस्थाओंके विरुद्ध विद्रोह होनेपर आता है, तामसिक वैराग्य असंतोष, निराशा, सफलता प्राप्त करने या जीवनका सामना करनेकी अयोग्यताकी भावनाके कारण, जीवनकी वेदनाओं और पीड़ाओंके नीचे कुचल जानेके कारण उत्पन्न होता है। ये जीवनकी असारताका एक भाव ले आते हैं, कम दुःखपूर्ण, अधिक सुनिश्चित और सुखपूर्ण किसी चीजकी खोज करनेकी अथवा फिर यहांके जीवनसे मुक्ति पानेकी कामना उत्पन्न करते हैं, परंतु ये तुरत आध्यात्मिक सिद्धिके लिये कोई ज्योतिपूर्ण अभीप्सा या शांति और हर्षसे पूर्ण विशुद्ध अभीप्सा नहीं ले आते।



सत्त्वके भीतरसे गुजरना योगका साधारण विचार है; यह पतंजलिके यम-नियमके द्वारा अथवा अन्य योगोंमें अन्य साधनोंके द्वारा, जैसे भक्ति-मार्गमें साधुता, बौद्धधर्ममें अष्टमार्ग आदि-आदि के द्वारा तैयारी करना और शुद्धि करना है। हमारे योगमें सत्त्वके भीतरसे होनेवाले विकासके स्थानमें समताके अनुशीलनके द्वारा और चैत्य रूपांतरके द्वारा विकास साधित किया जाता है।



स्पष्ट ही, राजसिक वृत्तियों द्वारा सात्त्विक की अपेक्षा साधनामें कहीं अधिक उपद्रव उत्पन्न होने की संभावना है। सात्त्विक मनुष्यकी सबसे बड़ी कठिनाई है पुण्य और धर्माभिमानका जाल, परोपकार, मन द्वारा आदर्शीकरण, पारिवारिक प्रेम आदिके बंधन; पर पहलीके अतिरिक्त, ये चीजें, यद्यपि कठिन हैं, फिर भी अतिक्रांत करनेमें अथवा रूपांतरित होनेमें भी उतनी कठिनाई नहीं हैं। परंतु कभी-कभी ये चीजें उतनी ही चिपकनेवाली होती हैं जितनी कि राजसिक कठिनाइयां।



संन्यास आसक्तिको नहीं दूर करता—उसका बस मतलब है आसक्ति-के विषयसे दूर भाग जाना, जो सहायक तो हो सकता है पर केवल अपने-आपमें रामबाण औषध नहीं हो सकता।

यह एक भावना है (कालके अंदर वस्तुओंकी महत्त्वहीनता) जिसका प्रयोग कभी-कभी संन्यासप्रधान साधना जगतकी आसक्तिसे छुटकारा पानेके लिये करती है—पर यह किसी भावात्मक या प्रबल आध्यात्मिक उद्देश्यके लिये उपयोगी नहीं है।



जिस जीवन-सिद्धांत को मैं स्थापित करना चाहता हूं वह है आध्यात्मिक। नैतिकता तो मनुष्यके मन और प्राणका विषय है, उसका संबंध चेतनाके एक निम्नतर स्तरसे है। अतएव आध्यात्मिक जीवन किसी नैतिक आधार पर नही स्थापित किया जा सकता, उसकी स्थापना तो एक आध्यात्मिक आधारपर ही करनी होगी। पर इसका तात्पर्य यह नही है कि आध्यात्मिक पुरुषको अनैतिक होना होगा—मानो नैतिकताके अतिरिक्त आचरणका कोई दूसरा विधान हो ही नहीं। आध्यात्मिक चेतनाके कर्मका विधान नैतिकतासे निम्नतर नहीं बल्कि उच्चतर होता है—उसका आधार होता है भगवान्‌के साथ एकत्व और भागवत चेतनामें निवास और उसका कर्म प्रतिष्ठित होता है भागवत संकल्पके अनुगमन पर ।



सत्य और असत्य, सुन्दरता और असुन्दरता आदिके विषय में जिन विश्वासोंका तुम जिक्र करते हो वे मानव-प्राणीके लिये और उसके जीवनके परिचालनके लिये आवश्यक हैं। जिन विभेदोंको वे द्योतित करते हैं उनके बिना उसका काम नहीं चल सकता। पर उच्चतर चेतनामें जब वह ज्योतिमें प्रवेश करता है अथवा उसके द्वारा स्पष्ट होता है, ये विभेद विलीन हो जाते हैं, क्योंकि तब वह शाश्वत और अनंत शुभ और सत्यके संमिकट होता है जिसे वह पूर्णरूपेण तब प्राप्त कर लेता है जब वह सत्य-चेतना या अतिमानसमें प्रवेश करनेमें समर्थ होता है। ईश्वरके पथप्रदर्शनमें विश्वास रखना भी आध्यात्मिक अनुभवसे सत्य सिद्ध होता है और साधनाके लिये बहुत आवश्यक है। यह भी अपने उच्चतम और पूर्णतम सत्य तक तब पहुंचता है जब मनुष्य परम ज्योतिमें प्रवेश करता है।

प्रार्थनाके विषयमें जो कुछ तुम कहते हो वह ठीक है। यह उनमें

ऊंचे प्रकारकी प्रार्थना है, पर दूसरे प्रकारकी (अर्थात् अधिक व्यक्तिगत) प्रार्थना भी स्वीकार्य है और यहाँतक कि वांछनीय है। प्रत्येक प्रार्थना जब उचित ढंगसे की जाती है तो वह हमें भगवान्‌के अधिक निकट ले आती और उनके साथ यथार्थ संबंध स्थापित करती है।

जिन कठिनाइयोंका जिक्र तुम करते हो वे साधनाकी सामान्य कठिनाइयां हैं जो सत्ताके अंगोंके द्वारा विशेषकर प्राणिक अशांति तथा भौतिक तामसिकता द्वारा उत्पन्न की जाती हैं, जो ऐसी क्रियाएं हैं जिन्हें धीरे-धीरे चेतनासे बाहर निकालना होता है।



मैं समझता हूँ कि (विश्व)शक्तियां जो सब संभावनाएं प्रत्येक मनुष्यके सामने उपस्थित करती हैं उनमेंसे वह जीवनका अपना निजी संगठन तैयार करता है अथवा करनेका प्रयास करता है। अधिकांश व्यक्ति निजी व्यक्तित्व (भौतिक स्वरूप) और परिवारका निर्माण करते हैं—उपार्जन करते हैं, परिवारका सृजन करते और उसका भरण-पोषण करते हैं, जिस जीवनोपायका चुनाव करते हैं उसमें, जैसे व्यापारमें, जीविका आदि-आदि में, कोई उच्च पद पानेके लिये प्रयत्न करते हैं या उसे प्राप्त करते हैं। कुछ थोड़ेसे लोग साधारणतया उसके साथ देश या मानवताको भी जोड़ देते हैं। कुछ लोग किसी आदर्शको ग्रहण करते हैं और अपने जीवनके प्रधान अवलंबके रूपमें उसका अनुसरण करते हैं। केवल अत्यन्त धार्मिक लोग ही ऐसे होते हैं जो भगवानको अपने जीवनका केन्द्र बनानेका प्रयास करते हैं—और सो भी, कुछ लोगों के सिवा, अपूर्ण रूपमें ही करते हैं। इनमेंसे कोई भी चीज सुरक्षित या सुनिश्चित नहीं है, यहांतक कि इनमेंसे अंतिम भी तभी सुनिश्चित होती है जब उसका अनुसरण एक प्रकारकी परिपूर्णताके साथ किया जाता है जैसा करनेके लिये बहुत थोड़ेसे लोग ही इच्छुक होते हैं। अज्ञानका जीवन विभिन्न शक्तियोंका खेल है जिसके द्वारा मनुष्य अपना मार्ग खोजनेका प्रयत्न करता है और सब कुछ निर्भर करता है अनुभव द्वारा उस हद तक उसके विकासपर जहां पहुंचनेपर उससे बाहर किसी अन्य चीजमें वर्धित हो सकता है। वह अन्य चीज वास्तवमें है एक नवीन चेतना—चाहे वह पार्थिव जीवनके परेकी कोई नयी चेतना हो या उसके भीतर की कोई नयी चेतना।



परिवार, समाज, देश एक बृहत्तर अहं हैं—वे भगवान् नहीं हैं। मनुष्य उनके लिये काम कर सकता है और केवल तभी यह कह सकता है कि वह भगवान्‌के लिये कार्य कर रहा है जब उसे इस बातका ज्ञान होता है कि उसे उस उद्देश्यके लिये काम करनेके लिये भागवत आदेश प्राप्त हुआ है अथवा उसके अंदरसे भागवती शक्ति कार्य कर रही है। अन्यथा यह केवल मनका एक विचार है जो देश आदिको भगवान्‌के साथ एक समझता है।



प्रत्येक चीज निर्भर करती है उस उद्देश्यपर जिसे तुम अपने सामने रखते हो। यदि किसी मनुष्यके आध्यात्मिक लक्ष्यकी सिद्धिके लिये अज्ञानका साधारण जीवन (संसार) छोड़ देना आवश्यक है तो ऐसा अवश्य करना चाहिये; साधारण जीवनकी मांग आत्माकी मांगके सामने नहीं टिक सकती।

यदि अपने पथके रूपमें केवल कर्मयोगको चुना गया है तो साधक संसारमें बना रह सकता है, पर वह ऐसा स्वतंत्र रूपमें, कर्मका एक क्षेत्र समझकर करेगा न कि किसी बंधनकी भावनाके साथ; क्योंकि योगीको आंतरिक रूपसे सभी बंधनों और आसक्तियोंसे मुक्त होना चाहिए। दूसरी ओर, पारिवारिक जीवन यापन करनेकी कोई आवश्यकता नहीं है—साधक उसे छोड़ सकता है और अपने कर्मक्षेत्रके रूपमें किसी भी प्रकारके कर्मोंको चुन सकता है।

यहां जिस योगका अभ्यास किया जाता है उसका लक्ष्य है एक उच्चतर चेतनामें ऊपर उठ जाना और एकमात्र उच्चतर चेतनाके द्वारा ही जीवन यापन करना, सामान्य उद्देश्योंके लिये नहीं। इसका अर्थ है जीवनका परिवर्तन तथा साथ ही चेतनाका परिवर्तन। परंतु सभी लोग ऐसी स्थितिमें नहीं होते कि वे साधारण जीवनसे संबंध विच्छिन्न कर सकें। इसलिये वे साधनाकी प्रारंभिक अवस्थामें इसे अनुभव तथा आत्मशिक्षणके क्षेत्रके रूपमें स्वीकार करते हैं। परंतु उन्हें इस बातकी सावधानी रखनी चाहिये कि वे इसे केवल अनुभवके क्षेत्रके रूपमें देखें तथा साधारण कामनाओं, आसक्तियों तथा भावनाओंसे जो सामान्यतया इसके साथ-साथ लगी रहती हैं, मुक्त होवें। अन्यथा यह उनके साधना-पथका कांटा और अवरोध बन जाता है। जब मनुष्य परिस्थितियोंसे

बाध्य नहीं होता तो फिर उसे साधारण जीवनको जारी रखनेकी कोई जरूरत नहीं है।

जब प्राणको साधारण इतना और उसकी कामनाओं तथा क्रियाओंसे अपनी प्रेरणा-शक्ति आहरण करनेका इतना अभ्यास होता है कि वह यदि उन्हें खो देता है तो जीवनका समस्त आनंद और आकर्षण और शक्ति खो बैठता है, केवल तभी साधारण कार्यों और साधारण जीवनका त्याग करनेसे मनुष्य तामसिक बन जाता है। परंतु किसी व्यक्तिके सामने यदि आध्यात्मिक लक्ष्य हो, वह आंतरिक जीवन बिताता हो और उसका प्राण-भाग उन्हें स्वीकार करता हो तो उसका प्राण अपनी शक्तियाँ भीतरसे खींचता है और फिर उस व्यक्तिके तामसिक होनेका कोई खतरा नहीं होता।



ज्योतिकी खोज करने या योगाभ्यास करनेके लिये साधारण जीवनका त्याग करना सर्वथा आवश्यक नहीं है। साधारणतया ऐसा वे लोग करते हैं जो सुस्पष्ट विभाजन करना चाहते हैं, विशुद्ध धार्मिक जीवन अथवा नितांत आंतरिक और आध्यात्मिक जीवन बिताना चाहते है, संपूर्ण रूपसे संसारका त्याग करना और मानव-जन्मको बंद करके तथा किसी उच्चतर स्थितिमें अथवा परात्पर दिव्य सद्वस्तुमें प्रवेश करके विश्व-सत्तासे प्रयाण कर जाना चाहते हैं। अन्यथा यह केवल तभी आवश्यक होता है जबकि आंतरिक प्रेरणाका दबाव इतना अधिक हो जाता है कि साधारण जीवनका अनुसरण करना प्रधान आध्यात्मिक उद्देश्यकी सिद्धिके साथ अब बिल्कुल मेल नहीं खाता। ऐसी स्थिति जबतक रहती है तबतक एक ऐसी शक्तिकी आवश्यकता होती है जिससे आंतरिक एकाकीपनका अभ्यास किया जा सके, स्वयं अपने अंदर एकांतवास करने तथा किसी भी समय आवश्यक आध्यात्मिक उद्देश्यपर एकाग्र होनेकी शक्ति प्राप्त हो सके। इसके साथ-साथ एक ऐसी भी शक्ति होनी चाहिये जिससे एक नवीन आंतर भावके साथ साधारण बाह्य जीवनके साथ व्यवहार किया जा सके एवं फिर उस जीवनकी घटनाओंको प्रकृतिके आंतरिक परिवर्तन तथा आध्यात्मिक अनुभवमें वर्द्धित होनेका साधन बनाया जा सके।



तुम्हारे मित्रका जहाँतक प्रश्न है, यह कहना संभव नहीं है कि वह यहाँ आ सकती है; क्योंकि वह बहुतसी बातोंपर निर्भर करता है जो यहाँ सुस्पष्ट रूपमें प्रकट नहीं हैं। सबसे पहले, इस पथमें प्रवेश करना उसके लिये अवश्यंभावी है अथवा यह देखना आवश्यक है कि इस पथके लिये उसकी पुकार हुई है। उसके बाद यह प्रश्न है कि आया वह यहाँ के आश्रम-जीवनके लिये अभिप्रेत है या नहीं। पारिवारिक कर्त्तव्योंके विषयमें जो प्रश्न है, उसका उत्तर इस प्रकार दिया जा सकता है—पारिवारिक कर्तव्य तबतक बने रहते हैं जबतक मनुष्य गृहस्थकी सामान्य चेतनामें निवास करता है; यदि आध्यात्मिक जीवनकी पुकार आ जाय तो उन्हें रखना चाहिये या नहीं, यह अंशतः उस योगमार्गपर निर्भर करता है जिसका अभ्यास किया जाता है और अंशतः उस मनुष्यकी अपनी आध्यात्मिक आवश्यकतापर निर्भर करता है। ऐसे बहुतसे लोग होते हैं जो आंतरिक रूपसे आध्यात्मिक जीवन यापन करते हैं और पारिवारिक कर्तव्योंको बनाये रखते हैं, पर सामाजिक कर्तव्योंके रूपमें नहीं बल्कि कर्मयोगके अभ्यासके लिये एक क्षेत्रके रूपमें बनाये रखते हैं; दूसरे लोग आध्यात्मिक पुकार या धारा का अनुसरण करनेके लिये सब कुछ त्याग देते हैं और वे ठीक ही करते हैं यदि, जिस योगका वे अभ्यास करते हैं उसके लिये, वह आवश्यक हो अथवा यह उनके अंतरस्थ आत्माकी अनिवार्य मांग हो।



मुझे प्रसंग याद नहीं है; पर मैं समझता हूँ कि उसका मतलब यह है कि जब मनुष्यको निम्नतर धर्मसे बचना होता है तो उसे बराबर उसका त्याग करना पड़ता है जिससे कि वह महत्तर धर्मपर पहुँच सके, जैसे सामाजिक कर्त्तव्य, ऋण-शोध, परिवार-पालन, देशसेवामें सहायता आदि-आदि। जो मनुष्य आध्यात्मिक जीवनकी ओर मुड़ता है उसे अक्सर इन सब चीजोंको पीछे छोड़ देना होता है और बहुतसे लोग उसके अधर्मके लिये उसकी निंदा करते हैं। परंतु वह यदि यह अधर्म न करता तो वह सदा निम्नतर जीवनसे बंधा रहता—क्योंकि सर्वदा ही कोई-न-कोई कर्त्तव्य करनेको रहता ही है—और आध्यात्मिक धर्म ग्रहण न कर पाता अथवा केवल तभी कर पाता जब वह वृद्ध हो जाता और उसकी शक्तियाँ क्षीण हो जातीं।



तुम उसका फोटो मँगा सकते हो—उससे यह देखनेमें मदद मिलेगी कि उसका स्वभाव किस प्रकारका है। परंतु अपनी सीमासे बाहर जाकर उसे प्रोत्साहित करनेकी कोई आवश्यकता नहीं; उसके पत्रसे ऐसा नहीं लगता कि वह आध्यात्मिक जीवनके लिये बिलकुल तैयार हो गया है। जीवनसंबंधी उसके विचार अभी आध्यात्मिककी अपेक्षा कहीं अधिक नैतिक और परोपकारवादी हैं; और इसके पीछे है पारिवारिक जीवनके प्रति आसक्ति। वह जो भगवान्‌की चाहकी बात करता है उसकी प्रेरणा यदि मानसिक झुकावसे कुछ अधिक है जैसाकि एक अस्पष्ट हृदयावेगद्वारा सूचित होता है, यदि वास्तवमें उसके अंदर कोई चैत्य-वस्तु है तो वह अपने समयपर प्रकट होगी; उस चीजको प्रोत्साहित करनेकी कोई जरूरत नहीं; असामयिक प्रोत्साहन उसे किसी ऐसी वस्तुकी ओर ले जा सकता है जिसके योग्य अभी वह न हो।



योगका सच्चा लक्ष्य लोकोपकार नहीं है, बल्कि भगवान्‌को पाना है, भागवत चेतनामें प्रवेश करना और भगवान्‌के अंदर अपने सच्चे पुरुषको (जो अहं नहीं है) प्राप्त करना है।

"रिपुओं" को दमनके द्वारा नहीं जीता जा सकता (यदि यह कुछ अंशमें सफल भी हो जाता है तो यह उन्हें दबाये रखता है, पर उन्हें विनष्ट नहीं करता); दबाव बहुधा उनकी शक्तिको केवल बढ़ाता ही है। सच पूछा जाय तो जब दिव्य चेतना अहंमय प्रकृतिमें प्रवेश कर उसे बदल देगी केवल तभी इस शुद्धिकरणके द्वारा यह कार्य (रिपुओंको जीतना) संपन्न किया जा सकता है।

यदि वह अपनी सत्ताके गहराईसे अपने-आपको दे दे और पथपर पूर्णतः दृढ़ बना रहे, केवल तभी वह सफल हो सकता है।



मनुष्यजातिके लिये उपयोगी होनेका विचार वह पुरानी भ्रांति है जो पश्चिमसे आये हुए पुराने विचारोंके कारण उत्पन्न हुई है। स्पष्ट ही, मनुष्य जातिके लिये उपयोगी होनेके लिये योगकी कोई आवश्यकता नहीं है; प्रत्येक व्यक्ति जो मानवजीवन यापन करता है वह एक-न-एक रूपमें मनुष्य जातिके लिये उपयोगी होता ही है।

योग भगवान्‌की ओर प्रयुक्त होता है न कि मनुष्यकी ओर। यदि कोई दिव्य अतिमानसिक चेतना और शक्ति नीचे उतारी जा सके और भौतिक जगत्‌में स्थापित की जा सके तो स्पष्ट ही उसका मतलब होगा मनुष्य जाति और उसके जीवनके सहित समस्त पृथ्वीके लिये एक महान् परिवर्तन। परंतु मनुष्य जातिपर जो प्रभाव पड़ेगा वह उस परिवर्तनका केवल एक परिणाम होगा; वह साधनाका उद्देश्य नहीं हो सकता। साधनाका उद्देश्य केवल दिव्य चेतनामें निवास करना और जीवनमें उसे अभिव्यक्त करना ही हो सकता है।



विवेकानंदके लेखके उद्धरणका[1] जहाँतक प्रश्न है, मैं वहाँ जिस बातको महत्त्व देता हूँ वह मुझे मानवतावादी नहीं प्रतीत होती। तुम देखोगे कि मैं वहाँ विवेकानंदके उद्धृत पृष्ठके अंतिम वाक्योंपर जोर देता हूँ, अकिंचन और पापी और अपराधीरूपी भगवान् संबंधी शब्दोंपर नहीं। प्रश्न है संसारमें विद्यमान भगवान्‌के विषयमें, सर्वके, गीताके 'सर्वभूतानि' के बारेमें। उसका मतलब महज मानवता नहीं है, उससे भी कम, केवल दरिद्र या दुरात्मा नहीं है। निश्चय ही समृद्ध और सज्जन भी सर्वके

---

1. "मैं अपनी मुक्तिकी समस्त इच्छाको खो बैठा हूँ, मैं बार-बार जन्म लूं और हजारों विपदाएं झेलूं जिसमें कि मैं केवल उस ईश्वरकी पूजा कर सकूं जो है, केवल उस भगवान्‌की पूजा कर सकूं जिसमें मेरा विश्वास है, जो सभी आत्माओंका योग-फल है—और प्रधानतः, दुर्जन-रूप मेरा ईश्वर, दीन-दुखी-रूप मेरा ईश्वर, सभी जातियों और सभी योनियोंमें विद्यमान अकिंचन-रूप ईश्वर मेरी पूजाका विशेष पात्र है।। जो भगवान् उच्च और नीच, संत और पापी, ईश्वर और कीट है उसकी पूजा करो, दृश्य, ज्ञेय, यथार्थ, सर्वव्यापीकी पूजा करो; अन्य सभी मूर्तियोंको तोड़ दो। जिसके अंदर न तो भूत जीवन है और न भावी जन्म, न मृत्यु, न जाना और न आना, जिसके अंदर हम सर्वदा एक रहे हैं और सर्वदा रहेंगे, बस उसकी पूजा करो; अन्य सभी मूर्तियोंको तोड़ डालो।" (विवेकानन्दके एक पत्रसे; श्री अरविंद द्वारा योगसमन्वय पुस्तकमें उद्धृत)

अंग हैं और वे लोग भी हैं जो न भले हैं न बुरे, न धनी न गरीब। फिर वहाँ (मेरा मतलब अपने निजी टिप्पणीसे है) लोकोपकारी सेवाका भी कोई प्रश्न नहीं है; उसी तरह 'दरिद्रकी सेवा' का भी कोई प्रकरण नही है। पहले मेरा दृष्टिकोण परोपकारवादी नहीं वल्कि मानवतावादी था—और इसका कुछ भाव 'आर्य'में मेरी अभिव्यंजनामें जुड़ा हुआ होगा। परंतु मैंने अब अपना दृष्टिकोण वदलकर "हमारा योग मानवताके लिये है" की जगह "हमारा योग भगवान्के लिये है" कर दिया है। भगवान्के अंदर न केवल विश्वातीत वरन् वैश्व और व्यक्ति भी सम्मिलित हैं—केवल निर्वाण या परास्थिति ही नहीं वल्कि जीवन और सर्व भी अंतर्मुक्त हैं। मैं वस इसी वातपर सर्वत्र जोर देता हूँ।



मुझे याद नहीं कि विवेकानंदके वारेमें मैंने क्या कहा है। यदि मैंने यह कहा है कि वह एक महान् वैदांतिक थे तो यह विलकुल सही है। इसका तात्पर्य यह नहीं है कि उन्होंने जो कुछ कहा या किया था उसे उच्चतम सत्य या सर्वोत्तम सत्यके रूपमें स्वीकार कर लेना होगा। उनका सेवाका आदर्श उनके स्वभावकी एक आवश्यकता था और उससे उन्हें सहायता मिली होगी—परंतु इससे यह निष्कर्ष नही निकलता कि उसे एक सार्वभौम आध्यात्मिक आवश्यकता या आदर्शके रूपमें स्वीकार करना होगा। इस वातकी घोषणा करते समय वह रामकृष्णके मुखपात्र थे या नहीं, यह मैं निर्णय नहीं दे सकता। निश्चित रूपसे ऐसा प्रतीत होता है कि रामकृष्णने उनसे यह आशा की थी कि वह एक महान् शक्ति वनें जो विश्वमानसको आध्यात्मिकताकी दिशामें मोड़ दे और यह माना जा सकता है कि वह कार्य गुरुसे शिष्यको प्राप्त हुआ। उसके कार्यके व्योरेकी वात अलग है। जहाँतक अंधे मनुष्यकी तरह आगे वढ़नेकी वात है, वह एक ऐसी भावना है जो उस समय आसानीसे आती है जव कोई अपने मनसे महत्तर शक्तिके द्वारा किसी वृहत्तर कर्ममें प्रवृत्त किया जाता है। क्योंकि उस समय मन वौद्धिक रूपसे उन सव चीजोंको नहीं समझता जिन्हें करनेके लिये वह प्रवृत्त किया जाता है और उस समय उस विषयमें संदेह या विस्मयकी घड़ियाँ आ सकती हैं—फिर भी वह आगे वढ़नेको विवश होता है। वैदांतिक (अद्वैत) सिद्धि निश्चल-नीरव स्थाणु या केवल ब्रह्मकी सिद्धि है—किसीको वह

सिद्धि प्राप्त हो सकती है और फिर भी उसे अपने कार्यके तात्पर्यके विषयमें वही निस्संदिग्ध, सुस्पष्ट ज्ञान नहीं भी हो सकता—क्योंकि अद्वैतवादीके लिये उसके कार्यके ऊपर मायाकी छाया पड़ी होती है।



आज मेरे सिरपर पत्रोंका कंचनजंघा पहाड़ आ गिरा है, इसलिये मैं मानवता और उसकी प्रगतिके विषयमें कुछ न लिख सका। क्या लुइस डिकिन्सनके पिछले दिनोंके विचार एक निराशापूर्ण आदर्शवादकी रुग्ण आकृतिसे विवर्ण नहीं हो गये थे? मैं स्वयं मानवता और वह जो कुछ है उसके प्रति कोई अतिरंजित आदर-भाव नहीं रखता—परंतु यह कहना कि बिलकुल ही कोई प्रगति नहीं हुई है उतना ही अधिक अतिरंजित निराशावाद है जितना कि प्रगतिशील मानवताके विषयमें उन्नीसवीं शताब्दीका आनंदपूर्ण मंत्रोच्चार अतिरंजित आशावाद था। जो अध्याय तुमने मुझे भेजा है उसे पढ़नेका प्रयत्न करूँगा, यद्यपि कैसे मैं इन चीजोंके लिये समय निकालनेका प्रबंध करता हूं यह एक स्थायी चमत्कार है और भागवत अनुकंपाका एक अद्‌भुत प्रमाण।

हाँ, जो प्रगति तुम कर रहे हो वह सच्चे प्रकारकी है,—उसके चिह्न सुस्पष्ट हैं। और आखिरकार, मानवताको प्रगतिके पथपर ले जानेका सर्वोत्तम मार्ग है स्वयं अपने आगे बढ़ना,—यह चाहे व्यष्टिवादी या अहंवादी प्रतीत हो सकता है, पर यह वैसा है नहीं; यह महज साधारण समझकी बात है। जैसा कि गीता कहती है—यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जनाः, जैसा श्रेष्ठजन आचरण करते हैं उसीका अनुसरण अन्य लोग करते हैं।

मनुष्योंके अंदर सदा ही कुछ असंस्कृत भाग होते हैं जो पीछेकी ओर खींचते हैं और भला कौन अपनी सत्तामें विभक्त नहीं होता? परंतु सबसे उत्तम है अपने अंतरात्मापर, अपने अंदरके भागवत स्फुलिंगपर पूरा विश्वास बनाये रखना और उसका तबतक पोषण करते रहना जबतक कि वह एक समर्थ अग्निशिखामें परिणत न हो जाय।



इन सब भावनाओंका पोषण करनेसे कोई लाभ नहीं है। मनुष्यको बिना संतप्त हुए यह देखना होगा कि संसार क्या है; क्योंकि संताप

आता है स्वयं अपने ही अहंसे और उसकी निराशापूर्ण आशाओंसे। यदि कोई भगवान्‌की विजय चाहता हो तो उसे पहले स्वयं अपने अंदर उस विजयको हासिल करना चाहिये।



स्वयं अपने आध्यात्मिक विकास और अनुभूतिपर सबसे अधिक एकाग्र होना साधककी पहली आवश्यकता है—दूसरोंको सहायता देनेके लिये व्यग्र होना इस आंतरिक कार्यसे दूर हटा ले जाता है। आत्मामें वर्द्धित होना ही वह सबसे बड़ी सहायता है जो मनुष्य दूसरोंको दे सकता है, क्योंकि उस हालतमें स्वभावतः ही कुछ ऐसी चीज दूसरोंकी ओर प्रवाहित होती है जो उन्हें सहायता प्रदान करती है।



कर्मके ऊपर इतना सारा आग्रह निरर्थक है यदि मनुष्यके पास वह ज्योति ही न हो जिससे कि कार्य किया जाना चाहिये। "योगको अपने अंदर जीवनको सम्मिलित करना चाहिये, उसका बहिष्कार नही करना चाहिये"—इस बातका अर्थ यह नही है कि जीवन अभी जैसा है और इसका जो लड़खड़ाता ज्ञान और दुःख-दैन्य है तथा जिस मानवीय इच्छा, तर्क-बुद्धि, प्राणावेग और सहजप्रवृत्तिको वह प्रकट करता है उस सबके साथ उसको स्वीकार करनेके लिये हम बाध्य हैं। कर्मके समर्थकगण ऐसा समझते हैं कि मानवीय बुद्धि और शक्तिके बलपर सर्वदा तावड़तोड़ कार्य करते रहनेसे सब कुछ ठीक हो सकता है। संसारकी जो वर्तमान अवस्था है और जो बुद्धिके विकासस्वरूप तथा शक्तिके एक विशाल उत्पादनके कारण, जिसकी इतिहासमें कोई तुलना नहीं पायी जाती, उत्पन्न हुई है वह उस भ्रम-भ्रांतिकी शून्यताका एक असाधारण प्रमाण है, जिसके अधीन वे प्रयास करते हैं। योगका मुख्य सिद्धांत यह है कि महज चेतनाका परिवर्तन होनेपर ही जीवनका सच्चा आधार प्राप्त किया जा सकता है; भीतरसे बाहरकी ओर ही वास्तवमें उसका नियम है। पर भीतरका अर्थ ऊपरी तलके पीछे बस चौथाई इंच नहीं है। हमें अपनी सत्ताकी गहराईमें जाना होगा और अपने अंतरात्माको, आत्माको, अपने अंदर विद्यमान भागवत सद्वस्तुको प्राप्त करना होगा और केवल तभी हमारा जीवन हम जो कुछ बन सकते

हैं उसकी सच्ची अभिव्यक्ति बन सकता है और हम जो कुछ अपर्याप्त और अपूर्ण थे उसका अब अंध और निरंतर पुनरावर्त्तित धूमिल कलंक-चिह्न नहीं रह सकता। चुनाव बस यह करना है कि आया हम उसी पुरानी गड़बड़घोटालेकी स्थितिमें बने रहें और किसी खोजमें लड़खड़ानेकी आशामें अंधकारमें टटोलते फिरें अथवा पीछे हटकर अपने भीतर ज्योतिकी तबतक खोज करते रहें जबतक कि हम अपने भीतर और बाहर भगवान्को खोज न लें और उन्हें मूर्त्तिमान करनेमें समर्थ न हों।



इस बातमें मुझे कभी बहुत अधिक विश्वास नहीं था कि 'अ'का योगकी ओर मुड़ना उसके कर्मण्यतावादसे कुछ अधिक अच्छी चीज है। उसके लिये दो प्रबल बंधन हैं जो उसे रोकते हैं—एक तो प्राणमें महत्त्वाकांक्षा और कर्म करने, नेतृत्व करनेकी चाह, और दूसरा, मनमें एक प्रकारका मानसिक आदर्शवाद। ये दोनों चीजें भ्रम-भ्रांतिकी महान् पोषक हैं। आध्यात्मिक मार्गमें कुछ हदतक यथार्थवादकी आवश्यकता होती है—मनुष्यको जो वस्तुएँ और स्थितियाँ हैं उनका यथार्थ मूल्य देखना होता है जो कि बहुत कम ही होता है सिवा इसके कि वे क्रम-विकासकी सीढ़ियां होती हैं। फिर मनुष्य चाहे तो विश्रांति और मुक्तिके आध्यात्मिक निष्क्रिय पथका अथवा जीवनमें उतारने योग्य किसी महत्तर सत्यके आध्यात्मिक सक्रिय पथका अनुसरण कर सकता है।



अब तुम्हारे प्रश्नपर आवें—निस्संदेह, टैगोर (रवीन्द्रनाथ) एक ऐसे युगके व्यक्ति थे जिसे अपने आदर्शोंमें विश्वास था और जिसकी अस्वीकृतियांतक सृजनात्मिका स्वीकृतियाँ थीं। इससे एक बहुत बड़ा अंतर हो जाता है। उनके पिछले दिनोंके विकासके विषयमें जो तुम्हारी प्रतिकूल आलोचनाएँ हैं वे सही हो भी सकतीं या नहीं भी हो सकतीं, पर यह मिलावट भी उन दिनोंका प्रधान स्वर थी और वह किसी नवीन और सत्य वस्तुके अंदर एक मिलावटकी यथार्थ आशाको अभिव्यक्त करती थी और इसलिये वह सृजनक्षम हो सकी थी। परंतु आज वह सारा आदर्शवाद एक महान् विपरीत घटनाके घटित होनेके कारण चूर्ण-विचूर्ण हो गया है और प्रत्येक व्यक्ति उसके दोषोंको ही

प्रकट करनेमें व्यस्त है—पर यह कोई नहीं जानता कि उसके स्थानमें कौनसी चीज बैठायी जाय। एक ओर तो है संशयवाद और विभिन्न नारोंका सम्मिश्रण, "हेल-हिटलर", फासिस्ट सैल्यूट, पंचवर्षीय योजना, प्रत्येक व्यक्तिको ठोक-पीटकर एक ही बेढंगी आकृतिमें ढाल देना और सभी आदर्शोंको भ्रांतिहीन ढंगसे अस्वीकार कर देना और दूसरी ओर है दलदलमें कोई सुदृढ़ आधार पानेकी आशामें उसके अंदर "मेरी-आंखें-बंद और सबकी आंखें बंद" जैसे अंध भावसे कूद पड़ना, परंतु ये चीजें हमें बहुत दूरतक नहीं ले जायेंगी। और इसके सिवा और क्या है? जबतक नवीन आध्यात्मिक मूल्योंको नहीं ढूंढ़ निकाला जाता तबतक कोई महान् स्थायी सृष्टि करना संभव नहीं।



यह विचित्र बात है कि ये बुद्धिमान् लोग सृजनकी बातें तो करते जाते हैं पर वे समर्थन करते हैं उस सबका जो शून्यमें भूमिसात् होता जा रहा है और वे उसे बचानेके लिये एक अंगुली भी उठानेमें असमर्थ हैं। भला वे क्या सृजन करने जा रहे हैं और किस उपादान द्रव्यसे? इसके अलावा, भला इस सबका क्या उपयोग है यदि कोई हिटलर अपनी गदा लेकर या कोई मुस्सोलिनी अपना रेंडीका तेल लेकर किसी समय आ जाय और सबको धो-बहा दे या पीटकर धूलमें मिला दे?



हाँ, पर मानव-बुद्धि एक बहुत सुविधाजनक और लचीला यंत्र है और वह अभिरुचि, पक्षपात और पूर्वाग्रहद्वारा अपने लिये निर्मित घेरेके अंदर कार्य करती है। राजनीतिक लोग गलत रूपमें या असच्चाईके साथ तर्क करते हैं और अपने तर्कके परिणामोंको दूसरोंपर लादनेकी शक्ति रखते हैं जिसमें कि सांसारिक व्यापारोंका एक घपला तैयार हो जाता है; बुद्धिमान लोग तर्क करते हैं और उस चीजको दिखाते हैं जिसे उनका मन उन्हें दिखाता है और जो सर्वदा सत्य होनेसे बहुत दूर होती है, क्योंकि वह साधारणतया बौद्धिक पसंदगी-नापसंदगीके द्वारा तथा मनके स्वाभाविक शिक्षणद्वारा अंकित दृष्टिकोणके द्वारा निर्णीत होती है। परंतु वे जब देखते हैं तब भी उनमें उसे लागू करनेकी शक्ति

नहीं होती। अतएव अंधशक्ति और देखनेवाली असमर्थताके बीच संसार झूलता रहता है और मानसिक अस्तव्यस्तताके भीतरसे अपनी भवितव्यताको प्राप्त करता है।



तुम इस प्रकार लिख रहे हो मानो यूरोपमें ज्योतिकी शक्तियों और अंधकारकी शक्तियोंके बीच संघर्ष (देवासुर-संग्राम) चल रहा हो—पर जैसा महायुद्धके समय था वैसा अब यह बिलकुल नहीं है। यह तो दो प्रकारके अज्ञानके बीच संघर्ष है। हमारा उद्देश्य है एक उच्चतर सत्यको नीचे उतार लाना, परंतु वह सत्य ऐसा होना चाहिये जो अपने निजी बलपर बने रहनेमें समर्थ हो और अज्ञानकी किन्हीं एक या दूसरे प्रकारकी शक्तियोंकी विजयपर निर्भर न करे। यही कारण है कि हमें राजनीतिक या सामाजिक विवादों और संघर्षोंमें शामिल नहीं होना है, ऐसा करनेपर हमारा प्रयास महज निम्नतर स्तरपर ही बना रहेगा और सत्यका अवतरण रुक जायगा जो इनमेंसे कोई चीज नहीं है, बल्कि उसका विधान और आधार बिलकुल भिन्न प्रकारका है। तुम कहते हो कि ब्रह्मतेजको क्षात्रतेज पराभूत कर रहा है, पर यह कहाँ घटित हो रहा है? युद्ध करनेवाला कोई भी दल इनमेंसे किसी चीजको अभिव्यक्त नहीं करता।

4. तर्कबुद्धि, विज्ञान और योग

यूरोपीय आध्यात्मिक चिंतन—यहाँतक कि उन विचारकोंमें भी जो ईश्वर अथवा परमात्म-तत्त्वके अस्तित्व और स्वभावको सिद्ध करने या समझानेकी चेष्टा करते हैं—अपनी पद्धति और परिणाममें बुद्धिके परे नहीं जाता। परंतु परात्पर सत्यको जाननेमें बुद्धि असमर्थ है; वह केवल सत्यकी खोजमें और स्वयं उस वस्तुको नहीं बल्कि उसके आंशिक रूपोंको पकड़ने और उन्हें एक साथ जोड़नेकी कोशिश करनेमें संलग्न रह सकती है। मन सत्यको नहीं प्राप्त कर सकता; वह केवल किसी निर्मित मूर्त्तिको बना सकता है जो सत्यको प्रकट करनेकी चेष्टा करती है अथवा वह मूर्त्तियोंका एक समूह तैयार कर सकता है। इसीलिये यूरोपियन चिंतनके अंतमें बराबर ही अज्ञेयवादका होना अनिवार्य है, वह चाहे व्यक्त हो या अव्यक्त। बुद्धि यदि सच्चाईके साथ अपने अंतिम छोरतक चली जाय तो उसे वापस आना पड़ता और यह विवरण देना पड़ता है, "मैं जान नहीं सकती; कोई चीज, कोई चरम सद्वस्तु परे है, अथवा कम-से-कम मुझे ऐसा प्रतीत होता है कि हो सकती है अथवा यहाँतक कि अवश्य है ही, पर उसके सत्य-स्वरूपके विषयमें मैं केवल कल्पना कर सकती हूँ; वह या तो अज्ञेय है अथवा मैं उसे नहीं जान सकती।" अथवा, उसे यदि अपने रास्तेपर उस चीजसे कोई प्रकाश मिल गया हो जो उससे परे है तो वह यह भी कह सकती है: "संभवतः मनसे परे कोई चेतना है, क्योंकि ऐसा लगता है कि उसकी झांकियाँ मुझे मिल रही हैं और यहाँतक कि उससे कुछ सूचनाएँ भी मिल रही हैं। यदि वह परेके सत्यके संपर्कमें हो या यदि वह स्वयं ही परेकी चेतना हो और तुम वहाँतक पहुँचनेका कोई मार्ग ढूंढ़ सको तो वह 'कोई चीज' जानी जा सकती है, पर अन्यथा नहीं।"

केवल बुद्धिके द्वारा की जानेवाली परात्पर सत्यकी कोई भी खोज या तो इस प्रकारके अज्ञेयवादमें समाप्त होगी अथवा किसी बौद्धिक दर्शन या मनोनिर्मित सिद्धांतमें। इस तरहके सैकड़ों दर्शन और सिद्धांत बने हैं और सैकड़ों और बन सकते हैं, पर इनमेंसे कोई भी अंतिम नहीं हो सकता। प्रत्येकका मनके लिये अपना एक मूल्य हो सकता है

और अपने विपरीत निष्कर्षोंके साथ विभिन्न दर्शन समान शक्ति और योग्यतावाले बुद्धिमानोंको एक समान आकर्षक लग सकते हैं। मनन-चिंतनका यह सारा परिश्रम मानव-मनको शिक्षित करने तथा परात्पर और चरम किसी वस्तुके विचारको, जिसकी ओर उसे मुड़ना चाहिये, उसके सम्मुख रखनेमें सहायता करनेके लिये उपयोगी होता है। परंतु बौद्धिक तर्क केवल अस्पष्ट रूपमें उसकी ओर संकेत कर सकता या अंधवत् उसे अनुभव कर सकता या यहाँ उसकी अभिव्यक्तिके आंशिक और यहांतक कि विपरीत रूपोंको सूचित करनेकी कोशिश कर सकता है। वह न तो उसके अंदर प्रविष्ट हो सकता है और न उसे जान सकता है। जबतक हम केवल बुद्धिके राज्यमें रहते हैं, तबतक केवल जो कुछ सोचा-विचारा और खोजा जा चुका है उसपर निष्पक्ष चिंतन करना, विचारोंको, सभी संभव विचारोंको उठाना और किसी-न-किसी दार्शनिक विश्वास, मत या निष्कर्षकी रचना करना भर संभव हो सकता है। सत्यकी इस प्रकार निष्पक्ष खोज करना ही किसी भी उदार और नमनीय बुद्धिमानके लिये एकमात्र संभव मनोभाव हो सकता है। पर इस प्रकार जिस किसी निर्णयपर पहुँचा जायगा वह केवल काल्पनिक होगा; उसका कोई आध्यात्मिक मूल्य नहीं हो सकता; वह ऐसा निर्णयात्मक अनुभव या आध्यात्मिक दृढ़ निश्चय नहीं प्रदान करेगा जिसकी खोज अंतरात्मा करता है। यदि बुद्धि ही हमारी सर्वोच्च संभव साधन हो और अतिभौतिक सत्यतक पहुँचनेका कोई दूसरा साधन न हो तो एक विशाल और सुचिंतित अज्ञेयवाद ही हमारा अंतिम मनोभाव होगा। अभिव्यक्तिके अंदरकी वस्तुएँ कुछ हदतक जानी जा सकती हैं, पर परात्पर और वह सब जो मनसे परे है, सर्वदा अज्ञेय ही बने रहेंगे।

यदि मनसे परे कोई महत्तर चेतना हो और हम उस चेतनातक पहुँच सकते हों तो केवल तभी हम परम सद्वस्तुको जान सकते और उसमें प्रवेश कर सकते हैं। यदि हम इस विषयमें बौद्धिक कल्पना-जल्पना, युक्तियुक्त तर्क-वितर्क करते रहें कि आया ऐसी कोई महत्तर चेतना है या नहीं तो ये चीजें हमें बहुत दूरतक नहीं ले जा सकतीं। वास्तवमें हमें आवश्यकता इस बातकी है कि हम उसका अनुभव करनेका कोई मार्ग पा जायं, वहांतक पहुँच जायं, उसमें प्रवेश कर जायं और उसमें निवास करने लगें। यदि हम उसे पा सकें तो अनिवार्यतः बौद्धिक कल्पना-जल्पना और तर्क-वितर्क अत्यंत गौण स्थानमें जा गिरेंगे और

यहांतक कि अपने अस्तित्वका कारण भी खो बैठेंगे। दर्शन, सत्यकी बौद्धिक अभिव्यंजना बनी तो रह सकती है, पर मुख्यतया इस महत्तर खोजका वर्णन करनेके एक उपायके रूपमें ही बनी रहेगी और उसका उतना ही सार-तत्व बना रहेगा जितना कि मन-बुद्धिमें अभी भी रहनेवाले लोगोंके सम्मुख बौद्धिक भाषामें व्यक्त किया जा सकेगा।

अब तुम देखोगे कि ब्रैडले और दूसरे उन पाश्चात्य चिंतकोंके विषयमें जो तुम्हारा प्रश्न है, जो बौद्धिक चिन्तन-मननके द्वारा किसी "अन्य परात्पर विचार" की भावनातक पहुँचे हैं या जिन्होंने ब्रैडलेकी तरह, उस विषयमें अपने निष्कर्षोंको उन शब्दोंमें अभिव्यक्त करनेकी चेष्टा की है जो 'आर्य' में आये हुए किन्हीं अभिव्यंजनाओंकी याद दिलाते हैं, उस प्रश्नका उत्तर भी इस बातसे हो जाता है। वह विचार अपने-आपमें नया नहीं है; वह उतना ही पुराना है जितने कि वेद। यही बात दूसरे रूपोंमें बौद्ध-धर्म, ईसाई ज्ञेयवाद, सूफी धर्ममें दुहरायी गयी थी। मूल रूपमें उसका आविष्कार बौद्धिक कल्पनाद्वारा नहीं, बल्कि आंतरिक साधनाका अनुसरण करनेवाले योगियोंद्वारा हुआ था। जब ईसासे पूर्व सातवी और पांचवीं शताब्दीके बीच किसी समय पूर्व और पश्चिम दोनों भागोंमें लोगोंने ज्ञानको बौद्धिक रूप देना प्रारंभ किया, यह सत्य पूर्वमें बना रहा; पश्चिममें जहाँ लोगोंने बुद्धिको ही सत्यकी खोज करनेका एकमात्र या उच्चतम साधन मानना आरंभ कर दिया, यह ज्ञान क्रमशः लुप्त होने लगा। परंतु फिर भी यह वहाँ भी निरंतर वापस आनेकी कोशिश करता रहा है; नवप्लेटोवादी इसे वापस ले आये थे, और अब, ऐसा लगता है, नव-हेगेलवादी तथा दूसरे लोग (उदाहरणार्थ, रूसी आउसपेन्सकी और एक-दो जर्मन विचारक, मेरी समझमें) उस सत्यतक पहुँचते हुए प्रतीत होते हैं। परंतु फिर भी कुछ अन्तर अवश्य है।

पूर्वमें, विशेषकर भारतमें, तत्वज्ञानी चितकोंने, पश्चिमकी तरह ही, बुद्धिके द्वारा उच्चतम सत्यके स्वरूपको निर्धारित करनेका प्रयास किया है। परंतु, सबसे पहले, उन्होंने मानसिक चिंतनको सत्यकी खोजके यंत्रके रूपमें सबसे ऊंचा स्थान नहीं दिया है, बल्कि केवल गौण स्थान प्रदान किया है। प्रथम स्थान सर्वदा ही आध्यात्मिक अंतर्बोध, ज्ञानप्रकाश और आध्यात्मिक अनुभवको दिया गया है; कोई बौद्धिक निर्णय, जो इस सर्वोच्च प्रमाणका खंडन करता है, अमान्य गण्य होता है। दूसरे,

प्रत्येक दर्शनने अपनेको चेतनाकी चरम स्थितितक पहुँचानेवाले एक व्यावहारिक पथसे सज्जित कर रखा है जिसमें कि चिंतनके द्वारा भी यदि कोई आरंभ करे तो भी उसका लक्ष्य मानसिक चिंतनसे परेकी किसी चेतनातक पहुँचना ही होता है। प्रत्येक दर्शनका संस्थापक (वैसे ही वे लोग भी जिन्होंने उनके कार्यको या पंथको जारी रखा) एक तात्त्विक विवेचकके साथ-साथ एक योगी भी रहा है। जो लोग केवल दार्शनिक मनीषी हुए, वे अपने पांडित्यके लिये आदृत तो हुए पर कभी सत्यान्वेषकोंकी पंक्तिमें नहीं बैठाये गये। और जिन दर्शनोंमें आध्यात्मिक अनुभवके पर्याप्त रूपसे शक्तिशाली साधनोंका अभाव रहा, वे मर गये और भूतकालकी वस्तुएँ बन गये, क्योंकि आध्यात्मिक अन्वेषण और सिद्धिके लिये वे सक्रिय और समर्थ नहीं थे।

पश्चिममें ठीक इसके विपरीत घटित हुआ। विचारशक्ति, बुद्धि, युक्तिसंगत तर्क अधिकाधिक उच्चतम साधन और यहाँतक कि उच्चतम लक्ष्य माने जाने लगे; दर्शनमें चिंतन ही एकमात्र उद्देश्य रह गया। वहाँ यह माना जाने लगा कि केवल बौद्धिक चिंतन और कल्पनाके द्वारा ही सत्यको खोजा जा सकता है; यहाँतक कि आध्यात्मिक अनुभवको भी बुद्धिकी कसौटीपर चढ़नेके लिये पुकारा गया, यदि उसे मान्य स्वीकृत होना हो—भारतीय स्थितिसे ठीक उलटी यह बात है। जो लोग यह समझते हैं कि मानसिक विचारको अतिक्रमण करना होगा, और जो किसी अतिमानसिक "अन्य वस्तु" को स्वीकार करते हैं, वे भी इस भावनासे मुक्त नहीं प्रतीत होते कि मानसिक चिंतनके द्वारा ही, स्वयं मनको उन्नत तथा रूपांतरित करके ही, इस अन्य सत्यको प्राप्त करना होगा और उसे मानसिक परिसीमा और अज्ञानके स्थानमें स्थापित करना होगा। और फिर पाश्चात्य विचार सक्रिय और सशक्त नहीं रह गया है; इसने वस्तुके एक सिद्धांतकी खोज की है, पर सिद्धिके लिये प्रयास नहीं किया है। यह प्राचीन यूनानियोंमें फिर भी सक्रिय था, पर था आध्यात्मिक उद्देश्योंकी अपेक्षा कहीं अधिक नैतिक और सौंदर्यबोधात्मक उद्देश्योंके लिये। पीछे चलकर यह और भी अधिक विशुद्ध रूपसे बौद्धिक और पांडित्यपूर्ण बन गया; यह केवल बौद्धिक कल्पना-जल्पना बन गया और उसके पास कोई ऐसा व्यावहारिक पथ और साधन नहीं रह गया जिससे कि आध्यात्मिक परीक्षण, आध्यात्मिक अन्वेषणके द्वारा सत्यको प्राप्त किया जाय, एक आध्यात्मिक रूपांतर

सिद्ध किया जाय। यदि यह भेद न होता तो तुम्हारे जैसे जिज्ञासुओंके लिये पथप्रदर्शनके लिये पूर्वकी ओर मुड़नेका कोई कारण न होता; क्योंकि विशुद्ध बौद्धिक क्षेत्रमें पाश्चात्य विचारक उतने ही दक्ष हैं जितना कि कोई भी पूर्वीय दार्शनिक। सच पूछा जाय तो आध्यात्मिक पद्धति, मार्ग ही बौद्धिक स्तरोंसे परे ले जाता है, उसीके द्वारा बाह्य सत्तासे निकलकर अंतरतम आत्मामें जाना संभव होता है, जो यूरोपके मनकी अति-बौद्धिकताके कारण वहांसे विलुप्त हो गया है।

तुमने ब्रैडले और जोशीमके जो उद्धरण मेरे पास भेजे हैं उनमें यह (विचार) अपनेसे परेकी वस्तुके विषयमें अभी बौद्धिक चिंतन ही है और उसके विषयमें एक बौद्धिक, एक तर्कपूर्ण और कल्पनात्मक निष्कर्षपर ही पहुँचता है। यह उस परिवर्तनको लानेमें समर्थ नहीं है जिसका वर्णन करनेका यह प्रयास करता है। यदि ये लेखक किसी सिद्धिको, मानसिक सिद्धिको ही सही, इस "विचारसे भिन्न किसी चीज" के किसी अंतर्ज्ञानात्मक अनुभवको मानसिक भाषामें अभिव्यक्त करते तो जो इसके लिये तैयार होता वह उसे उनके व्यवहृत भाषाके पर्देके भीतरसे अनुभव करता और उसी अनुभूतिके समीप अपनेको खींच ले जाता। अथवा यदि वे बौद्धिक निष्कर्षपर पहुँचनेके बाद पथ खोजकर या पहलेसे प्राप्त पथका अनुसरण कर आध्यात्मिक अनुभवकी ओर बढ़ गये होते तो उनके विचारका अनुगमन कर मनुष्य उसी अवस्थांतरके लिये अपनेको तैयार करता। परंतु इस समस्त श्रमपूर्ण चिंतनके अंदर इस प्रकारकी कोई चीज नहीं है। यह बुद्धिके क्षेत्रमें ही बना रहता है और उस क्षेत्रमें यह निस्संदेह प्रशंसनीय है; परंतु यह आध्यात्मिक अनुभव देनेमें सक्षम नहीं होता।

सच पूछो तो संपूर्ण सद्वस्तुका "विचार करके" नहीं, बल्कि चेतनाका परिवर्तन करके मनुष्य अज्ञानसे ज्ञानमें जा सकता है—उस ज्ञानमें जा सकता है जिससे हम वही बन जाते हैं जिसे जानते हैं। सच पूछा जाय तो सत्य[1] तक पहुंचनेका सर्वांगपूर्ण पथ है—बाह्य चेतनासे निकलकर एक

---

1. मैंने कहा है कि अतिमानसकी भावना प्राचीन युगसे ही पहलेसे विद्यमान थी। भारतमें तथा दूसरे देशोंमें ऊपर उठकर उसे

प्रत्यक्ष और घनिष्ठ आंतर चेतनामें चले जाना; अहंकार और शरीरकी सीमाओंसे परे चेतनाको विस्तृत करना; आंतर संकल्प और अभीप्सा और ज्योतिके प्रति उद्घाटनके द्वारा चेतनाको तबतक ऊपर उठाते जाना जब कि वह अपने आरोहण-क्रममें मनसे परे निकल जाय; और आत्मदान तथा आत्मसमर्पणके द्वारा अतिमानसिक भगवान्‌को नीचे अवतरित कराना जिसके फलस्वरूप मन, प्राण और शरीरका रूपांतर हो जाय। यही वह चीज है जिसे हम यहां सत्य कहते हैं और जो हमारे योगका लक्ष्य है।



योग कोई भावनाओंकी वस्तु नहीं है वरन् आंतर आध्यात्मिक अनुभवकी वस्तु है। किसी धार्मिक या आध्यात्मिक विचारसमूहकी ओर महज आकर्षित होनेसे कोई सिद्धि नहीं प्राप्त होती। योगका अर्थ है चेतनाका परिवर्तन; कोई महज मानसिक क्रिया चेतनामें परिवर्तन नहीं ला सकती, वह केवल मनमें परिवर्तन ला सकती है। और, यदि तुम्हारा मन पर्याप्त गतिशील हो तो वह एक चीजसे दूसरी चीजमें अंततक बदलता चला जायगा और किसी सुनिश्चित पथ अथवा किसी आध्यात्मिक आश्रयस्थलपर नहीं पहुँचेगा। मन विचार, संदेह और प्रश्न कर सकता है, स्वीकार कर सकता और अपनी स्वीकृति वापस ले सकता है, रचनाएं गढ़ सकता और उन्हें भंग कर सकता है, निर्णय दे सकता और उनका निरसन कर सकता है; वह सर्वदा ऊपरी सतहपर और उपरितलीय सूचनाओंके आधारपर निर्णय करता है और इसलिये वह कभी सत्यके किसी गंभीर और सुदृढ़ अनुभवपर नहीं पहुंचता, पर स्वयं अपने-आप वह इससे अधिक कुछ नहीं कर सकता। केवल तीन ही उपाय हैं जिनसे वह अपनेको सत्यकी एक प्रणाली या यंत्र बना सकता है। या तो उसे आत्मामें जाकर निश्चल-नीरव हो जाना होगा और एक विशालतर और महत्तर चेतनाके लिये स्थान खाली कर देना होगा; अथवा उसे एक आंतरिक ज्योतिके प्रति निष्क्रिय बन जाना होगा और उस ज्योतिको

पानेका प्रयास भी किया गया था; पर लोगोंको वह पथ नहीं मिला जिससे उसे जीवनके लिये संपूरक बनाया जा सके और समस्त प्रकृतिके, यहांतक कि भौतिक प्रकृतितकके रूपांतरके लिये उसे नीचे उतारा जा सके।

अभिव्यंजनाके एक साधनके रूपमें अपना व्यवहार करने देना होगा; अथवा, फिर उसे एक संदेहशील बुद्धिप्रधान ऊपरितलीय मनसे, जैसा कि यह अभी है, एक संबोधिप्रधान प्रज्ञामें, दिव्य सत्यका प्रत्यक्ष ज्ञान प्राप्त करनेमें समर्थ दर्शनक्षम मनमें परिवर्तित हो जाना होगा।

अगर तुम योगमार्गमें कुछ करना चाहते हो तो तुम्हें सदाके लिये वह पथ पक्का कर लेना चाहिये जिसका तुम अनुसरण करना चाहते हो। इससे कोई लाभ नहीं कि तुम अपना मुंह भविष्यकी ओर मोड़ो और निरंतर अतीतकी ओर पीछे ताकते रहो; इस प्रकार तुम कहीं नहीं पहुंचोगे। यदि तुम अपने अतीतके साथ बंधे रहो तो उसीकी ओर वापस जाओ और फिर जो पथ चुनो उसका अनुगमन करो; पर उसके बदले तुम यदि इस पथको चुनो तो तुम्हें एकाग्रचित्त होकर इसीमें संलग्न हो जाना चाहिये और प्रत्येक मुहूर्त्त पीछेकी ओर नहीं ताकना चाहिये।



शंका-संदेहों और उनके तर्कयुक्त उत्तरोंका जहांतक संबंध है, मैंने बहुत दिन पहले इस अभ्यासको छोड़ दिया था, क्योंकि मैंने उसे पूर्णतः अनुपयोगी पाया। योग बौद्धिक तर्क-वितर्क या विवेचनका क्षेत्र नहीं है। सच पूछा जाय तो युक्तिसंगत या तर्कशील मनका अभ्यास करके कोई न तो योगका सच्चा ज्ञान प्राप्त कर सकता है और न उसका अनुसरण ही कर सकता है। संशयकी भावना, "शुद्ध संदेह" और यह दावा कि बुद्धिको संतुष्ट होना चाहिये और प्रत्येक प्रश्नका उसे ही विचाराधिपति बनाना चाहिये, यह सब बाहर मानसिक कार्यके क्षेत्रमें बहुत अच्छा है। परंतु योग कोई मानसिक क्षेत्र नहीं है, जिस चेतनाको स्थापित करना है वह कोई मानसिक, युक्तिशील या तार्किक चेतना नहीं है—योगने तो यह निर्धारित कर रखा है कि यदि और जबतक मन—बौद्धिक या तार्किक मन सहित—शांत नहीं हो जाता, और स्थिरता या नीरवताके अंदर किसी उच्चतर और गंभीरतर चेतना, दर्शनशक्ति और ज्ञानकी ओर नहीं खुल जाता, साधना अपने लक्ष्यतक नहीं पहुंच सकती। इसी कारण भारतीय आध्यात्मिक परम्परामें गुरुके प्रति शंकाहीन उन्मुक्तताकी मांग की गयी है; गुरुकी निंदा, टीका-टिप्पणी और उनपर आक्रमण तो गर्हित तथा साधनाके लिये यथासंभव अनिवार्य बाधा-विघ्न माना जाता था।

यदि संदेह-भावनाको तर्क-वितर्कके द्वारा जीता जा सके तो संभव है कि युक्तिद्वारा संतोष होनेके कारण उसे दूर करनेके लिये आवश्यक कोई वस्तु मिल जाय। परंतु संदेहकी भावना स्वयं अपने कारण ही, केवल संदेह करनेके लिये ही संदेह करती है; यह महज अपने विशिष्ट धर्मके लिये यंत्रके रूपमें मनका व्यवहार करती है, और उस समय भी बिलकुल ऐसा ही होता है जब मन यह समझता है कि वह अपनी सच्ची और अदम्य शंकाओंका समाधान ईमानदारीके साथ खोज रहा है। परंतु मानसिक दृष्टिकोण सर्वदा बदलता रहता है, और यह सर्वविदित बात है कि लोग एक-दूसरेको युक्तिद्वारा प्रभावित किये बिना चिरकाल तर्क कर सकते हैं। जैसे अटल और निरंतर बार-बार उठनेवाले संदेह दीर्घकालसे इस आश्रममें भरे हुए हैं और साधनामें बाधक हो रहे हैं, ऐसे संदेहोंका सतत उत्तर देते रहना महज योगके लक्ष्यको भ्रष्ट करना तथा योगके केंद्रीय सिद्धांतके विरुद्ध जाना है जिससे कोई भी आध्यात्मिक या अन्य प्रकारका लाभ नहीं हो सकता। यदि कोई व्यक्ति अपने मौलिक संदेहोंको जीत लेता है तो वह केवल अपने अंदर विद्यमान चैत्य पुरुषके विकासके कारण या अपनी चेतनाके विस्तारके द्वारा ही जीतता है, अन्य किसी उपायसे नहीं। जो प्रश्न खोजकी भावनासे उठते हैं, आक्रामक या स्वमतस्थापनशील नहीं होते, बल्कि ज्ञानकी भूखका एक अंग होते हैं, उनका उत्तर दिया जा सकता है, पर "संदेहकी वृत्ति" अतोषणीय और अतृप्य होती है।



हजारों मानसिक प्रश्नों और उत्तरोंमें जहां-तहां केवल दो-एक ही ऐसे होते हैं जो वास्तवमें कोई प्रबल सहायता देनेवाले होते हैं—जब कि चेतनाका कोई एक ही आंतरिक प्रत्युत्तर या थोड़ासा विकास वह कार्य कर डालता है जिसे वे हजारों प्रश्न और उत्तर नहीं कर सकते। योग उपदेशके द्वारा नहीं वरन् आंतरिक प्रभावके द्वारा अग्रसर होता है। प्रश्न पूछनेकी अपेक्षा अपनी स्थिति, अपने अनुभव आदिका वर्णन करना और सहायताकी ओर उद्घाटित होना कहीं अधिक महत्त्वपूर्ण है।



सारा संसार, आध्यात्मिक और मनीषी जड़वादी सब एक समान,

यह जानता है कि अज्ञानमें अथवा प्रकृतिकी निश्चेतनामें सृष्ट अथवा स्वाभाविक रूपमें विकसित जीवके लिये यह संसार न तो गुलाबके फूलोंकी शय्या है और न आनंददायी प्रकाशका पथ। यह एक कठिन यात्रा है, यह युद्ध और संघर्ष है, एक बहुधा दुःखदायी और बहुरंगी विकास है, अंधता, मिथ्यात्व और दुःख-कष्टसे आक्रांत एक जीवन है। इसके मानसिक, प्राणिक और भौतिक सुख और संतोष हैं, पर ये चीजें केवल क्षणिक स्वाद प्रदान करती हैं—जिसे अभी भी प्राणमय पुरुष छोड़नेके लिये राजी नही है—और इनका अंत अरुचि, थकान या भ्रमभंजनमें होता है। फिर क्या? यह कहना आसान है कि भगवान्‌का अस्तित्व नहीं है, पर यह तुम्हें कही नही ले जाता—यह तुम्हें वहीं छोड़ देता है जहां तुम हो, तुम्हारे लिये न तो कोई आशा होती है और न कोई परिणाम—न तो रसेल न कोई भौतिकवादी तुम्हें बता सकता है कि तुम कहां जा रहे हो या यहांतक कि तुम्हें कहाँ जाना चाहिये। भगवान् अपने-आपको इस तरह अभिव्यक्त नही करता कि वह बाहरी विश्व-परिस्थितियों-में पहचाना जा सके—यह बात बिलकुल सर्वमान्य है। इन सब परि-स्थितियोंको कही अन्यत्र रहनेवाले किसी अनुत्तरदायी तानाशाहने नहीं क्रियान्वित किया है—ये दिव्य शक्तियोंकी क्रियाकी परिस्थितियां हैं जो क्रिया कि सत्ताकी एक विशेष प्रकृतिके अनुसार होती हैं, हम कह सकते हैं कि सत्ताकी किसी विशेष प्रस्थापना या समस्याके अनुसार होती है जिसमें हम सबने प्रवेश करना और सहयोग देना वास्तवमें स्वीकार किया है। कार्य दुःखदायी है, संदिग्ध है, इसके उलट-फेरोंकी भविष्यवाणी करना असंभव है? तो, यहां दोमेंसे कोई एक संभावना है, या तो बौद्ध या मायावादी पथसे निर्वाणको प्राप्त हुआ जा सकता है अथवा स्वयं अपने अंदर घुसा जा सकता और वहां भगवान्‌को पाया जा सकता है, क्योंकि ऊपरी तलपर वह प्राप्य नही है। जिन लोगोंने यह प्रयास किया है, और ऐसे इनेगिने नहीं बल्कि सैकड़ों और हजारों लोग हुए हैं, उन्होंने युग-युगमें इस बातकी साक्षी दी है कि वह वहां हैं और यही कारण है कि योगमार्ग प्रचलित है। इसमें बड़ा लंबा समय लगता है? भगवान् अपनी मायाके घने आवरणके पीछे छिपे हुए हैं और हमारी पुकारका तुरत-फुरत अथवा किसी प्रारंभिक अवस्थामें उत्तर नहीं देते? अथवा वह केवल एक झाँकी देते हैं जो अनिश्चित और क्षणिक होती है और फिर पीछे हट जाते हैं और हमारे तैयार हो जानेके लिये प्रतीक्षा करते

हैं? परंतु भगवान्‌का यदि कुछ मूल्य है तो क्या उनका अनुसरण करनेके लिये थोड़ा कष्ट उठाना और थोड़ा समय और श्रम खर्च करना उचित नहीं है और क्या हमें बिना किसी शिक्षण या त्याग या क्षति या क्लेशके उन्हें पानेका आग्रह करना चाहिये? इस प्रकारकी मांग करना अवश्य ही अयुक्तिसंगत है। यह स्पष्ट है कि उन्हें पानेके लिये हमें पर्देके पीछे, अपने अंदर प्रवेश करना होगा; केवल तभी हम उन्हें बाहर देख सकते हैं और बुद्धि भले ही उतनी निस्संदिग्ध न हो पर अनुभवके द्वारा उनकी उपस्थितिको स्वीकार करनेके लिये बाध्य होगी—ठीक जिस तरह कोई मनुष्य जब उस वस्तुको देख लेता है जिसे वह अस्वीकार करता है तो वह फिर उसे अस्वीकार नहीं कर सकता। परंतु इसके लिये पथको स्वीकार करना होगा और अपने संकल्पमें दृढ़ रहना होगा तथा धैर्यपूर्वक परिश्रम करना होगा।



परंतु तुम्हारा निराशापूर्ण मित्र यह क्यों चाहता है कि पृथ्वीपर प्रत्येक व्यक्ति उसके साथ एकमत हो और आचार तथा विश्वासकी उसीकी अपनी पसंद की हुई धाराका अनुसरण करे? यह राजनीतिक लोगोंका चिर-असिद्ध स्वप्न है, अथवा केवल मानव-मन और प्राणके हिंसापूर्ण दबावसे सिद्ध है जो कि कर्मशील मनुष्यका सबसे अधिक आधुनिक करतब है। "अवतीर्ण" देवतागण—गुरु और आध्यात्मिक पुरुष, जिनके विरुद्ध वह इतनी कठोरताके साथ शिकायत करता है—अपनी आशाओंमें अधिक संकोची होते हैं और मुट्ठी भर या, तुम चाहो तो, एक आश्रमभर शिष्योंसे संतुष्ट रहते हैं, और इनकी भी वे चाह नहीं करते, बल्कि वे आते हैं, स्वयं आते हैं। तो क्या वे—ये अभिशंसित "अवतार"—राजनीतिक नेताओंकी अपेक्षा कहीं अधिक युक्ति और बुद्धिमत्ताके समीप नहीं हैं?—निस्संदेह, यदि इनमेंसे कोई विश्व-धर्मकी स्थापना करनेकी भूल नहीं करता, पर हमारी बात ऐसी नहीं है। इसके अलावा, वह अंधश्रद्धावश अपनी बुद्धि खो देनेके लिये तुम्हारी भर्त्सना करता है। परंतु वस्तुओंसंबंधी उसका अपना विचार एक युक्तिपूर्ण श्रद्धाके सिवा और क्या है? तुम अपनी श्रद्धाके अनुसार विश्वास करते हो जो बिलकुल स्वाभाविक है, वह अपने मतके अनुसार विश्वास करता है और यह भी स्वाभाविक है, पर यह अधिक अच्छा नहीं है, जहांतक कि

वस्तुओंके सच्चे सत्यको पानेकी संभावनाका प्रश्न है। उसकी राय उसकी बुद्धिके अनुसार है। वैसे ही हैं उसके राजनीतिक विरोधियोंके मत उनकी बुद्धिके अनुसार, फिर भी वे उससे एकदम विपरीत भावनाकी प्रस्थापना करते है। भला तर्क-बुद्धि कैसे बता सकती है कि कौन ठीक है? विरोधी दल तबतक वाद-विवाद कर सकते हैं जबतक उनका चेहरा विवर्ण न हो जाय—वे कहीं निर्णयके समीप नहीं पहुंचेंगे। अंतमें उसीकी जीत होती है जिसमें अधिक शक्ति होती है या दुनियाका झुकाव जिसके अनुकूल होता है। परंतु कौन भला दुनियाकी ओर, वह जैसी है, ताक सकता और कह सकता है कि दुनियाका झुकाव सर्वदा (या कभी भी) यथार्थ युक्ति-तर्कके अनुकूल होता है—चाहे यथार्थ युक्तितर्क नामकी यह चीज जैसी भी क्यों न हो? वास्तविक बात तो यह है कि ऐसा कोई व्यापक निर्भ्रान्त युक्ति-तर्क नहीं है जो विरोधी मतोंके बीच निर्णय कर सके और पंच बन सके; बस हैं मेरी युक्ति, तुम्हारी युक्ति, 'अ' की युक्ति, 'ब' की युक्ति आदि असंख्य विरोधी युक्तियां। प्रत्येक व्यक्ति वस्तुसंबंधी अपनी दृष्टि, अपने मतके अनुसार, अर्थात् अपनी मानसिक गठन और मानसिक अभिरुचिके अनुसार तर्क करता है। अतएव श्रद्धाकी निंदा करनेसे भला क्या लाभ जो आखिरकार एक रहस्यमय विश्वकी विपरीतताओंके बीच कोई चीज पकड़ रखनेके लिये देती है? यदि कोई ऐसा ज्ञान प्राप्त कर सके जो जानता है, तो यह दूसरी बात है; पर जबतक हमारे पास केवल अज्ञान ही है जो तर्क करता है,—हां, तो फिर एक स्थान श्रद्धाके लिये रिक्त है—यहांतक कि श्रद्धा उस ज्ञानसे आनेवाली एक झलक हो सकती है जो जानता है, चाहे वह जितना भी दूर क्यों न हो, और इस बीच जरा भी संदेह नहीं कि वह कार्य संपन्न करनेमें सहायता करती है। तुम्हारे लिये थोड़ीसी तर्कयुक्तिकी गुंजायश है!—ठीक अन्य सभी तर्क-युक्तियोंकी तरह ही, उन लोगोंको समझा देनेकी जो समझ चुके हैं, पर उन लोगोंके लिये नहीं जिन्हें समझाना संभव नहीं, अर्थात् उन लोगोंके लिये जो उस भूमिकाको स्वीकार नहीं करते जिसपर युक्ति-तर्क नृत्य करता है। आखिरकार युक्ति करना केवल मनका एक नपा-तुला नृत्य है, और कोई चीज नही।



तुम्हारा स्वप्न निश्चय ही कोई मनगढ़ंत वस्तु नही था; वह एक

आंतरिक अनुभव था और उसे पूरा मूल्य प्रदान किया जा सकता है। अन्य प्रश्नोंका जहांतक संबंध है, वे जटिलताओंसे भरे हैं और मैं अपनेको इस प्रकार अस्त्र-शस्त्रसे सन्नद्ध नहीं अनुभव करता कि एक हीं वाक्यसे कठिन ग्रंथिको ही काट दूं। निश्चय ही, अपने सत्यका सीधे अनुसरण करके तुम ठीक ही कर रहे हो और तुम्हें 'अ' की या अन्य किसी व्यक्तिकी प्रस्थापना या समाधानको स्वीकार करनेकी आवश्यकता नहीं है। मनुष्यको श्रद्धा और तर्कबुद्धि दोनोंकी तबतक आवश्यकता होती है जबतक वह एक सुनिश्चित अन्तर्दृष्टि और महत्तर ज्ञानतक नहीं पहुंच जाता। श्रद्धाके विना वह अवश्य ही किसी पथपर नहीं चल सकता, और तर्क-बुद्धिके विना वह बहुत आसानीसे, यदि उसके पास सहारा देनेके लिये श्रद्धाकी लाठी भी हो, अंधकारमें भटक सकता है। 'अ' स्वयं अपनी श्रद्धाको स्थापित करता है, यदि तर्कबुद्धिके आधारपर नहीं तो फिर भी कई कारणोंके आधारपर करता है; और युक्तिवादी, तार्किक या नैयायिकको भी कोई-न-कोई विश्वास अवश्य होना चाहिये, वह चाहे स्वयं तर्कबुद्धिको ही पर्याप्त और प्रामाणिक माननेका विश्वास क्यों न हो, ठीक जैसे कि विश्वासीको अपनी श्रद्धाको ही पर्याप्त और प्रामाणिक माननेका विश्वास होता है। फिर भी ये दोनों भूल कर सकते हैं, जैसा कि उन्हें करना ही होगा क्योंकि दोनों मानव-मनके यंत्र हैं जिसका स्वभाव ही है भूल करना, और वे मनकी सीमाओंमें हिस्सा बँटाते हैं। प्रत्येकको उस प्रकाशमें चलना होगा जो कि उसके पास है, भले ही उसमें काले धब्बे हों जिनके कारण वह लड़खड़ाता है।

परंतु यह सब उस प्रश्नसे भिन्न बात है जो कि वर्तमान मानव-सभ्यतासे संबंधित है। सच पूछो तो यह वह चीज नहीं है जिसकी रक्षा करनी है; वह चीज तो यह संसार है जिसकी रक्षा करनी है और यह कार्य अवश्य किया जायगा, यद्यपि यह कार्य उतनी आसानीसे या उतनी जल्दी न हो सके जैसा कि कुछ लोग चाहते या कल्पना करते हैं, अथवा उस तरीकेसे नहीं होगा जिसकी वे कल्पना करते हैं। वर्तमानको निश्चय ही परिवर्तित होना होगा, पर आया किसी विनाशके द्वारा होना होगा या किसी महत्तर सत्यके आधारपर होनेवाले किसी नवीन निर्माणके द्वारा, बस यही है प्रश्न। श्रीमाताजीने इस प्रश्नको लटकता हुआ छोड़ दिया है और मैं भी वैसा नहीं कर सकता हूं। आखिरकार, विज्ञ पुरुषको, यदि वह कोई नबी या मद्रास एस्ट्रालोजिकल ब्यूरो (मद्रास

ज्योतिष विभाग) का डाइरेक्टर ही न हो तो, बहुधा 'एस्क्वीथियन' (Asquithian) स्थिति ग्रहण करके ही संतुष्ट रहना होगा। न तो आशावाद और न निराशावाद ही सत्य है: वे केवल मनकी वृत्तियां या व्यक्तिगत स्वभावके प्रकार हैं।

तब, आओ, बिना अत्यधिक आशावाद या अत्यधिक निराशावादके, "प्रतीक्षा करें और देखें।"



आध्यात्मिक वस्तुओंमें श्रद्धा रखनेकी जो आशा साधकसे की जाती है वह कोई अज्ञानपूर्ण नहीं बल्कि ज्योतिर्मयी श्रद्धा होती है, अंधकारमें नहीं बल्कि ज्योतिमें की जानेवाली श्रद्धा होती है। इसे संशयवादी बुद्धि अंधश्रद्धा कहती है, क्योंकि यह श्रद्धा बाहरी रूपों या प्रतीयमान तथ्योंसे परिचालित होना अस्वीकार करती है,—क्योंकि यह पीछे स्थित सत्यकी खोज करती है,—और, क्योंकि यह श्रद्धा प्रमाण और साक्षीकी बैसाखीके सहारे नहीं चलती। यह श्रद्धा एक प्रकारका अंतर्ज्ञान है, ऐसा अंतर्ज्ञान नहीं जो अपनेको सत्य सिद्ध करनेवाले अनुभवकी प्रतीक्षा करता है, बल्कि जो अनुभवकी ओर ले जाता है। यदि मैं आत्मोपचारमें विश्वास करता हूं तो कुछ समय बाद मैं अपने-आपको नीरोग कर लेनेका तरीका प्राप्त कर लूंगा। यदि मैं रूपांतरमें विश्वास करता हूं तो मैं अंतमें रूपांतरकी प्रक्रियाको हस्तगत कर सकता और उसे उद्घाटित कर सकता हूं। परंतु मैं यदि संदेहसे आरंभ करूं और अधिक-अधिक शंकाएं उठाता चलूं तो भला मैं अपनी यात्रामें कितनी दूर आगे बढ़ सकता हूं?



अब श्रद्धा-संदेहके प्रश्नको लें। तुम श्रद्धा शब्दको जो अर्थ और तात्पर्य बड़े जोशीले शब्दोंमें प्रदान करते हो, वही अर्थ और तात्पर्य मैं उसे नहीं प्रदान करता। मुझे अपनी स्थिति सुस्पष्ट करनेके लिये एक नहीं बल्कि कई पत्र लिखने होंगे। मुझे ऐसा लगता है कि 'श्रद्धा'से तुम्हारा मतलब कोई मानसिक विश्वास है जो वास्तवमें एक निराधार दृढ़ोक्तिके संशयात्मक आकारमें मन और इंद्रियोंके सम्मुख रखा गया है। इस शब्दसे मेरा मतलब है अतीन्द्रिय वस्तुओंके सत्यके आंतरिक

स्वरूपपर होनेवाला एक सक्रिय अंतर्ज्ञानात्मक विश्वास जो किसी भौतिक प्रमाणके द्वारा सिद्ध नहीं हो सकता बल्कि जो अनुभवका विषय है। मेरा कहना यह है कि यह श्रद्धा काम्य अनुभूतिको पानेके लिये (अगर पूर्ण रूपसे अनिवार्य नहीं—क्योंकि ऐसी अनुभूतियोंके भी उदाहरण हो सकते हैं जिनके पूर्व श्रद्धा नहीं विद्यमान होती, तो) अत्यंत वांछनीय आरंभिक वस्तु है। यदि मैं श्रद्धापर इतना अधिक बल देता हूँ,—पर अनुभवसे पूर्वकी शंका और अस्वीकृतिको झाड़ फेंकनेकी अपेक्षा ठोस श्रद्धापर कम ही बल देता हूं,—इसका कारण यह है कि मैं देखता हूं कि ये संदेह और अस्वीकार विघ्नकारी शक्तियोंके हाथोंके यंत्र बन गये हैं......।

मैं जो भौतिकवादियोंकी अस्वीकृतिको प्रागनुभव अस्वीकृति कहता हूं, इसका कारण यह है कि वे जिसे अस्वीकार करते हैं उसके विषयमें विचार-विमर्श करना या उसकी जांच-पड़ताल करनातक भी अस्वीकार कर देते हैं, बल्कि उसे अस्वीकार करते हुए ही आरंभ करते हैं, जैसे कि लियोनार्ड वुल्फ (Leonard Woolf) इस आधारपर "कांव-कांव" करते कि यह तो उनके अपने सिद्धांतोंका ही खंडन करता है, इसलिये यह सत्य नहीं हो सकता। दूसरी ओर, भगवान् और भगवत्कृपा और योग और गुरु आदिमें विश्वास रखना प्रागनुभव नहीं है, क्योंकि यह मानव-अनुभवके एक विराट् स्तूपपर आधारित है जो शताब्दियों और सहस्राब्दियोंसे एकत्र होता आ रहा है और साथ ही व्यक्तिगत अंतर्बोधात्मक अनुभूति भी है। अतएव यह एक अंतर्बोधात्मक अनुभव है जो उन सैकड़ों और हजारों लोगोंके अनुभवद्वारा प्रमाणित है, जिन्होंने मेरे पहले इसका परीक्षण किया है।



मैंने संदेहके विषयमें लिखना आरंभ कर दिया है, पर ऐसा करते हुए भी मैं इस 'संदेह' से आक्रांत हो रहा हूं कि चाहे जितनी मात्रामें लेखन या अन्य कोई चीज ही क्यों न हो, क्या वह कभी मनुष्यमें विद्यमान उस शाश्वत संदेहको विश्वास दिला सकता है जो कि उसके जन्मजात अज्ञानका दंड है। सबसे पहले, पर्याप्त मात्रामें लिखनेका अर्थ होगा ६० से ६०० पृष्ठोंतक लिखना, पर ६००० विश्वासोत्पादक पृष्ठ भी संदेहको संतुष्ट नहीं कर सकते। क्योंकि संदेह स्वयं अपने तई

अस्तित्व रखता है; इसका ठीक कार्य ही है निरंतर संदेह करते रहना और, जब वह संतुष्ट हो जाता है तो भी संदेह करता ही जाता है; वह अपने आश्रयदाताको भोजन और आवास देनेके लिये केवल राजी करनेके लिये ही ईमानदार सत्यान्वेषी होनेका दिखावा करता है। यही पाठ मैंने अपने निजी मनके अनुभव तथा दूसरोंके मनोंके अनुभव दोनोंसे सीखा है; संदेहसे मुक्ति पानेका एकमात्र उपाय है अपने विवेकको सत्य और मिथ्याका सूचक बनाना और उसीके संरक्षणमें अबाध रूपसे तथा साहसपूर्वक अनुभूतिके लिये दरवाजा खोल देना।

खैर, मैंने लिखना आरंभ कर दिया है, पर मैं संदेहसे नहीं, बल्कि भगवान्‌के लिये ठोस निश्चयताको, बिलकुल इतनी ठोस निश्चयताकी जितना कि कोई भी इंद्रियग्राह्य भौतिक व्यापार होता है, मांग करते हुए प्रारंभ करूंगा। अब, निश्चय ही, भगवान् एक सुनिश्चित सत्य है जो उतना ही ठोस नहीं होता जितनी कि जड़ जगत्‌में कान या आंख या त्वचासे ग्राह्य कोई वस्तु होती है, बल्कि उससे भी कहीं अधिक ठोस होता है। पर यह सुनिश्चितता मानसिक विचारकी नहीं बल्कि मौलिक अनुभवकी सुनिश्चितता होती है। जब भगवान्‌की शांति तुम्हारे ऊपर उतरती है, जब तुम्हारे अंदर भगवान्‌की उपस्थिति अनुभूत होती है, जब आनंद समुद्रकी तरह तुम्हारे ऊपर टूट पड़ता है, जब तुम भगवान्‌की शक्तिके श्वासके द्वारा हवामें पत्तेकी तरह उड़ा दिये जाते हो, जब दिव्य प्रेम तुम्हारे अंदरसे निकलकर सारी सृष्टिपर पुष्पित हो उठता है, जब भागवत ज्ञान एक ऐसी ज्योतिसे तुम्हें आप्लावित कर देता है जो एक क्षणमें उस सबको आलोकित और रूपांतरित कर देती है जो पहले काला, दुःखदायी और निष्प्रभ था, जब सब कुछ जो कि है, एकमेव सद्वस्तुका अंग बन जाता है, जब दिव्य सद्वस्तु तुम्हारे चारों ओर विद्यमान होती है, तो तुम तुरत आध्यात्मिक संस्पर्शके द्वारा, आंतरिक दृष्टिके द्वारा, आलोकित और पश्यन्ति विचार-शक्तिके द्वारा, प्राणिक संवेदन और यहांतक कि एकदम स्थूल इंद्रियके द्वारा एकमात्र भगवान्‌को अनुभव करने लगते हो, सर्वत्र केवल उन्हींको देखते, सुनते और स्पर्श करते हो। तब तुम भले ही दिवालोक या वायु या आकाशमें विद्यमान सूर्यको अस्वीकार कर सको या उसपर अविश्वास कर सको, परंतु इस अनुभवपर तुम उतना अधिक संदेह नहीं कर सकते या उसे अस्वीकार नहीं कर सकते। कारण, तुम इन भौतिक वस्तुओंके विषयमें निस्संदिग्ध

नहीं हो सकते, बल्कि वे तो तुम्हें वैसी ही दीखती हैं जैसी कि तुम्हारी इंद्रियां उन्हें तुम्हारे सामने प्रकट करती हैं; परंतु भगवान्‌की ठोस अनुभूतियोंपर संदेह करना असंभव है।

स्थायित्वका जहांतक प्रश्न है, तुम प्रारंभसे ही आदि आध्यात्मिक अनुभूतियोंके स्थायी होनेकी आशा नहीं कर सकते—बहुत थोड़ेसे लोग ऐसी स्थायी अनुभूतियां प्राप्त करते हैं और उनके लिये भी उस अनुभूतिमें वह उच्च तीव्रता सर्वदा नहीं बनी रहती; अधिकांश लोगोंके जीवनमें अनुभव आता है और फिर पीछे पर्देकी आड़में हट जाता है और इस बातके लिये प्रतीक्षा करता है कि साधकका अति मानवीय अंग तैयार किया जाय और अनुभवकी वृद्धि और फिर उसके स्थायित्वको सहन करने और दृढ़तासे धारण करनेके योग्य बना दिया जाय। परंतु इसी कारण उसपर संदेह करना अत्यंत अयौक्तिक कहा जायगा। कोई व्यक्ति वायुके अस्तित्वपर इस कारण संदेह नहीं करता कि तेज हवा बराबर नहीं बहा करती अथवा सूर्यालोकके अस्तित्वपर संदेह नहीं करता क्योंकि सूर्योदय और सूर्यास्तके बीच रात्रि आ धमकती है। सारी कठिनाई है साधारण मानवीय चेतनाके अंदर, जिसके लिये आध्यात्मिक अनुभव एक असामान्य वस्तुके रूपमें आता है और वह है भी वास्तवमें अतिसामान्य। यह दुर्बल सीमित सामान्यावस्था पहले तो उस महत्तर और तीव्रतर अतिसामान्य अनुभवका कोई स्पर्श पाना भी कठिन अनुभव करती है; अथवा वह उसे अपने निजी मानसिक या प्राणिक अनुभवके मलिनतर द्रव्यके साथ मिलाकर क्षीण कर देती है, और जब आध्यात्मिक अनुभव अपने निजी अभिभूतकारी प्रभावके साथ आता है तो बहुधा वह उसे सहन नहीं कर पाती, अथवा, यदि वह सहन करती है तो उसे धारण नहीं कर पाती और बराबर बनाये नहीं रख पाती। फिर भी जब एक बार अनंतके सामने मनकी बनायी दीवारोंमें निश्चित दरार बन जाती है तो वह बढ़ती ही जाती है, कभी तो धीरे-धीरे और कभी तेजीसे, जबतक कि वहां कोई दीवार ही नहीं रह जाती, और फिर वहां स्थायित्व आ जाता है।

परंतु मन यदि सर्वदा अपने निजी प्रतिबंधों, पूर्वनिर्णयों, अज्ञ सिद्धांतोंको बीचमें घुसाता रहे या वह यदि तर्क-वितर्क, संदेह, पूछताछ और अन्य सभी अज्ञानके उपकरणोंके द्वारा ज्ञानको ढूंढ़ता-टटोलता हुआ दिव्य निश्चयतातक पहुंचनेका आग्रह करे जैसे कि वह किसी मानसिक निर्णयके

बिलकुल सापेक्ष सत्यपर पहुंचनेके लिये करता है तो फिर निश्चयात्मक अनुभवोंको नहीं पाया जा सकता, चेतनाकी उस नवीन स्थितिके स्थायित्वकी रक्षा नहीं की जा सकती जिसमें कि ये अनुभव सामान्य ढंगसे प्राप्त होते हैं। ये महत्तर वस्तुएं केवल उस चेतनाको क्रमशः उद्घाटित करके ही पायी जा सकती हैं जो कि शांत-स्थिर हो चुकी है और आध्यात्मिक अनुभवकी ओर दृढ़तापूर्वक मोड़ी जा चुकी है। यदि तुम यह पूछते हो कि भगवान्‌ने इन अत्यधिक असुविधाजनक आधारोंपर इसे इस प्रकार क्यों व्यवस्थित किया है तो यह एक निरर्थक प्रश्न है,—क्योंकि यह वस्तुओंके ठीक स्वभावके द्वारा आरोपित एक मनोवैज्ञानिक आवश्यकताके सिवा और कोई चीज नहीं है। इसका कारण यह है कि भगवान्-संबंधी ये अनुभव मानसिक रचनाएं नहीं हैं, प्राणिक क्रियाएं नहीं हैं; ये वास्तविक चीजें हैं, महज सोची हुई बातें नहीं, बल्कि सत्य वस्तुएं हैं, मनद्वारा अनुभूत नहीं बल्कि हमारे ठीक अंतरस्थ पदार्थ और सारतत्त्वमें अनुभूत हैं। इसमें संदेह नहीं कि मन सदा रहता ही है और हस्तक्षेप कर सकता है; यह भगवान्‌के विषयमें अपने ढंगका मानसिक रूप बना सकता है और बनाता ही है, जैसे, आध्यात्मिक सत्यके विषयमें विचार, विश्वास, भाव, मानसिक प्रतिबिंब बना सकता है, यहांतक कि एक प्रकारकी मानसिक उपलब्धि भी कर सकता है जो बार-बार होती है और इसके साथ वह उच्चतर सत्यका एक प्रकारका आकार भी गढ़ सकता है, और यह सब मूल्यहीन नहीं होता, पर यह सब ठोस, स्वाभाविक और निस्संदिग्ध नहीं होता। मन अपने-आपमें चरम निश्चयता प्राप्त करनेमें समर्थ नहीं होता; जो कुछ वह विश्वास करता है उसपर वह संदेह कर सकता है; जो कुछ वह प्रस्थापित कर सकता है, उसीका प्रत्याख्यान कर सकता है; जो कुछ वह अधिकृत करता है उसे ही वह छोड़ सकता और छोड़ता ही है। तुम चाहो तो कह सकते हो कि यह तो उसकी स्वतंत्रता है, महान् अधिकार, विशेषाधिकार है; हो सकता है कि यह सब तुम उसकी प्रशंसामें कह सकते हो, पर मनकी इन पद्धतियोंसे तुम ऐसी किसी चीजतक (भौतिक प्रपंचकी पहुंचके बाहर और मुश्किलसे उस क्षेत्रमें भी) पहुंचनेकी आशा नहीं कर सकते जिसे तुम अंतिम निश्चयता कह सको। यही वह विवशकारी कारण है जिससे भगवान्‌के विषयमें की गयी मानसिक कल्पना या पूछताछ स्वयं अपने बलपर भगवान्‌को नहीं ले आ सकती। यदि चेतना निरंतर तुच्छ

मानसिक क्रियाओंमें व्यस्त रहे,—विशेषकर उसके साथ, जैसा कि सामान्यतया होता है, प्राणिक वृत्तियों, कामनाओं, पूर्वाग्रहोंका एक झुंड तथा दूसरी वे सब चीजें जो मानव-चिंतनको दूषित करती हैं, संलग्न रहें,—तर्क-बुद्धिकी स्वाभाविक असमर्थताके अलावा भी, तो भला ज्ञानके किसी नये प्रकारके लिये, प्रमुख अनुभूतियोंके लिये अथवा आत्माकी उन गंभीर और प्रचंड लहरों या अवतरणोंके लिये क्या स्थान हो सकता है? निस्संदेह, मनके लिये यह संभव है कि अपनी क्रियाओंके बीच वह अचानक आक्रांत, अभिभूत हो सकता और बहा दिया जा सकता है, जब कि सब कुछ आध्यात्मिक अनुभवकी आकस्मिक बाढ़से परिप्लावित हो जाता है। परंतु बादमें यदि वह प्रश्न करने, शंका करने, सिद्धांतीकरण करने लगता है और यह कल्पना-जल्पना करने लगता है कि ये सब चीजें क्या हो सकती हैं और आया ये सत्य हैं या नहीं, तब भला आध्यात्मिक शक्ति पीछे हट जाने और मनके इन बुलबुलोंके बंद हो जानेके लिये प्रतीक्षा करनेके सिवा और क्या कर सकती है?

मैं उन लोगोंसे केवल एक ही सरल प्रश्न पूछना चाहूंगा जो मन-बुद्धिको आध्यात्मिक अनुभवका मापदंड और निर्णायक बनाना चाहते हैं। भला भगवान् मनकी अपेक्षा कोई तुच्छ चीज हैं या उससे कोई महत्तर चीज? क्या मानसिक चेतना अपनी अंधेके समान टटोलनेवाली खोज, अंतहीन तर्क-वितर्क, अतृप्य शंका-संदेह, कठोर और अनमनीय युक्तिके साथ भागवत चेतनासे अधिक श्रेष्ठ या यहांतक कि उसके समान कोई वस्तु है या अपने कर्म और स्थितिमें उससे अधिक हीन कोटिकी कोई वस्तु है? यदि वह कोई महत्तर वस्तु हो तो फिर भगवान्‌की खोज करनेका कोई कारण नहीं। यदि वह एक समान हो तो आध्यात्मिक अनुभव बिलकुल निरर्थक है। परंतु यह यदि तुच्छतर वस्तु हो तो भला यह किस तरह भगवान्‌को चुनौती दे सकती, उनका विचार कर सकती, अपने न्यायालयके सामने एक अभियुक्त या साक्षीके रूपमें खड़ा कर सकती, परीक्षक-मंडलके सामने एक उम्मीदवारके रूपमें दाखिलाके लिये उपस्थित होनेके लिये बुला सकती अथवा अपने परीक्षणके अणुवीक्षक यंत्रके नीचे एक कीड़ेकी भांति उन्हें सुईमें विद्ध कर सकती है? क्या प्राणमय पशु अपनी प्राणिक सहजवृत्तियों, साहचर्यो और आवेगोंको अभ्रांत मापदंडके रूपमें ऊंचा उठा सकता और उसके द्वारा मानव-मनका विचार, व्याख्या और नापतौल कर सकता है? नहीं कर

सकता, क्योंकि मनुष्यका मन उससे अधिक महान् शक्ति है और अधिक विशाल, अधिक जटिल ढंगसे कार्य करता है जिसका पाशव प्राणिक चेतना अनुसरण नहीं कर सकती; उसी भांति क्या यह देखना कठिन है कि भागवत चेतना अवश्य ही मानव-मनकी अपेक्षा अनंत-गुना विशाल, कहीं अधिक जटिल वस्तु होगी, कहीं अधिक महान् शक्तियों और ज्योतियोंसे परिपूर्ण होगी, ऐसे ढंगसे विचरण करती होगी जिसका विचार, व्याख्या या नाप-तौल अपनी भ्रांत तर्क-बुद्धि और सीमित अर्ध-ज्ञानके द्वारा महज मन नहीं कर सकता? सीधासा तथ्य यह है कि आत्मा और मन एक ही वस्तु नहीं हैं और वास्तवमें आध्यात्मिक चेतनामें ही योगीको प्रवेश करना होता है (इन सब बातोंमें मैं बिलकुल ही अतिमानसकी चर्चा नहीं कर रहा हूँ), जब वह भगवान्‌के साथ स्थायी संपर्क या एकत्व प्राप्त करना चाहता है। अतएव यह कोई भगवान्‌की सनक या निरंकुशता नहीं है कि मनपर यह जोर डाला जाता है कि वह अपनी सीमाओंको जाने, अपने-आपको शांत-स्थिर करे, अपनी मांगोंका परित्याग कर दे और उस महत्तर ज्योतिकी ओर उद्घाटित और समर्पित हो जाय जिसे वह अपने अधिक अंधकारपूर्ण स्तरपर नहीं प्राप्त कर सकता।

परंतु इसका तात्पर्य यह नहीं है कि आध्यात्मिक जीवनमें मनका बिलकुल ही कोई स्थान नहीं है; बल्कि इसका तात्पर्य यह है कि उसके प्रभुत्वकी तो चर्चा ही क्या, वह एक ऐसा प्रमुख यंत्र भी नहीं हो सकता जिसके निर्णयके सामने भगवान्‌के सहित सबको झुकना ही होगा। मनको उस महत्तर चेतनासे सीखना चाहिये जिसकी ओर वह अग्रसर हो रहा है और उसपर अपने मानदंडोंको लादना नहीं चाहिये। उसे प्रकाश ग्रहण करना होगा, एक उच्चतर सत्यकी ओर खुलना होगा, एक ऐसी महत्तर शक्तिको स्वीकार करना होगा जो मानसिक विधानोंके अनुसार कार्य नहीं करती, उसे समर्पित होना होगा और अपने अर्ध-प्रकाश और अर्ध-अंधकारको ऊपरसे परिप्लावित हो जाने देना होगा जबतक कि वह जहां अंधा था वहां देखने न लगे, जहां वह बहरा था वहां सुनने न लगे, जहां वह असंवेदनशील था वहां अनुभवक्षम न हो जाय और जहां वह विभ्रांत, अनिश्चित, शंकाशील और हताश था वहां वह हर्ष, आत्मपूर्ति, निश्चयता और शांति न पाने लगे।

यही है वह स्थिति जिसपर योग खड़ा रहता है, यह एक ऐसी स्थिति है जो उसी समयसे सतत अनुभवके आधारपर स्थापित है जिस समयसे मनुष्योंने भगवान्‌को पानेका प्रयास करना आरंभ किया था। यदि यह सच नहीं है तो योगमें कोई सत्य नहीं है और न उसकी कोई आवश्यकता है। यदि यह सच है तो फिर इसी आधारपर, इसी महत्तर चेतनाकी आवश्यकताकी दृष्टिसे हम यह देख सकते हैं कि आया आध्यात्मिक जीवनके लिये संदेहकी कोई उपयोगिता है या नहीं। किसी भी चीजपर या प्रत्येक चीजपर विश्वास करनेकी मांग निश्चय ही आध्यात्मिक साधकसे नहीं की जा सकती; इस प्रकारकी संकीर्ण और निर्बल श्रद्धालुता तो महज अबौद्धिक होगी, बल्कि अंतिम परिमाणमें अनाध्यात्मिक होगी। आध्यात्मिक जीवनके प्रत्येक क्षणमें, जबतक मनुष्य उच्चतर ज्योतिमें पूर्णतः नहीं प्रविष्ट हो जाता, उसको पूर्ण चौकसी रखनी पड़ती है और आध्यात्मिक सत्य तथा उसके मिथ्या-आध्यात्मिक कृत्रिम रूपों अथवा मन तथा प्राणिक वासनाद्वारा उपस्थापित उसके प्रतिरूपोंके बीच विभेद करनेमें समर्थ होना होता है। भगवान्‌के सत्यों और असुरके मिथ्यात्वोंके बीच विभेद करनेकी क्षमता योगकी एक अत्यंत महत्त्वपूर्ण आवश्यकता है। प्रश्न यह है कि क्या ऐसा संदेहकी प्रभावहीन और नाशकारी पद्धतिसे उत्तम रूपमें किया जा सकता है,—जो संदेह कि बहुधा मिथ्यात्वका नाश कर देता है पर साथ ही उसी निष्पक्ष प्रहारके द्वारा सत्यका परित्याग भी कर देता है,—अथवा कोई अधिक प्रभावशाली, साहाय्यकारी और प्रकाशपूर्ण ढंगसे अन्वेषण करनेवाली कोई शक्ति पायी जा सकती है जो अपने अन्तर्निहित अज्ञानके कारण एक समान संदेहकी कटार और अस्वीकृतिका डंडा लेकर सत्य और मिथ्यात्वका सामना करनेको बाध्य न हो। सच पूछा जाय तो आध्यात्मिकता या योगकी शिक्षा यह नहीं है कि मनुष्य विवेकहीन मानसिक विश्वासका पोषण करे; योग जिस श्रद्धाकी बात कहता है वह कोई स्थूल मानसिक विश्वास नहीं है बल्कि वह अपने अंदर विद्यमान पथप्रदर्शिका ज्योतिके प्रति अंतरात्माकी निष्ठा है, वह निष्ठा है जो उस समयतक बनी रहनी चाहिये जबतक कि ज्योति उसे ज्ञानमें नहीं पहुंचा देती।

⊙

मैं किसीसे भी "विवेकशून्य श्रद्धा" की मांग नहीं करता, मैं जो कुछ चाहता हूँ वह है मूलभूत श्रद्धा, जो धीर-स्थिर विवेक-शक्तिके द्वारा सुरक्षित हो—क्योंकि ये ही वे चीजें हैं जो आध्यात्मिक साधककी चेतनाके लिये समीचीन हैं और ये ही वे चीजें हैं जिनका स्वयं मैंने व्यवहार किया है और यह देखा है कि इन्होंने इस बिलकुल अनावश्यक दुविधाकी सारी आवश्यकताको ही दूर कर दिया कि "या तो तुम्हें प्रत्येक अतिभौतिक वस्तुपर शंका करनी होगी या पूर्णतः विश्वास करना होगा," जो कि भौतिकवादी युक्तिका सारा माल-मसाला है। तुम्हारा संदेह, मैं देख रहा हूँ, निरंतर इसी अभियोगपर वापस आ रहा है और मेरी अस्वीकृतिके बावजूद बार-बार इसी सिद्धांतको दुहराता रहता है—जो मेरे इस कथनका ही समर्थन करता है कि संदेहको कभी संतुष्ट नहीं किया जा सकता, क्योंकि वह अपने स्वभाववश ही संतुष्ट होना नहीं चाहता; वह सर्वदा अपने पुराने अभिप्रायको ही दुहराता रहता है।



इस भौतिक जगत्में असामान्य वस्तुएँ प्रचुर हैं, अति-सामान्य वस्तुएँ भी हैं। इन सब विषयोंमें, श्रद्धाके किसी प्रश्नके अलावा, किसी सच्चे तर्कशील व्यक्तिको, जो उन्मुक्त मनवाला हो (जो युक्तिवादियों या तथाकथित स्वतंत्र-चिंतकोंकी तरह हर स्थलपर प्रागनुभव अयौक्तिक अविश्वासकी त्रिविध रज्जुसे बंधा हुआ न हो), तुरत चिल्ला नहीं उठना चाहिये, "पागलपन! मिथ्यापन!" बल्कि तबतक अपने निर्णयको स्थगित रखना चाहिये जबतक उसे आवश्यक अनुभव और ज्ञान प्राप्त न हो जाय। अज्ञानमें अस्वीकार करना अज्ञानमें स्वीकार करनेसे अधिक अच्छा बिलकुल नहीं है।



चाहे जो भी हेतु मन या प्राणको तुरत आगे क्यों न बढ़ा ले जाय, यदि सत्तामें भगवान्के लिये सच्ची खोज हो तो वह अंतमें भगवान्की अनुभूति अवश्य कराता है। अंतरस्थ अंतरात्मामें सर्वदा ही भगवान्के लिये अहैतुकी प्रेम होता है; हेतु या विशेष कारण महज एक ऐसा आवेग होता है जिसका प्रयोग अंतरात्मा मन और प्राणसे आंतरिक

प्रवेगका अनुसरण करानेके लिये करता है। यदि मन और प्राण स्वयं भगवान्‌के लिये भगवान्‌के प्रति अंतरात्माके विशुद्ध प्रेमको अनुभव और ग्रहण करें तो भी वे उस चीजको भगवान्‌के अन्दर पायेंगे जिसे वे खोज रहे हैं और उसके द्वारा वे कुछ-न-कुछ अनुभव करेंगे, यहांतक कि मौलिक कामनाकी सीमाके परे चले जानेका अनुभव करेंगे...। मैं यह कह सकता हूँ कि आनंदहीन भगवान्‌की भावना एक मूर्खता है, जिसे केवल मनका अज्ञान ही उत्पन्न कर सकता है! राधा-प्रेम किसी ऐसी चीजपर आधारित नहीं है, बल्कि उसका तात्पर्य बस यह है कि जो कुछ भगवान्‌की ओर जानेके पथपर आता है, चाहे वह दुःख हो या सुख, मिलन हो या विरह, और चाहे जितने दिन वेदना क्यों न बनी रहे, राधा-प्रेम अटूट बना रहता है और अपनी श्रद्धा और निश्चयताको बनाये रखता है जो एक सितारेकी भांति निश्चित रूपसे प्रेमके परम भाजनकी ओर संकेत करती रहती हैं।

आखिर यह आनंद है क्या? मन इसके अंदर एक सुखकारी मानसिक अवस्थाके सिवा और कुछ नहीं देख सकता,—पर वह यदि केवल वही वस्तु हो तो वह, वह उल्लास नहीं हो सकती जिसे भक्तगण और योगीगण उसके अंदर पाते हैं। जब आनंद तुम्हारे अंदर आता है तो सच पूछो तो स्वयं भगवान् ही तुम्हारे अंदर आते हैं, ठीक वैसे ही जैसे कि जब शांति तुम्हारे अंदर प्रवाहित होती है तो उस समय स्वयं भगवान् ही तुम्हें आक्रांत करते होते हैं, अथवा जब तुम्हारे अंदर ज्योतिकी बाढ़ आती है तो वह स्वयं भगवान्‌की ही बाढ़ होती है जो तुम्हारे चारों ओर फैली होती है। निस्संदेह, भगवान् इन सबसे बहुत अधिक कोई वस्तु हैं, इनके अलावा बहुत-सी अन्य वस्तुएँ हैं, और उन सबमें विद्यमान एक उपस्थिति, एक सत्ता, एक दिव्य पुरुष वह हैं; क्योंकि भगवान् ही कृष्ण हैं, शिव हैं, परमा जननी हैं। परंतु आनंदके भीतरसे तुम आनंदमय कृष्णको देख सकते हो, क्योंकि आनंद कृष्णका सूक्ष्म शरीर और स्वरूप है; शांतिके भीतरसे तुम शांतिमय शिवको देख सकते हो; ज्योतिमें, मुक्तिदाता ज्ञान, प्रेम, सिद्धिदायी और उन्नतिकारी शक्तिके अंदर तुम भगवती माताकी उपस्थितिके दर्शन कर सकते हो। यही वह दर्शन है जो भक्तों और योगियोंकी अनुभूतियोंको इतना उल्लासमय बना देता है और उन्हें अधिक आसानीसे विरह और वेदनाकी रातोंमेंसे निकल जानेकी सामर्थ्य प्रदान करता है; जब यह अंतरात्मानुभूति

विद्यमान होती है तो यह एक स्वल्प और क्षणिक आनंदको भी एक शक्ति या मूल्य प्रदान करती है जो उसे अन्यथा न प्राप्त हो सकता, और स्वयं आनंद उसके द्वारा ठहरने, बार-बार आने और बढ़नेकी वर्द्धनशील शक्ति आयत्त करता है।

मैं रसेलके आक्षेपोंका बहुत अच्छी तरह उत्तर नहीं दे सकता, क्योंकि ईसाइयों या यहूदियोंकी भगवान्-संबंधी जो यह कल्पना है कि वह एक विश्वबहिर्भूत सर्वशक्तिमान् देवता है जिसने इस जगत्की "सृष्टि की" है और जो एक निरंकुश और स्वच्छन्द राजाकी भांति इसपर शासन करता है, यह कभी मेरी कल्पना नहीं रही है; यह तो उस दर्शन और अनुभवका अत्यधिक खंडन करती है जो तीस वर्षोंकी साधनाके बीच मुझे प्राप्त हुआ है। वास्तवमें इसी कल्पनाको नास्तिकवादी आक्षेप अपना निशाना बनाता है,—क्योंकि यूरोपका नास्तिकवाद एक छिछली और बचकानी सामान्य धार्मिकता तथा उसके सामान्य अक्षम और उजड्ड कट्टरपंथी मतोंके विरुद्ध उठनेवाली एक छिछली और बल्कि बचकानी प्रतिक्रिया रहा है। परंतु, जब मैं भागवत संकल्पकी बात कहता हूँ तो मेरा मतलब किसी अन्य वस्तुसे होता है,—ऐसी वस्तुसे जो यहां अज्ञानके एक क्रमवर्द्धमान जगत्में अवतरित हुई है, वस्तुओंके पृष्ठभागमें अवस्थित है, अपनी ज्योतिसे अंधकारपर दबाव डाल रही है, वस्तुओंको अभी उस सर्वोत्तम स्थितिकी ओर ले जा रही है जो अज्ञानके एक जगत्की परिस्थितियोंमें संभव है और अंतमें भगवान्की एक महत्तर शक्तिका अवतरण कराने जा रही है जो कोई ऐसी सर्वशक्तिमत्ता नहीं होगी जो संसारके, जैसा कि यह है, विधानके द्वारा नियंत्रित और प्रसीमित हो, बल्कि पूर्णतः क्रियाशील होगी और इस कारण, ज्योति, शांति, सामंजस्य, हर्ष, प्रेम, सौंदर्य और आनंदका राज्य ले आयेगी, क्योंकि ये ही हैं भगवान्का स्वभाव। भागवत कृपाशक्ति प्रत्येक मुहूर्त्त कार्य करनेके लिये तैयार रहती है, पर वह अभिव्यक्त होती है जब कोई अज्ञानके विधानसे बाहर निकलकर ज्योतिके विधानमें वर्द्धित होता है, और इसका मतलब है कि वह किसी स्वेच्छाचारी मनमौजीकी तरह कार्य नहीं करती, चाहे बहुधा उसका हस्तक्षेप जितना भी आश्चर्यजनक क्यों न प्रतीत हो, बल्कि उस वृद्धिमें एक सहायकके रूपमें तथा एक ऐसी ज्योतिके रूपमें करती है जो पथ दिखाती और अंतमें मुक्त करती है। यदि हम जगत्के

तथ्योंको, जैसे कि वे हैं, लें तथा आध्यात्मिक अनुभवके तथ्योंको संपूर्ण रूपमें लें जिनमेंसे किसीको अस्वीकार या उपेक्षित नहीं किया जा सकता, तो फिर मैं नहीं समझता कि दूसरा कौन भगवान् हो सकता है। यह भगवान् बहुधा हमें अंधकारके भीतरसे ले जा सकता है, क्योंकि अंधकार हमारे अंदर और हमारे चारों ओर विद्यमान है, पर वह ले जा रहा है ज्योतिकी ओर ही, किसी अन्य वस्तुकी ओर नहीं।



"निराकार" का जो अशुद्ध वर्णन बुद्धि करती है (जो किसी ऐसी वस्तुके महज नकारात्मक अभिव्यक्तिका परिणाम है), उसके विषयमें जो प्रश्न है, वह बहुत अच्छे ढंगसे रचित है और वह केंद्रमें स्थित सत्यपर चोट करता है। जिस व्यक्तिको ब्रह्मके आनंदकी अनुभूति हुई है, वह ठंडेपन (रूखेपन) के अभियोगपर हँसनेके अतिरिक्त और कुछ नहीं कर सकता; इसमें अविनाशी परमानंदका एक प्रकारका पूर्णत्व है, नीरव और अविच्छेद्य हर्षोल्लासकी केंद्रीभूत तीव्रता है जिसका संकेत किसी ऐसे व्यक्तिको देना भी असंभव है जिसे कभी अनुभव न हुआ हो। शाश्वत सद्वस्तु न तो ठंडी न सूखी न रिक्त है; तुम अपितु मध्यग्रीष्मकी धूपको ठंडी या समुद्रको सूखा या पूर्णतः परिपूर्णको रिक्त कह सकते हो। जब तुम आकार और अन्य प्रत्येक वस्तुको विलीन करके भी उसमें प्रवेश करते हो तो यह एक अद्भुत पूर्णत्वके रूपमें ऊपर उमड़ आता है—वह सचमुच 'पूर्णम्' है; जब इसमें स्वीकारात्मक और निषेधात्मक रूपमें प्रवेश किया जाता है तो उस दशामें भी खालीपन या सूखेपनका स्पष्टतः कोई प्रश्न नहीं रह सकता! सब कुछ वहाँ है और सर्वके रूपमें कोई जो भी कल्पना कर सकता है उससे कहीं अधिक वहाँ है। यही कारण है कि जब बुद्धि 'सब जानती हूँ' के भाव के साथ टांग अड़ाती है तो आपत्ति करनी ही पड़ती है। यदि वह अपनी ही सीमाओंके अंदर बनी रहती तो इसमें आपत्तिकी कोई बात ही न होती। परंतु वह ऐसे शब्दों और विचारोंका निर्माण करती है जिनका सत्यके साथ कोई सरोकार नहीं होता, अपने अज्ञानवश मूर्खतापूर्ण बातें बड़बड़ाती है और अपनी रचनाओंकी एक दिवाल खड़ी कर देती है जो उस सत्यको भीतर आनेसे मना करती है, जो उसकी अपनी क्षमताओं और सीमाओंका अतिक्रमण करता है।

⊙

यदि कोई अंधा हो तो यह विलकुल स्वाभाविक है—क्योंकि आखिर मानव-बुद्धि अपने उत्तम-से-उत्तम स्थितिमें भी कुछ-कुछ अशक्त वस्तु ही है—दिवालोकको भी अस्वीकार कर सकती है। यदि किसीका उच्चतम स्वाभाविक अंतर्दर्शन झिलमिलाते कुहासेका ही हो तो उसी तरह यह विश्वास करना भी स्वाभाविक है कि सभी ऊंचे दर्शन केवल कुहासे या क्षीण प्रकाशके ही दर्शन होते हैं। परंतु फिर भी दिव्य ज्योतिका अस्तित्व है—और आध्यात्मिक सत्य कुहासे और क्षीण प्रकाशसे अधिक कुछ है।



प्रो० सारली (Prof. Sorley) ने 'इस जगत्की पहेली' पुस्तकके संबंधमें जो कुछ लिखा है उसके संबंधमें मुझे यह कहना है कि वह पुस्तक, निश्चय ही, मेरे विचारोंका पूरा या सीधा वर्णन करनेके लिये नहीं लिखी गयी थी, और चूंकि वह अधिकांशतः साधकोंको लिखी गयी थी, बहुतसी चीजें वहां सत्य स्वीकार कर ली गयी थीं। प्रधान-प्रधान विचारोंमेंसे अधिकांश, जैसे, अधिमानस—विशद व्याख्या किये विना छोड़ दिये गये थे। उन विचारोंको वुद्धिमानोंके समक्ष सुस्पष्ट अर्थपूर्ण वनानेके लिये उन्हें ठीक-ठीक वौद्धिक शैलीमें रखना होगा—जहांतक अति-वौद्धिक वस्तुओंको रखना संभव हो। उस पुस्तकमें जो कुछ लिखा गया है वह उन्हीं लोगोंके लिये स्पष्ट होगा जो अनुभवके क्षेत्रमें काफी दूरतक जा चुके है, पर अधिकांश लोगोंके लिये वह केवल सांकेतिक ही सिद्ध हो सकता है।

परंतु मैं नहीं समझता कि अति-वौद्धिक वस्तुओंका विवरण देते समय वुद्धिकी भाषामें विभेद करना आवश्यक है। कारण, मुख्यतः, यह अनुमानप्रधान चिंतनद्वारा प्राप्त विचारोंकी अभिव्यंजना नहीं होता। आध्यात्मिक ज्ञानको अनुभवके द्वारा प्राप्त करना होता है और वस्तुओंकी एक ऐसी चेतनाके द्वारा प्राप्त करना होता है जो सीधे उस अनुभवसे उत्पन्न होती है अथवा उसका आधार होती है अथवा उसमें अंतर्निहित होती है। तव इस प्रकारका ज्ञान मूलतः एक चेतना होता है, न कि कोई विचार या मनोनिर्मित भाव-भावना। उदाहरणार्थ, मेरा पहला प्रमुख मौलिक और अभिभूतकारी, यद्यपि, जैसा कि वादमें सिद्ध हुआ, अंतिम और सर्वांगपूर्ण नहीं—अनुभव वादमें आया

और समस्त विचारको निकाल वाहर कर देने और नीरव वना देनेसे आया—उस समय, सवसे पहले, एक ऐसी वस्तु थी जिसे आध्यात्मिक रूपमें निश्चलता और नीरवताकी एक यथार्थ या ठोस चेतना कह सकते हैं, उसके वाद किसी एकमेव और परात्पर सद्वस्तुकी अभिज्ञता आयी जिसकी उपस्थितिमें वस्तुएं केवल आकारोंके रूपमें विद्यमान थीं; पर वे आकार विलकुल ही सारयुक्त या सत्य या ठोस नहीं थे; पर यह सव एक आध्यात्मिक अनुभव और सारभूत तथा निर्व्यक्तिक वोधके समक्ष प्रत्यक्ष था और सत्यता तथा असत्यताका जरा भी प्रतिवोध या भावना अथवा कोई दूसरी धारणा वहां नहीं थी, क्योंकि समस्त प्रतिवोध या भावना निस्तब्ध कर दी गयी थी या यों कहें कि पूर्ण निश्चलताके अंदर पूर्णतः अनुपस्थित थी। ये सव चीजें सीधे विशुद्ध चेतनाके द्वारा परिज्ञात थीं और न कि मनके द्वारा, अतएव वहां विचारों या शब्दों या नामोंकी कोई आवश्यकता नहीं थी। इसके साथ-ही-साथ आध्यात्मिक अनुभवका यह मौलिक स्वरूप पूर्ण रूपसे प्रतिवंधक नहीं है; यह विचारके विना काम चला सकता है, पर विचारके होनेपर भी काम चला सकता है। निस्संदेह, मनकी पहली भावना यही होगी कि विचारका आश्रय लेनेपर मनुष्य तुरत वुद्धिके क्षेत्रमें वापस आ जाता है —और प्रारंभमें तथा दीर्घ कालतक ऐसा हो भी सकता है; पर मेरा अनुभव यह नहीं है कि इससे वचा नहीं जा सकता। ऐसा तव होता है जव कोई व्यक्ति अपने अनुभूत विषयका वौद्धिक वर्णन देनेका प्रयास करता है; परंतु एक दूसरे प्रकारका भी विचार है जो इस प्रकार एकाएक उद्भूत होता है मानो वह उस अनुभवका या उसमें अन्तर्निहित चेतनाका—अथवा उस चेतनाके एक भागका—शरीर या आकार हो और यह विचार मुझे अपने स्वभावमें वौद्धिक नहीं प्रतीत होता। इसमें एक दूसरी ज्योति, दूसरी शक्ति होती है, वोधके अंदर एक वोध होता है। ऐसा उन विचारोंके आनेपर वहुत स्पष्ट प्रतीत होता है जो अपनेको मूर्त्तिमंत करनेवाले शब्दोंकी आवश्यकताके विना आते हैं; उन विचारोंके आनेपर प्रतीत होता है, जो चेतनाके अंदर प्राप्त एक प्रकारके प्रत्यक्ष दर्शनके जैसे होते हैं, यहांतक कि एक प्रकारके घने वोध या संपर्क होते हैं जो अपनी अभिज्ञताकी यथार्थ अभिव्यंजनाके रूपमें अपनेको आकार प्रदान करते हैं (मैं आशा करता हूं कि यह अत्यंत रहस्यपूर्ण या अवोध्य नहीं है); वल्कि यह कहा

जा सकता है कि विचार बुद्धिके राज्यसे संबंध रखनेवाले शब्दोंमें परिणत हो जाते हैं—क्योंकि शब्द बुद्धिके गढ़े सिक्के हैं, परंतु क्या वास्तवमें या अनिवार्य रूपमें बात ऐसी ही है? मुझे तो सर्वदा ही यह प्रतीत हुआ है कि मूलतः शब्द चिंतनशील मनसे भिन्न किसी दूसरे स्थलसे आये, यद्यपि चिंतनशील मनने उन्हें दृढ़तासे अपनी पकड़में ले लिया, अपने उपयोगमें लगा दिया और अपने उद्देश्योंके लिये स्वतंत्र रूपमें उन्हें गढ़ लिया। परंतु अन्यथा भी, क्या किसी ऐसी चीजको अभिव्यक्त करनेके लिये शब्दोंका प्रयोग करना संभव नहीं है जो बौद्धिक न हो? हाउसमैन (Houseman) का यह कहना है कि कविता पूर्ण रूपसे तभी कवित्वपूर्ण होती है जब वह अबौद्धिक होती है, जब वह अर्थहीन होती है। यह अत्यंत विरोधाभासी है, पर मैं समझता हूं कि उनका मतलब यह है कि यदि उसे बुद्धिकी कठोर कसौटीपर चढ़ाया जाता है तो वह व्यर्थ प्रतीत होती है, क्योंकि वह एक ऐसी चीजको सूचित करती है जो बौद्धिक विचारद्वारा प्रदत्त दृष्टिकी अपेक्षा किसी दूसरे प्रकारकी दृष्टिको अभिव्यक्त करती है और उसीके लिये सत्य होती है। क्या यह संभव नहीं है कि शब्द उस अतिबौद्धिक चेतनासे—कम-से-कम कुछ हदतक और किसी विशेष ढंगसे—उद्भूत हों जो आध्यात्मिक अनुभवकी मुख्य शक्ति है और उसी चेतनाको अभिव्यक्त करनेके लिये भाषाका उपयोग किया जाय? परंतु यह बात प्रसंगवश आ गयी है—जब कोई आध्यात्मिक अनुभवको स्वयं बुद्धिके सामने सुस्पष्ट करनेका प्रयास करता है तो वह एक दूसरी ही बात होती है।

लोक-लोकांतरोंका परस्पर अंतःप्रवेश, निस्संदेह, मेरे लिये आध्यात्मिक अनुभवका एक महत्त्वपूर्ण और अनिवार्य अंग है, जिसके बिना मेरे अनुसृत योग और उसके लक्ष्यका अस्तित्व ही नहीं रह सकेगा। क्योंकि वह लक्ष्य है पृथ्वीपर एक उच्चतर चेतनाको अभिव्यक्त करना, उसे प्राप्त या मूर्तिमान् करना और पृथ्वीसे भागकर किसी उच्चतर जगत् अथवा परात्पर ब्रह्ममें प्रवेश न कर जाना। प्राचीन योगोंने (उनमेंसे एकदम सबने नहीं) दूसरे पथको अपनाया—परंतु, मेरी समझमें, उसका कारण यह था कि उन्होंने पृथ्वीको, जैसी कि यह है, किसी आध्यात्मिक पुरुषके लिये प्रायः असंभव स्थान अनुभव किया और परिवर्तनकी बाधाको सहन करनेमें अत्यंत कठिन पाया; पार्थिव प्रकृति उन्हें, विवेकानन्दकी उपमाके अनुसार, कुत्तेकी दुमकी जैसी

प्रतीत हुई जो बार-बार सीधी करनेपर भी अपनी मूल टेढ़ी अवस्थामें वापस चली जाती है। परंतु इस विषयका मौलिक सिद्धांत उपनिषदोंमें बहुत सुनिश्चित रूपमें घोषित हुआ था जो अपने कथनमें इतनी दूर-तक चला गया कि पृथ्वी ही आधार है और सभी जगत् इस पृथ्वीपर ही हैं और उनमें किसी प्रकारके सुस्पष्ट कटे-छंटे या विपरीत विभेदकी कल्पना करना अज्ञान है; यहीं, और कहीं नहीं, किसी दूसरे जगत्में जाकर नहीं, भागवत सिद्धि प्राप्त होनी चाहिये। यह वक्तव्य विशुद्ध व्यक्तिगत सिद्धिको समर्थित करनेके लिये व्यवहृत हुआ था, पर यह उसी तरह एक विशालतर प्रयासका आधार भी हो सकता है।

बहुदेवोपासनाका जहांतक संबंध है, मैं निश्चय ही एकमेवके अनेक रूपों और व्यक्तित्वोंके सत्यको स्वीकार करता हूं जो वैदिक कालसे ही भारतीय बहुदेवोपासनाका आध्यात्मिक सारतत्त्व रहा है—वह उपासना एकमेव और एकमात्र भगवान्‌के अन्वेषणका एक गौण रूप रही है। परंतु प्रो० सॉरलीने जिस उद्धरणका जिक्र किया है (पृ० ५६), उसका संबंध किसी दूसरी वस्तुसे है—वहां जिन छोटे-छोटे देवों और दानवोंकी बात कही गयी है, वे अन्य लोकोंकी अतिभौतिक सत्ताएं हैं। वहां इस बातका संकेत करना अभिप्रेत नहीं है कि वे सच्चे उच्च देवी-देवता हैं और उपासनाके अधिकारी हैं—इसके विपरीत, वहां यह सूचित किया गया है कि उनके प्रभावको स्वीकार करना मूल-भ्रांति और अस्तव्यस्तताकी ओर जाना अथवा सच्चे आध्यात्मिक पथसे भ्रष्ट हो जाना है। इसमें संदेह नहीं कि सृजनकी कुछ शक्ति उनमें होती है, वे अपने ढंगसे और अपने सीमित राज्यमें आकारोंके निर्माता होते हैं, पर ठीक वैसे ही मनुष्य भी अपने निजी राज्य और सीमाओंके भीतर बाह्य और आंतरिक वस्तुओंके निर्माता होते हैं—और, यहांतक कि मनुष्यकी सृजनात्मिका शक्तियोंका अप्रत्यक्ष प्रभाव अतिभौतिक क्षेत्रोंपर भी पड़ सकता है।

मैं स्वीकार करता हूं कि संन्यासको अतिक्रांत किया जा सकता है। आत्मप्रभुत्वकी प्राप्तिके एक साधनके रूपमें—एकमात्र साधनके रूपमें नहीं—इसका अपना स्थान है; परंतु जो संन्यास जीवनको ही काट फेंकता है वह एक प्रकारका अतिरंजन है, यद्यपि एक ऐसा अति-रंजन है जिससे अनेक अपूर्व परिणाम निकलें और ये परिणाम शायद मुश्किलसे अन्य तरहसे प्राप्त हो सकते थे। इस जगत्‌की शक्तियोंकी

क्रीड़ा रहस्यमय है और वह बुद्धिके किसी भी कठोर नियमसे बच निकलती है, और यहांतक कि इस प्रकारका अतिरंजन कुछ ऐसी चीज उत्पन्न करनेके लिये बहुधा प्रयुक्त होता है जो मानव-उपलब्धि और ज्ञान और अनुभवके पूर्ण विकासके लिये आवश्यक होती है। परंतु तो भी था यह एक अतिरंजन ही और, सच्चे लक्ष्यकी ओर जानेका, जैसा कि यह होनेका दावा करता था, अनिवार्य पथ नहीं है।

(१)

स्थिर, उज्ज्वल और स्वच्छ मनके ऊपर प्रो० सॉरलीने जो टिप्पणी की है उसमें मुझे कोई बात आपत्ति करने लायक नहीं दीखती, क्योंकि वह समुचित रूपमें उस प्रक्रियाको सूचित करती है जिसके द्वारा मन अपनी प्रशांत सतहपर अथवा मूल पदार्थमें उच्चतर सत्यके प्रतिबिंबित होनेके लिये अपनेको तैयार करता है। एक बात संभवतः ध्यानमें रखनेकी आवश्यकता है—मनकी यह विशुद्ध स्थिरता सर्वदा ही आवश्यक स्थिति है, अभीष्ट वस्तु है, परंतु इसे उत्पन्न करनेके एकसे कहीं अधिक मार्ग हैं। उदाहरणार्थ, इसे करनेका केवल यही एक उपाय नहीं है कि मन स्वयं अपने प्रयासके बलपर अपने अंदर घुस आनेवाले समस्त भावावेगों या प्राणावेगों या स्वयं अपने ही विशिष्ट प्रकंपनोंसे अथवा उस भौतिक तमस्के अंधकारपूर्ण धुंओंसे जो मनमें जाग्रत् नीरवताके बदले निद्रा या जड़ता उत्पन्न करता है, अपने-आपको खाली कर ले; क्योंकि यह तो यौगिक ज्ञानमार्गकी केवल सामान्य प्रक्रिया है। यह कार्य ऊपरसे एक महान् स्थिरताके अवतरणसे भी संपन्न हो सकता है जो मन, हृदय, प्राणिक उत्तेजनाओं और भौतिक सहज-क्रियाओंपर निश्चल-नीरवता स्थापित कर देती है। इस प्रकारके आकस्मिक अवतरणों अथवा अवतरण-शृंखलाका होना, जिसमें शक्ति और क्षमता पुंजीभूत होती हैं, आध्यात्मिक अनुभव-क्षेत्रका एक सुप्रसिद्ध व्यापार है। अथवा, फिर कोई चाहे तो इस उद्देश्यके लिये किसी एक या दूसरे प्रकारकी प्रक्रिया शुरू कर सकता है जिसका सामान्य-तया अर्थ होता है एक दीर्घ श्रम और, एकदम प्रारंभमें भी, वह दिव्य निश्चल-नीरवताके द्रुत हस्तक्षेप या अभिव्यक्तिसे अभिभूत हो सकता है तथा आरंभमें व्यवहृत साधनकी अपेक्षा उसका बहुत अधिक फल

उत्पन्न हो सकता है। मनुष्य एक पद्धतिसे प्रारंभ करता है और ऊपरसे कृपाशक्ति उस कार्यको अपने हाथमें ले लेती है, वह दिव्य शक्ति ले लेती है जिसके प्रति व्यक्ति अभीप्सा करता है अथवा उच्चात्माकी अनंत शक्तियोंके अभियानद्वारा वह संपन्न होता है। सच पूछा जाय तो इस अंतिम पथसे ही स्वयं मैंने मनकी पूर्ण नीरवता प्राप्त की थी, इसकी वास्तविक अनुभूति होनेसे पूर्व मेरे लिये भी यह अकल्पनीय थी।

फिर कुछ महत्त्व रखनेवाली एक दूसरी बात भी है—वह है इस उज्ज्वलता, सुस्पष्टता, स्थिरताका स्वरूप,—वह वस्तु जिससे वह बनी हुई है, चाहे वह केवल कोई मनोवैज्ञानिक स्थिति हो या उससे अधिक कोई चीज। प्रो० सॉरली कहते हैं कि ये शब्द आखिरकार हैं रूपक ही और वह उसी चीजको एक अधिक गूढ़ भाषामें व्यक्त करना चाहते हैं और व्यक्त करनेमें सफल भी होते हैं। परंतु मैंने जब वह वाक्य लिखा था तब मैंने यह समझकर नहीं लिखा था कि मैं रूपकका व्यवहार कर रहा हूं, यद्यपि मैं समझता हूं कि दूसरोंको वे शब्द रूपक-जैसे दिखायी दे सकते हैं। फिर मैं यह भी मानता हूं कि जिस व्यक्तिको वह अनुभव आया भी हो चुका हो उसे ये शब्द इस आंतरिक स्थितिका वर्णन करनेवाली किसी भी अधिक गूढ़ भाषाकी अपेक्षा केवल अधिक स्पष्ट ही नहीं बल्कि अधिक सही वर्णन प्रतीत होंगे। यह सच है कि रूपक, प्रतीक, उपमा आदि निरंतर ऐसी सहायक वस्तुएं रही हैं जिनका सहारा अपनी अनुभूतियोंको प्रकट करनेके लिये गुह्यवादी लोग लेते रहे हैं। यह अनिवार्य है, क्योंकि उन्हें, एक ऐसी भाषामें जो मनद्वारा निर्मित अथवा कम-से-कम उसके द्वारा विकसित और व्यवहृत हुई है, मनसे भिन्न और साथ ही उसकी अपेक्षा कहीं अधिक जटिल तथा अधिक सूक्ष्मतः ठोस एक चेतनाके व्यापारोंको व्यक्त करना होता है। उस चेतनाके व्यापारोंकी जो यह सूक्ष्मतः वास्तविक, अतीन्द्रिय रूपसे संवेद्य सत्यता है, जिसे योगी प्राप्त करता है, वही रूपक और उपमाके व्यवहारको उचित सिद्ध करती है और इस रूपक और उपमाको उन दुर्बोध शब्दोंसे कहीं अधिक जीवंत और यथार्थ प्रतिलिपि सिद्ध करती है जिनका प्रयोग अपनी निजी विशिष्ट प्रक्रियाके लिये बौद्धिक चिंतन करता है। यदि व्यवहृत उपमाएं भ्रमात्मक हों या वर्णनात्मक रूपसे सही न हों तो

इसका कारण यह होता है कि लेखकमें अपनी अनुभूतिकी गहराईके उपयुक्त अभिव्यंजनाकी शक्तिका अभाव होता है। वैज्ञानिक लोग प्रकाश-तरंगों या ध्वनि-तरंगोंकी बात करते हैं और ऐसा करते समय वे एक रूपकका व्यवहार करते हैं, पर एक ऐसे रूपकका जो भौतिक तथ्यसे मिलता-जुलता होता है और पूर्णतः प्रयोज्य होता है—क्योंकि ऐसा कोई कारण नहीं कि जलके अलावा प्रकाश या ध्वनिका कोई तरंग न हो, उसमें कोई निरंतर प्रवाहित होनेकी गति न हो। परंतु जब मैं मनकी उज्ज्वलता, स्वच्छता, निश्चलताकी चर्चा करता हूं तब अपनी सहायताके लिये रूपककी शरण लेनेकी भावना मेरे अंदर नहीं होती। उसका उद्देश्य था एक ऐसा वर्णन देना जो उतना ही सुनिश्चित और यथार्थ हो मानो उसी ढंगसे किसी वायुमंडलका या जलविस्तारका वर्णन किया जा रहा हो। क्योंकि योगीको अपने मनका अनुभव—विशेषकर जब वह स्थिर हो जाता है—किसी अमूर्त्त स्थितिके जैसा अथवा चेतनाके स्तब्ध हो जाने या उसके किसी अग्राह्य तत्त्वके जैसा नहीं होता, वह तो एक विस्तारित सूक्ष्म पदार्थका अनुभव होता है जिसमें तरंगें, धाराएं, प्रकंपन आदि हो सकते और होते हैं, यद्यपि वे स्थूल नहीं पर फिर भी एक आंतर बोधके लिये उतने ही सुस्पष्ट, सुग्राह्य और नियंत्रणयोग्य होते हैं जितनी कि भौतिक इन्द्रियोंके लिये स्थूल शक्ति या पदार्थकी कोई भी क्रिया होती है। मनकी स्थिरताका मतलब है सर्वप्रथम मनस्तत्त्वको चंचल बनानेवाली अभ्यासगत चिंतन-क्रियाओं, विचार-रचनाओं और चिंतन-धाराओंका विश्रांतिमें जा पड़ना और यह स्थिति बहुतसे लोगोंके लिये पर्याप्त मानसिक नीरवता है। परंतु समस्त चिंतनक्रियाओं या भावना-धाराओंकी इस विश्रांतिमें भी, जब कोई उसे अधिक ध्यानके साथ निहारता है तो, वह देखता है कि यह मनस्तत्त्व निरंतर एक अत्यंत सूक्ष्म प्रकंपनकी स्थितिमें है, जिसे पहले आसानीसे नहीं पकड़ा जा सकता, पर पीछे बिलकुल स्पष्ट दिखायी देती है—और सतत प्रकंपनकी वह स्थिति अवतरित होनेवाले दिव्य सत्यके ठीक-ठीक प्रतिफलन या ग्रहणशीलताके लिये उतनी ही हानिकारक हो सकती है जितनी कि कोई भी अधिक सुनिर्मित चिंतन-क्रिया हो सकती है—क्योंकि यही मानसीकरणका वह स्रोत है जो उच्चतर सत्यकी प्रामाणिकताको कम कर देता या विकृत कर देता है अथवा उसे अनेक मानसिक परावर्तनों (टेढ़ी-मेढ़ी किरणों) में खंड-विखंड कर देता है।

जब मैं स्थिर मनकी बात कहता हूं तो मेरा मतलब एक ऐसे मनसे होता है जिसमें ये विक्षोभ अब नहीं होते। जब ये विक्षोभ शांत होते हैं तो हम सतत बढ़ती हुई स्थिरताको और उसके फलस्वरूप एक प्रकारकी स्वच्छताको अनुभव कर सकते हैं जो उतनी ही प्रत्यक्ष होती हैं जितनी कि किसी स्थूल वातावरणकी स्थिरता और स्वच्छता दिखायी पड़ सकती हैं। जिसे मैंने उज्ज्वलता कहा है—वहां एक दूसरा तत्त्व है—वह दिव्य ज्योतिकी क्रियामें विगलित हो जाता है जो यौगिक अनुभवकी एक सामान्य वस्तु है। वह ज्योति कोई रूपक नहीं है—उसी तरह जब कि गेथेने अपने अंतिम क्षणोंमें अधिक ज्योतिकी पुकार की थी—वह एक बहुत सुस्पष्ट प्रकाशके रूपमे प्रकट होती है जो आंतर बोधके द्वारा दृष्ट और अनुभूत होती है। स्थिर और स्वच्छ मनकी उज्ज्वलता भी इसी ज्योतिका एक सुस्पष्ट प्रतिबिंब होती है जो उसके स्वयं प्रकट होनेसे पहले पड़ता है और उसका यह प्रतिबिंब बहुत आवश्यक अवस्था है जिससे उस सत्यके प्रवेश करने योग्य स्थिति बढ़ती है जिसे मनुष्य ग्रहण करता और आश्रय देता है। इस विषयके इस भागपर मैंने कुछ अधिक जोर दिया है, क्योंकि अतिभौतिक वस्तुओंके अमूर्त्त मानसिक बोध और ठोस यौगिक दर्शनके बीचके भेदको प्रकट करनेमें यह सहायता करता है जो कि आध्यात्मिक साधक और बौद्धिक चिंतकके बीचके अधिकांश मतभेदका मूल स्रोत है। जब वे एक ही भाषा बोलते हैं तो भी यह अनुभवोंका एक अलग क्रम होता है जिसके साथ चेतनाके दो पृथक् स्तरोंके परिणामोंका संबंध भाषा जोड़ती है और जब उनमें मतैक्य भी होता है तो भी बहुधा वहां एक प्रकारकी भेदकी खाईं होती है।



यह चीज सीधे हमें उस प्रश्नतक ले जाती है जिसे प्रोफेसर सॉरली (Sorly) ने उठाया है: यौगिक या आध्यात्मिक अनुभवका क्या संबंध है और क्या यह सच है, जैसा कि तर्क किया गया है, कि योगीको, चाहे स्वयं अनुभवकी सत्यताके लिये हो या उस सत्यकी अभिव्यंजनाकी सत्यताके लिये हो, बुद्धिको ही विचारक मानना होगा। यह बात बहुत साफ है कि स्वयं अनुभूतिके अंदर बुद्धि अपनी सीमाएं

डालनेकी मांग नहीं कर सकती अथवा एक ऐसे प्रयासपर अपने कानून लादनेकी इच्छा नहीं कर सकती जिसका ठीक लक्ष्य, सिद्धांत और विषय है साधारण पृथ्वी-शासित और इंद्रिय-शासित मन-बुद्धिके क्षेत्रके परे चला जाना। यह ठीक ऐसी बात है मानो मुझसे एक पहाड़पर चढ़नेको कहा जाय और मेरे पैरोंमें रस्सी बंधी हो और मैं पार्थिव स्तरके साथ जुड़ा होऊं अथवा केवल इस शर्तपर उड़नेको कहा जाय कि मैं उड़ते समय अपने पैर धरतीपर ही बनाये रखूं। भूमिपर चलना सबसे अधिक सुरक्षित रहना और सुदृढ़ आधारपर सदा बने रहना हो सकता है और पंखोंके द्वारा या अन्यथा ऊपर उठना घटामसे गिर पड़ने तथा भूल-चूक, भ्रम-भ्रांति, अविवेकशीलता, दृष्टिभ्रम और अन्य बहुतसी चीजोंकी सब प्रकारकी दुर्घटनाओंके होनेका खतरा उठाना हो सकता है—यौगिक अनुभूतिके विरुद्ध सुनिश्चित रूपसे पृथ्वीपर विचरण करनेवाली बुद्धिका सामान्य अभियोग यही होता है। परंतु मैं यदि बिलकुल ही वैसा करना चाहूं तो मुझे खतरा लेना ही होगा। तार्किक बुद्धि मनुष्यके सामान्य अनुभवको तथा वस्तुओं-संबंधी उपरितलीय बाह्य बोध और धारणाकी क्रियाओंको अपना आधार बनाती है और यह बोध और धारणा केवल तभी अपनी सहजता बनाये रखती हैं जब वे पार्थिव अनुभूति तथा उसके द्वारा संगृहीत तथ्योंसे बने हुए मानसिक आधारपर कार्य करती हैं। योगी इससे परे एक ऐसे राज्यमें चला जाता है जहां यह मानसिक आधार नष्ट हो जाता है, जहां ये तथ्य अतिक्रांत हो जाते हैं, जहां अनुभव और ज्ञानके दूसरे ही विधि-विधान हैं। उसका संपूर्ण कार्य ही होता है इन सीमा-बंधनोंको तोड़-फोड़कर दूसरी चेतनामें चले जाना जो वस्तुओंको एक भिन्न पद्धतिसे देखती है और यद्यपि यह नवीन चेतना सामान्य बाह्य बुद्धिके तथ्योंको अंतर्भुक्त कर सकती है पर उनके द्वारा सीमित नहीं हो सकती अथवा बौद्धिक दृष्टिकोणसे देखने या कल्पना करने, तर्क करने, अनुभवोंकी सुनिश्चित व्याख्या करनेकी उसकी पद्धतिके अनुसार देखनेको बाध्य नहीं हो सकती। यदि कोई योगी अपनी बुद्धिको ही अपना एकमात्र या अपना सर्वोच्च प्रकाश या पथप्रदर्शक बनाकर गुह्य अथवा आत्मिक क्षेत्रमें प्रवेश करे तो वह कुछ न देख पायेगा अथवा केवल एक ऐसे मानसिक अनुभवपर पहुंचेगा या उसका मोल लेगा जिसे किसी बौद्धिक सिद्धान्तने अनुमानद्वारा उसके लिये पहले ही निर्धारित कर रखा है।

निस्संदेह, भारतमें आध्यात्मिक चिंतनकी एक शैली है जो आधुनिक बौद्धिक मांगके साथ समझौता करती है और बुद्धिको सबसे बड़ा जज स्वीकार करती है, पर उस विचारके लोग उस बुद्धिकी बात कहते हैं जो स्वभावतः ही आध्यात्मिक अनुभवके तथ्योंको अपने-आपमें सत्य स्वीकार करती है। एक अर्थमें ठीक यही बात सभी भारतीय दार्शनिक बराबरसे करते आ रहे हैं; क्योंकि उन्होंने तात्त्विक तर्क-विचारके प्रकाशके द्वारा आध्यात्मिक अनुभवके आधारपर सामान्य सिद्धांतोंको स्थापित करनेकी चेष्टा की, पर की उस अनुभवके आधारपर और आध्यात्मिक साधकोंके प्रमाणको सबसे ऊंचा प्रमाण मानकर और उसे बौद्धिक परिकल्पना या अनुभवकी अपेक्षा कहीं अधिक ऊंचा स्थान देकर। इस तरह आध्यात्मिक और यौगिक अनुभवकी स्वतंत्रता सुरक्षित रहती है और अनुभवके आधारपर निश्चित सामान्य वक्तव्योंके जजके रूपमें तार्किक बुद्धि केवल दूसरी कतारमें आती है। यह बात, मेरी दृष्टिमें, प्रो० सॉरलीकी प्रस्थापनासे मिलती-जुलती है—वह स्वीकार करते हैं कि स्वयं अनुभव अनिर्वचनीयके क्षेत्रकी वस्तु है, पर जैसे ही मैं उसकी व्याख्या करना आरंभ करता हूं वैसे ही मैं चिंतनशील मनके क्षेत्रमें उतर आता हूं, मैं उसके शब्दोंका और उसके विचार और अभिव्यक्त करनेके तरीकोंका व्यवहार करता हूं और उस समय मुझे बुद्धिको ही जज स्वीकार करना होगा। यदि मैं न करूं तो मैं उस सीढ़ीको ही लातसे मार गिराता हूँ जिसकी सहायतासे मैं ऊपर चढ़ा होता हूं—मनके सहारे मानसोत्तरतक—और मैं हवामें लटकता रह जाता हूं। यहां यह बात बिलकुल स्पष्ट नहीं है कि आया स्वयं मेरे अनुभवका सत्य हवामें इस प्रकार झूलनेकी स्थितिसे अमान्य स्वीकार कर लिया जाता है या नहीं, पर वह किसी प्रकार कुछ ऐसी चीज बना रह जाता है जो 'पृथक्' होती है और कोई आधार न होनेके कारण अथवा चिंतन या जीवनके लिये उसका कोई परिणाम न होनेके कारण अकथनीय रह जाती है। मैं समझता हूं कि यहां तीन प्रस्थापनाएं हैं जिन्हें यहां प्रस्थापित किया गया या स्वीकृत किया गया है और फिर तीनोंको एक साथ जोड़ दिया गया है। पहली, स्वयं आध्यात्मिक अनुभव मानसोत्तर वस्तु है, अकथनीय है और, मेरी समझमें, अचिंत्य है। दूसरी, अनुभवको प्रकट करते समय, उसकी व्याख्या करते समय तुम्हें बाध्य होकर चेतनाके उस स्तरमें

वापस उतर आना होगा जिसे तुम छोड़ चुके थे और उसके निर्णयोंको अवश्य मानना होगा, उसकी शब्दावलीको तथा उसके विधानांतर्गत नियमोंको स्वीकार करना होगा, उसके फैसलेको सिरमाथे चढ़ाना होगा; तुमने अनिर्वचनीयकी स्वतंत्रताका त्याग कर दिया है और अब तुम अपना स्वामी नहीं हो। अंतिम, आध्यात्मिक सत्य अपने-आपमें, अपने निजी आत्मानुभवमें सत्य हो सकता है, पर उसके संबंधके किसी भी वक्तव्यमें भूल-भ्रांतिकी संभावना है और यहां बुद्धि ही एकमात्र विचारक है।

मैं नहीं समझता कि मैं इन प्रस्थापनाओंमेंसे किसीको पूर्ण रूपसे ज्योंका त्यों स्वीकार करनेके लिये तैयार हूं। यह सच है कि आध्यात्मिक और यौगिक अनुभव मनुष्यको सबसे पहले अन्य-मनके (और अन्य-प्राणके भी) क्षेत्रोंमें उठा ले जाता है और फिर मानसोत्तर राज्यमें पहुंचा देता है; यह भी सच है कि चरम सत्यको अचिंत्य, अकथनीय, अज्ञेय कहा गया है—न तो वाणी और न मन ही वहां पहुंच सकता है; मैं यह कह सकता हूँ कि मानव-मनके लिये वह ऐसा है, पर स्वयं अपने-आपके लिये नहीं—क्योंकि स्वयं उसके लिये ऐसा कहा गया है कि वह आत्मचेतन है, किसी प्रत्यक्ष अतिमानसिक ढंगसे ज्ञेय, ज्ञात, शाश्वततः आत्मविद् है। और यहां प्रश्न चरम अनिर्वचनीयके चरम साक्षात्कारका नहीं है जो, बहुतसे दार्शनिकोंके अनुसार, केवल सर्वोच्च समाधिमें, समस्त बाह्य मानसिक या अन्य प्रकारकी चेतनासे पीछे हटकर ही प्राप्त किया जा सकता है, बल्कि एक ऐसे अनुभवका है जो उस मनकी ज्योतिर्मय नीरवतामें प्राप्त होता है जो अंतिम असीम नीरवताकी असीमताकी ओर ऊपर ताकता है और उस असीमतामें प्रवेश कर अपना अस्तित्व खो देता है; परंतु परम सत्यके उस अवर्णनीय अनुभव अथवा उसमें विलयनसे पहले सद्वस्तुकी कम-से-कम किसी शक्ति या उपस्थितिके मानस-तत्त्वके अंदर अवतरित होनेकी संभावना है और उसके फलस्वरूप मानस-तत्त्वमें कुछ परिवर्तन हो सकता है, उसमें एक प्रकारका आलोक आ सकता है, और इस अनुभवका किसी प्रकारका व्यक्तीकरण हो सकता है, विचारोंके अन्दर उसका रूपांतर करना संभव हो सकता है। अथवा हम यह मान लें कि अनिर्वचनीय और अज्ञेयके ऐसे अपने रूप और प्रतिमूर्त्तियां होती है जो नितांत अचिंत्य और अवर्णनीय नहीं होतीं।

अगर बात ऐसी न होती तो आध्यात्मिक सत्य और अनुभवके जो सब वर्णन मिलते हैं वे संभव न हुए होते। अधिकसे अधिक मनुष्य उनके विषयमें कल्पना-जल्पना कर पाता, परंतु वह तो एक ऐसा कार्य होता जो बहुत अधिक हवामें होता, बल्कि शून्यमें होता, उसका कोई आधार अथवा कोई स्वीकृत सिद्धांत न होता, सर्वोच्च और चरम तत्त्व क्या हो सकता है इस विषयमें महज सभी संभव विचारों और भावनाओंकी चातुरीपूर्ण आलोचना होता। इसके अलावा, किसी-न-किसी तरीकेसे चेतनासे किसी अवर्णनीय अतिचेतनामें केवल एक प्रकारका अकारण संक्रमण हो सकता है। वास्तवमें यही चीज है जिसे यूरोप और भारत दोनों ही जगह अधिकांश यौगिक साधकोंने प्राप्त किया था। ईसाई योगियोंने एक नितांत अंधकारकी बात कही, एक ऐसे अंधकारकी चर्चा की जो पूर्ण और किसी भी मानसिक ज्योतिसे अछूता था और जिसके भीतरसे होकर ही मनुष्य ज्योतिर्मय अनिर्वचनीय-तक जा सकता है। भारतीय संन्यासियोंने मनको एकदम झाड़ फेंकने की और किसी विचारशून्य समाधिमें चले जानेकी कोशिश की जहांसे यदि कोई वापस आये तो वहां क्या था इसकी कोई जानकारी या वर्णन वापस न ले आ सके, सिवा इस स्मृतिके कि वहां कोई अकथनीय सत्ता और आनंद विद्यमान थे। परंतु फिर भी चरम रहस्यके कुछ पूर्व अनुभव, उच्चतम तत्त्व या गुह्य वैश्व सत्ताके सुव्यवस्थित वर्णन थे जो आध्यात्मिक सत्य स्वीकार किये जाते थे और जिनके आधारपर ऋषि और योगी अपने अनुभवको रूप देने और मनीषी उसकी नींवपर असंख्य दर्शनों और भाष्य-ग्रन्थोंकी रचना करनेमें झिझकते नहीं थे। बस, यही प्रश्न बाकी रहता है कि आखिर कौनसी चीज इस भावप्रकाशन और अभिव्यक्तिको, चेतनाके अन्य स्तरके तथ्योंको मनतक पहुंचानेको संभव बनाती है और कौनसी चीज इस अभिव्यक्तिकी प्रामाणिकताको, अथवा यहांतक कि, मूल अनुभवकी प्रामाणिकताको निश्चित करती है। यदि कोई प्रामाणिक विवरण देना संभव न होता तो फिर बुद्धिके निर्णयका कोई प्रश्न ही नहीं उठ सकता—तब तो होता केवल बैठकर अनिर्वचनीयके विषयमें चर्चा करने, अचिंत्यके विषयमें चिंतन करने और अप्रकाश्य और अज्ञेयकी अवधारणा करनेका बेढंगा विरोधाभास।



मैंने लियोनार्ड उल्फ (Leonard Woolf) का लेख पढ़ा

है, परंतु मैं प्रोफेसर सॉरलीके पत्रसे संबंधित अपनी टिप्पणीके साथ उसपर विचार करना नही चाहता। क्योंकि जिस अज्ञानपूर्ण आक्षेप और सस्ते व्यंग्यके साथ उसने आलोचना की है उसे छोड़ भी दें तो आध्यात्मिक चिंतन या अनुभवके विरुद्ध किये गये उसके वक्तव्यमें विशेष कोई बात नही है। उसका तर्क बड़ा छिछला है और उसका मूल उद्गम है योगियोंके मामलेको पूर्णतः गलत रूपमें समझना। उनके विरुद्ध उसने चार प्रधान तर्क उपस्थित किये हैं और उनमेंसे किसी तर्कका कोई मूल्य नही।

तर्क नंबर एक : रहस्यवाद और रहस्यवादी सर्वदा पतनके युगमें, जीवनमें भाटा आनेपर ही उत्पन्न होते रहे हैं और उनकी तेज आवाज ह्रासका ही लक्षण है। यह तर्क पूर्ण रूपसे असत्य है। पूर्वमें मनुष्यसमाजके जीवन और संस्कृतिकी पूर्ण बाढ़ आनेपर अथवा ज्वारके उठनेपर ही महान् आध्यात्मिक आंदोलन पैदा हुए हैं और उन्होंने स्वयं उसकी विचारधारा और कला और जीवनको अभिव्यक्तिका एक शक्तिशाली प्रवेग और समृद्धि प्रदान की है; यूनानमें रहस्यवादी तथा रहस्यमय क्रियाएं प्रागैतिहासिक कालके प्रारंभ और मध्यमें थीं (पाइथागोरस एक बहुत बड़ा रहस्यवादी था) और केवल भाटे या ह्रासके युगमें नही थीं; रोममें रहस्यवादी पंथोंका विकास उस समय हुआ जब वहांकी सभ्यता अपने उच्चतम उभाड़पर थी; इटली, फ्रांस, स्पेन आदिमें बहुतसे महान् आध्यात्मिक व्यक्ति ऐसे जीवनकालमें उत्पन्न हुए जो समृद्ध, ओजपूर्ण था और जरासा भी ह्रासका कहीं दाग नहीं लगा था। इस अविवेक और मूर्खतासे पूर्ण सिद्धांतमें कोई सत्य नहीं है और इस कारण इसका कोई मूल्य नही है।

तर्क नंबर दो : किसी आध्यात्मिक अनुभवको तबतक सत्य नहीं माना जा सकता (वह तो एक प्रकारकी मिथ्या कल्पना है) जबतक कि उसे ठीक वैसे ही सिद्ध न कर दिया जाय जैसे कि दूसरे कमरेमें एक कुर्सीकी विद्यमानताको आंखोंको उसे दिखाकर सिद्ध कर दिया जा सकता है। निस्संदेह, उस ढंगसे आध्यात्मिक अनुभवको नहीं सिद्ध किया जा सकता; क्योंकि वह भौतिक तथ्योंकी श्रेणीकी वस्तु नही है और भौतिक रूपसे दृश्य या स्पृश्य नही है। लेखकके वक्तव्यका तब अर्थ यह होगा कि जो वस्तु किसी शिक्षा, विकास, उपकरण या व्यक्तिगत खोजकी आवश्यकताके बिना प्रत्येक व्यक्तिके लिये प्रत्यक्ष

है या आसानीसे प्रत्यक्ष बनायी जा सकती है, बस उसे ही सत्य माना जा सकता है। यह एक ऐसी प्रस्थापना है जिसे यदि स्वीकार कर लिया जाय तो वह ज्ञान या सत्यको अत्यंत संकीर्ण सीमाओंमें आबद्ध कर देगी और मानव-संस्कृतिके एक बहुत बड़े अंशको खो देगी। एक आध्यात्मिक शांति है,—वह शांति है जो समस्त मानवीय समझके परे है—, जो सारे संसारके योगियोंका सामान्य अनुभव है, वह एक सत्य है पर आध्यात्मिक सत्य है, अदृश्यका सत्य है, और जब कोई उसमें प्रवेश करता है या वह किसीके अंदर प्रवेश करती है तो वह जानता है कि यह जीवनका एक सत्य है और सब समय जीवन तथा दृश्य वस्तुओंके पीछे विद्यमान है। पर भला मैं मि० लियोनार्ड ऊल्फके सामने इन अदृश्य सत्योंको कैसे प्रमाणित करूं? वह यह कहकर रद्द कर देगा कि यह तो सामान्य पतनकालीन कांव-कांव है और उपेक्षाके साथ आगे बढ़ जायगा—शायद एक दूसरा चतुराईपूर्ण छिछला लेख किसी ऐसे विषयपर लिख मारेगा जिसके विषयमें उसे कोई व्यक्तिगत जानकारी या अनुभव नहीं है।

तर्क नंबर तीन : आध्यात्मिक अनुभवपर आधारित सिद्धांत अयौक्तिक तथा साथ ही अप्रमाणित है। अयौक्तिक किस प्रकार? क्या वे नितांत मूर्खतापूर्ण और अविश्वास्य हैं अथवा क्या वे अनुभवकी किसी अतियौक्तिक श्रेणीसे संबंध रखते हैं जिसपर साधारण बौद्धिक नियम लागू नहीं होते, क्योंकि ये नियम ऐसे बाह्य व्यापारोंपर आधारित हैं जैसे कि वे बाहरी मन और इंद्रियोंको प्रतीत होते हैं, न कि किसी आंतरिक अनुभूतिको प्रतीत होते हैं जो इन बाह्य व्यापारोंको अतिक्रांत करती है? रहस्यवादियों और योगियोंका यही तर्क है और केवल यही कहकर इसका खंडन नहीं किया जा सकता कि चूंकि ये सिद्धांत सामान्य अनुभवके साथ मेल नहीं खाते इसलिये ये निरर्थक और असत्य हैं। मैं उन सब बातोंका समर्थन करनेका वादा नहीं करता जिन्हें जोड (Joad) या राधाकृष्णन्ने लिखा होगा—जैसे, यह कथन कि "विश्व सुंदर है"—पर लेखकद्वारा खंडित इन बहुतसे वक्तव्योंके विषयमें मैं यह नहीं स्वीकार कर सकता कि ये एकदम अयौक्तिक हैं। "व्यक्तित्वका एकीकरण" पदका उसके लिये भले ही कोई अर्थ न हो, पर मेरे लिये इसका एक बहुत स्पष्ट अर्थ है, क्योंकि यह अनुभूतिका एक सत्य है—और, यदि आधुनिक मनो-

विज्ञानपर विश्वास किया जाय तो, यह अयौक्तिक नहीं है, क्योंकि हमारी सत्तामें केवल एक सचेतन अंश ही नहीं है वल्कि एक अचेतन या अवचेतन अथवा प्रच्छन्न आंतरिक भाग है और दोनोंके विषयमें सचेतन होना और एक प्रकारका समाकलन करना असंभव नही है। दोनोंको अतिक्रांत कर जाना भी युक्तिसंगत अर्थ रख सकता है यदि हम यह स्वीकार कर लें कि जैसे हमारी सत्ताका एक अवचेतन भाग है वैसे ही उसका एक अतिचेतन भाग भी हो सकता है। अपनी प्रकृति या अपनी अनुभूतिके विभिन्न भागोंको सुसमन्वित करना भी इतनी हास्यास्पद या अर्थहीन वात नहीं है। यह कहना अयुक्तिसंगत नही है कि कर्मका सिद्धांत नियतिवाद और स्वतंत्र इच्छावादका समन्वय करता है, क्योंकि वह मानता है कि हमारा अपना ही विगत कर्म और इसलिये हमारी भूतकालीन इच्छा वहुत अधिक हदतक वर्तमान परिणामोंको निर्धारित करती हैं, परंतु इस तरह नही कि वर्तमान इच्छाको वहिष्कृत कर दें जो उनमें परिवर्तन लाती है और हमारे भावी जीवनकी नवीन नियतिकी सृष्टि करती है। जगत्के मूल्यके विषयमें कुछ कहना विलकुल वुद्धिगम्य है जव कि हम देखते हैं कि वह वात एक प्रगतिशील मूल्यका संकेत करती है, उस क्षणकी अच्छी या वुरी अनुभूतिसे निर्धारित मूल्यकी वात नही कहती, जीवनके एक ऐसे मूल्यकी वात करती है जो समयके साथ विकसित होता है और एक व्यापक रूपमें लिया गया है। ईश्वरसंवंधी वक्तव्यका जहांतक प्रश्न है, इसका उस समय कोई अर्थ नहीं जव कि उसका विचार सामान्य धर्ममें प्रचलित भगवान्‌संवंधी छिछली भावनाके अनुसार किया जाता है, पर यह इन प्रतिज्ञाओंका एक पूर्णतः तर्कसंगत परिणाम है कि एक असीम और शाश्वत तत्त्व है जो अपने-आपको काल और वस्तुओंमें अभिव्यक्त कर रहा है जो वस्तुएं वाह्य रूपमें ससीम हैं। कोई चाहे तो भगवान्‌संवंधी इस जटिल भावनाको स्वीकार या परित्याग कर सकता है जो सभी युगोंमें हजारों साधकोंद्वारा अनुभूत दीर्घ आध्यात्मिक अनुभवके तथ्योंके समन्वयके ऊपर आधारित है। परंतु मैं यह समझनेमें असमर्थ हूं कि भला इसे अयुक्तिसंगत क्यों मानना चाहिये। यदि यह अयुक्तिसंगत है, क्योंकि इसका अर्थ "उसे केवल दोनों तरीकोंसे ही नहीं वल्कि प्रत्येक तरहसे पाना" है तो मैं नहीं समझता कि उसे क्यों इतना निन्द्य और अग्राह्य होना चाहिये।

आखिरकार वस्तुओंसंबंधी एक ऐसा समन्वयात्मक तथा व्यापक दृष्टि-कोण और चेतना हो सकती हैं जो महज विश्लेषणात्मिका और चयनात्मिका अथवा विच्छेदिका बुद्धिके विरोधों तथा विभाजनोंसे आबद्ध नहीं होतीं।

तर्क नंबर चार : अंतर्ज्ञानका तर्क तो केवल बुद्धिके व्यवहारके द्वारा व्याख्या करने या सिद्ध करनेकी असमर्थताके लिये एक पर्दा है—जोड (Joad) और राधाकृष्णन् तर्क करते हैं, पर अंतर्ज्ञानका आश्रय लो जहां उनका तर्क हार जाता है। क्या यह प्रश्न इतने आसान और तीक्ष्ण तरीकेसे हल हो सकता है? वास्तविक बात यह है कि योगी एक आंतर ज्ञानपर, एक आंतरिक अनुभवपर निर्भर करता है; परंतु वह यदि दर्शनका रूप देता है तो उसने जो कुछ सत्यके रूपमें देखा है उसकी व्याख्या उसे बुद्धिके समक्ष करनेकी कोशिश करनी ही होगी, यद्यपि आवश्यक रूपसे सर्वदा केवल बुद्धिके द्वारा ही नहीं करनी होगी। वह बस इतना ही कह सकता है कि "मैं एक ऐसे सत्यकी व्याख्या कर रहा हूं जो बाह्य प्रपंचसे और बुद्धिसे परे है जो बाह्य विषयोंपर निर्भर करती है। यह बात वास्तवमें निर्भर करती है एक प्रकारके प्रत्यक्ष अनुभवपर और अंतःप्रेरित ज्ञानपर जो उस अनुभवसे उद्भूत होता है; इस ज्ञानको ठीक-ठीक रूपमें उन प्रतीकोंके द्वारा नहीं बताया जा सकता जो बाह्य क्रियाओंके जगत्‌के अनुकूल हैं, फिर भी मैं इनकी सहायतासे, जितने अच्छे रूपमें मेरे लिये संभव है उतने अच्छे रूपमें कुछ विवरण देनेके लिये बाध्य हूं जो तुम्हें बौद्धिक रूपमें स्वीकार्य होगा।" अतएव "मानो"की चेतावनीके साथ—जैसे, संकेंद्रणकी उपमामें किया गया है, जो निस्संदेह एक तर्कके रूपमें नहीं बल्कि एक व्यंजक रूपकके रूपमें अभिप्रेत है—रूपकालंकारों और प्रतीकोंका व्यवहार करनेमें कोई बुराई या छलपूर्ण चतुराई नहीं है। मैं यहां चलते-चलते यह भी कह दूं कि स्वयं वह लेखक भी 'कांव-कांव' से आरंभ कर बार-बार रूपकालंकारोंकी शरण लेता है और जोड (Joad) भली भांति यह उत्तर दे सकता है कि वह लेखक विरोधी पक्षकी निंदा करनेके लिये ऐसा करता है और जिस दर्शनको वह नापसंद करता और खंडन करता है उसका कोई सबल दार्शनिक उत्तर देनेकी आवश्यकतासे किनारा खींचता है। विश्वासकी तीव्रता ही सत्यका मापदंड

नहीं है, पर उसी तरह अविश्वासकी तीव्रता भी समुचित मापदंड नहीं है।

अंतर्ज्ञानके यथार्थ स्वरूप तथा बौद्धिक मनके साथ उसके संबंधकी जो बात है वह बिलकुल दूसरा और बहुत विशाल तथा जटिल प्रश्न है जिसका उत्तर मैं यहां नहीं दे सकता। मैंने बस इतना ही सूचित करनेमें अपनेको सीमित रखा है कि यह लेख बिलकुल अपूर्ण और थोथी आलोचना है। आध्यात्मिक अनुभव और आध्यात्मिक दर्शन तथा उनकी स्थितिके विरुद्ध एक अभियोग तैयार किया जा सकता है, परंतु गंभीर उत्तर पानेके योग्य होनेके लिये उसे किसी अधिक योग्य वकीलके द्वारा पेश किया जाना चाहिये और यहां जो समस्या है उसके सच्चे केंद्रको उसे छूना चाहिये। जिस तरह तथ्योंकी एक ऐसी श्रेणी है जिसे पानेके लिये हमारी इंद्रियां हमारी सर्वोत्तम प्राप्य पर बहुत अपूर्ण मार्गदर्शक हैं, जिस तरह सत्योंकी एक ऐसी श्रेणी है जिसे हम अपने युक्ति-तर्ककी पैनी पर फिर भी अपूर्ण ज्योतिकी सहायतासे खोजते हैं, उसी तरह योगियोंके अनुसार कहीं अधिक सूक्ष्म सत्योंकी एक ऐसी श्रेणी है जो इंद्रियों और युक्ति-तर्क दोनोंकी पहुंचके परे है, पर एक आंतर प्रत्यक्ष ज्ञान तथा प्रत्यक्ष अनुभवके द्वारा जानी जा सकती है। ये सत्य अतींद्रिय हैं, पर इसी कारण वे कम यथार्थ नहीं हैं। वे चेतनाके ऊपर बहुत अधिक परिणाम उत्पन्न करते हैं, उसके उपादानतत्त्व और क्रियाको बदल देते हैं, विशेषकर गहरी शांति और स्थायी हर्ष ले आते हैं, दर्शन और ज्ञानकी एक महान् ज्योति, निम्नतर पशु-प्रकृतिको जीतनेकी संभावना और आध्यात्मिक आत्मविकासकी भविष्यदृष्टि ले आते हैं जो उनके बिना अस्तित्व ही नहीं रखते। वस्तुओंके विषयमें एक नवीन दृष्टिकोण पैदा हो जाता है जो अपने साथ, यदि उसके परिणामोंका पूर्णतः अनुधावन किया जाय तो, महान् मुक्ति, आंतरिक सामंजस्य, एकीकरण ले आता है—इनके अलावा अनेक अन्य संभावनाएं उत्पन्न करता है। यह सच है कि मानवजातिके अल्पसंख्यक लोगोंने ही इन चीजोंका अनुभव प्राप्त किया है, पर फिर भी हर युग, देश और परिस्थितिमें उनके स्वतंत्र साक्षियोंका एक झुंड विद्यमान रहा है जिसमें अतीतके कुछ सबसे बड़े बुद्धिशाली लोग, संसारके अत्यंत प्रसिद्ध लोगोंमेंसे कुछ लोग शामिल रहे हैं। क्या इन संभावनाओंको इसी कारण कपोल-

कल्पना कहकर तुरत रद्द कर देना होगा कि ये केवल साधारण जनसमाजकी पहुंचके परे ही नहीं हैं बल्कि इन्हें बहुतसे सुसंस्कृत बुद्धिमान लोग भी आसानीसे नहीं पकड़ सकते या इनकी पद्धति साधारण इंद्रिय या तर्कबुद्धिकी पद्धतिकी अपेक्षा कहीं अधिक कठिन है? यदि उनमें कोई सत्य है तो क्या उनके द्वारा उद्घाटित यह संभावना मानवात्माद्वारा अनुशीलन करने योग्य नहीं है जब कि उससे आत्मान्वेषण और विश्वान्वेषणका एक उच्चतम क्षेत्र खुल जाता है? उसकी उच्चतम स्थितिमें यदि उसे सत्य माना जाय तो वह वैसा ही होगा—उसकी निम्नतम स्थितिमें यदि उसे केवल एक संभावना ही माना जाय, जैसी कि मनुष्यद्वारा प्राप्त सभी वस्तुएं अपनी प्रारंभिक अवस्थाओंमें केवल एक संभावना ही रही हैं, तो भी यह एक महान् साहसिक कार्य है और यह बहुत अच्छी तरह एक अत्यंत उपयोगी साहसिक कार्य भी सिद्ध हो सकता है।

II

मैं नहीं समझता कि जो व्यक्ति आध्यात्मिकताके विषयमें ठीक-ठीक विपरीत दृष्टिकोणसे, विक्टोरिया-युगके वस्तुओंको देखनेके अनीश्वरवादी तरीकेसे आरंभ करता है, उसे समझानेके लिये कोई बात कही जा सकती है। योगानुभवके मूल्यके विषयमें—आत्मपरक मूल्यसे भिन्न और विशुद्ध व्यक्तिगत मूल्यके विषयमें—संदेहसंबंधी जो उसके प्रश्न हैं वे ये हैं कि अध्यात्म वैज्ञानिक सत्यकी प्राप्तिको अपना लक्ष्य नहीं बनाता और यह नहीं कहा जा सकता कि वह चरम सत्यको प्राप्त कर लेता है, क्योंकि अनुभूतियां द्रष्टाके व्यक्तित्वसे रंगी होती हैं। यहां हम पूछ सकते हैं कि क्या स्वयं भौतिक विज्ञान किसी चरम सत्यतक पहुंच चुका है; बल्कि, दूसरी ओर, ऐसा लगता है कि भौतिक स्तरपर भी वह जैसे-जैसे आगे बढ़ता है, चरम सत्य पीछे हटता जाता है। भौतिक विज्ञानने इस मान्यताके साथ प्रारम्भ किया कि चरम सत्य अवश्य ही भौतिक और बाह्य होगा—और बाह्य वस्तु-रूप चरम तत्त्व (अथवा उससे भी कुछ कम) समस्त आंतरिक आत्मगत घटनाओंकी व्याख्या कर देगा। योग इस विपरीत दृष्टिकोणसे चलता है कि चरम सत्य आध्यात्मिक और आंतरिक है और वास्तवमें उस चरम ज्योतिमें ही हमें वस्तुगत बाह्य घटनाओंको देखना चाहिये।

ये दो विपरीत छोर हैं और इनके बीचकी खाई उतनी ही चौड़ी है जितनी वह हो सकती है।

परंतु योग, इस हदतक, वैज्ञानिक है कि यह आंतरिक परीक्षणसे प्रारंभ करता है और अपने सभी परिणामोंको अनुभवपर आधारित करता है; मानसिक अंतर्ज्ञानोंको केवल प्रथम पगके रूपमें ही स्वीकार किया जाता है और उन्हें साक्षात्कार नहीं माना जाता—अपनी पुष्टिके लिये उन्हें अनुभवमें रूपांतरित और उसीके द्वारा समर्थित होना होगा। स्वयं अनुभवके मूल्यका जहांतक प्रश्न है, उसपर भौतिक मन संदेह करता है, क्योंकि वह आत्मपरक होता है न कि वस्तु-परक। पर क्या इस विभेदका बहुत बड़ा मूल्य है? क्या समस्त ज्ञान और अनुभव अपने मूलमें आंतरिक और आत्मपरक नहीं हैं? अनात्म बाह्य भौतिक वस्तुएं मन और इंद्रियोंकी रचनाके कारण सभी मनुष्योंको बहुत अधिक एक ही रूपमें दिखायी देती हैं; यदि मन और इन्द्रियोंकी रचना दूसरे प्रकारकी हो तो वे भौतिक जगत्का एकदम दूसरा ही वर्णन देंगी—स्वयं भौतिक विज्ञानने इस बातको बहुत स्पष्ट कर दिया है। परंतु तुम्हारे मित्रका तर्क यह है कि योगानुभूति व्यक्तिगत होती है, द्रष्टाके व्यक्तित्वसे रंजित होती है। यह बात कुछ हदतक किसी विशेष क्षेत्रमें प्राप्त अनुभवको दिये गये यथार्थ रूप या अनुकृतिके विषयमें सच हो सकती है; परंतु यहां भी अंतर बहिरंग है। यह एक तथ्य है कि यौगिक अनुभव एक ही धारामें सर्वत्र प्रवाहित होता है। निश्चय ही इसकी एक ही धारा नहीं है वरन् अनेक धाराएं हैं; कारण, स्पष्टतः ही, हम बहुपक्षी अनंतके साथ व्यवहार कर रहे हैं जिसकी ओर जानेके अनेक पथ हैं और अवश्य होने चाहियें; पर फिर भी मोटी-मोटी धाराएँ सर्वत्र एक ही हैं और युग-युगमें तथा एक-दूसरेसे अत्यंत दूर देशोंमें एवं एक-दूसरेसे एकदम स्वतंत्रताके साथ अनुसृत पद्धतियोंसे एक ही प्रकारके अंतर्ज्ञान, अनुभव और साक्षात् विषय-ज्ञान प्राप्त होते हैं। मध्ययुगीन यूरोपियन भक्तों या योगियोंके अनुभव—वे अपने नामों, रूपों, धार्मिक रंगों आदिमें चाहे जितने भिन्न क्यों न हों—तत्त्वतः ठीक-ठीक वही हैं जो मध्ययुगीन भारतीय भक्तों या योगियोंके थे, यद्यपि ये लोग आपसमें एक-दूसरेके साथ पत्रव्यवहार नहीं करते थे अथवा एक-दूसरेके अनुभवों और परिणामोंकी जानकारी नहीं रखते थे जैसे कि आधुनिक

वैज्ञानिक न्यूयार्कसे लेकर योकोहामातक रखते हैं। यह बात यह बताती प्रतीत होती है कि आध्यात्मिक अनुभवोंमें कोई चीज एक-जैसी, विश्वव्यापी तथा अनुमानतः सत्य है—चाहे मानसिक भाषामें अंतर होनेके कारण उनके रूपांतरका रंग जितना भी भिन्न क्यों न हो।

चरम सत्यका जहांतक प्रश्न है, मैं समझता हूं कि विक्टोरिया-युगके नास्तिक और, मान लें, भारतके वैदान्तिक सहमत हो सकते हैं कि वह छिपा है पर है अवश्य। वे दोनों ही उसे अज्ञेय कहते हैं; एकमात्र अंतर यह है कि वैदान्तिक कहते हैं कि वह मनसे अज्ञेय और वाणीसे अवर्णनीय है, पर फिर भी मानसिक ज्ञानसे कहीं अधिक गंभीर या उच्च किसी वस्तुके द्वारा प्राप्य है; और, वह मनके बाहरी और भीतरी अनुभवके सम्मुख जिन हजारों रूपोंमें प्रकट होता है उसे मन भी प्रतिबिंबित कर सकता और वाणी भी व्यक्त कर सकती है। विक्टोरिया-युगका अनीश्वरवादी, मेरी रायमें, इस क्षमताका खंडन कर देगा, क्योंकि उसकी दृष्टिमें यह अज्ञेय पूर्णतः अज्ञेय है।

⊙

तुम मुझसे पूछते हो कि क्या तुम्हें स्वीकार करनेसे पहले जांच करनेकी अपनी प्रवृत्तिको छोड़ देना होगा और योगमें प्रत्येक वस्तुको स्वतःप्रसिद्ध स्वीकार कर लेना होगा—और जांच करनेसे तुम्हारा मतलब है साधारण बुद्धिके द्वारा जांच करना। इसका एकमात्र उत्तर मैं यह दे सकता हूं कि योगके अनुभव आंतरिक राज्यसे संबंध रखते हैं और अपने निजी विधानके अनुसार चलते हैं, देखने-अनुभव करने, परखने तथा उनके बाकी सभी चीजोंका उनका अपना तरीका होता है, जो न तो स्थूल इंद्रियोंके क्षेत्रकी चीजें होती हैं और न बौद्धिक या वैज्ञानिक खोजके क्षेत्रकी। ठीक जिस तरह वैज्ञानिक खोज स्थूल इंद्रियोंकी खोजके परे चली जाती है और अनंत तथा अनंतसूक्ष्मके राज्यमें प्रविष्ट हो जाती है जिसके विषयमें इंद्रियां कुछ नहीं कह सकतीं और कुछ भी परीक्षण नहीं कर सकतीं—क्योंकि कोई विद्युदणु (electron) को देख और छू नहीं सकता अथवा इंद्रिय-मनके प्रमाणके द्वारा यह नहीं जान सकता कि वह है या नहीं अथवा उस प्रमाणके द्वारा यह निर्णय नहीं कर सकता कि वास्तवमें पृथ्वी सूर्यके इर्दगिर्द घूमती है और वास्तवमें सूर्य पृथ्वीके चारों ओर नहीं घूमता जैसा कि हमारी इंद्रियां और हमारे सारे भौतिक अनुभव नित्य

हमें बताते हैं—वैसे ही आध्यात्मिक खोज वैज्ञानिक या बौद्धिक खोजके क्षेत्रसे परे चली जाती है और साधारण बाह्य बुद्धिकी सहायतासे आध्यात्मिक अनुभवके तथ्योंकी परीक्षा करना तथा यह निश्चय करना कि वे चीजें आखिर हैं भी या नहीं अथवा उनका नियम और स्वभाव क्या है, असंभव है। जिस तरह भौतिक विज्ञानमें होता है वैसे ही यहां भी तुम्हें गुरुद्वारा अथवा प्राचीन मार्गोंद्वारा निर्धारित पद्धतियोंका सच्चाईके साथ अनुसरण करके अनुभवपर अनुभव एकत्र करने होते हैं, तुम्हें एक प्रकारकी संबोधिजन्य विवेकशक्तिका विकास करना होता है जो अनुभवोंकी जांच करती है, यह देखती है कि उनका अर्थ क्या है, कितनी दूर और किस क्षेत्रमें प्रत्येक अनुभव सही है, संपूर्णके अंदर प्रत्येकका क्या स्थान है, एक अनुभव दूसरोंके साथ, जो ऊपरसे देखनेमें उसके विपरीत प्रतीत होते हैं, कैसे सुसमन्वित अथवा सुसंबद्ध किया जा सकता है आदि-आदि, जबतक कि तुम आध्यात्मिक व्यापारोंके विशाल क्षेत्रमें एक प्रकारके सही ज्ञानके साथ विचरण नहीं कर पाते। यही आध्यात्मिक अनुभवकी जांच करनेका एकमात्र तरीका है। मैंने स्वयं दूसरी पद्धतिसे प्रयत्न किया है और उसे पूर्णतः अक्षम और अप्रयोज्य पाया है। दूसरी ओर, यदि तुम इन सब बातोंको स्वयं करनेके लिये तैयार नहीं हो,—जैसा कि बहुत थोड़ेसे लोग कर सकते हैं, सिवा उन लोगोंके जो असामान्य आध्यात्मिक उच्चता रखते हैं,—तुम्हें किसी गुरुका पथप्रदर्शन स्वीकार करना होगा, जैसे कि तुम भौतिक विज्ञानमें उसके समस्त क्षेत्रमेंसे गुजरने तथा स्वयं अकेले उसके परीक्षणोंको करनेके बदले किसी अध्यापकको स्वीकार करते हो—कम-से-कम पर्याप्त अनुभव और ज्ञान तुम जबतक एकत्र नहीं कर चुके हो। यदि इसे वस्तुओंको स्वतःसिद्ध मानना कहा जाय तो अवश्य ही तुम्हें स्वतःसिद्ध स्वीकार करना होगा। कारण मैं यह समझनेमें असमर्थ हूं कि भला किन प्रामाणिक परीक्षणोंके बलपर तुम सामान्य बुद्धिको उस चीजका निर्णायक बनानेका प्रस्ताव करते हो जो उसके परे है।

तुमने 'अ' और 'ब' के कथनोंको उद्धृत किया है। मैं इन कथनोंको कोई मूल्य देनेसे पहले यह जानना चाहूंगा कि उन लोगोंने वास्तवमें अपने आध्यात्मिक ज्ञानों और अनुभवोंका परीक्षण करनेके लिये क्या किया है। 'अ' ने अपने आध्यात्मिक अनुभवोंके मूल्यकी जांच किस

प्रकार की थी?—उनमेंसे कुछ चीजें तो साधारण बाह्य मनके लिये उतनी भी विश्वसनीय नहीं हैं जितनी कि कुछ प्रसिद्ध योगियोंके साथ जुड़ी हुई चमत्कारोंकी कहानियां? मैं 'व' के विषयमें कुछ नही जानता, पर उसके परीक्षण क्या थे और उसने उनका प्रयोग कैसे किया था? उसकी पद्धतियां क्या थीं? उसके मानदंड क्या थे? मुझे तो ऐसा लगता है कि कोई भी साधारण मन दीवालके भीतरसे बुद्धके प्रकट होनेकी वातको अथवा हयग्रीवके साथ आध घंटेतक वातचीत करनेकी वातको किसी प्रकारके परीक्षणके द्वारा प्रामाणिक तथ्य नहीं स्वीकार करेगा। उसे या तो इन वातोंको स्वतःसिद्ध स्वीकार करना होगा अथवा एकमात्र 'अ' की गवाहीपर स्वीकार करना होगा, जो प्रायः एक ही बात है, अथवा अनुमानतः उन्हें दृष्टिभ्रम कहकर अथवा एक प्रसंगमें श्रवण-भ्रमसे युक्त महज मानसिक कल्पनायें कहकर त्याग देना होगा। मैं यह समझनेमें असमर्थ हूं कि वह भला किस प्रकार उनकी 'जांच' कर सकेगा। अथवा मैं अपने निर्वाणकी अनुभूतिको साधारण मनके द्वारा कैसे जांच सकता था? मैं भला सामान्य बाह्य बुद्धिकी सहायतासे किस निर्णयपर पहुंच सकता था? भला मैं उसकी प्रामाणिकताकी कैसे परीक्षा कर पाता? मैं तो इसकी कल्पना करनेमें हतवुद्धि हो रहा हूं। मैंने तो वही किया जो मैं कर सकता था—उसे अनुभवका एक प्रबल और प्रामाणिक सत्य स्वीकार कर लिया, उसे अपनी पूरी क्रिया करने दिया और अपने पूरे परीक्षणात्मक परिणामोंको उत्पन्न करने दिया जबतक कि मुझे उसे उसके स्थानपर रखनेके लिये पर्याप्त यौगिक ज्ञान नहीं हो गया। अंतमें, भला आंतरिक ज्ञान अथवा अनुभवके विना तुम या कोई भी दूसरा व्यक्ति दूसरोंके आंतरिक ज्ञान और अनुभवकी परीक्षा कैसे कर सकता है?

मैंने वार-वार कहा है कि आध्यात्मिक अनुभवके लिये विवेक-शक्ति केवल पूर्णतः ग्राह्य ही नहीं है वल्कि अनिवार्य है। परंतु उसे ज्ञानपर प्रतिष्ठित विवेकशक्ति होना चाहिये, न कि अज्ञानपर प्रतिष्ठित तर्क-वुद्धि। अन्यथा तुम अपने मनको वांध दोगे और उन पूर्व-निर्णीत भावनाओंके द्वारा अनुभवमें वाधा पहुंचाओगे जो उतने ही अधिक अनुभवनिरपेक्ष होते हैं जितने कि किसी भी आध्यात्मिक सत्य या अनुभवको स्वीकार करना हो सकता है। तुम्हारा यह विचार कि

समर्पणकी भावना केवल प्रेमके द्वारा ही आ सकती है, एक विवादास्पद विषय है। यह यौगिक अनुभवमें संपूर्णतः सत्य है कि सच्चे प्रेमके द्वारा, जिसका अर्थ होता है चैत्य और आध्यात्मिक प्रेमके द्वारा आनेवाला समर्पण अत्यंत शक्तिशाली, सरल और सबसे अधिक प्रभावशाली होता है; परंतु सामान्य युक्ति-तर्कके द्वारा प्राप्त एक नियमके रूपमें इस बातको आगे रखकर कोई व्यक्ति उसी सिद्धांतके अंदर समर्पणसंबंधी संभव समस्त अनुभवको आबद्ध नहीं कर सकता अथवा उसीके आधारपर यह घोषित नहीं कर सकता कि साधकको समर्पण कर सकनेसे पहले तबतक प्रतीक्षा करनी होगी जबतक कि वह पूर्णतः प्रेम नहीं करने लगता। यौगिक अनुभव यह बतलाता है कि समर्पण मन और संकल्पशक्तिके द्वारा भी किया जा सकता है; एक स्वच्छ और सच्चा मन समर्पणकी आवश्यकताको समझकर और एक स्वच्छ और सच्ची संकल्पशक्ति अनुशासनहीन अंगोंपर इसे बलपूर्वक लादकर समर्पण कराती हैं। फिर, अनुभवसे यह भी पता चलता है कि केवल समर्पण ही प्रेमके द्वारा नहीं आ सकता, बल्कि प्रेम भी समर्पणके द्वारा आ सकता है अथवा उसके साथ अपूर्णसे पूर्ण प्रेममें वर्द्धित हो सकता है। मनुष्य भगवान्‌को जानने या पानेकी एक प्रबल भावना और इच्छाके साथ प्रारंभ करता है और अपने साधारण व्यक्तिगत विचारों, कामनाओं, आसक्तियों, कर्मकी प्रेरणाओं या कर्मके अभ्यासोंको अधिकाधिक समर्पित करता है जिसमें कि स्वयं भगवान् प्रत्येक चीजको अपने हाथमें ले लें। समर्पणका यही अर्थ है—अपने तुच्छ मन और उसके मानसिक विचारों और पूर्वाग्रहोंको एक दिव्य ज्योति और एक महत्तर ज्ञानमें, अपनी हीन व्यक्तिगत विक्षुब्ध अंध लड़खड़ाहटको एक महान्, शांत, स्थिर, ज्योतिर्मय संकल्पशक्ति और शक्तिमें, अपने नन्हें, चंचल, पीड़ित हृद्‌गत अनुभवोंको एक विशाल तीव्र भागवत प्रेम और आनंदमें, अपने क्षुद्र क्लेशग्रस्त व्यक्तित्वको उस एकमात्र दिव्य पुरुषमें समर्पित कर देना जिसकी कि यह एक अंधकारपूर्ण उपज है। अगर कोई अपने ही निजी विचारों और युक्ति-तर्कोंपर आग्रह करे तो महत्तर ज्योति और ज्ञान नहीं आ सकते अथवा आते समय एक निम्नतर हस्तक्षेपके द्वारा पग-पगपर भ्रष्ट होंगे और अवरुद्ध होंगे। अगर कोई अपनी कामनाओं और कल्पनाओंपर आग्रह करे तो वह महान् ज्योतिर्मयी संकल्पशक्ति और दिव्य सामर्थ्य

अपने सच्चे बलके साथ कार्य नहीं कर सकतीं—क्योंकि तब तुम उन्हें अपनी कामनाओंके सेवक बननेको कहते हो। यदि कोई अनुभव करनेके अपने संकीर्ण तरीकोंको समर्पित करना अस्वीकार करे तो शाश्वत प्रेम और सर्वोच्च आनंद अवतरित नहीं हो सकते अथवा पंचमेल बन जायंगे तथा उबलते हुए कच्चे आवेगपूर्ण पात्रमेंसे बाहर छलक जायंगे। सामान्य युक्तितर्ककी मात्रा चाहे जितनी हो वह निम्नतरको अतिक्रम करनेकी आवश्यकतासे छुट्टी नहीं पा सकती जिसमें कि उच्चतर वहां उपस्थित हो सके।

और, यदि निम्नतरके बुदबुदानेके अवसरोंसे जहांतक संभव हो वहांतक बचकर कोई मनुष्य उच्चतमके प्रति, भगवान्के प्रति आत्मदान करनेका सबसे उत्तम उपाय एकांतवासको समझे तो फिर उसे क्यों एकांतवास नहीं करना चाहिये? वे लोग जिस उद्देश्यसे आये हैं वह यही है, फिर जिन साधनोंको वे सर्वश्रेष्ठ समझते हैं उनको दोष क्यों दिया जाय अथवा उन्हें अविश्वास तथा शंकाकी दृष्टिसे क्यों देखा जाय अथवा उन्हें बदनाम करनेके लिये निंदात्मक विशेषणोंसे— कठोर, अमानवीय एवं अन्यान्य विशेषणोंसे उनपर कीचड़ क्यों उछाला जाय? सच पूछो तो तुम्हारा पुरुष वह चीज है जो उससे संकुचित होता है और तुम्हारा प्राणगत मन वह चीज है जो इन विशेषणोंको प्रदान करता है जो केवल तुम्हारे संकुचनको ही प्रकट करते हैं न कि उस चीजको जो एकांतवास वास्तवमें है। क्योंकि प्राणपुरुष और उसका समाजप्रिय अंग ही एकांतवाससे घबड़ाता है; चिंतनशील मन नहीं घबड़ाता वरन् वह उसे पानेकी चेष्टा करता है। कवि अपनी अंतःप्रेरणाकी वाणी सुननेके लिये स्वयं अपने साथ या प्रकृतिके साथ एकांतकी खोज करता है; विचारक वस्तुओंपर ध्यान करने तथा गंभीरतर ज्ञानके साथ संपर्क स्थापित करनेके लिये एकांतमें बैठ जाता है। वैज्ञानिक प्रयोगद्वारा प्रकृतिके रहस्योंकी छानबीन करनेके लिये अपनेको अपनी प्रयोगशालामें बंद कर देता है; ये एकांतवास भयंकर और अमानुषिक नहीं हैं। और न साधकका ऐकान्तिक एकाग्रताके अंदर डूबकर, जिसकी वह आवश्यकता अनुभव करता है, निर्जन स्थानमें रहने लगना ही वैसा है। यह तो एक उद्देश्यसिद्धिका उपाय है—उस उद्देश्यसिद्धिका जिसपर उसका समूचा हृदय लगा हुआ है। उन योगियों और भक्तोंका जो प्रश्न है जिन्होंने मौलिक अनुभव

प्राप्त करना आरंभ कर दिया है, वे किसी भयंकर और अमानुषिक निर्जनतामें नहीं रहते। वहां एककी सत्तामें तो स्वयं भगवान् और समस्त जगत् विद्यमान है और दूसरेके हृदयमें परम प्रेमास्पद तथा उसका आनंद विद्यमान है।

एकांतवास वास्तवमें क्या चीज है इसका ज्ञान न होनेके कारण तुमने जो उसकी निंदा की है उसीके विरुद्ध मैं यह सब कह रहा हूं; परंतु जैसा कि मैंने बार-बार कहा है, मैं पूर्ण निर्जनवासकी सलाह नहीं देता, क्योंकि मैं उसे एक खतरनाक उपाय मानता हूं जो विकृति और अत्यंत भूलभ्रांतिकी ओर ले जा सकता है। और न मैं किसीके ऊपर एकांतवासको एक पद्धतिके रूपमें लादता हूं अथवा उसका अनुमोदन करता हूं, जबतक कि स्वयं वह व्यक्ति ही उसे न चाहे, उसकी आवश्यकता न अनुभव करे, उसका आनंद उसे न मिले और इस बातका प्रमाण न हो कि उससे उसको आध्यात्मिक अनुभव पानेमें सहायता मिलती है। यह किसीके ऊपर मुख्य नियमके रूपमें लादनेकी वस्तु नहीं है, क्योंकि यह कार्य करनेका मानसिक तरीका है, सामान्य मनका तरीका है—इसे तभी स्वीकार किया जा सकता है जब इसकी आवश्यकता हो, जब यह किसी सामान्य विधि या नियमके रूपमें नहीं बल्कि एक आवश्यकताके रूपमें महसूस हो।

तुमने अपने पत्रमें जिसे भगवान्‌का प्रत्युत्तर कहा है उसे यौगिक अनुभवकी भाषामें वह संज्ञा नहीं दी जा सकती—महान् शांति, ज्योति, विश्रांति, विश्वास, कठिनाइयोंकी कमी, निश्चयता आदिके इस अनुभवको बल्कि तुम्हारी निजी प्रकृतिका भगवान्‌के प्रति प्रत्युत्तर कहा जायगा। एक ऐसी शांति या ज्योति है जो भगवान्‌का प्रत्युत्तर है, पर वह एक विस्तृत शांति, एक महान् ज्योति होती है जो किसी ऐसी चीजकी उपस्थितिके रूपमें अनुभूत होती है जो अपने व्यक्तिगत आत्मभावसे भिन्न होती है, अपनी व्यक्तिगत प्रकृतिका अंश नहीं होती, बल्कि ऊपरसे आनेवाली कोई चीज होती है, यद्यपि अंतमें वह प्रकृतिको अधिकृत कर लेती है—अथवा स्वयं एक ऐसी उपस्थिति होती है जो निश्चय ही अपने साथ पूर्ण मुक्ति, आनंद, निश्चयता ले आती है। परंतु भगवान्‌के प्रारंभिक प्रत्युत्तर बहुधा इस प्रकारके नहीं होते—वे कुछ-कुछ एक स्पर्श, एक दबावके रूपमें आते हैं जिसे पहचानने और स्वीकार करनेकी स्थितिमें मनुष्यको

होना चाहिये, अथवा वे आश्वासनकी एक वाणी, कभी-कभी बहुत ही "मंद क्षीण वाणी", कोई क्षणिक आकृति या उपस्थिति, कभी-कभी पथप्रदर्शनका कानोंकानों संकेत होते हैं, इस तरह बहुतसे रूप हैं जिन्हें वे ले सकते हैं। उसके बाद वह स्पर्श पीछे हट जाता है और प्रकृतिकी तैयारी तबतक होती रहती है जबतक कि उस स्पर्शका बार-बार आना, लंबे समयतक टिकना, किसी अधिक प्रबल और समीपस्थ और घनिष्ठ वस्तुमें परिवर्त्तित हो जाना संभव नहीं हो जाता। प्रारंभमें भगवान् अपने-आपको जबर्दस्ती नहीं आरोपित करते—वह चाहते हैं कि मनुष्य उन्हें पहचाने, स्वीकार करे। यही एक कारण है कि मनको निश्चल-नीरव हो जाना चाहिये, परीक्षण नहीं करने चाहियें, कोई मांग नहीं करनी चाहिये—सच्ची संबोधिके लिये अवकाश रहना चाहिये जो तुरत सच्चे स्पर्शको पहचान जाती और उसे स्वीकार कर लेती है।

अब मनकी कोलाहलपूर्ण क्रियाकी बात लें जो तुम्हारी एकाग्रतामें बाधा पहुंचाती है। परंतु वह अथवा अन्य एक अधिक थकानेवाली, हठी, सतानेवाली क्रिया सर्वदा ही कठिनाई उत्पन्न करनेवाली चीज होती है जब मनुष्य एकाग्र होनेका प्रयास करता है, और उसे जीतनेमें बहुत लंबा समय लगता है। वह अथवा नींदकी आदत जागृत एकाग्रता अथवा सचेतन समाधि अथवा तल्लीनकारी तथा सर्ववर्जनकारी समाधिमें —ये ही तीन रूप हैं जिन्हें यौगिक एकाग्रता ग्रहण करती है—बाधा पहुंचाती है। परंतु निस्संदेह योग, उसकी प्रक्रिया तथा उसकी कठिनाइयोंके विषयमें तुम्हारा अज्ञान ही वह चीज है जो तुम्हें हतोत्साह करता है तथा इस नितांत सामान्य बाधाके कारण तुम्हें सर्वदाके लिये अयोग्य घोषित करता है। साधारण मनका आग्रह और उसके भ्रांत तर्क-वितर्क, भावनाएं और निर्णय, एकाग्रताके समय या उसकी यांत्रिक क्रियाके समय चिंतक मनके अनियमित क्रिया-कलाप, प्रच्छन्न अथवा प्रारंभिक स्पर्शके प्रति धीमा प्रत्युत्तर आदि वे सामान्य बाधाएं हैं जिन्हें मन आरोपित करता है, ठीक जिस तरह कि अभिमान, महत्त्वाकांक्षा, मिथ्या गर्व, कामवासना, लोभ, अपने अहंकी तृप्तिके लिये वस्तुओंपर अधिकार आदि वे कठिनाइयां और बाधाएं हैं जिन्हें प्राण उत्पन्न करता है। जैसे प्राणिक कठिनाइयोंसे लड़ा जा सकता और उन्हें जीता जा सकता है, वैसे ही मानसिक

कठिनाइयोंसे भी लड़ा और उन्हें जीता जा सकता है। बस मनुष्यको देखना यह है कि ये अनिवार्य कठिनाइयां हैं और न तो उनसे चिपकना है, न उनसे भयभीत होना है और न उनसे अभिभूत होना है क्योंकि वे विद्यमान हैं। मनुष्यको तबतक प्रयास करते रहना होता है जबतक कि प्राणकी तरह मनसे भी पीछे हटकर वह खड़ा नहीं हो जाता तथा अपने भीतर गंभीरतर और वृहत्तर मानसिक और प्राणिक पुरुषको अनुभव नहीं करने लगता जो कि निश्चल-नीरव होनेकी क्षमता रखते हैं, सच्ची नीरवताकी तरह ही सच्ची वाणी और शक्तिको भी सीधे ग्रहण करनेमें समर्थ होते हैं। जब प्रकृति सबसे पहले कठिनाइयोंसे जूझकर निपटारा करनेका मार्ग अपनाती है तो मार्गका पहला आधा भाग लंबा और थकानेवाला होता है और तभी भगवान्से प्रत्युत्तर आनेके अभावकी शिकायत पैदा होती है। पर वास्तवमें भगवान् वहां सब समय उपस्थित होते हैं, पर्देके पीछेसे कार्य करते रहते हैं तथा साथ ही इस बातकी प्रतीक्षा कर रहे होते हैं कि उनके प्रत्युत्तरको स्वीकार किया जाय और प्रत्युत्तरको प्रत्युत्तर देना संभव हो जाय।



यहां हम ऐसा अनुभव करते हैं कि सीधे परम सत्यके स्रोतसे एक धारा प्रवाहित हो रही है जिसे हम जितनी बार चाहें उतनी बार नहीं प्राप्त करते। यहां एक ऐसा मन है जो न केवल विचार करता बल्कि देखता है—और महज वस्तुओंके ऊपरी तलको ही नहीं देखता जिसके साथ अधिकांश बौद्धिक चिंतन इस तरह संघर्ष करता रहता है कि उसका अंत ही नहीं होता अथवा कोई निश्चित परिणाम ही नहीं निकलता और ऐसा लगता है मानो और कोई चीज हो ही नहीं, बल्कि वह मर्मस्थलमें पैठकर देखता है। तांत्रिक लोग वाक्-शक्तिके एक स्तरका वर्णन करनेके लिये 'पश्यंति वाक्' पदका उपयोग करते हैं जिसका अर्थ है देखनेवाला शब्द; यहां 'पश्यंति बुद्धि' अर्थात् देखनेवाली बुद्धि है। इसका कारण यह हो सकता है कि अंतरस्थ द्रष्टा चिंतनके परे अनुभवके क्षेत्रमें पैठ गया है, परंतु ऐसे बहुतसे लोग होते हैं जिन्हें अनुभवका बहुत बड़ा खजाना प्राप्त होता है पर इस हदतक उनकी चिंतक दृष्टि उनका स्पष्टीकरण नहीं कर पाती;

उनका अंतरात्मा अनुभव करता है, पर मन उनकी मिश्रित और अपूर्ण प्रतिलिपियां ही तैयार करता रहता है, भावनाओंमें अस्पष्टताएं और अस्तव्यस्तताएं उत्पन्न करता रहता है। अवश्य ही इस व्यक्तिके स्वभावमें पहलेसे ही यथार्थ दर्शनकी नैसर्गिक शक्ति विद्यमान रही है।

सच पूछा जाय तो जिस झिलमिलाते कुहासे और धुंधलेपनको आधुनिक बुद्धिवाद सत्यकी ज्योति समझता है उससे इतनी जल्द और सुनिश्चित रूपमें छुटकारा पा जाना एक प्रकारकी प्राप्ति है। आधुनिक मन—और उसके साथ-साथ हम लोग—इतने दीर्घकालतक और इस प्रकार लगातार झूठी चमकवाली तराईमें घूमता रहा है कि किसी व्यक्तिके लिये इतना शीघ्र और पूर्णतः सुस्पष्ट दर्शनके सूर्या-लोकसे इसके अंधकारको दूर करना, जैसा कि यहां किया गया है, उतना आसान नहीं है। यहां आधुनिक मानववाद और लोकोपकारवाद, भावुकतापूर्ण आदर्शवादी तथा अक्षम बुद्धिवादीके व्यर्थ प्रयासोंके विषयमें, समन्वयात्मक सारसंग्रहवाद तथा अन्य वैसी ही चीजोंके विषयमें जो कुछ कहा गया है, वह सब अद्भुत रूपमें स्वच्छबुद्धिमत्तासे पूर्ण है, वह ठीक लक्ष्यको वेधता है। इन सब साधनोंसे मानवजाति अपनी जीवन-विधिमें वह मौलिक परिवर्त्तन नहीं ला सकती जो कि अब अनिवार्य हो रही है, वल्कि पीछे विद्यमान दिव्य सद्वस्तुरूपी आधारशिलाको प्राप्त कर लेनेपर ही ला सकती है,—महज विचारों और मानसिक रचनाओंके द्वारा नहीं, वल्कि चेतनाके परिवर्तनके द्वारा, एक आंतरिक और आध्यात्मिक रूपांतरके द्वारा ला सकती है। मगर यह एक ऐसा सत्य है जिसे सुननेवाले आजके सभी प्रकारके वहुस्वरपूर्ण कोलाहल और अस्तव्यस्तता और उथल-पुथलके शोरगुलमें मुश्किलसे मिलेंगे।

यहांपर वाह्य व्यापारोंकी प्रक्रियाके वाह्य प्रकृतिके स्तर तथा भागवत सत्यके स्तरके बीच जो विभेद किया गया है, अत्यंत वारीकीसे जो विभेद किया गया है वह आंतरिक ज्ञानकी सर्वोच्च वाणीकी श्रेणीका है। इन पृष्ठोंमें इसे जो मोड़ दिया गया है 'वह महज कोई चतुरतापूर्ण व्याख्या नहीं है; यह उस सुस्पष्ट सत्यको यथार्थ रूपमें प्रकट करता है जिसे तुम वाह्य जगत्की सीमाको पार करके तथा आंतरिक आध्यात्मिक अनुभवकी स्थायी भूमिपर खड़े होकर उसकी ओर ताकनेपर देखते हो। जितना ही अधिक तुम अंदरकी ओर या ऊपरकी ओर जाते हो उतना ही अधिक वस्तुओं-संवंधी दृष्टिकोण

बदलता जाता है और भौतिक विज्ञानद्वारा व्यवस्थित बाह्य ज्ञान अपना सच्चा तथा अत्यंत सीमित स्थान प्राप्त कर लेता है। भौतिक विज्ञान, अधिकांश मानसिक तथा बाह्य ज्ञानकी तरह, केवल प्रक्रियाका ही सत्य तुम्हें बताता है। मैं यहां यह भी जोड़ दूं कि वह तुम्हें प्रक्रियाका भी संपूर्ण सत्य नहीं प्रदान कर सकता; क्योंकि तुम कुछ चिंतनीय वस्तुओंको पकड़ते हो, पर सर्वप्रधान अचिंतनीय वस्तुओंको खो देते हो; तुम्हें मुश्किलसे यह पता चलता है कि वह प्रक्रिया कैसे होती है, केवल उन स्थितियोंको जानते हो जिनमें वे वस्तुएं प्रकृतिके अंदर घटित होती हैं। विज्ञानकी समस्त विजयों और चमत्कारोंके बावजूद व्याख्यात्मक तत्त्व, मूल कारण, संपूर्णका यथार्थ तात्पर्य अंधकारमें ही रह गया है, उतना ही, और यहांतक कि उससे भी अधिक, गुह्य रह गया है जितना कि कभी भी पहले था। उसने क्रमविकासकी जो योजना बनायी है, केवल इस समृद्ध और विशाल और बहुरंगी स्थूल जगत्‌के विकासकी ही नही बल्कि जीवन और चेतना और मन तथा उनकी क्रियावलीके विकासकी योजना बनायी है और यह बताया है कि यह सब विद्युत्कणोंके एक जड़ समुदायमेंसे आरंभ होता है जो एक जैसे होते हैं और केवल व्यवस्था तथा संख्यामें ही भिन्न होते हैं, यह एक अयुक्तिसंगत जादू है और किसी भी अत्यंत गुह्य परिकल्पनामें आनेवाली वस्तुसे भी कहीं अधिक चक्करमें डालनेवाली है। भौतिक विज्ञानने हमें एक संसिद्ध विरोधाभासके अंदर ला पटका है, एक सुव्यवस्थित और कठोरतापूर्वक निश्चित दुर्घटनाका परिचय दिया है, एक ऐसी असंभव वस्तुको दिखाया है जो किसी प्रकार घटित हो गयी है,—उसने हम लोगोंको एक नवीन, स्थूल मायाशक्ति, अघटन-घटनपटीयसीको दिखा दिया है जो असंभवको, एक चमत्कारको उत्पन्न करनेमें बहुत चतुर है, जो यौक्तिक ढंगसे देखें तो नहीं हो सकता और फिर भी किसी प्रकार वास्तव हो गया है, अदम्य रूपसे सुगठित हो गया है, पर फिर भी है अयुक्तिसंगत और अव्याख्येय ही। और स्पष्ट ही इसका कारण यह है कि भौतिक विज्ञानने किसी मूल वस्तुको खो दिया है; उसने बस उसी चीजको देखा और उसीकी छानबीन की है जो घटित हुई है और एक प्रकारसे यह देखा है कि वह कैसे घटित हुई है, पर उसने उस चीजकी ओरसे अपनी आंखें बंद कर ली हैं जिसने इस असंभवको संभव बनाया है, जिस चीजको यह सब

यहां अभिव्यक्त करने जा रहा है। यदि तुम भागवत सद्वस्तुको खो दो तो फिर वस्तुओंका कोई भी मौलिक तात्पर्य नहीं रह जाता, क्योंकि तब तुम वस्तुओंके प्रबंधयोग्य तथा उपयोगयोग्य बाह्य रूपके एक विशाल ऊपरी स्तरमें ही गड़े रह जाओगे। सच पूछो तो तुम दिव्य जादूगरके जादूका विश्लेषण करनेकी कोशिश कर रहे हो, पर जब तुम स्वयं जादूगरकी चेतनामें प्रवेश करोगे केवल तभी तुम लीलाके सच्चे प्रारंभ, तात्पर्य और चक्रोंका अनुभव करना आरंभ कर सकोगे। मैं 'आरंभ' इसलिये कह रहा हूं कि भागवत सद्वस्तु इतनी सीधी-सरल चीज नहीं है कि तुम प्रथम स्पर्श पाते ही उसका सब कुछ समझ सको अथवा उसे किसी एक ही सूत्रमें व्यक्त कर सको। वह तो अनंत है और तुम्हारे सामने एक अनंत ज्ञान खोल देती है जिसके लिये एक साथ सारा भौतिक विज्ञान एक क्षुद्र व्यापार है। परंतु फिर भी तुम वस्तुओंके पीछे विद्यमान मूलतत्त्वको, शाश्वत तत्त्वको स्पर्श करते ही हो और उसके प्रकाशमें सब कुछ गभीरतः ज्योतित, घनिष्ठतः बोधगम्य होना आरंभ कर देता है।

एक बार पहले मैंने तुम्हें बताया था कि किन्हीं शुभेच्छासम्पन्न वैज्ञानिक लोगोंने जो वस्तुओंके पीछे विद्यमान आध्यात्मिक सद्वस्तुके ऊपरी तलपर अथवा आपातदृष्ट ऊपरी तलपर व्यर्थ चंचुप्रहार किया है उसके विषयमें मेरा विचार क्या है और उस विषयका विस्तार करनेकी कोई आवश्यकता नहीं। अधिक महत्त्वपूर्ण है उस महत्तर विपत्तिका पूर्वचिह्न जो विरोधियोंके, नास्तिकोंके उस नवीन आक्रमणमें आता दिखायी देता है जो वे आध्यात्मिक एवं अतिभौतिक अनुभवके विरुद्ध कर रहे हैं, वे इसे स्वीकार करते और अपने निजी अर्थमें इसकी व्याख्या करते हैं और यह विनाशका उनका नवीन कौशल है। हो सकता है कि इस अवधारणाके लिये एक प्रबल आधार मौजूद हो; पर मुझे संदेह है कि यदि इन चीजोंकी एक बार छानबीन करना स्वीकार कर लिया जाय तो, मनुष्यजातिका मन इतनी मूर्खता-पूर्ण छिछली और बाहरी व्याख्याओंसे दीर्घ कालतक संतुष्ट रहेगा, ऐसी व्याख्याओंसे जो कुछ भी व्याख्या नहीं करतीं, यदि धर्मके समर्थक कोई कमजोर मोर्चा, आसानीसे अधिकृत करने योग्य मोर्चा उस समय लेते हैं जब कि वे आध्यात्मिक अनुभवकी केवल आंतरिक सत्यताको प्रस्थापित करते हैं, तो विपक्षी भी, ऐसा लगता है कि आध्यात्मिक

तथा अतिभौतिक अनुभवको स्वीकार करने और उसका परीक्षण करनेकी अपनी अनुमति देकर सभी तरहसे अपने भौतिकवादी किलेके दरवाजोंको, विना इसे जाने, छोड़ रहे हैं। भौतिक क्षेत्रमें ही खाई खोदकर वैठ जाना, अतिभौतिक वस्तुओंको स्वीकार करने अथवा यहांतक कि उनकी परीक्षा करनेसे इनकार कर देना ही उनकी प्रवल रक्षाका दुर्ग था; एक वार जव उसे त्याग दिया गया तो मानव-मन किसी कम नकारात्मक, अधिक साहाय्यरूपसे स्वीकारात्मक वस्तुकी ओर दवाव डालते हुए उनके सिद्धांतोंके शवों तथा उनके निरसनकारी व्याख्याओं एवं चतुराईपूर्ण मनोवैज्ञानिक नामपत्रोंके टूटे-फूटे मलवेको पार कर उसके पास पहुंच जायगा। तव उसके वाद एक दूसरा खतरा पैदा हो सकता है,—सत्यकी अंतिम अस्वीकृतिका नहीं, वल्कि पुराने या नये रूपोंमें विगत भूलको दुहरानेका, एक ओर तो अंध कट्टर ज्ञानविरोधी सांप्रदायिक धर्मान्धताका और दूसरी ओर प्राणस्तरीय गुह्यविद्या तथा मिथ्या आध्यात्मिकताके गर्तों और दल-दलोंमें जा फंसनेका—वे भूलें जिन्होंने भूतकाल तथा उसके धर्मविश्वासों-पर भौतिकवादियोंके आक्रमणको सारा सच्चा वल प्रदान किया। परंतु ये वे भ्रम-भ्रांतियां हैं जिन्हें हम वरावर सीमा-प्रांतमें अथवा पार्थिव अंधकार तथा पूर्ण दीप्तिके वीचके मध्यवर्ती प्रदेशमें पाते हैं। इन सभी वातोंके वावजूद, अंधकारपूर्ण पार्थिव चेतनातकमें परम ज्योतिकी विजयका होना एक अंतिम निश्चयताके रूपमें विद्यमान है।

कला, काव्य और संगीत योग नहीं हैं, अपने-आपमें वे उससे जरा भी अधिक आध्यात्मिक वस्तुएं नहीं हैं जितना कि दर्शन या भौतिक विज्ञान आध्यात्मिक वस्तु है। यहां भी आधुनिक वुद्धिकी दूसरी विचित्र अक्षमता छिपी वैठी है—मन और आत्माके वीच विभेद करनेकी उसकी अक्षमता, मानसिक, नैतिक तथा सौंदर्यात्मक आदर्शवादोंको आध्यात्मिकता एवं उनकी निम्नतर स्थितियोंको आध्यात्मिक मूल्य समझनेकी भूल करनेकी उसकी तत्परता। यह वात नितांत सत्य है कि सूक्ष्म विचारक या कविकी मानसिक अंतःप्रेरणाएं अधिकांश मात्रामें किसी ठोस आध्यात्मिक अनुभवसे वहुत अधिक घटिया होती हैं; वे दूरकी चमकें होती हैं, धूमिल प्रतिविंव होती हैं, ज्योतिके केंद्रसे आनेवाली किरणें नहीं होतीं। यह वात भी कम सत्य नहीं है कि पर्वतशिखरोंसे देखनेपर उच्च मानसिक भूमियों तथा इस वाह्य जीवनके

निम्नतर आरोहणोंके बीच अधिक अंतर नहीं दिखायी देता। लीलाकी सभी शक्तियां ऊपरकी दृष्टिके सामने समान होती हैं, सभी भगवान्‌का छद्मवेश होती हैं। परंतु इसके साथ-साथ यह भी कहा जा सकता है कि ये सब भगवान्‌के साक्षात्कारके प्रथम साधनके रूपमें पलट दी जा सकती हैं। आत्माके विषयमें कहा गया कोई दार्शनिक वक्तव्य एक मानसिक सूत्र होता है, ज्ञान नहीं होता, अनुभव नहीं होता; फिर भी कभी-कभी भगवान् उसे अपने स्पर्शका एक माध्यम बना लेते हैं; आश्चर्यजनक रूपसे, मनके भीतरकी कोई बाधा भंग हो जाती है, कोई वस्तु दिखायी देती है, किसी आंतरिक भागमें कोई गंभीर परिवर्तन घटित हो जाता है, प्रकृतिके क्षेत्रमें कोई शांत, सम, अनिर्वचनीय वस्तु प्रवेश कर जाती है। मनुष्य पहाड़की चोटीपर खड़ा हो जाता है और प्रकृतिके अंदर एक विशालता, एक प्रसारता, एक नामहीन बृहत्ताकी झलक पाता है अथवा उसे मनद्वारा अनुभव करता है; उसके बाद एकाएक आता है स्पर्श, एक ज्ञानप्रकाश, एक प्रकारका प्लावन, मानसिक सत्ता अपनेको आध्यात्मिक सत्तामें खो देती है, मनुष्य अनंतका प्रथम आक्रमण झेलता है। अथवा तुम एक पवित्र नदीके किनारे कालीके मंदिरके सामने खड़े हो जाते हो और क्या देखते हो?—एक शिल्पकला, स्थापत्य कलाका एक मनोहर नमूना, पर एक मुहूर्तमें रहस्यपूर्ण ढंगसे, अप्रत्याशित रूपसे उसके स्थानमें दिखायी पड़ जाती है एक उपस्थिति, एक शक्ति, एक मुखमंडल जो तुम्हारे मुंहकी ओर ताक रहा है, तुम्हारे अंतरकी आंतरिक दृष्टि विश्वजननीके दर्शन पा गयी है। इसी प्रकारके स्पर्श कला, संगीत, काव्यके द्वारा उनके स्रष्टाके पास आ सकते हैं, अथवा उस मनुष्यके पास आ सकते हैं जो शब्दके आघातको, रूपके गूढ़ार्थको, स्वरमें निहित संदेशको अनुभव करता है जो संभवतः रचयिताद्वारा ज्ञानपूर्वक अभिप्रेत वस्तुकी अपेक्षा बहुत अधिक कुछ वहन करता है। लीलाके अंदर विद्यमान सभी वस्तुओंको उन झरोखोंमें बदला जा सकता है जो गुह्य सद्वस्तुकी ओर खुलते हैं। फिर भी जबतक कोई मनुष्य झरोखोंके द्वारा ताकनेसे ही संतुष्ट रहता है, उपलब्धि केवल प्राथमिक ही होती है; एक दिन मनुष्यको तीर्थयात्रीकी लाठी अपने हाथमें उठानी ही होगी और वहांकी यात्रा आरंभ करनी होगी जहां दिव्य सद्वस्तु सदा-सर्वदा अभिव्यक्त और उपस्थित रहती है। और

भी कम मनुष्य धूमिल प्रतिबिंबोंसे आध्यात्मिक रूपमें संतुष्ट रह सकता है, जिस दिव्य ज्योतिको रूप देनेकी वे चेष्टा करते हैं उसके लिये खोज हमारे ऊपर हावी हो जाती है। परंतु यह सद्वस्तु और यह ज्योति चूंकि उतने ही अंशमें हमारे अंदर भी हैं जितने अंशमें वे मर्त्यलोकसे ऊपर किसी उच्च भुवनमें हैं, इसलिये हम उनकी खोजमें जीवनके बहुतसे रूपों और क्रियाओंका उपयोग कर सकते हैं; जिस तरह मनुष्य एक फूल, एक प्रार्थना, एक कार्य भगवान्‌के प्रति अर्पित करता है, उसी तरह वह सौंदर्यके एक स्वनिर्मित आकारको, एक गीत, एक कविता, एक मूर्त्ति, संगीतके एक स्वरको भी अर्पित कर सकता है और उसके द्वारा एक स्पर्श, एक प्रत्युत्तर अथवा एक अनुभव प्राप्त कर सकता है। और, जब उस भागवत चेतनामें मनुष्य प्रवेश कर जाता है अथवा जब वह उसके अंदर वर्द्धित होती है तब भी इन चीजोंके द्वारा जीवनमें उसे अभिव्यक्त करना योगसे बहिष्कृत नहीं है; इन सृजनात्मक क्रियाओंका फिर भी अपना स्थान हो सकता है, यद्यपि आंतरिक रूपसे इनका स्थान किसी दूसरी वस्तुसे अधिक ऊंचा नहीं होता जो भगवान्‌के उपयोग और सेवामें प्रयुक्त की जा सकती है। कला, काव्य, संगीत, जैसे कि ये अपनी सामान्य क्रियाओंमें हैं, आध्यात्मिक नही वरन् मानसिक और प्राणिक मूल्योंको उत्पन्न करते है; परंतु उन्हें एक उच्चतर परिणतिकी ओर मोड़ा जा सकता है, और तब, अन्य वस्तुओंकी तरह जो कि हमारी चेतनाको भगवान्‌के साथ जोड़ देनेमें समर्थ है, ये रूपांतरित हो जाते हैं तथा आध्यात्मिक बन जाते हैं एवं योग-जीवनके अंगके रूपमें स्वीकार किये जा सकते हैं। सभी वस्तुएं, स्वयं अपने-आपसे नहीं, बल्कि उस चेतनासे नये मूल्य प्राप्त कर लेती हैं जो उन्हें प्रयुक्त करता है; क्योंकि केवल एक ही चीज सारपूर्ण, आवश्यक, अपरिहार्य है और वह है भागवत सत्यके प्रति सचेतन होते जाना, उसीमें निवास करना तथा सर्वदा उसीको जीवनमें अभिव्यक्त करना।



कठिनाई यह है कि तुम तो हो एक अ-वैज्ञानिक और अपने विचारोंको विज्ञानके अत्यंत कठिन क्योंकि अत्यंत स्थूल क्षेत्र पदार्थविज्ञानपर लादनेकी चेष्टा कर रहे हो। यदि तुम स्वयं एक वैज्ञानिक होते और

तुम्हारे विचार सर्वजनस्वीकृत वैज्ञानिक तथ्योंपर अथवा तुम्हारे अपने आविष्कारोंपर ही आधारित होते,—यद्यपि उस हालतमें भी बड़ी कठिनाईके साथ—, केवल तभी तुम अपनी बात लोगोंको सुना पाते अथवा तुम्हारे मतका कोई मूल्य होता। अन्यथा तुम स्वयं इस आक्षेपका दरवाजा खोल देते कि तुम एक ऐसे क्षेत्रमें घोषणा कर रहे हो जहां तुम्हें कोई अधिकार नहीं है, ठीक जैसे कि भौतिक वैज्ञानिक स्वयं करता है जब वह अपने आविष्कारोंके बलपर यह घोषणा करता है कि कहीं कोई ईश्वर नहीं है। जब कोई भौतिक वैज्ञानिक कहता है कि "वैज्ञानिक भाषामें कहें तो ईश्वर एक कल्पना है जिसकी अब कोई आवश्यकता नहीं" तो वह संपूर्ण रूपसे निरर्थक बकवास करता है—क्योंकि ईश्वरका अस्तित्व बिलकुल ही कोई वैज्ञानिक कल्पना या समस्या न तो है और न हो सकता है और न कभी था; यह एक आध्यात्मिक अथवा एक दार्शनिक समस्या है और सदा ही रहा है। तुम वैज्ञानिक भाषामें उसके विषयमें, चाहे पक्ष या विपक्षमें बिलकुल नहीं बोल सकते। तत्त्वज्ञानी या आध्यात्मिक साधकको यह कहनेका अधिकार है कि यह सब व्यर्थकी बकवास है। परंतु तुम यदि भौतिक विज्ञानके क्षेत्रमें वैज्ञानिकके लिये नियम-कानून निर्धारित करो तो तुम अपने विरुद्ध उसी आपत्तिके उठाये जानेका खतरा मोल लोगे।

समस्त ज्ञानके एकीकरणका जो प्रश्न है, वह एक संभाव्य वस्तु है, अभी वास्तविक रूपमें विद्यमान नहीं है। ज्ञानप्राप्तिकी यांत्रिक पद्धति एक प्रकारके परिणामोंपर पहुंचाती है, उच्चतर पद्धति किन्हीं अन्य परिणामोंतक ले जाती है, और वे बहुतसे स्थलोंपर मूलतः असहमत होती हैं। भला इस विभेदको कैसे दूर किया जाय—क्योंकि इनमेंसे प्रत्येक अपने निजी क्षेत्रमें सत्य प्रतीत होती है; यह एक समस्या है जिसे हल करना होगा, पर उस तरीकेसे तुम उसे हल नहीं कर सकते जिसे तुम प्रस्तुत करते हो। और पदार्थविज्ञानके क्षेत्रमें तो जरा भी उसका प्रयोग नहीं हो सकता। मनोविज्ञानमें हम कह सकते हैं कि यांत्रिक अथवा शरीरविज्ञानकी पद्धति वस्तुओंको उसके काले छोरपर पकड़ती है और सबसे कम फलोत्पादक होती है—क्योंकि मनोविज्ञान प्रधानतया कोई यंत्र-जैसी और माप-तौलवाली वस्तुह नीं है, वह शरीर-चेतनाके भौतिक उपकरणोंके परेके एक

विशाल क्षेत्रकी ओर खुलता है। जीवविज्ञानमें हमें यांत्रिकताके परेकी किसी वस्तुकी झांकी मिल सकती है, क्योंकि वहां आरंभसे ही चेतनाका एक हिल्लोल है और चेतना आत्माभिव्यक्तिके लिये अधिकाधिक प्रगति कर रही तथा संगठन कर रही है। परंतु पदार्थविज्ञानमें तुम एकदम यांत्रिक विधानके क्षेत्रमें रहते हो जहां प्रक्रिया ही सब कुछ है और प्रेरक चेतनाने अत्यंत अधिक पूर्णताके साथ अपनेको प्रच्छन्न रखनेका चुनाव किया है—इस हदतक कि, "वैज्ञानिक भाषामें कहें तो," उसका वहां कोई अस्तित्व ही नहीं है। हम उसे वहां केवल गुह्यविद्या और योगके द्वारा ही पा सकते हैं, परंतु गुह्यविद्या और योगकी पद्धतियां नाप-तौल योग्य नहीं हैं अथवा भौतिक विज्ञानके साधनोंद्वारा अनुसरणीय नही हैं—अतएव खाई अभी भी बनी रह जाती है। इसे एक दिन पाटा जा सकता है, पर भौतिकशास्त्रीके द्वारा पाटे जानेकी कोई संभावना नही है, अतएव जो कुछ उसके प्रांतके परे है, उसके लिये प्रयास करनेके लिये उससे कहनेसे कोई लाभ नहीं।



भौतिक वैज्ञानिकोंको संतुष्ट करनेकी (गुह्यविदों और अध्यात्मवादियोंकी) कामना निरर्थक तथा अयुक्तिसंगत है। भौतिक वैज्ञानिकोंका अपना निजी क्षेत्र और उसके अपने निजी यंत्र और मानदंड हैं। उन्हीं कसौटियोंको भिन्न प्रकारके व्यापारोंपर प्रयुक्त करना वैसे ही मूर्खतापूर्ण है जैसे कि भौतिक कसौटियोंको आध्यात्मिक सत्योंपर प्रयुक्त करना। हम ईश्वरकी चीर-फाड़ नहीं कर सकते अथवा आत्माको अणुवीक्षक यंत्रके द्वारा नहीं देख सकते। इसलिये केवल स्थूल-भौतिक व्यापारोंके लिये उपयुक्त परीक्षणों और मानदंडोंके अधीन अशरीरी आत्माओं अथवा यहांतक कि मनोदैहिक व्यापारोंको ले आना एक अत्यंत मिथ्या और असंतोषजनक पद्धति है। अधिकन्तु, भौतिक वैज्ञानिक उस वस्तुको स्वीकार न करनेके लिये अधिकांशतः कृतसंकल्प है जिसे उसके अपने तरीकों तथा अपने सिद्धांतोंके अनुसार सुन्दर रूपमें पैक करके उसपर उसका नाम और विवरण, नहीं लिखा जा सकता। डॉ० ज्यूल रोमैं (Dr. Jules Romains) स्वयं एक वैज्ञानिक तथा एक महान् लेखक हैं और वह यह सिद्ध करनेके लिये परीक्षण करते हैं कि मनुष्य आंखें बंद करके भी देख और पढ़ सकता है, पर वैज्ञानिकगण उन परिणामोंको स्वीकार करना अथवा

अभिलिखित करना भी अस्वीकार करते हैं। खुदाबख्श आगे आता है और इसे प्रत्यक्ष रूपमें, निस्संदिग्ध रूपमें, सभी प्रकारके वैध परीक्षणोंके अधीन, सत्य सिद्ध करता है, पर वैज्ञानिक लोग इस तथ्यको मान लेने और लिपिवद्ध करनेके लिये विलकुल अनिच्छुक हैं, यद्यपि उसके परिणाम अस्वीकार नहीं किये जा सकते। वह आगपर विना जले चलता है और अवतक प्रस्तावित सभी व्याख्याओंको अप्रमाणित करता है,—वे दूसरे तथा और भी अधिक मूर्खतापूर्ण व्याख्या देनेका यत्न करते हैं! भला उन लोगोंको समझानेकी चेष्टा करनेसे क्या लाभ है जो विश्वास न करनेके लिये दृढ़संकल्प हैं?



वैज्ञानिक मन किसी भी वस्तुको श्रेणीवद्ध किये विना छोड़ देना अस्वीकार करता है। क्या उसने भगवान्‌को भी श्रेणीवद्ध नहीं कर दिया है?



इन लोगों (वैज्ञानिकों)का मन भौतिक वस्तुओं तथा ऐसी वस्तुओंके साथ संलग्न रहनेमें वहुत अधिक अभ्यस्त होता है जो यंत्रों तथा अंकोंद्वारा मापी जाती हैं और ये यंत्र तथा अंक किन्हीं अन्य क्षेत्रोंके लिये वहुत उपयोगी नहीं होते। अपने क्षेत्रसे वाहरके 'अ' के विचार बहुत थोथे और वचकाने हैं, वे एक प्रकारके सारहीन अतिसामान्य आदर्शवाद हैं और सद्वस्तुके ज्ञानसे रहित हैं। जैसे कोई मनुष्य एक महान् पंडित और फिर भी सीधा-सरल तथा मूढ़ हो सकता है, वैसे ही, कोई मनुष्य एक महान् वैज्ञानिक हो सकता है पर उसका मन तथा अन्य वस्तुओंके विपयमें उसके विचार निकृष्ट हो सकते हैं।



निस्संदेह, मनोवैज्ञानिकोंको मानसिक क्रियाओंसे सरोकार होता है और इसलिये वे वड़ी आसानीसे यह मान लेते हैं कि मानसिक क्रियाओं तथा शरीरविज्ञानकी प्रक्रियाओंका कोई सच्चा समीकरण नहीं वन सकता, अधिकसे अधिक मन और शरीर एक-दूसरेपर

प्रतिक्रिया करते हैं जो कि अनिवार्य है, क्योंकि वे दोनों एक साथ निवास करते हैं। परंतु हक्सले जैसे एक महान् भौतिक वैज्ञानिकने भी यह स्वीकार किया था कि मन जड़तत्त्वसे एकदम भिन्न कोई वस्तु है और जड़तत्त्वकी भाषामें संभवतः उसकी व्याख्या नहीं की जा सकती। सच पूछो तो केवल उसी समयसे भौतिक विज्ञान बहुत दंभी और हठी हो गया और प्रत्येक वस्तुको अपने तथा अपनी प्रक्रियाओंके अधीन रखनेका प्रयास करने लगा। अब सिद्धांत-रूपमें वह अपनी सीमाओंको सामान्य ढंगसे स्वीकार करना आरंभ कर दिया है, पर अधिकांश वैज्ञानिकोंमें फिर भी झाड़ फेंकनेका प्राचीन मनोभाव अभी भी अत्यंत स्वाभाविक है।



इस लेखको[1] पढ़नेसे ऐसा लगता है कि यह किसी दार्शनिककी

1. श्री अरविंदने यह पत्र अपने एक शिष्यके निम्नांकित पत्रमें उठाये गये प्रश्नोंके उत्तरमें लिखा था :

"28 मार्च 1934 के 'लिस्नर' पत्रके पृ० 511 पर दो आश्चर्यजनक मान्यताएं हैं—पहली, दर्शनशास्त्र परीक्षणात्मक विज्ञानोंमेंसे एक विज्ञान है और इसकी प्रयोगशाला है अंधकारपूर्ण सभा-कक्ष (Seance)—और दूसरी, पुनरुज्जीवनको अमरत्वसे भिन्न समझनेकी आवश्यकता नहीं। सुस्पष्टताकी दृष्टिसे, अधिकांश दार्शनिक विचारकोंने यह विभेद किया है; यह विचित्र बात है कि जब उनके विरुद्ध एक ऐसा वादविवाद खड़ा किया जा रहा है तब इस बातकी उपेक्षा की जाय. . . । निःसंदेह, यदि किसीकी प्रवृत्ति 'सेयांस' (प्रेतविदोंकी बैठक) में बैठकर व्यावहारिक परीक्षण करनेकी हो तो इसमें संदेह नहीं कि आंतरिक खोजोंमें इसका प्रयोग करना प्रशंसनीय है। पर (जब तक यह नहीं मान लिया जाता कि सभी सुसंस्कृत मनुष्यों, अथवा कमसे कम सभी वैज्ञानिकोंमें यह क्षमता होनी चाहिये और उन्हें इसका विकास करना चाहिये) बहुसंख्यक दार्शनिकोंको यह दोष क्यों लगाया जाता है कि वे आजतकके परिणामोंको अस्पष्ट और अपर्याप्त पाते हैं और अपने-आपको दार्शनिक अध्ययनके निजी क्षेत्रमें ही आबद्ध रहनेकी प्रवृत्ति रखते हैं ?"

(स्वप्नमें अत्यंत दूरके अपने एक परिचितके साथ टेलीफोनपर बात करनेके

अपेक्षा किसी प्राध्यापकका लिखा हुआ है। जो कुछ तुम कहते हो वह, मेरी समझमें, उन्नीसवीं शताब्दीके वैज्ञानिकोंकी तत्त्वज्ञानके प्रति प्रकट की गयी निन्दोक्तिका अवशेष है; उनके अनुसार समस्त चिंतन वैज्ञानिक 'तथ्यों'पर आधारित होना चाहिये तथा विज्ञानके सिद्धांतोंको, जो बहुधा इतने दोषपूर्ण तथा अस्थायी होते हैं, किसी भी सुदृढ़ तात्त्विक चिंतनका आधार बनाना चाहिये। इसका अर्थ है दर्शनशास्त्रको भौतिक विज्ञानकी दासी, तत्त्वज्ञानको भौतिक विज्ञानकी छावनीका अनुचर होना चाहिये और उसे उसके अपने नगरमें उसके प्रधान अधिकारोंको देना अस्वीकार कर देना चाहिये। वे यह सत्य स्वीकार ही नहीं करते कि दार्शनिकोंका भी अपना निजी क्षेत्र है और उनके अपने निजी उपकरण हैं; वे वैज्ञानिक आविष्कारोंको उसी तरह साधनके रूपमें व्यवहृत कर सकते हैं जैसे कि वे जीवनके किन्हीं दूसरे तथ्योंका उपयोग कर सकते हैं, पर चाहे जो भी सिद्धांत भौतिक विज्ञान क्यों न दे, वे अपने निजी मानदंडोंसे ही उनका विचार करेंगे कि आया वे तत्त्वशास्त्रके क्षेत्रमें स्थानांतरित करनेके योग्य हैं या नहीं और यदि हैं तो किस हदतक हैं। फिर भी भौतिक विज्ञानने जब अपनी सीमाओंका तथा विशाल अनंतता अथवा अज्ञेयके सीमाहीन ससीमके अंदर डाँवाडोल स्थितिमें बहती हुई वस्तुओंकी

संबंधमें।) "मैं समझता हूँ कि वास्तव जीवनमें टेलीफोनसे बात करना पत्र-व्यवहारकी अपेक्षा बहुत कम संतोषजनक हो सकता है। क्या यह कोई बहुत ही अर्थपूर्ण संकेत नहीं है कि ठीक उस युगमें जब कि मानव-व्यवहार और संबंध टूट-फूट रहे हैं, टेलीफोन-विद्या और चलचित्रण-विद्याका आविर्भाव हुआ है? मिथ्यात्व और निर्दयता और दूसरोंके प्रति स्वकेन्द्रित उदासीनताके कारण प्रत्येक व्यक्ति प्रत्येक दूसरेके लिये अधिकाधिक अर्थहीन छाया और कपटभरी वाणी बन गया है। 'मैनचेस्टर गार्डियन'के संगीतके आलोचकद्वारा किसी 'एलगर मेमोरियल कन्सर्ट' पर की गयी टिप्पणियोंमें 'कलाकी श्रेष्ठता तथा कोमलताके विरुद्ध कार्य करनेवाली प्रतिक्रिया'के विषयमें कुछ उत्तम बातें कही गयी हैं। मैं यह समझनेमें असमर्थ हूँ कि मनुष्योंके ऐसी 'कला' का रचयिता या भोक्ता होनेकी अब कोई आवश्यकता है जो फैशनके नियमोंके अधीन हो सकती है; संभवतः एक आसुरिक सभ्यताके अंदर मनुष्य किसी तरह अनावश्यक हो गये हैं और केवल 'असुरोंके अवतारों'की ही आवश्यकता है?"

योजनामें अस्थिरताका पता पाया, उससे पहले उसके विजयके दिनोंमें संभवतः ऐसे मनोभाव रखनेके लिये कुछ वहाना था। परंतु 'साइ-किकल रिसर्च' (प्रेतविज्ञानसंवंधी खोज) के नामसे गौरवान्वित प्रेतवाद? वह कोई विज्ञान नहीं है; वह तो अस्पष्ट तथा दुर्वोध प्रलेखोंका एक स्तूप है जिससे तुम केवल कुछ असार और संदिग्ध सिद्धांत ही निकाल सकते हो। इसके अलावा, इसका संवंध जहांतक गुह्यविद्यासे है, यह गुह्यविद्याके केवल निम्नतर क्षेत्रोंको ही छूता है—जिसे हम निम्नतम प्राण-जगत्‌का नाम देते हैं—जहां पृथ्वीकी तरह ही और यहांतक कि उससे भी अधिक मिथ्यात्व और छल-कपट और अनियमित भूल-भ्रांतियां हैं। इस सव दुर्वोध तथा संक्षुब्ध सामग्रियोंको लेकर भला कोई दार्शनिक क्या करेगा? उसकी टिप्प-णियोंकी वहुतसी वातें मैं नहीं समझ रहा हूं। भला किसी भी भावी घटनाकी भविष्यवाणीके कारण कालसंवंधी हमारी कल्पना—कम-से-कम कोई दार्शनिक कल्पना—क्यों वदल जानी चाहिये? वह केवल घटनाके पारस्परिक संवंध अथवा शक्तियोंकी क्रियान्विति या चेतनाकी संभावनाओं आदिके विपयमें हमारी भावनाओंको ही वदल सकती है, पर काल तो पहलेकी तरह ज्यों-का-त्यों वना रहेगा।

निस्संदेह, वह स्वप्न सूक्ष्म जगत्‌में संपर्क स्थापित करनेके एक प्रयासका चित्रण है। टेलीफोन और सिनेमाका जहांतक प्रश्न है, तुम जो कहते हो वहां कुछ वातें वैसी ही हैं, पर मुझे ऐसा लगता है कि इन्होंने तथा अन्य आधुनिक चीजोंने एक भिन्न स्वरूप लिया होता यदि इन्हें भिन्न भावमें ग्रहण और व्यवहृत किया गया होता। मनुष्य-जाति, आध्यात्मिक अर्थमें, इन आविष्कारोंके लिये तैयार नहीं थी, और यहांतक कि, यदि वर्तमान अस्तव्यस्तताएं एक लक्षण हों तो, वौद्धिक रूपसे भी तैयार नहीं थी। रसवोधसंवंधी पतन संभवतः अन्य कारणोंसे हुआ है, जैसे, निराशापूर्ण आदर्शवाद जो पीछे हटकर अपने विपरीत वस्तुको उत्पन्न करता है, रूखा-सूखा तथा उदासीन वौद्धिकवाद जो रोमांटिक अथवा भावात्मक आदर्शद्वारा अथवा किसी भी ऐसी चीजके द्वारा प्रतारित होना अस्वीकार करता है जो इंद्रियोंके प्रकाशमें चलनेवाली वुद्धिसे उच्चतर हो। अतीतके असुर आखिरकार अधिकतर वड़ी सत्ताएं होते थे; वर्तमान असुरोंके विपयमें दिक्कत यह है कि वे वास्तवमें असुर नहीं हैं, वल्कि निम्नतर प्राणजगत्‌की सत्ताएं हैं

जो बड़ी उग्र, क्रूर और अधम हैं, बल्कि सबके ऊपर संकीर्णमन, अज्ञ और तिमिराच्छन्न हैं। परंतु इस प्रकारका सड़ियल संकीर्ण बुद्धिवाद, जो आजकल प्रबल है, स्थायी नहीं होता—वह बढ़ते हुए रूखेपनके कारण स्वयं अपने अंतकी तैयारी करता है—मनुष्य जीवनके नवीन स्रोतोंकी आवश्यकता अनुभव करना आरंभ कर देते हैं।



मैं नही समझता कि जिन दो प्रश्नोंको तुमने उठाया है वे आध्यात्मिक साधनाकी दृष्टिसे बहुत अधिक महत्त्वपूर्ण हैं।

1. विज्ञान और आध्यात्मिकतासे संबंध रखनेवाले प्रश्नका करीब 20 वर्ष पहले कुछ महत्त्व रहा होता; बीसवीं शताब्दीके प्रारंभिक वर्षोंमें यह मनुष्योंके मनमें भरा हुआ था; पर अब इसका कोई अर्थ नहीं है। विज्ञान स्वयं इस निर्णयपर पहुंच गया है कि वह, जैसा कि एक समय उसने आशा की थी, यह निश्चय नहीं कर सकता कि वस्तुओंका सत्य क्या है अथवा उनका यथार्थ स्वभाव क्या है अथवा भौतिक व्यापारके पीछे क्या है; वह केवल भौतिक वस्तुओंकी प्रक्रियाको देख सकता है अथवा यह जान सकता है कि वे कैसे घटित होती हैं अथवा किस ढंगसे मनुष्य उनके साथ संबंध रख सकते और उनका उपयोग कर सकते हैं। दूसरे शब्दोंमें, भौतिक विज्ञानका क्षेत्र अब निश्चित रूपसे निर्धारित तथा सीमित हो गया है और भगवान् या चरम सद्वस्तु अथवा आध्यात्मिक समस्याओंसे संबंधित प्रश्न उसके क्षेत्रसे बाहर हैं। यही अवस्था कम-से-कम समूचे यूरोपीय महाद्वीपकी है और केवल इंगलैंड तथा अमेरिकामें अभी भी भौतिक विज्ञानके आधारपर इन चीजोंके विषयमें तर्क-वितर्क करनेका कुछ प्रयत्न किया जाता है।

नाममात्रके वे विज्ञान, जो मन और मनुष्योंके विषयमें (मनोविज्ञान इत्यादि) खोज करते हैं, भौतिक विज्ञानपर इतना अधिक निर्भर करते हैं कि वे संकीर्ण सीमाओंके परे नहीं जा सकते। यदि विज्ञानको भगवान्‌की ओर मुंह मोड़ना हो तो उसे एक नवीन विज्ञान बनना होगा जो अभीतक विकसित नही हुआ है और जो सीधे प्राण-जगत् तथा मानस-जगत्‌की शक्तियोंके विषयमें संलग्न रहता है

और इस प्रकार उस वस्तुपर पहुँच जाता है जो मनसे परे है; परंतु आधुनिक विज्ञान ऐसा नहीं कर सकता।

2. आध्यात्मिक दृष्टिकोणसे देखा जाय तो शिक्षित हिन्दुओंके भौतिकवादकी ओर मुड़ने जैसी क्षणिक क्रियाका बहुत कम महत्त्व है। बराबर ही ऐसे काल आये हैं जब राष्ट्रों, प्रायद्वीपोंके मन अथवा संस्कृतियां भौतिकवादकी ओर मुड़ गयीं तथा समस्त आध्यात्मिक विश्वासोंसे दूर चली गयी। ऐसे काल यूरोपमें उन्नीसवीं शताब्दीमें आये, पर वे सामान्यतया बहुत कम लंबे रहे हैं। पश्चिमी यूरोपने अब भौतिकवादके प्रति अपने विश्वासको खो दिया है और वह किसी दूसरी वस्तुकी खोज कर रहा है, या तो प्राचीन धर्मकी ओर वापस मुड़ रहा है अथवा किसी नवीन वस्तुके लिये अंधकारमें टटोल रहा है। रूस और एशियामें आजकल उसी भौतिकवादकी लहरें लहरा रही हैं। ये लहरें इस कारण आती हैं कि मानवीय विकास-क्रममें उनकी एक विशेष आवश्यकता होती है—वह आवश्यकता है पुराने रूपोंके बंधन छिन्नभिन्न कर देना और नवीन सत्य तथा जीवनके सत्य एवं कर्मके नवीन रूपोंके लिये और साथ ही जीवनके पीछे जो कुछ है उसके लिये एक क्षेत्र खाली छोड़ देना।



मेरी समझमें 'अ' अपने विचारोंको जीन्स (Jeans), एडिंगटन (Eddington) और अन्य अंगरेज वैज्ञानिकोंके प्रयत्नोंपर स्थापित करता है जो दार्शनिक निष्कर्षोंको वैज्ञानिक तथ्योंमें घुसेड़ना चाहते हैं। यह आवश्यक है कि ऐसी मिलावटके प्रति अधिक कट्टर वैज्ञानिक लोगोंकी आपत्तियोंका वह पूर्ण रूपसे मूल्यांकन करे। इसके अतिरिक्त, आध्यात्मिक साधनाका अपना निजी संचित ज्ञान है जो विशुद्धतः भौतिक क्षेत्रमें प्राप्त विज्ञानके सिद्धांतों अथवा आविष्कारोंपर जरा भी निर्भर नहीं करता। जीन्स तथा अन्यान्य लोगोंके प्रयासोंकी तरह 'अ' का प्रयास भी उन अवैध प्रयासोंके विरुद्ध एक प्रतिक्रिया है जिन्हें उन्नीसवी शताब्दीमें कुछ वैज्ञानिक लोगोंने किया और अन्यान्य उन अनेक लोगोंने किया जिन्होंने वैज्ञानिक आविष्कारकी धाराका लाभ उठाकर धार्मिक भावनाको यथाशक्ति हीन बतलाने या नष्ट कर डालनेकी कोशिश की तथा तत्त्वज्ञानको भी अस्पष्ट शब्दाडंबर कहकर

हीन सिद्ध करनेका प्रयत्न किया एवं विश्वके सत्यकी एकमात्र कुंजी कहकर विज्ञानकी प्रशंसा की। परंतु मेरा ख्याल है कि यह मनोभाव अव मर गया है अथवा मरणासन्न है; वैज्ञानिक, जैसा कि तुम सूचित करते हो, अपने क्षेत्रकी सीमाओंको मानने लगे हैं। मैं कह सकता हूं कि धर्म और विज्ञानके वीच कभी भारतमें (जवतक कि यूरोपियन शिक्षाका समय नहीं आया) झगड़ा खड़ा नहीं हुआ, क्योंकि धर्मने वैज्ञानिक आविष्कारमें हस्तक्षेप नहीं किया और न वैज्ञानिकोंने धार्मिक या आध्यात्मिक सत्यपर संदेह किया, कारण ये दोनों चीजें पृथक् पंक्तियोंमें तो रखी गयी थीं पर विपरीत पंक्तियोंमें नहीं रखी गयी थीं।



'अ' ने भौतिक विज्ञानके विषयमें जो कुछ लिखा है उसमें दोष यह है कि वह इस वातपर तीव्र रूपसे आग्रह करता है कि विज्ञान अभी भी भौतिकवादी है अथवा कम-से-कम, जीन्स और एडिंगटनको छोड़कर, सभी वैज्ञानिक अभी भी मूलतः भौतिकवादी हैं। यह वात सत्य नहीं है। अधिकांश यूरोपियन वैज्ञानिकोंने अव इस विचारको त्याग दिया है कि विज्ञान जगत्के मूल तत्त्वोंकी व्याख्या कर सकता है। वे यह मानते हैं कि विज्ञानका सरोकार वस पद्धतिसे है, न कि मूलतत्त्वोंसे। वे घोषित करते हैं कि विज्ञानका न तो यह कार्य है और न यह उसके साधनोंके वशकी वात है कि वह उन महान् प्रश्नोंके विषयमें कुछ निर्णय कर सके जो दर्शनशास्त्र अथवा धर्मसे संवंध रखते हैं। यह एक महान् परिवर्तन है जो विज्ञानके आधुनिकतम विकासोंके कारण घटित हुआ है। विज्ञान स्वयं आजकल न तो भौतिकवादी है और न आदर्शवादी। जिस आधार-शिलापर भौतिकवाद-की इमारत खड़ी थी और जो उन्नीसवीं शताब्दीमें अटल प्रतीत होती थी वह अव चकनाचूर हो गयी है। भौतिकवाद भी अव ठीक उसी तरह दार्शनिक चिंतनका विषय वन गया है जैसा कि कोई भी दूसरा सिद्धांत है; वह यह दावा नहीं कर सकता कि उसने अपने-आपको एक प्रकारके वाइविलके निर्भ्रांत प्रमाणके ऊपर स्थापित किया है, विज्ञानके तथ्यों और निर्णयोंपर आधारित किया है। इस परिवर्तनको मेरे जैसा ही कोई व्यक्ति अनुभव कर सकता है जो उन्नीसवीं

शताब्दीमें वैज्ञानिक जड़वादके पूर्ण शासनके मध्याह्नकालमें बड़ा हुआ हो। जो रास्ता, सिवा विद्रोहके, लगभग पूर्ण रूपसे बंद था वह अब आध्यात्मिक सत्यों, आध्यात्मिक विचारों, आध्यात्मिक अनुभवोंके लिये पूर्ण रूपसे खुला हुआ है। यही सच्ची क्रांति है। मानसवाद मात्र एक, बीचका मार्ग है, पर मानसवाद तथा प्राणवादका अब जीवनके तथ्यों, वैज्ञानिक तथ्यों तथा किन्हीं अन्य तथ्योंपर आधारित एक परिकल्पना-का रूप लेना पूर्णतः संभव है। विज्ञानके तथ्य किसी भी व्यक्तिको कोई भी विशेष दार्शनिक रुख लेनेको बाध्य नहीं करते। वे आजकल निष्पक्ष हैं और एक अथवा दूसरे पक्षमें व्यवहृत भी हो सकते हैं, यद्यपि अधिकांश वैज्ञानिक ऐसे व्यवहारको स्वीकार्य नहीं मानते। यहां किसी भी मनुष्यने कभी यह नहीं कहा है कि भौतिक विज्ञानके नवीन आविष्कार धर्म या चर्चकी भावनाओंका समर्थन करते हैं; उन्होंने महज यह कहा था कि विज्ञानने अपनी प्राचीन भौतिकवादी कट्टरताको खो दिया है तथा वह एक क्रांतिकारी परिवर्तनके कारण अपने पुराने लंगर-स्थानसे दूर चला गया है।

यही वह परिवर्तन है जिसकी मैंने आशा की थी और जिसके विषयमें प्रथम 'अहाना' पुस्तकमें 'विज्ञानकी दृष्टि' (A Vision of Science) तथा 'चंद्रालोकमें' (In the Moonlight) शीर्षक अपनी कविताओंमें भविष्यवाणी की थी।



मुझे खेद है कि ऐसी कल्पनाओंमें अब मुझे तनिक भी दिलचस्पी नहीं रही। मेरे लिये अवस्थाएं इतनी अधिक गंभीर होती जा रही हैं कि मैं इन अनिर्णयात्मक बौद्धिकताओंपर समय नष्ट नहीं कर सकता। मैं इस बातकी जरा भी परवा नहीं करता कि तुम अपने तर्कको विजयशालिताके साथ अपने लक्ष्यतक ले जा रहे हो और जड़वादी विज्ञानकी एक प्रकारकी कट्टरताको उसके आधी सदी पुराने सिंहासनपर स्थापित कर रहे हो जिस सिंहासनसे वह आसानीसे अपनी संकीर्ण सीमाओंके परेके सभी विचारोंको महज शब्दाडंबरपूर्ण तत्त्वज्ञान और रहस्यवाद और ख्याली पुलाव कहकर निषिद्ध घोषित कर सकती थी। स्पष्ट ही, यदि केवल जड़ शक्तियां ही स्थूल जगत्‌में अस्तित्व रख सकतीं तो पृथ्वीपर दिव्य जीवनकी कोई संभावना न

हो सकती। महज कोई दार्शनिक 'मनश्चातुरी', जैसा कि इसे नाम दिया जा सकता है, वैज्ञानिक अस्वीकृति तथा ठोस साधारण समझकी आपत्तियोंके विरुद्ध इसे यथार्थ न सिद्ध कर पाती। मैंने समझा था कि यूरोपके बहुतसे वैज्ञानिक लोगोंने भी यह स्वीकार कर लिया है कि विज्ञान अब यह निश्चय करनेका दावा नहीं कर सकता कि वस्तुओंका यथार्थ सत्य क्या है, इसका निर्णय करनेका कोई साधन उसके पास नहीं है, और वह केवल यही खोज सकता और बतला सकता है कि भौतिक शक्ति वस्तुओंके भौतिक भागमें कैसे कार्य करती है और उसकी क्रियाओंकी पद्धति क्या है। इस बातने उच्चतर चिंतन और अनुमानके लिये, आध्यात्मिक अनुभव तथा यहांतक कि रहस्यवाद, गुह्यविद्या तथा उन समस्त महत्तर वस्तुओंके लिये क्षेत्र खुला छोड़ दिया था जिनपर लगभग प्रत्येक व्यक्ति अविश्वास करने लगा था और असंभव बकवास समझने लगा था। बस, यही परिस्थिति थी जब मैं इंगलैंडमें था। यदि उसे फिर वापस आना है अथवा रूस तथा उसका द्वन्द्वात्मक जड़वाद संसारका पथप्रदर्शन करने जा रहे हों तो फिर हम लोगोंको भाग्यके पीछे-पीछे ही चलना होगा और दिव्य जीवनको शायद दूसरी सहस्राब्दीतक संतोषपूर्वक प्रतीक्षा करनी होगी। परंतु मैं इस विचारको नहीं पसंद करता कि हमारा कोई समाचार-पत्र इस प्रकारके दंगलका अखाड़ा बनाया जाय। बस, इतना ही कहना है। इस विषयपर तुम्हारे पुराने लेखोंसे जो मेरी धारणा बनी थी उसीके अनुसार मैं लिख रहा हूं, पीछेके लेखोंको मैंने ध्यानपूर्वक नहीं पढ़ा है; मैं मानता हूं कि ये पीछेके लेख विषयको पूर्णतः समझानेवाले होंगे और इन्हें पढ़नेके बाद मुझे मालूम हो जायगा कि मेरी अपनी स्थिति गलत थी और केवल कोई हठी योगी ही अब भी आत्माकी जड़तत्त्वपर प्राप्त ऐसी विजयमें विश्वास करेगा जैसा कि मैंने उसके संभव होनेकी बात सोचनेका साहस किया था; परंतु मैं ठीक वैसा ही एक हठी योगी हूँ; इसलिये, यदि मैं इस विषयके तुम्हारे विवेचनको स्वयं अपने किसी समाचार-पत्रमें प्रकाशित करनेकी अनुमति दे दूं तो मुझे उस विषयपर फिर वापस आनेके लिये विवश होना होगा जिसमें अब मुझे कोई दिलचस्पी नहीं है और इसलिये उस विषयपर कुछ लिखनेके लिये बाध्य होना होगा जिसमें कि मैं अपनी स्थितिको पुनः स्थापित कर सकूं। साथ ही मुझे जड़वादी विज्ञानके

इस दावेके विरुद्ध संग्राम भी शुरू करना होगा कि उसे उन विषयों-पर, जिनकी खोज करनेका न तो उसके पास कोई साधन है और न किसी वैध निर्णयपर पहुंचनेकी कोई संभावना है, कुछ भी घोषित करनेका अधिकार है। संभवतः मुझे "जड़वादियोंके विजयोल्लासपूर्ण नकार" के उत्तरमें वस्तुतः "द लाइफ डिवाइन" (दिव्य जीवन) पुस्तक-को दुबारा लिखना होगा! सच पूछा जाय तो, इस विषयके विवेचन-के लिये महज समयके अभावके अतिरिक्त अपने दीर्घ और निराशा-जनक मौनकी बस यही व्याख्या मैं दे सकता हूँ।



मैं जानता हूं कि आध्यात्मिकता तथा रहस्यवादकी ओर आधुनिक झुकावकी यह रूसी व्याख्या है कि यह पूंजीवादी समाजकी एक ह्रासकालीन क्रिया है। परंतु मानव-इतिहासकी समस्त घटनाओंमें, जानबूझकर अथवा अनजानमें, एक आर्थिक कारण ढूंढ़ निकालना कार्लमार्क्सके भ्रांतिपूर्ण तर्कसे उत्पन्न वोलशेविक सिद्धांतका एक अंग है। मनुष्यकी प्रकृति उस सबकी तरह इतनी सरल और एक सूतसे बनी नहीं है—इसमें बहुतेरी धाराएं हैं और प्रत्येक धारा उसके जीवनकी एक आवश्यकता उत्पन्न करती है। आध्यात्मिक या रहस्य-वादी धारा उनमेंसे एक है और मनुष्य इसे विभिन्न तरीकोंसे, सभी प्रकारके कुसंस्कारों, अज्ञानपूर्ण धार्मिकता, प्रेतविद्या, पिशाचवाद और अन्यान्य बहुतसी चीजोंसे, अपने अधिक प्रबुद्ध भागोंमें आध्यात्मिक दर्शनशास्त्र, उच्चतर गुह्यवाद तथा अन्य वस्तुओंके द्वारा, अपने उच्चतम भागमें 'सर्व' के साथ, शाश्वत सत्य या भगवान्के साथ एकत्व प्राप्त करके संतुष्ट करनेका प्रयास करता है। यूरोपमें आध्या-त्मिकताकी खोजकी प्रवृत्तिका प्रारंभ उन्नीसवीं शताब्दीमें वैज्ञानिक जड़वादसे पीछे हटनेके कारण, तर्क-बुद्धिके पूर्ण-पर्याप्त होनेके दावेसे असंतोष होनेके कारण तथा किसी गभीरतर वस्तुका बोध होनेके कारण हुआ था। यह युद्धसे पूर्वकी स्थिति थी, और इसका प्रारंभ तब हुआ जब साम्यवादका कोई संत्रास नहीं था और पूंजीवादी जगत् अपनी धृष्ट सफलता और विजयके उच्चतम शिखरपर था और यह विशेषतः जड़वादी मध्यवर्गीय जीवन और उसके आदर्शोंके विरुद्ध उठे हुए एक विद्रोहके रूपमें आया था, न कि उसकी सेवा

करने या उसे शुद्ध करनेके प्रयासके रूपमें आया। युद्धके वादके भ्रमभंजनसे एक साथ ही इसे लाभ पहुंचा है और इसका विरोध भी हुआ है—विरोध इसलिये हुआ है कि युद्धोत्तर जगत् या तो मानव-द्वेपवाद तथा इंद्रियपरायण जीवनमें अथवा फासिज्म और कम्यूनिज्म जैसे आन्दोलनोंमें जा गिरा है; इसे लाभ इस कारण मिला कि अतीत या वर्तमानके आदर्शोंके प्रति, जीवनकी समस्याके समस्त मानसिक या प्राणिक या भौतिक समाधानोंके प्रति गभीरतर मनोंमें असंतोप वढ़ गया है और एकमात्र आध्यात्मिक मार्ग ही वाकी रह गया है। यह ठीक है कि यूरोपियन मनको इन सव विषयोंमें वहुत थोड़ासा ही प्रकाश प्राप्त है, वह प्रेतवाद या थियासोफी जैसी प्राणिक मृग-मरीचिकाके साथ क्रीड़ा करता अथवा प्राचीन धार्मिक कट्टरतामें वापस जा गिरता है; परंतु गभीरतर मन-वुद्धिवाले लोग, जिनकी वात मैं कहता हूँ, या तो इनसे किनारा काट जाते हैं अथवा इनमेंसे गुजरते हुए किसी महत्तर ज्योतिकी खोजमें जुट जाते हैं। मेरा संपर्क ऐसे वहुतसे लोगोंसे हो चुका है और उपर्युक्त प्रवृत्तियां वहुत स्पष्ट हैं। ये चीजें सभी देशोंसे आती हैं और इनमेंसे केवल थोड़ीसी चीजें ही इंगलैंड या अमेरिकासे आयी हैं। रूस दूसरे प्रकारका है—दूसरोंसे भिन्न, यह मध्ययुगीन कट्टर धार्मिकतामें घसीटता रहा है और विद्रोहके किसी कालमेंसे नहीं गुजरा है—इसी कारण जव विद्रोह आया तव यह स्वाभाविक रूपमें ही धर्म-विरोधी और नास्तिक वन गया। जव यह स्थिति समाप्त हो जायगी केवल तभी रूसी रहस्यवाद पुनः जागृत हो सकेगा और कोई संकीर्ण धार्मिक नहीं वल्कि आध्यात्मिक दिशा ग्रहण करेगा। यह सच है कि रहस्यवादने ही उलटकर वोल-शेविज्मको निर्मित किया है और इसका प्रयास है किसी राजनीतिक विपयकी अपेक्षा एक संप्रदाय वनाना, इसकी खोज है पृथ्वीपर एक विशुद्ध सामाजिक गठनका निर्माण करनेके वदले स्वर्गीय गुप्त स्वर्णयुग-को स्थापित करना। परंतु अधिकांशतः रूस एक औद्योगिक प्रति-योगिताके वातावरणके वीच अथवा उसके विरुद्ध वह सव साम्यवादी आधारपर करनेका प्रयत्न कर रहा है जिसे उन्नीसवीं शताब्दीके आदर्शवादने पूरा करनेकी आशा की थी और वह असफल हो गया था। आया रूस वास्तवमें उससे अधिक सफल होगा या नहीं यह भविष्य ही निर्णय करेगा—क्योंकि आजकल वह केवल उतना ही

रखता है जिसे वह उत्तेजना और उग्र शासनके द्वारा प्राप्त करता है और यह स्थिति अभी समाप्त नही हुई है।



ईशोपनिषद्का उद्धरण[1] निस्संदेह वैश्व सत्ताके स्वभावके विषयमें आइन्स्टीनके सिद्धांतकी अपेक्षा बहुत अधिक विशाल वक्तव्य है। आइन्स्टीनका सिद्धांत तो भौतिक विश्वकी सीमाओंमें आबद्ध है। ईशके श्लोकमें जो वर्णन है उससे तुम सापेक्षकतावादका एक बहुत अधिक विशाल सिद्धांत भी निकाल सकते हो। इस दृष्टिकोणसे इसका अर्थ यह है—इसमें बहुत अधिक भाव निहित है—कि पूर्ण सद्वस्तु है, पर यह अचल है और सर्वदा वैसी ही बनी रहती है, वैश्व गति इसी सद्वस्तुके अंदर चेतनाकी एक गति है और इस सद्वस्तुका केवल परात्पर स्वरूप ही सत्यको पकड़ सकता है जो इसके लिये स्वयं-प्रत्यक्ष है, जब कि इसके विषयमें देवताओं (मन, इंद्रिय आदि) का बोध आवश्यक रूपसे अपूर्ण और सापेक्ष होगा, क्योंकि वे अनुसरण करनेका प्रयास तो कर सकते हैं पर कोई उस परम सत्यको वास्तवमें पकड़ (समझ या अधिगत) नहीं सकता, क्योंकि उनमेंसे प्रत्येक अपने निजी दृष्टिकोणसे[2] सीमित चेतनाका क्षुद्रतर यंत्र या सामर्थ्य आदि होता है। यही भारतीयोंका अथवा कमसे कम वेदान्तिकोंका सुपरिचित मनोभाव है जो विश्वास करते थे कि संसारमें विद्यमान वस्तुओं तथा स्वयं संसारका हमारा ज्ञान, बोध एवं अनुभव केवल व्यावहारिक अर्थात् सापेक्षिक, प्रयोगात्मक अथवा अनुभवमूलक ही होगा,—इसी कारण शंकरने घोषित किया,—यह यथार्थमें भ्रमात्मक ज्ञान है, वस्तुओंका यथार्थ सत्य हमारे मानसिक तथा ऐंद्रिय चेतनाके परे विद्यमान है।

---

1. अनेजदेकं मनसो जवीयो नैनद्देवा आप्नुवत् पूर्वमर्षत्।
तद्धावतोऽन्यानत्येति तिष्ठत्............॥4॥
वह एक अचल है जो मनसे भी अधिक तेज गतिवाला है, उसके पास देवता नहीं पहुँचते, क्योंकि वह सदा सामनेकी ओर प्रगति करता है। वह खड़ा होता हुआ, अन्योंके परे चला जाता है जब कि वे दौड़ते हैं।

2. इसके अतिरिक्त देवगण देश और कालके अंतर्गत और अधीन होते हैं, देश और कालके अंदरकी गतिके अंग होते हैं, उससे महत्तर नहीं होते।

आइन्स्टीनका सापेक्षकतावाद कोई दार्शनिक नहीं वरन् वैज्ञानिक वक्तव्य है। इसका स्वरूप और क्षेत्र बिलकुल अलग हैं,—पर, मैं समझता हूं, यदि कोई इसके पीछे और इसके परे इसके मूल तात्पर्यतक, इसके वैसा होनेके सच्चे कारणतक चला जाय तो वह इसे वैदांतिक निष्कर्षके साथ जोड़ सकता है। परंतु बुद्धिके सामने उसे सिद्ध करनेके लिये तुम्हें उस समूची प्रक्रियाका विशद् रूपसे विचार करके यह दिखाना होगा कि यह संबंध कैसे बनता है—यह संबंध स्पष्ट रूपमें स्वयं अपने-आप नहीं बनता।

जीन्स (Jeans) का जहांतक संबंध है, बहुतसे लोग यह कहेंगे कि उनके निष्कर्ष बिलकुल ही युक्तिसंगत नहीं हैं। आइन्स्टीन-का सिद्धान्त एक वैज्ञानिक सामान्य सिद्धांत है जो भौतिक विज्ञानके क्षेत्रके किन्हीं निजी संबंधोंपर आधारित है और, यदि वैध हो तो, वैध उस क्षेत्रकी सीमाओंके अंदर होगा, अथवा यदि, तुम चाहो तो कह सकते हो कि, भौतिक प्रक्रियाओं और गतियोंके वैज्ञानिक निरीक्षण तथा अनुमानके सामान्य क्षेत्रमें वैध होगा। परंतु उसे तुम एकाएक एक दार्शनिक सिद्धांतमें कैसे रूपांतरित कर सकते हो? यह तो एक काफी बड़ी खाईके ऊपरसे कूद जाना है—अथवा एक वस्तुको दूसरी वस्तुमें, एक सीमित भौतिक परिणामको एक असीमित सर्वग्राही सूत्रमें जबर्दस्ती रूपांतरित कर देना है। मैं ठीक-ठीक यह नहीं जानता कि आइ-न्स्टीनका सिद्धांत वास्तवमें है क्या—पर क्या वह इससे अधिक कुछ है कि काल तथा अन्य वस्तुओंके विषयमें हमारे वैज्ञानिक अनुमान, जिन परिस्थितियोंमें उन्हें करना पड़ता है उनमें, सापेक्षिक हैं क्योंकि इन परिस्थितियोंकी अपरिहार्य त्रुटिके अधीन हैं? इससे दार्शनिक रूपमें क्या निष्कर्ष निकलता है—यदि नितांत कोई निष्कर्ष निकलता हो—इसका निर्णय दार्शनिक लोग ही कर सकते हैं, न कि वैज्ञानिक। वैदांतिक प्रस्थापना यह थी कि स्वयं मन (साथ ही इंद्रियां भी) एक ससीम शक्ति है, यह अपनी ही निजी प्रतिमूर्त्तियां, रचनाएं और आकार बनाता और उन्हें सद्वस्तुके ऊपर आरोपित करता है। यह एक बहुत ही विशाल और जटिल मामला है जो हमारी सत्ताकी एकदम जड़ोंतकमें नीचे समा गया है। मैं स्वयं समझता हूं कि आधुनिक विज्ञानने ऐसी अनेक स्थितियां ग्रहण की हैं जो इस विचार-धाराके लिये सहायक प्रतीत होती

हैं—यद्यपि स्वाभाविक रूपमें इसे सिद्ध करनेके लिये वे पर्याप्त नहीं हो सकतीं।

मैं यहां केवल आपत्तियोंका ही वर्णन कर रहा हूँ। मैं स्वयं समस्त क्षेत्रोंके मूलमें विद्यमान कुछ मौलिक सत्योंको तथा एक दिव्य सद्वस्तुको सर्वत्र विद्यमान देखता हूं। परंतु इन विभिन्न मार्गों (भौतिक, गुह्य और आध्यात्मिक) में जिज्ञासु जिन साधनांका प्रयोग करते हैं और जिन तरीकोंसे अन्वेषण करते हैं उनमें भी एक बहुत बड़ा अंतर है और कम-से-कम बुद्धिके लिये उनके बीच पुल तैयार करना अभी भी बाकी है। हम उनके बीच विद्यमान सादृश्योंको तो दिखा सकते हैं, पर यह बात अच्छी तरह कही जा सकती है कि विज्ञानका व्यवहार आध्यात्मिक ज्ञानसे प्राप्त परिणामोंको प्राप्त करनेमें नहीं किया जा सकता और न तर्कद्वारा उनका समर्थन किया जा सकता है। दूसरेके पक्षको भी माना जा सकता है और यह सबसे उत्तम होगा कि दोनों पक्षकी बातें कही जायं—इसलिये इस सबका उद्देश्य तुम्हारे दावेको निरुत्साहित करना नही है।



भला सर जेम्स जीन्स (Sir James Jeans) या अन्य किसी वैज्ञानिकको यह कैसे मालूम है कि यह "महज एक आकस्मिक घटना" थी कि जीवन प्रकट हो गया अथवा यह कि इस विश्वके सिवा और कहीं जीवन नहीं है अथवा यह कि अन्यत्र जीवन या तो ठीक-ठीक वैसा ही होगा जैसा कि वह यहां है और इन्हीं परिस्थितियोंके अधीन होगा अथवा बिलकुल ही नहीं होगा? ये महज मानसिक कल्पनाएं है जिनमें किसी प्रकारकी निश्चयता नहीं है। जीवन एक आकस्मिक घटना केवल तभी हो सकता है यदि यह समूचा जगत् भी एक आकस्मिक घटना हो—दैवयोगद्वारा निर्मित और दैवयोगद्वारा शासित एक वस्तु हो। इस प्रकारकी कल्पनामें समय नष्ट करना लाभदायक नहीं है, क्योंकि यह केवल क्षणभरका बुलबुला है।

भौतिक जगत् एक विशाल रचनाका केवल सम्मुख भाग है, जिसके पीछे अन्य रचनाएं है, और जब कोई समूचेको जान जाता है केवल तभी वह भौतिक विश्वके सत्यका कुछ ज्ञान प्राप्त कर सकता है।

पीछेकी ओर प्राणमय, मनोमय तथा आध्यात्मिक क्षेत्र हैं जो जड़ जगत्को उसका महत्त्व प्रदान करते हैं। यदि पृथ्वी ही जड़तत्त्वमें आध्यात्मिक विकासका एकमात्र क्षेत्र हो—(ऐसा मान लेनेपर)—तो इसे उस पूर्ण ढांचेका अंग होना चाहिये। यह भावना कि बाकी सब कुछ वीरान प्रदेश होगा एक मानवीय विचार है जो उस विशाल विश्वात्माको तनिक भी विक्षुब्ध नहीं करेगा 'जिसकी चेतना और जीवन सर्वत्र हैं, जितना मानव-बुद्धिमें हैं उतना ही कीचड़ और धूलमें भी हैं। परंतु यह एक कल्पनात्मक प्रश्न है जो हमारे व्यावहारिक उद्देश्यसे बिलकुल असंबद्ध है। हमारे लिये मानव-शरीरमें आध्यात्मिक चेतनाका विकास ही वह चीज है जो महत्त्वपूर्ण है।

इस विकासके कई स्तर हैं—समूचा सत्य तबतक नहीं जाना जा सकता जबतक कि सभी स्तरोंको नहीं पार किया जाता और अंतिम स्तर नहीं आ जाता। जिस स्तरमें तुम हो वह, वह स्तर है जिसमें आत्माका साक्षात्कार होना आरंभ हो रहा है, उस आत्माका जो समस्त व्यक्तीकरणसे मुक्त है और अपने शाश्वत अस्तित्वके लिये व्यक्तीकरणपर निर्भर नहीं करता। अतएव यह स्वाभाविक है कि तुम व्यक्तीकरणको कोई एकदम गौण वस्तु तथा जीन्सके पार्थिव जीवनकी तरह प्रायः आकस्मिक अनुभव करो। इसी स्तरके कारण माया-वादियोंने, इसे ही अंतिम समझकर, संसारको एक माया मान लिया। परंतु यात्राका यह केवल एक स्तर है। इस आत्माके परे, जो अचल, पृथक्, अरूप है, एक महत्तर दिव्य चेतना है जिसमें निश्चल-नीरवता और विश्वकी कर्मशीलता संयुक्त हैं, परंतु एक दूसरी ज्ञानदृष्टिके लिये जो सशरीर मानव-सत्ताके प्राचीरवेष्टित अज्ञानसे भिन्न है। यह आत्मा दिव्य सद्वस्तुका केवल एक पक्ष है। जब मनुष्य उस महत्तर चेतनाको प्राप्त करता है तब वैश्व सत्ता और रूप और प्राण और मन अब कोई आकस्मिक घटना नहीं प्रतीत होते बल्कि अपना मूल्य-महत्त्व प्राप्त कर लेते हैं। वहां भी दो स्तर हैं—अधिमानसिक और अतिमानसिक, और जबतक मनुष्य अंतिम स्तरमें नहीं पहुंच जाता तबतक संसारका पूर्ण सत्य चेतनाके सम्मुख पूर्णतः सत्य नहीं हो सकता। जो कुछ तुम अनुभव करते हो उसे निरीक्षण करो और यह जानो कि इसका भी मूल्य है और यह एक स्तरके रूपमें अनिवार्य है, परंतु अपने अनुभवको अंतिम ज्ञान मत मान लो।

मैंने उनकी (बर्गसोंकी) पुस्तक सम्मति देने लायक पर्याप्त रूपमें नहीं पढ़ी है। जहांतक मैं समझता हूँ, ऐसा लगता है कि उन्हें जीवनमें अंतर्हित सक्रिय सृजनात्मक अंतर्बोधका कुछ ज्ञान प्राप्त था, परंतु ऊपरके किसी सच्चे अतिबौद्धिक अंतर्ज्ञानका उन्हें पता नहीं था। यदि यह सच हो तो उनका अंतर्ज्ञान, जिसे वह वस्तुओंका एकमात्र रहस्य समझते हैं, किसी परात्पर वस्तुकी, जो स्वयं केवल "सूर्यकी किरण" है, महज एक गौण अभिव्यक्ति है।



नहीं, यह (बर्गसोंका "elan vital"—जीवनी-शक्ति) अति-मानसिक नहीं है। परंतु बर्गसोंका "अंतर्ज्ञान" प्राणगत अंतर्बोध प्रतीत होता है जो निस्संदेह वह अतिमानसिक है जो "जड़में व्यक्त प्राण"-के अंदर एक ज्ञानके रूपमें कार्य करनेके लिये विखंडित तथा परिवर्त्तित हुआ है। मैं अभी सुनिश्चित रूपमें कुछ नहीं कह सकता, परंतु उससे मुझे ऐसी ही धारणा हुई है।



वह (बर्गसों) चित्‌को उसके मौलिक सत्यके रूपमें नहीं, बल्कि एक सृजनात्मिका शक्तिके रूपमें देखते हैं—वह एक प्रकारकी परात्परा जीवनी-शक्ति है जो जड़तत्त्वमें अवतरित हुई है और वहां कार्य कर रही है।



[Eolan Vital—जीवनी-शक्ति] सच्चिदानंद नहीं है बल्कि प्राणशक्तिके छद्मरूपमें चित्-शक्ति है। मेरा विश्वास है कि बर्गसों (एक ओर जड़वादी और दूसरी ओर आदर्शवादीके विपरीत) एक प्राणवादी हैं और उन्हें कालका बड़ा प्रबल बोध हुआ है (औप-निषदिक कालमें लोगोंने यह अनुसंधान किया था कि क्या काल ब्रह्म नहीं है और कुछ संप्रदाय ऐसा विचार रखते थे)। अतएव उनके लिये ब्रह्म चित्-शक्ति, काल-शक्ति, जीवनी-शक्ति है। परंतु वह अंतिम दोको सुस्पष्ट रूपमें देखते हैं जब कि प्रथमको, जो कि सृष्टिके पीछे विद्यमान सत्य वस्तु है, वह बहुत अस्पष्ट रूपमें देखते हैं।



उनके (वर्गसोंके) द्वारा वर्णित सहजप्रेरणा और अंतर्ज्ञान प्राणिक हैं, परंतु उनसे मिलते-जुलते मानसिक अंतर्ज्ञानको विकसित करना संभव है, और संभवतः इसीकी ओर वह संकेत करते हैं—और यह चिंतनपर निर्भर नहीं करता बल्कि वस्तुओंके साथ एक प्रकारके मानसिक प्रत्यक्ष संपर्कपर निर्भर करता है। यह वस्तुतः रहस्यवाद नहीं है, यद्यपि यह उसकी ओर पहला कदम है।



मैं समझता हूं कि वर्गसों पहलेसे ही जरूर जानते होंगे कि "रहस्यवादी" जड़तत्त्वके विषयमें क्या कहते हैं और उन्होंने उसकी अपनी निजी व्याख्या या मूल्य प्रदान किया है। अतएव तुम्हारे सुझावसे उनपर बिलकुल कोई प्रभाव नहीं पड़ेगा। वह कहेंगे, "मैं उस विषयमें सब कुछ पहलेसे ही जानता हूँ।"



ये असामान्य घटनाएं, जो भौतिक प्रकृतिकी सामान्य धारासे बाहर चली जाती हैं, अक्सर भारतमें घटित होती हैं और अन्यत्र भी ये अज्ञात नहीं हैं। ये ठीक वैसी ही चीजें हैं जिन्हें यूरोपमें "प्रेतलीला" कहते हैं। वैज्ञानिक ऐसी असामान्य घटनाओंके विषयमें न तो कुछ कहते हैं और न सोचते हैं, यदि वे लोग कुछ बोलते हैं तो महज उन चीजोंका उपहास करनेके लिये अथवा यह सिद्ध करनेके लिये बोलते हैं कि ये महज बच्चोंकी चालाकियाँ हैं जो अतिप्राकृत अभिव्यक्ति-योंको उभाड़ती हैं।

वैज्ञानिक सिद्धांत प्रकृतिकी स्थूल प्रक्रियाका केवल एक योजनात्मक विवरण देते हैं—एक न्यायसंगत योजनाके रूपमें उनका उपयोग किसी भौतिक प्रक्रियाको स्वेच्छापूर्वक उत्पन्न करने अथवा विस्तारित करनेके लिये किया जा सकता है, पर स्पष्ट ही वे स्वयं वस्तुका कोई विवरण नहीं दे सकते। उदाहरणार्थ, पानी महज उतनेसे प्राणवायु और उद्‌जन वायुका सम्मिश्रण ही नहीं है—उनका सम्मिश्रण पानी-नामक एक नवीन वस्तुकी भौतिकीकरणको संभव बनानेकी एक प्रक्रिया या उपाय है। वह नवीन वस्तु वास्तवमें क्या है यह बिलकुल दूसरा ही प्रश्न है। सच पूछा जाय तो द्रव्यके विभिन्न स्तर हैं—स्थूल, सूक्ष्म और सूक्ष्मसे सूक्ष्म होते

हुए वहांतक चले जाते हैं जिसे कारण द्रव्य कहा जाता है। जो द्रव्य अधिक स्थूल है उसे सूक्ष्म अवस्थामें बदला जा सकता है और सूक्ष्मको स्थूल स्थितिमें पुनः लाया जा सकता है; यह बात 'अ-भौतिकीकरण' (dematerialisation) और 'पुनर्भौतिकीकरण' (rematerialisation) को स्पष्ट कर देती है। ये गुह्य प्रक्रियाएँ हैं और गंवारू दृष्टिमें जादू मानी जाती हैं। साधारण तौरपर जादूगर जो कुछ करता है उसके विषयमें कुछ भी नही जानता कि वह क्यों और किस लिये हो रहा है, वह केवल नुस्खा या प्रक्रिया सीख लेता है अथवा सूक्ष्मतर अवस्थाओं (लोकों या जगतों) की सत्ताओंको वशमें कर लेता है जो उसके लिये वह सब कर देती है। तिब्बती लोग बहुत अधिक गुह्य प्रक्रियाओंमें संलग्न होते हैं; यदि तुम श्रीमती डैविड नील (Madame David Neel) की पुस्तक देखो, जो तिब्बतमें रह चुकी थीं, तो इन चीजोंमें प्राप्त उनकी कुशलताकी कुछ धारणा तुम्हें प्राप्त हो जायगी। परंतु तिब्बतके लामा इस विषयमें भी कुछ जानकारी रखते हैं कि गुह्य (प्राणिक और मानसिक) शक्तियाँ क्या हैं और किस प्रकार भौतिक वस्तुओंपर उनसे क्रिया करायी जा सकती है। यह एक ऐसी चीज है जो नितांत जादूके क्षेत्रसे परेकी है। जड़तत्त्वके ऊपर मनःशक्ति और प्राण-शक्तिका प्रत्यक्ष प्रभाव लगभग असीम मात्रामें फैलाया जा सकता है। यह अवश्य याद रखना चाहिये कि सभी स्तरोंपर मौलिक रूपमें शक्ति एक ही होती है, महज अधिकाधिक ठोस आकार लेती जाती है, अतएव जड़-भौतिक शक्ति और द्रव्यपर प्रत्यक्षरूपमें मनःशक्ति या प्राणशक्तिके कार्य करनेमें संभवतः कुछ भी असंभव नहीं है। यदि वे कार्य करती हैं तो वे जड़वस्तुसे ऐसे कार्य करा सकती हैं या बल्कि जड़वस्तुके द्वारा ऐसे कार्य कर सकती हैं जो उस वस्तुके लिये उसकी सामान्य अवस्था अथवा "विधान" में अस्वाभाविक और इसलिये ऊपरसे देखनेमें असंभव होंगे।

मैं नहीं समझता कि जड़तत्त्वके प्रादुर्भावकी व्याख्या विश्वीय किरणें (Cosmic rays) कैसे कर सकती हैं; यह ठीक सर ओलिवर लाज (Sir Oliver Lodge) की पृथ्वीपरके जीवनकी इस व्याख्याकी तरह है कि यह जीवन अन्य ग्रहसे आया है; यह केवल समस्याको एक पग और पीछेकी ओर ठेल देता है—क्योंकि, विश्वीय किरणें ही भला अस्तित्वमें कैसे आती हैं? परंतु यह एक तथ्य है कि अग्नि ही आकारका

आधार है जैसा कि सांख्य दर्शनने बहुत पहले सूचित किया था, अर्थात् ज्योतिर्मय, वैद्युत् और वायवीय (अग्निके वैदिक त्रिक) तीन शक्तियोंमें विद्यमान अग्नि-तत्त्व ही जिसे हम जड़तत्त्व कहते हैं उसके जलीय और ठोस आकारोंको उत्पन्न करनेवाली शक्ति है।

स्पष्ट ही, कोई साधारण आदमी इन चीजोंको नहीं कर सकता, जबतक कि उसमें कोई जन्मजात "आत्मिक" क्षमता न हो और उस दशामें भी स्वेच्छापूर्वक उसका व्यवहार करनेसे पूर्व उसे उस विषयकी कार्यविधि सीखनी होगी। आध्यात्मिक शक्ति या मनोबल या इच्छाशक्ति अथवा एक प्रकारकी प्राणिक शक्तिका व्यवहार करके मनुष्यों, वस्तुओं और घटनाओंमें प्रभाव उत्पन्न करना सर्वदा संभव है; परंतु इसके लिये ज्ञान और पर्याप्त अभ्यासकी आवश्यकता होती है, उसके बाद ही यह संभावना आकस्मिक और अनियमित होना बंद करती है और इसका व्यवहार बिलकुल सचेतन रूपमें, इच्छापूर्वक या पूर्णताके साथ किया जा सकता है। उस स्थितिमें भी, "समूचे जड़-भौतिक जगत्पर अपना अधिकार" रखना एक बहुत बड़ी प्रस्थापना है, कोई स्थानीय और आंशिक नियंत्रण रखना अधिक संभव है अथवा, अधिक व्यापक रूपमें कहें तो, जड़तत्त्वके ऊपर कोई विशेष प्रकारका नियंत्रण रखना संभव है।



भौतिक विज्ञानके अनुसार, यह सारा जगत् ऊर्जाकी एक क्रीड़ाके सिवा और कुछ नहीं है—और इस ऊर्जाको एक जड़भौतिक ऊर्जा कहा जाता था, पर अब यह संदेह किया जाने लगा है कि क्या जड़तत्त्व, वैज्ञानिक भाषामें कहा जाय तो, ऊर्जाके एक विशेष व्यापारके सिवा और किसी रूपमें अपना अस्तित्व रखता है? वेदान्तके अनुसार यह समस्त जगत् किसी आध्यात्मिक सत्ताकी शक्तिका, एक मौलिक चेतनाकी शक्तिकी एक क्रीड़ा है, चाहे वह सत्ता या चेतना माया हो या शक्ति, और परिणाम एक मिथ्या-मरीचिका हो या यथार्थ वस्तु। इस संसारमें मनुष्यका जहाँतक संबंध है, हम केवल मानसिक ऊर्जा, प्राणिक ऊर्जा तथा जड़तत्त्वमें निहित ऊर्जाको जानते हैं; परंतु यह माना जाता है कि एक आध्यात्मिक ऊर्जा या शक्ति भी उनके पीछे विद्यमान है जिससे ये तीनों निकलती हैं। समस्त वस्तुएँ, दोनों ही हालतोंमें, किसी शक्ति या ऊर्जाके परिणाम हैं। कोई भी कर्म बिना शक्तिके नहीं होता अथवा

ऊर्जा कर्म करती है और उसका परिणाम उत्पन्न करती है। फिर, जिस वस्तुमें कोई शक्ति नहीं होती वह या तो कोई मृत वस्तु होती है अथवा कोई अवास्तविक वस्तु अथवा कोई जड़ तथा परिणामरहित वस्तु होती है। यदि आध्यात्मिक चेतना नामकी कोई वस्तु न हो तो फिर योगका भी कोई यथार्थ स्वरूप नहीं हो सकता, और यदि कोई योग-शक्ति, आध्यात्मिक शक्ति न हो तो फिर योगमें भी कोई प्रभावशालिता नहीं हो सकती। यौगिक चेतना या आध्यात्मिक चेतना, जिसमें कोई बल या शक्ति नहीं है, वह मृत या अवास्तव नहीं भी हो सकती, पर वह स्पष्ट ही कोई ऐसी वस्तु है जो जड़ है और प्रभाव और परिणामसे रहित है। उसी तरह, जो मनुष्य 'योगी या गुरु बनने जाता है और उसमें कोई आध्यात्मिक चेतना या उसकी आध्यात्मिक चेतनामें कोई शक्ति—कोई योगशक्ति या आध्यात्मिक शक्ति—नहीं होती, वह एक झूठा दावा करता है और वह या तो कोई धूर्त-ढोंगी है या कोई आत्म-प्रतारित जड़बुद्धि; और उससे भी अधिक वह उस समय है जब वह कोई आध्यात्मिक शक्ति हुए बिना ही यह दावा करता है कि मैंने एक ऐसा मार्ग बनाया है जिसपर दूसरे चल सकते हैं। यदि योग कोई यथार्थ वस्तु है, यदि आध्यात्मिकता भ्रम-भ्रांतिसे उत्तम कोई वस्तु है तो फिर योगशक्ति या आध्यात्मिक शक्ति नामकी कोई चीज भी अवश्य होनी चाहिये।

यह स्पष्ट है कि यदि आध्यात्मिक शक्ति है, तो उसे आध्यात्मिक परिणाम उत्पन्न करनेमें अवश्य समर्थ होना चाहिये—अतएव उन साधकोंके जो कहते हैं कि वे गुरुकी शक्तिको या भगवान्‌की शक्तिको अपने अंदर कार्य करते हुए और आध्यायत्मिक सिद्धि और उपलब्धिकी ओर ले जाते हुए अनुभव करते हैं, दावेमें कोई अयुक्तिसंगत बात नहीं है। एक विशेष व्यक्तिके बारेमें आया यह बात ऐसी है या नहीं यह एक व्यक्ति-गत प्रश्न है। परंतु उस वक्तव्यका अपने-आप-अविश्वसनीय तथा स्पष्ट रूपमें मिथ्या मानकर भर्त्सना नहीं की जा सकती, क्योंकि ऐसी चीज हो ही नहीं सकती। इसके अलावा, यदि यह सत्य है कि आध्यात्मिक शक्ति ही मूल शक्ति है और अन्य शक्तियाँ उससे निकली हैं तो यह माननेमें कोई अयौक्तिकता नहीं है कि आध्यात्मिक शक्ति मानसिक परिणाम, प्राणिक परिणाम, भौतिक परिणाम उत्पन्न कर सकती है। वह मानसिक, प्राणिक या भौतिक ऊर्जाओंके द्वारा और जिन साधनोंका

ये ऊर्जाएँ व्यवहार करती हैं उनके द्वारा कार्य कर सकती हैं अथवा वह सीधे मन, प्राण या जड़तत्त्वपर अपने निजी विशिष्ट और तात्कालिक कर्मके क्षेत्रके रूपमें कार्य कर सकती हैं। दोनों ही तरीके आपाततः संभव हैं। बीमारीके दूर होनेके विषयकी बात लें, कोई व्यक्ति दो दिनोंसे बीमार है, कमजोर है, दर्द और ज्वरसे पीड़ित है; वह कोई दवा नहीं लेता, पर अंतमें अपने गुरुसे नीरोग करनेके लिये कहता है; दूसरे दिन सवेरे वह नीरोग, सबल और स्फूर्त्तिवान् होकर उठता है। उसके पास यह सोचनेका कम-से-कम कुछ औचित्य तो है ही कि उसके ऊपर शक्तिका प्रयोग किया गया है और उसमें शक्ति डाली गयी है और वास्तवमें आध्यात्मिक शक्तिने ही कार्य किया है। पर दूसरे उदाहरणमें, ओषधियोंका उपयोग हो सकता है, जबकि उसके साथ-ही-साथ अदृश्य शक्तिको भी भौतिक साधनमें सहायता करनेके लिये बुलाया जा सकता है, क्योंकि यह ज्ञात तथ्य है कि ओषधियाँ सफल हो भी सकती हैं और नहीं भी हो सकतीं—इसका कोई निश्चय नहीं है। यहाँ किसी बाहरी द्रष्टाकी बुद्धिके लिये (जो व्यक्ति न तो शक्तिका व्यवहार करनेवाला है न चिकित्सक है और न रोगी है) यह अनिश्चित रह जाता है कि आया रोगी मात्र ओषधियोंसे नीरोग हुआ या ओषधियोंको माध्यम बनाकर आध्यात्मिक शक्तिके द्वारा। दोनों ही बातें सम्भव हैं, और यह नहीं कहा जा सकता कि चूंकि दवाएँ व्यवहृत हुई थीं इसलिये आध्यात्मिक शक्तिकी क्रिया स्वतः अविश्वसनीय और सुस्पष्ट रूपमें मिथ्या है। दूसरी ओर, डाक्टरके लिये यह भी संभव है कि वह अपने अंदर एक शक्तिको कार्य करते हुए और अपना पथप्रदर्शन करते हुए अनुभव करे या वह रोगीको इतनी तेजीसे स्वस्थ होते हुए देखे जो चिकित्सा-विज्ञानके अनुसार अविश्वसनीय हो। रोगी अपने अंदर शक्तिको कार्य करते हुए तथा स्वास्थ्य, स्फूर्त्ति, सत्वर आरोग्य ले आते हुए अनुभव कर सकता है। शक्तिका उपयोग करनेवाला व्यक्ति परिणामोंका निरीक्षण कर सकता है, जिन लक्षणोंपर वह कार्य करता है उन्हें घटते हुए देख सकता है, जिनपर उसने कार्य नहीं किया था उन्हें बढ़ता हुआ देख सकता है और फिर उनपर कार्य करनेके बाद उन्हें घटता हुआ देख सकता है; डाक्टर अपने अनुच्चारित सुझावों आदिके अनुसार कार्य करता है, जबतक कि आरोग्य नहीं आ जाता। (दूसरी ओर, वह रोगमुक्तिके विपरीत कार्य करती हुई शक्तियोंको देख सकता और यह

निष्कर्ष निकाल सकता है कि आध्यात्मिक शक्तिको पीछे हट जाने अथवा अपूर्ण सफलतासे ही संतुष्ट होना पड़ा है।) इन सभी प्रसंगोंमें डाक्टर, रोगी या शक्तिके उपभोक्ताका यह विश्वास करना उचित है कि आरोग्य कम-से-कम अंशतः या यहांतक कि मूलतः आध्यात्मिक शक्तिके कारण ही आया है। उनका अनुभव, निस्संदेह, केवल उन लोगोंके लिये ही यथार्थ है, न कि बाहरी तार्किक निरीक्षणके लिये। परंतु न्यायतः तार्किक निरीक्षणको यह कहनेका अधिकार नहीं है कि उनका अनुभव अविश्वास्य है और वह अवश्य ही मिथ्या होगा।

दूसरी बात : इससे यह तात्पर्य नहीं निकलता कि आध्यात्मिक शक्तिको या तो सभी जगहोंमें सफल होना चाहिये या, यदि वह सफल नहीं होती तो, यह सिद्ध होता है कि उसका कोई अस्तित्व नहीं है। किसी भी शक्तिके विषयमें ऐसी बात नहीं कही जा सकती। अग्निकी शक्ति है जला देना, पर ऐसी चीजें हैं जिन्हें वह नहीं जलाती; किन्हीं विशेष अवस्थाओंमें वह मनुष्यके पैरोंतकको नहीं जलाती जो खुले पैर लाल-लाल जलते अंगारोंपर चलते हैं। इससे यह सिद्ध नहीं होता कि अग्नि जला नहीं सकती अथवा यह कि अग्नि-शक्ति जैसी कोई चीज है ही नहीं।

इससे अधिक लिखनेका मुझे समय नहीं है; और इसकी आवश्यकता भी नहीं है। मेरा उद्देश्य यह नहीं था कि आध्यात्मिक शक्तिमें अवश्य विश्वास करना चाहिये, बल्कि यह था कि उसमें विश्वास करना आवश्यक रूपमें भ्रम नहीं है और यह विश्वास युक्तिसंगत और संभव भी हो सकता है।



अदृश्य शक्ति बाहरी और भीतरी दोनों प्रकारके ठोस परिणाम उत्पन्न करती है और यही यौगिक चेतनाका सारा तात्पर्य है। योगके विषयमें जो तुम्हारा प्रश्न है कि वह महज एक शक्तिका बोध प्रदान करता है जो कोई परिणाम नहीं उत्पन्न करती, यह वास्तवमें बड़ा विचित्र है। भला ऐसी अर्थहीन मृगमरीचिकासे कौन संतुष्ट होगा और उसे शक्तिका नाम देगा? यदि हमें हजारों अनुभव न हुए होते और उन्होंने यह न दिखाया होता कि आंतर शक्ति मनको बदल सकती, उसकी शक्तियोंको विकसित कर सकती, नयी शक्तियोंको जोड़ सकती, ज्ञानके

नवीन क्षेत्रोंको उत्पन्न कर सकती, प्राणिक वृत्तियोंको वशमें कर सकती, स्वभावको बदल सकती, मनुष्यों और वस्तुओंको प्रभावित कर सकती, शारीरिक अवस्थाओं और क्रियाओंपर नियंत्रण कर सकती, अन्य शक्तियों-पर एक प्रत्यक्ष वेगवती शक्तिके रूपमें क्रिया कर सकती, घटनाओंको परिवर्तित कर सकती है आदि-आदि, तो उसके बारेमें हम जैसे बोलते हैं वैसे न बोलते। इसके अतिरिक्त, केवल अपने परिणामोंमें ही नहीं वरन् अपनी क्रियाओं और गतिविधियोंमें भी वह शक्ति मूर्त्त और प्रत्यक्ष है। जब मैं शक्ति या बल-सामर्थ्यके अनुभवकी बात कहता हूँ तब मेरा मतलब महज उसके अस्पष्ट बोधसे ही नहीं होता, बल्कि ठोस रूपमें उसका अनुभव करनेसे और परिणामस्वरूप उसे नियंत्रित करने, उसकी क्रियाका निरीक्षण करने, उसकी संहति और तीव्रताके विषयमें सचेतन होने और उसी तरह अन्य शक्तियों, संभवतः विरोधी शक्तियोंके विषयमें सज्ञान होनेकी क्षमता से होता है। योगका विकास होनेपर ये सभी बातें संभव और सामान्य हो जाती हैं।

जबतक वह अतिमानसिक शक्ति नहीं होती तबतक वह ऐसी ही शक्ति होती है जो बिना शर्तों और सीमाओंके काम नहीं करती। जिन शर्तों और सीमाओंके अधीन योगका साधनाको कार्यान्वित करना होता है वे यदृच्छिक या मनमानी नहीं होतीं; वे वस्तुओंके स्वभावसे ही उत्पन्न होती हैं। साधककी इच्छाशक्ति, ग्रहणशीलता, सहमति, आत्मो-द्घाटन और समर्पण आदिके साथ-साथ इन चीजोंका भी योगशक्तिको सम्मान करना पड़ता है जबतक कि उसे परम प्रभुसे अनुमति नहीं मिल जाती कि वह प्रत्येक वस्तुको लांघ जाय और कुछ करा ले, पर वह अनुमति क्वचित् ही प्राप्त होती है। हाँ, यदि अतिमानसिक शक्ति पूर्णतः नीचे उतर आये, महज अधिमानसके माध्यमसे अपना प्रभाव ही न भेजे तो सारी चीजें अति स्वाभाविक रूपमें उस लक्ष्यकी ओर प्रयुक्तकी जा सकती हैं—क्योंकि उस हालतमें अनुमति विरल नहीं होगी। कारण उस समय सत्यका विधान कार्यरत होगा, उस समय निरंतर अज्ञानके विधानके द्वारा वह प्रतिरुद्ध नहीं होगा।

फिर भी जिस तरीकेसे मैंने वर्णन किया है, योगशक्ति सर्वदा ही अनुभवगम्य और प्रत्यक्ष होती है और यथार्थ परिणाम उत्पन्न करती है। पर वह अदृश्य शक्ति है—किसीको दिये गये आघातकी जैसी नहीं है अथवा किसीको नीचे गिरा देनेवाले मोटरगाड़ीके धक्केकी तरह नहीं है

जिसे स्थूल इंद्रियाँ तुरत देख सकती हैं। महज भौतिक मन भला यह कैसे जान सकता है कि वह शक्ति है और कार्य कर रही है? उसके परिणामोंसे? परंतु वह यह कैसे जान सकता है कि वे परिणाम यौगिक शक्तिके ही थे और अन्य किसी वस्तुके नहीं थे? दो वस्तुओंमें कोई एक यह अवश्य होगी। या तो इसे चेतनाको भीतर चले जाने देना होगा, आंतरिक वस्तुके विषयमें सज्ञान होने देना होगा, अदृश्य और अतिभौतिक चीजोंके अनुभवमें विश्वास करने देना होगा, और तब अनुभवसे, नवीन क्षमताओंके खुलनेसे वह इन शक्तियोंका ज्ञान प्राप्त करेगी और उनकी क्रियाओंको देख, समझ और व्यवहार कर सकती है, ठीक जैसे कि वैज्ञानिक प्रकृतिकी अदृष्ट शक्तियोंका उपयोग करता है। अथवा, हमारे अंदर विश्वास होना चाहिये और हमें सतर्क रहना तथा अपने-आपको उद्घाटित करना चाहिये और तब हमारी चेतना यह देखना आरंभ करेगी कि चीजें कैसे घटित होती हैं, वह यह देखेगी कि जब शक्तिका आवाहन किया गया तो कुछ समयके बाद परिणाम उत्पन्न होना प्रारम्भ हो गया, फिर पुनरावर्तन हुए, अधिक पुनरावर्तन हुए, अधिक स्पष्ट और ठोस परिणाम निकले, उनकी पुनरावृत्ति अधिक-अधिक होने लगी, उनकी एकरूपता बढ़ गयी, कार्य करनेवाली शक्तिका बोध और ज्ञान होने लगा—जबतक कि अनुभव दैनंदिन, नियमित, सामान्य, पूर्ण नहीं हो जाता। ये दो मुख्य पद्धतियाँ हैं, एक है आंतरिक, अंदरसे बाहरकी ओर कार्य करना, दूसरा है बाह्य, बाहरसे कार्य करना और आंतरिक शक्तिका आवाहन करना जबतक कि वह भीतर नहीं घुस जाती और बाह्य चेतनामें दिखायी नहीं देने लगती। परंतु इनमेंसे किसीको मनुष्य नहीं कर सकता यदि वह सर्वदा बहिर्मुखी मनोभावपर ही जोर देता है, केवल बाह्य ठोस वस्तुपर ही आग्रह करता है और उसके साथ आंतरिक ठोस वस्तुको जोड़ना अस्वीकार कर देता है—अथवा, यदि भौतिक मन पग-पगपर संदेहका नृत्य आरम्भ कर देता है और नवजात अनुभवको विकसित होने नहीं देता। नवीन प्रयोग करनेवाला वैज्ञानिक भी यदि इस तरह अपने मनको कार्य करने दे तो वह कभी सफल नहीं होगा।



ठोस? ठोससे तुम्हारा क्या मतलब है? आध्यात्मिक शक्तिका

अपना निजी ठोसपन है: वह एक आकार (जैसे, एक धाराकी तरह) ले सकती है जिसे मनुष्य जान सकता और वह चाहे जिस वस्तुपर उसे भेजना चाहे उसपर बिलकुल ठोस रूपमें भेज सकता है।

यह आध्यात्मिक चेतनामें अन्तर्हित शक्तिसंबंधी सत्यका विवरण है। परंतु एक ऐसी भी चीज है जिसे संसारके किसी भी स्थानपर कोई विशिष्ट परिणाम प्राप्त करनेके लिये किसी सूक्ष्म शक्तिका—वह आध्यात्मिक, मानसिक या प्राणिक हो सकती है—इच्छित प्रयोग कहते हैं। ठीक जिस तरह अदृश्य भौतिक शक्तियोंकी लहरें (वैश्वीय तरंग इत्यादि) हैं, उसी तरह मानस-तरंगें, विचार-तरंगें, भाव-तरंगें,—जैसे, क्रोध, शोक इत्यादि—हैं जो बाहर जातीं और दूसरोंको प्रभावित करती हैं, उनके यह विना जाने कि वे कहांसे आती हैं अथवा वे आती हैं, वे तो केवल परिणामको अनुभव करते हैं। जिस मनुष्यमें गुह्य या आंतर इंद्रियां जागृत हैं वह उन्हें आती हुई और अपने ऊपर आक्रमण करती हुई अनुभव कर सकता है। इस ढंग से अच्छे या बुरे प्रभाव विस्तारित हो सकते हैं; ऐसा विना इच्छाके और स्वाभाविक रूपमें हो सकता है, पर उनका इच्छापूर्वक भी उपयोग किया जा सकता है। आध्यात्मिक या अन्य किसी शक्तिको किसी उद्देश्यसे भी उत्पन्न किया जा सकता है। इसके अलावा प्रभावशाली इच्छा-शक्ति या विचारका भी उपयोग किया जा सकता है जो विना किसी बाहरी कर्म, वचन या अन्य किसी साधनके सीधे कार्य करता है और जो उस अर्थमें ठोस तो नहीं होता पर तो भी प्रभावोत्पादक होता है। ये चीजें कल्पनाएँ या भ्रम-भ्रांतियाँ या निःसार नहीं हैं बल्कि यथार्थ प्रत्यक्ष व्यापार हैं।



यह बात कि तुम शक्तिको अनुभव नहीं करते यह सिद्ध नहीं करता कि वह वहां विद्यमान नहीं है। भापका इंजिन यह नहीं अनुभव करता कि उसे कोई शक्ति चला रही है, पर शक्ति वहाँ होती है। मनुष्य कोई भापका इंजिन नहीं है? वह उससे बस थोड़ा ही अच्छा है, क्योंकि वह केवल ऊपरी तलपर उठनेवाले बुलबुलेके विषयमें सज्ञान होता है जिसे वह 'मैं' कहता है और उसे चलानेवाली अवचेतन, प्रच्छन्न चेतन, अतिचेतन सभी शक्तियोंके विषयमें पूर्णतः अचेतन होता है। (यह एक ऐसा तथ्य है जिसे आधुनिक मनोविज्ञान अधिकाधिक स्थापित कर रहा है, यद्यपि उच्चतर शक्तियोंतक नहीं, केवल निम्नतर शक्तियोंतक

ही उसकी पहुंच है,—इसलिये तुम्हें इसकी ओर अपनी तार्किक नाक नहीं सिकोड़नी चाहिये।) वह बौद्धिक ढंगसे, मूर्खतापूर्वक उपरितलीय परिणामोंके विषयमें तुतलाता है और उन सबका श्रेय स्वयं अपने 'महान् आत्मा' को देता है, इस तथ्यकी ओर ध्यान ही नहीं देता कि उसका महान् आत्मा उसकी दृष्टिसे बहुत दूर उसकी धीमी चमकती बुद्धि तथा उसकी प्राणिक वृत्तियों, भावनाओं, आवेगों, संवेदनों और संस्कारोंके धुआंधार कुहासेके पर्देके पीछे छिपा हुआ है। इसलिये तुम्हारा तर्क नितांत असंगत और निरर्थक है। हमारा उद्देश्य है गुह्य शक्तियोंको बाहर निकाल लाना और खुले मैदानमें अनावृत कर देना, जिसमें कि पर्देके पीछेसे उनकी थोड़ीसी छाया या चमक पाने अथवा उनके पूर्णतः अवरुद्ध होनेके बदले वे ऊपरसे बरस पड़ें और नदियोंके रूपमें प्रवाहित होने लगें। परंतु इन सब बातोंकी तुरंत आशा करना धृष्टतापूर्ण मांग है जो अधीर अज्ञान, और अनुभवहीनताको सूचित करती है। यदि वे प्रारंभमें बूंद-बूंद आना आरंभ करें तो यह इस श्रद्धा-विश्वासको उचित सिद्ध करनेके लिये पर्याप्त है कि भविष्यमें उनकी खूब वर्षा भी होगी। तुम स्वीकार करते हो कि तुमने एक या दो बार शक्तिको नीचे उतरते हुए अनुभव किया था; यह बात सिद्ध करती है कि शक्ति विद्यमान थी और है और कार्यशील है और तुम्हारा पसीनेसे लथपथ भीम प्रयास ही उसे अनुभव करनेसे तुम्हें रोकता है। फिर, यह टपकना ही उसकी मूसलाधार वृष्टिकी संभावनाका आश्वासन प्रदान करता है। साधकको बस आगे बढ़ते रहना है और उसका धैर्य ही मूसलाधार वृष्टिका अधिकारी होता है अथवा, अधिकारी न होनेपर, धीरे-धीरे तबतक आगे सरकता रहता है जबतक उसका अधिकार नहीं प्राप्त कर लेता। योगमें स्वयं अनुभव ही आश्वासन और पूर्वास्वाद होता है पर जबतक प्रकृति सिद्धिके लिये तैयार नहीं हो जाती तबतक बंद हो जाया करता है। यह ऐसी घटना है जिसे प्रत्येक योगी जानता है जब वह अपने अतीत अनुभवका सिंहावलोकन करता है। ऐसे ही थे आनंदके अल्पकालीन आगमन जिनका कुछ दिन पहले तुम्हें अनुभव हुआ था। यदि जोंक-जैसी दृढ़ता तुममें नहीं थी तो इससे कुछ आता-जाता नहीं—जोंक ही योगियोंके एकमात्र नमूने नहीं हैं। यदि तुम किसी प्रकार लगे रह सको अथवा चिपक सको तो यह पर्याप्त है।

⊙

ये चीजें कही नहीं जानी चाहिए बल्कि छिपाकर रखनी चाहिए...। साधारण अनाध्यात्मिक बातोंमें भी अदृश्य या आंतरिक शक्तियोंकी क्रियापर संदेह और तर्क-वितर्क करनेकी गुंजायश होती है जिसमें कोई ठोस निश्चयता नहीं हो सकती, जबकि आध्यात्मिक शक्ति स्वयं भी अगोचर होती है और उसकी क्रिया भी अगोचर होती है। अतएव यह सिद्ध करनेकी चेष्टा करना व्यर्थ है कि अमुक परिणाम आध्यात्मिक शक्तिके प्रभावसे उत्पन्न हुआ था। उस विषयमें प्रत्येक व्यक्तिको अपने निजी विचार बनाने होंगे, क्योंकि यदि उसे स्वीकार किया जाय तो उसे प्रमाण और तर्कके परिणामके रूपमें नहीं स्वीकार किया जा सकता बल्कि केवल अनुभवके, श्रद्धाके अथवा गभीरतर हृदयमें विद्यमान उस अंतर्दृष्टिके अथवा उस गभीरतर प्रज्ञाके परिणामके रूपमें स्वीकार किया जा सकता है जो बाह्यरूपोंके पीछे दृष्टि ले जाती और यह देखती है कि उनके पीछे क्या है। आध्यात्मिक चेतना उस रूपमें दावा नहीं करती, वह अपनेसे संबंधित सत्यका वर्णन कर सकती है पर किसीकी व्यक्तिगत स्वीकृतिके लिये झगड़ा नहीं कर सकती। आध्यात्मिक शक्तिसे संबंधित सामान्य और निर्व्यक्तिक सत्यकी जो बात है वह दूसरा ही विषय है, पर मुझे इस बातमें संदेह है कि उसका समय आ गया है अथवा उसे लोग महज तार्किक बुद्धिसे समझ सकेंगे।



यदि मैं इन प्रश्नोंके विषयमें यौगिक दृष्टिकोणसे, यहाँतक कि न्यायसंगत आधारपर भी, लिखूं तो ऐसी बहुतसी बातोंका आना अनिवार्य है जो प्रचलित विचारों, उदाहरणार्थ, चमत्कारों, इंद्रियप्रदत्त तथ्योंके आधारपर किये गये निर्णयकी सीमाओं आदिसे संबंधित विचारोंके विपरीत होंगी। मैं यथासंभव इन विषयोंपर लिखनेसे बचता रहा हूँ, क्योंकि उस समय मुझे ऐसी बातोंका प्रतिपादन करना होता जिन्हें लोग समझ ही नहीं पाते, जिन्हें भौतिक इंद्रियोंके दिये तथ्यों तथा एकमात्र उन्हीं तथ्योंपर आधारित तर्कबुद्धिके दिये तथ्योंसे भिन्न अन्य तथ्योंके संपर्कमें ही समझना संभव होता। उस समय मुझे ऐसे नियम-विधानों तथा शक्तियोंकी चर्चा करनी पड़ती जिन्हें तर्कबुद्धि या भौतिक विज्ञान स्वीकार नहीं करता। अपने सार्वजनिक लेखों तथा साधकोंको लिखे अपने लेखोंमें मैंने इन सब बातोंका विचार नहीं किया है क्योंकि वे सामान्य

ज्ञान तथा उस ज्ञानपर आधारित समझके क्षेत्रके बाहर पड़ती हैं। इन बातोंको कुछ लोग जानते हैं, पर वे सामान्यतया उनके विषयमें बोलते नहीं, परंतु उनमेंसे बहुतसी बातोंके विषयमें जो सामान्य विचार प्रचलित हैं वे या तो विश्वासजनित हैं या अविश्वासजनित, पर दोनों ही हालतोंमें अनुभव या ज्ञानसे रहित हैं।



तुमने अपने अनुभव और अपने विचारोंके विषयमें जो कुछ लिखा है उसका जहाँतक प्रश्न है, ऐसा लगता है कि मानो महज पुराने विचार और वृत्तियाँ साधनाके सीधे मार्गमें बाधा डालनेके लिये उठ रही हों जैसे कि वे बहुधा उठा करती हैं। इस प्रकारकी मानसिक सिद्धियां और भावनाएँ अधिकसे अधिक अर्द्ध-सत्य होती हैं और वह भी बराबर नहीं होती। जब मनुष्य एक बार वह साधना ग्रहण कर लेता है जो मनसे परे जाती है तो उन्हें अत्यधिक महत्त्व देना भूल है। उनका दुरुपयोग होते ही वे बड़ी आसानीसे मूल-भ्रांतिका उर्वर क्षेत्र बन सकती हैं।

जो भावनाएँ तुम्हारे अंदर उठी हैं उनकी यदि तुम जाँच करो तो तुम देखोगे कि वे बिलकुल अपर्याप्त हैं। उदाहरणके लिये:

१. जड़तत्त्व केवल ऊपरसे देखनेमें जड़ है। जैसा कि आधुनिक विज्ञान भी स्वीकार करता है, जड़तत्त्व केवल कार्यशील ऊर्जा है, और, जैसाकि हम भारतमें जानते हैं, ऊर्जा क्रियाशील चेतनाकी शक्ति है।

२. प्रकृति स्थूल जगत्में जड़ प्रतीत होती है, पर यह भी केवल एक ऊपरी रूप है। प्रकृति यथार्थमें आत्माकी सचेतन शक्ति है।

३. जड़तत्त्वमें आत्माको उतार लानेपर मनुष्य जड़ प्रकृतिमें लय नहीं हो जायगा। आत्माके अवतरणका अर्थ केवल ज्योति, चैतन्य और शक्तिका अवतरण ही हो सकता है, न कि अचेतनता और तामसिकताकी वृद्धि जोकि 'जड़ लय' का अर्थ है।

४. अन्य प्रत्येक वस्तुकी तरह जड़तत्त्वमें भी आत्मा पहलेसे ही विद्यमान है; केवल उपरितलीय बाह्य अचेतनता या अंतर्हित चेतना ही उसकी उपस्थितिको ढक देती है। हमें बस जड़तत्त्वको उसके अंदर प्रच्छन्न आध्यात्मिक चेतनाकी ओर जागृत कर देना है।

५. हम इस स्थूल जगत्में जो कुछ उतार लाना चाहते हैं वह है

अतिमानसिक चेतना, ज्योति और शक्ति, क्योंकि एकमात्र यही चीज है जो वास्तवमें इसे रूपांतरित कर सकती है।

यदि किसी समय अचेतनता और तामसिकताकी वृद्धि हो जाती है तो वह आध्यात्मिक परिवर्तनके विरुद्ध सामान्य प्रकृतिके विरोध के कारण होती है। परंतु इसे साधारणतया इसलिये उठाया जाता है कि इससे निपटा जाय और इसे समाप्त कर दिया जाय। यदि इसे छिपा ही रहने दिया जाय और ऊपर न उठाया जाय तो इस कठिनाई को जीतनेका कभी प्रयास नहीं किया जायगा और कोई सच्चा रूपांतर नहीं घटित होगा।



अगर जड़शक्तिमें कोई सृजनकारी क्षमता न होती तो कोई जड़-भौतिक जगत ही न होता। जड़तत्त्व अचेतन या क्रियाशक्तिसे हीन नहीं है—केवल एक अंतर्ग्रस्त शक्ति और चेतना इसके अंदर कार्य करती है। यह वह चीज है जिसे मनोवैज्ञानिक अचेतना कहते हैं जहांसे सब कुछ आता है—पर वह वास्तवमें अचेतना नहीं है।



"Quality"[1] (गुण) शब्दके पहले "the" शब्द रखनेकी कोई आवश्यकता नहीं—अंगरेजीमें उससे अर्थ ही बदल जायेगा। इस उद्धरणमें जड़तत्त्वको इंद्रियद्वारा अनुभूत होनेका गुण नहीं माना गया है; मैं नहीं समझता कि उसका कोई अर्थ भी होगा। यह चेतनाकी एक विशेष शक्ति और कार्यका परिणाम माना गया है जो चेतना कि इंद्रिय-बोधके लिये अपने रूप उपस्थित करती है और इंद्रिय-बोधत्व, यदि इसे यह नाम दिया जाय, का यह गुण ही वह वस्तु है जो उन्हें जड़तत्त्वका वाह्यरूप प्रदान करता है, उस जड़तत्त्वका जो उनमें अंतर्हित एक प्रकार-

---

1. यह व्याख्या "The Yoga and its Objects (1968 edition, p. 13) के निम्नांकित उद्धरण से संबंधित है :

"Matter itself, you will one day realise, is not material, it is not substance but form of consciousness, **guna**, the result of quality of being perceived by sense-knowledge."

का सार-तत्त्व है—परंतु यथार्थमें वे स्वयं-सत् सारवंत वस्तु नहीं हैं बल्कि चेतनाके रूप हैं। ठीक बात यह है कि स्वयं-सत् जड़तत्त्व नामकी कोई वस्तु नहीं है जिसकी कल्पना उन्नीसवीं शताब्दीके विज्ञानने की है।



तुम अपने निजी अत्यंत तंग तथा सीमित इंद्रिय-चैतन्य और भौतिक देशमें घटित घटनाओंके साथ उसके कहीं अधिक महद् संबंधोंके सादृश्यके आधारपर तर्क कर रहे हो। आखिरकार देश है क्या चीज सिवा चेतन पुरुषके आत्मप्रसारणके जिसमें कि चित्-शक्ति अपने निजी परिपार्श्वोंको रचती है? सूक्ष्म भौतिक लोकमें चेतनाके एक नहीं, बल्कि अनेक स्तर हैं और प्रत्येक स्तर अपनी निजी सत्तामें अर्थात् अपने निजी देशमे संचरण करता है। मैंने कहा है कि प्रत्येक सूक्ष्म जगत् कई जगतोंका एक समूह अथवा एक श्रेणी होता है। प्रत्येक देश किसी बिंदुपर दूसरेके साथ मिल सकता, दूसरेमे प्रविष्ट हो सकता अथवा दूसरेको ढक सकता है। फलतः मिलने या ढकनेके एक बिंदुपर अनेक सूक्ष्म वस्तुएँ उस वस्तुको अधिकृत किये हो सकती हैं जिसे हम मनमाने ढंगसे एक ही देश कह सकते हैं, और फिर भी हो सकता है कि उनमें परस्पर कोई यथार्थ संबंध न हो। यदि उनमें कोई संबंध उत्पन्न हो तो सच पूछा जाय तो द्रष्टाकी उस बहुविध चेतनामें ही वह मिलन-स्थान सुस्पष्ट रूपसे गोचर हो सकता है जो उसे उत्पन्न करता है।

दूसरी ओर, देशके विभिन्न क्षेत्रोंमें, जो परस्पर संबंधित होते हैं, वस्तुके बीच संबंध हो सकता है जैसे कि स्थूल भौतिक वस्तु और उसके सूक्ष्म प्रतिरूपके प्रसंगमें घटित होता है। उस हालतमें तुम एक देश और दूसरे देशके बीचके संबंधोंके विषयमें अधिक आसानीसे तर्कवितर्क कर सकते हो।



काल और देश सीमित नहीं होते, वे असीम होते हैं—वे ऐसे शब्द हैं जो चेतनाके प्रसारणको सूचित करते हैं जिसमें वस्तुएँ घटित होती हैं अथवा एक विशेष प्रकारके संबंध, क्रम परंपरा, व्यवस्थामें व्यवस्थित होती हैं। फिर काल और देशके विभिन्न प्रकार भी होते हैं और वे भी चेतनापर निर्भर करते हैं। शाश्वत प्रभु काल और देशमें प्रसारित हुए

हैं, पर वह काल और देशसे परे भी हैं। कालातीतत्व और काल शाश्वत सत्ताके दो भाव हैं। देशातीत शाश्वत देशका एक अविभाज्य आनंत्य नहीं है, उसके अंदर कोई दूर या समीप नहीं है, यहाँ या वहाँ नहीं है—कालातीत शाश्वत वर्षों या घंटों या युगोंद्वारा नापा नहीं जा सकता, उसके अनुभवका वर्णन शाश्वत क्षणके रूपमें किया गया है। परंतु मनके लिये इस स्थितिका वर्णन नकारात्मक भावोंके सिवा अन्यथा नहीं किया जा सकता, —मनुष्यको परे जाना होगा और उसे अनुभूत करना होगा।



यह आपत्ति[1] देश और देशके विभाजन-संबंधी मानवीय तीन आयामवाले विचारोंपर आधारित है और वे विचार फिर मानवेंद्रियोंकी सीमित प्रकृतिपर आधारित हैं। कुछ सत्ताओंके लिये देश एक आयामका होता है, दूसरोंके लिये दो आयामोंका, फिर दूसरोंके लिये तीन आयामोंका—परंतु इनके अतिरिक्त और आयाम भी हैं। तत्त्वज्ञानमें यह बात पूर्णतया स्वीकृत है कि अनंत केवल देशके विस्तारमें ही नहीं, एक बिंदुमें भी रह सकता है—ठीक जिस तरह कालमें विस्तारका एक आनंत्य है पर साथ ही एक शाश्वत ऐसा है जो कालसे स्वतंत्र है जिसमें कि वह एक मुहूर्त्तके अंदर अनुभूत हो सके—हमें उसकी अनुभूति पानेके लिये हजारों–लाखों वर्षोंके विषयमें सोचनेकी आवश्यकता नहीं होती। उसी तरह 'बहु'के विपरीत 'एक'का कठोर विभेद, ऐसे 'एक'का विचार जो बहु नहीं हो सकता अथवा ऐसे 'सर्व' का विचार जो योगफलसे तैयार होता है और स्वयंसत् ('अपने-आपमें' अस्तित्ववान्) नहीं होता, बाह्य सीमित मनकी भद्दी मानसिक धारणाएँ हैं और उन्हें अनंतपर लागू नहीं किया जा सकता। यदि 'सर्व' इस प्रकारके स्थूल और अनाध्यात्मिक स्वभाववाला होता, प्राथमिक गणित और ज्यामितिसे बंधा हुआ होता तो अपने अंदर विश्वका, प्रत्येकमें सर्वका और सर्वमें प्रत्येकका, बिंदुमें विश्वका अनुभव प्राप्त करना असंभव होता। तुम्हारे 'अ' लोग स्पष्ट ही दार्शनिक चिंतनके तत्त्वोंसे अनभिज्ञ हैं अन्यथा वे ऐसी आपत्तियां न उठाते।



---

1. "जो भगवान् सर्वव्यापी और सर्वाधार अनंत हैं वह भला मानव-शरीर के संकीर्ण देशमें कैसे अवतरित हो सकते हैं?"

वास्तवमें सभी वस्तुओंको एक आध्यात्मिक तत्त्वके रूपमें अनुभव करनेपर ही मनुष्य एकत्वपर पहुंच सकता है—एकत्व आध्यात्मिक चेतनामें है। भौतिक विंदु हजारों-लाखों विंदुओंमें केवल एक विंदु है—अतएव वह एकत्वका आधार नहो है। परंतु एक वार जव तुम चेतनाके अंदर एकत्व पा जाते हो, उसके द्वारा तुम मनस्तत्त्व, मनःशक्ति आदिका एकत्व, प्राण-तत्त्व (सचल) और प्राण-शक्तिका एकत्व, जड़-भौतिक तत्त्व और शक्तियोंका एकत्व अनुभव कर सकते हो। सत्ता—सत्ताकी चेतना—चेतनाकी शक्ति—चेतनाका रूप, सव वस्तुएँ वास्तवमें वही हैं।



यह विलकुल सत्य है कि "अंधविश्वास" शब्दका प्रयोग सर्वदा ही एक सुविधाजनक गदाके रूपमें किया गया है और उससे ऐसे किसी भी विश्वासको मार डालनेका प्रयास किया गया है जो जड़वादी वुद्धिके, अर्थात्, भौतिक प्रक्रियाके आपातदृष्ट विधानके साथ व्यवहार करनेवाले और उससे आगे न देखनेवाले स्थूल मनके विचारोंके साथ मेल नहीं खाता। फिर अतिभौतिक सत्योंके युक्तिसंगत मानकके संवंधमें अपने विचारके साथ मेल न रखनेवाले विचारों तथा विश्वासोंको भी रद्द करनेके लिये इसका उपयोग किया जाता है। अनेक युगोंतक मनुष्य ऐसे विश्वासोंका पोषण करता रहा जिसके पीछे एक शक्ति अंतर्निहित थी और वह शक्ति भौतिक मनके लिये अपरिचित तथा वहिर्मुखी वुद्धि एवं इन्द्रियोंके साक्ष्यसे अतीत सिद्धांतोंके अनुसार कार्य करती थी। फिर भौतिक विज्ञान एक ऐसे ज्ञानकी पद्धति लेकर आया जिसने चेतनाके इस वाहरी क्षेत्रके प्रमाणको लागू किया और समझा कि इस पद्धतिसे समस्त सत्ताकी व्याख्या करना संभव हो जायगा। उसने तुरत विना परीक्षणके सभी प्राचीन विश्वासोंको इतने अधिक "अंधविश्वासों" के नामसे समाप्त कर डाला—सत्य थे या अर्धसत्य थे या मिथ्या थे, सवके सव एक ही निष्पक्ष झाड़ूसे कूड़े-करकटकी ढेरपर पहुँच गये, क्योंकि वे भौतिक विज्ञानकी पद्धतिपर निर्भर नहीं थे और उसके तथ्योंके वाहर थे अथवा उसके दृष्टिकोणसे असंगत थे या प्रतीत होते थे। अतिभौतिक अनुभवके क्षेत्रमें भी केवल उतना ही स्वीकार किया जाता था जितना कि एक विशिष्ट विचारधाराके अनुसार वह अपनी मानसिक-वौद्धिक व्याख्या दे सके—वाकी सव कुछ, वह प्रत्येक वस्तु जो अपनी व्याख्याके

लिये किसी गुह्य, रहस्यमय या उपरितलसे नीचेके स्रोतकी मांग करती प्रतीत होती थी, अत्यधिक अंधविश्वास मानकर एक किनारे फेंक दी जाती थी। जो सार्वजनिक विश्वास कभी कल्पनाके परिणाम थे पर कभी परंपरागत अनुभवमूलक ज्ञानके भी परिणाम थे अथवा यथार्थ सहजवृत्तिके परिणाम थे, वे सभी स्वभावतः ही उसी नियतिको प्राप्त हुए। अब यह बात अधिकाधिक सुस्पष्ट होती जा रही है कि यह सब जल्दबाजीमें तथा अविधिपूर्वक किया गया कार्य था, यह स्वयं नवीन पद्धतिकी सर्वसमर्थताके 'अंधविश्वास' पर आधारित था जो पद्धति वास्तवमें केवल एक सीमित क्षेत्रमें लागू होती है। मैं तुम्हारे इस कथनसे सहमत हूँ कि 'अंधविश्वास' एक ऐसा शब्द है जिसका या तो बिलकुल ही उपयोग नहीं करना चाहिये अथवा बड़ी सावधानीके साथ करना चाहिये। यह स्पष्ट है कि धर्मके जिस रूपका अनुसरण या आदर हम करते हैं उससे अस्वीकृत विश्वासोंपर इसे लागू करना एक भूल है।

⊙

यह बात बड़े मार्केकी है कि उन दिनों जिन बहुतेरी चीजोंकी निंदा की जाती थी पर अब पसंद की जाने लगी हैं, उनके विषयमें लोगोंकी राय अधिकाधिक बदलती जा रही है। जिन उदाहरणोंको तुमने उद्धृत किया है उनके साथ और भी सैकड़ों उदाहरण जोड़े जा सकते हैं। हम जरा भी यह नहीं समझते कि हस्तलेखविज्ञान (Graphology) के प्रति विश्वासको अयुक्तिसंगत या अंधविश्वास कहकर निंदित क्यों ठहराना चाहिये; मुझे तो यह विश्वास करना बिलकुल युक्तिसंगत प्रतीत होता है कि मनुष्यकी हस्तलिपि उसके स्वभाव और प्रकृतिका परिणाम होती है अथवा उसके साथ सुसंगत होती है और, यदि ऐसा हो तो, परीक्षा करनेपर यह अच्छी तरह सिद्ध हो सकता है कि वह स्वभावका सूचक हो सकती है। यह अब एक ज्ञात तथ्य है कि प्रत्येक मनुष्य अपने आपमें एक विशिष्ट व्यक्ति है, दूसरोंसे भिन्न उसका अपना अनूठा रूप होता है और सामान्य मानव संपर्कित योजनामें सूक्ष्म विभेदोंके साथ रचित होता है,—यह बात तुच्छ भौतिक विशेषताओंके विषयमें सत्य है, यह स्पष्ट ही उसी तरह मनोवैज्ञानिक विशेषताओंके विषयमें भी सत्य है; इन दोनोंके बीच एक पारस्परिक संबंधको मानना अयुक्तिसंगत नहीं है। इस आधारपर हस्तसामुद्रिक

विद्यामें भी भलीभांति कुछ सत्य हो सकता है, क्योंकि यह जानी हुई वात है कि किसी व्यक्तिके हाथकी रेखाएँ दूसरोंके हाथोंकी रेखाओंसे भिन्न होती हैं और यह असंभव नहीं कि इनमें, साथ ही आकृतिके विभेदोंमें भी, मनोवैज्ञानिक संकेत हों। तार्किक बुद्धिके प्रभावोंके अधीन शिक्षित मनोंके लिये कठिनाई उस समय अधिक बढ़ जाती है जब इन रेखाओं या ज्योतिषके तथ्योंका वर्णन भाग्यके चिह्नोंके रूपमें किया जाता है, क्योंकि आधुनिक बुद्धिवादने दृढ़ताके साथ यह मानना अस्वीकार कर दिया कि भविष्य निर्दिष्ट है अर्थात् निर्णीत हो सकता है। परंतु यह अधिकाधिक आधुनिक मनके 'अंधविश्वास' के जैसा लगता है, एक ऐसा विश्वास प्रतीत होता है जो अजीब ढंगसे विज्ञानकी मौलिक धारणाओंका विरोधी हो। कारण, विज्ञानका विश्वास रहा है, कमसे कम विगत कलतक, कि प्रकृतिमें प्रत्येक वस्तु निर्दिष्ट है और वह उस निर्दिष्टताका विधान खोज निकालनेका तथा उसी आधारपर भावी भौतिक घटनाओंकी भविष्यवाणी करनेका प्रयास करता है। यदि ऐसा है तो, यह मानना बुद्धिसंगत है कि जगत्में मानवसंपर्कित घटनाओंको निश्चित करनेवाले अदृश्य संबंध हैं और इसलिये भावी घटनाओंकी भविष्यवाणी की जा सकती है। अब यह बात खोज करनेकी है कि ऐसी भविष्यवाणी ज्योतिषकी पद्धतिसे की जा सकती है या हस्तरेखाविज्ञानके द्वारा और एक सरसरी अस्वीकृतिके द्वारा इस संभावनाका खंडन कर देनेसे हम बहुत दूरतक आगे नहीं बढ़ जाते। ज्योतिषविद्याका पक्ष काफी प्रबल है; हस्तरेखाविज्ञानके लिये भी अनुकूल स्थिति विद्यमान प्रतीत होती है।

दूसरी ओर, अत्यंत जल्दबाजीके साथ दूसरी दिशामें जाना भी सुरक्षित नहीं है। इन क्षेत्रोंकी प्रत्येक चीजको मान लेनेकी तथा ज्ञानके इन कठिन विभागोंमें विद्यमान परिच्छिन्नता या भूल-भ्रांतिके तत्त्वकी ओर अपनी आँखें खुली न रखनेकी विपरीत प्रवृत्ति भी रही है—वास्तवमें विश्वासकी अतिशयताने ही उनकी कुख्यातिमें सहायता पहुँचायी, क्योंकि उनकी भूलें प्रत्यक्ष थीं। मुझे यह बात प्रमाणित नहीं प्रतीत होती कि नक्षत्र भविष्यको निश्चित करते हैं—यद्यपि यह संभव है, पर ऐसा दीखता नहीं कि वे उसे अथवा, विशेषतः भविष्यकी किन्हीं निश्चयताओं और संभावनाओंको सूचित करते हैं। ज्योतिषी लोग भी यह स्वीकार करते हैं कि स्वयं मनुष्यमें निर्धारणका एक दूसरा तत्त्व है

जो फलित-ज्योतिषकी भविष्यवाणीके क्षेत्रको सीमित करता है और उसके बहुतसे सुनिर्णीत परिणामोंको बदल सकता है। जगत्‌में वस्तुओंके विषयमें कोई निश्चय करनेवाली शक्तियोंकी एक बहुत उलझी हुई और कठिन ग्रंथि है और जब हम लच्छेके एक धागेको खोल लेते हैं और उसका अनुसरण करते हैं तो हम बहुतसे आश्चर्यजनक परिणाम पा सकते हैं, पर हम उसपर एकमात्र संपूर्णतः विश्वसनीय सूत्रके रूपमें भरोसा नहीं कर सकते। मनकी पद्धतियां सच्चे या संपूर्ण सत्यका, चाहे वह दिव्य सद्वस्तुका सत्य हो अथवा उससे पृथक् दृश्य व्यापारोंका, उद्घाटन करनेके लिये अत्यंत कठोर और सुखकारक रूपमें सरल होती हैं।

तुम्हारा यह कथन मैं स्वीकार करता हूं कि किसी व्यक्तिकी सत्ताके एक छोटेसे भागका निरीक्षण करके उसके विषयमें बहुतसी बातें जानी जा सकती हैं, परंतु मैं समझता हूं कि यह कहना अतिशयोक्ति है कि मनुष्यके बालके एक सूक्ष्म-कणसे समूचे मनुष्यका पुनर्निर्माण किया जा सकता है। मानवीय सत्ताके तत्त्वोंकी जटिलता और बहुविधताके अपने ज्ञानके आधारपर मैं कह सकता हूं कि ऐसी प्रक्रिया बड़ी कष्टसाध्य होगी और अज्ञात तत्त्वोंके एक बहुत बड़े अंशको इस आनुमानिक रचनाके अत्यधिक निश्चयताके ऊपर मंडराते हुए छोड़ देगी।



मैं समझता हूं कि हम इतनी दूर नहीं जा सकते कि यह अस्वीकार कर दें कि अंधविश्वास—किसी ऐसी वस्तुमें बिना किसी कारणके अटूट विश्वास जो बिलकुल अविश्वास हो और सुसंबद्ध न हो—नामकी कोई चीज है ही नहीं। मानव-मन सरलतापूर्वक ऐसी चीजोंके प्रति इस तरहके विश्वासोंको पकड़ लेता है जो हो सकती हैं अथवा अपने-आपमें सत्य हैं, और यह एक ऐसी मिलावट है जो बहुत बुरी तरह ज्ञानकी खोजको अस्तव्यस्त कर देती है। परंतु ठीक इस मिलावटके कारण ही, इस कारण ही कि अंधविश्वासके पीछे कहीं पर या उससे बहुत दूर नहीं, अति सामान्य रूपसे कोई यथार्थ [सत्य विद्यमान रहता है, हमें इस शब्दका व्यवहार करने अथवा इसके द्वारा एक सुविधाजनक झाड़की तरह सत्य, अर्द्ध-सत्य तथा मिथ्याको बुहार फेंकने और यह दावा करनेमें

सावधान रहना चाहिये कि खाली छूटी हुई भूमि ही उस विषयका एकमात्र सत्य है।



जब मैंने "कठोर अंध-विश्वास" के विषयमें यह वाक्य लिखा था तब वास्तवमें धार्मिक विश्वासोंकी बात मेरे मनमें नहीं थी, बल्कि सामान्य प्रचलित भावनाओं और विश्वासोंकी बात थी। फिर भी उस विषयमें तुम्हारी भावना बिलकुल ठीक है। मनुष्य अपने निजी पथमें विश्वास कर सकता और उसका अनुसरण कर सकता है और उसे करना ही चाहिये, जिन विश्वासोंको वह सत्यकी दृष्टिसे सर्वोत्तम या विशालतम समझता या अनुभव करता है उनसे भिन्न विश्वासोंको बनाये रखनेके लिये उसे दूसरोंकी निंदा नहीं करनी चाहिये या उन्हें हीन नहीं समझना चाहिये। आध्यात्मिक पथ अनेक-पक्षी और जटिलताओंसे पूर्ण है और उसमें अनुभवोंकी प्रभूत विविधताकी गुंजाइश है। इसके अलावा, समस्त मानसिक अहंकारको—और आध्यात्मिक अहंकारको भी—अतिक्रमण करना होगा और इसलिये बड़प्पनकी इस भावनाका पोषण नहीं करना चाहिये।

पुनश्च: इस योगका अनुसरण सच्चे रूपमें, पूरे हृदयसे और एकनिष्ठ होकर करनेसे मनुष्य एक ऐसे स्तरपर पहुंच जाता है जहां ये कठोर मानसिक विभाजन नहीं रहते, क्योंकि ये मानसिक दीवालें हैं जिन्हें सत्य और उनके एक भागके चारों ओर खड़ा कर दिया गया है जिसमें वे उसे बाकीसे अलग काट दें, परंतु मनसे ऊपरकी यह दृष्टि व्यापक है और प्रत्येक वस्तु संपूर्णके अंदर अपने स्थानपर दिखायी देती है।

5. सत्ताके विभिन्न अंग और लोक-लोकान्तर

(1)

मनुष्य अपने-आपको नहीं जानते और न उन्होंने अपनी सत्ताके विभिन्न भागोंमें विभेद करना ही सीखा है। साधारणतया, ये सभी भाग एक साथ मिला-जुला दिये जाते और 'मन' माने जाते हैं, क्योंकि मानसिक बोध और समझके द्वारा ही वे जाने जाते और अनुभूत होते हैं। अतएव मनुष्य स्वयं अपनी अवस्थाओं और क्रियाओंको नहीं समझते, अथवा, यदि कुछ समझते हैं तो बस ऊपरी सतहपर ही समझते हैं। योगके आधारका यह एक अंग है कि हम अपनी प्रकृतिकी महान् जटिलताके विषयमें सचेतन हों, उसे चलानेवाली विभिन्न शक्तियोंको देखें तथा उसपर नियंत्रणकारी ज्ञानका एक संयम स्थापित करें। हम लोग अनेक अंगोंसे बने हैं जिनमेंसे प्रत्येक अंग हमारी चेतना, हमारे विचार, संकल्प, संवेदन, अनुभव, कर्म आदिकी संपूर्ण गतिविधिमें कुछ-न-कुछ अपना योगदान करता है, पर हम उसके आरंभबिंदुको अथवा इन प्रेरणाओंकी धाराको नहीं देखते। हम ऊपरी तलपर होनेवाले उनके केवल सम्मिश्रित और अस्तव्यस्त परिणामोंको ही जानते हैं जिनपर हम अधिक-से-अधिक एक अनिश्चित परिवर्तनशील व्यवस्थासे अधिक अच्छी कोई चीज नहीं लाद सकते।

इसका उपाय केवल सत्ताके उन भागोंसे हमें मिल सकता है जो ज्योतिकी ओर मुड़ चुके हैं। इसका एकमात्र उपाय है ऊपरसे भागवत चेतनाकी ज्योतिका आवाहन करना, चैत्य पुरुषको सामने ले आना और अभीप्साकी दीपशिखाको प्रज्वलित करना जो आध्यात्मिक पथकी ओर बाह्य मनको जागृत करेगी तथा प्राण-सत्ताको जला देगी।

⊙

सत्ताके प्रत्येक अंगका अपना निजी स्वभाव होता है अथवा एक ही अंगके अंदर विभिन्न स्वभाव भी होते हैं।

⊙

मेरे अनुभवके अनुसार, चेतना किसी ऐसे व्यापारको नहीं कहते जो प्रकृतिकी शक्तियोंके प्रति होनेवाली व्यक्तिकी प्रतिक्रियाओंपर

निर्भर करता है तथा इन प्रतिक्रियाओंके देखने या उनकी व्याख्या करनेसे अधिक और कुछ नहीं है। यदि बात ऐसी ही होती, तब तो व्यक्ति जब निश्चल-नीरव और अचल-अटल बन जाता और कोई प्रतिक्रिया नहीं करता तब, चूंकि वह देखने या व्याख्या करनेकी कोई क्रिया नहीं करता इसलिये, यह कहा जा सकता कि उसमें कोई चेतना नहीं है। पर यह बात योगके कुछ मूलभूत अनुभवोंका ही खंडन कर देती है, उदाहरणार्थ, योगमें यह अनुभव होता है कि एक निश्चल-नीरव और अचल-अटल चेतना अनंततः फैली हुई है, व्यक्तित्व-पर निर्भर नहीं वरन् निर्व्यक्तिक और सार्वभौम है, इंद्रिय और विषयोंके संपर्कोंको न देखती है न उनकी व्याख्या करती है, बल्कि निश्चल रूपसे आत्मसचेतन रहती है, प्रतिक्रियाओं पर निर्भर नहीं है, बल्कि जब प्रतिक्रियाएं घटित नहीं होतीं तब भी अपने-आपमें स्थित होती है। स्वयं आत्मनिष्ठ व्यक्ति भी केवल चेतनाकी ही एक रचना है जो कि एक अंतर्निहित शक्ति है, क्षणिक अभिव्यक्त व्यक्तित्वकी क्रियावलीमें नहीं वरन् सत्तामें, आत्मा या पुरुषमें अंतर्निहित शक्ति है।

चेतना सत्तामें अंतर्निहित एक सद्वस्तु है। यह वहां उस समय भी रहती है जब कि यह ऊपरी सतहपर सक्रिय नहीं होती, बल्कि शांत-निश्चल और गतिरहित होती है। यह उस समय भी वहां होती है जब कि ऊपरी सतहपर दृष्टिगोचर नहीं होती, बाहरी वस्तुओंपर प्रतिक्रिया नहीं करती या उनके लिये संवेद्य नहीं होती, बल्कि प्रत्याहृत होती और भीतर चाहे सक्रिय या निष्क्रिय होती है। यह उस समय भी वहां होती है जबकि यह हमें एकदम अनुपस्थित प्रतीत होती है तथा सत्ता हमारी दृष्टिमें अचेतन और जड़ मालूम होती है।

चेतना केवल आत्मा तथा वस्तु-संबंधी सज्ञानताकी ही शक्ति नहीं है, यह स्वयं एक क्रियाशील और सर्जनशील ऊर्जा है अथवा यह उसे अपने अंदर रखती है। यह अपनी निजी प्रतिक्रियाओंको निश्चित कर सकती अथवा प्रतिक्रियाओंसे अपनेको दूर रख सकती है। यह केवल शक्तियोंका प्रत्युत्तर ही नहीं दे सकती वरन् शक्तियोंकी सृष्टि कर सकती अथवा स्वयं अपने भीतरसे उनको उत्पन्न कर सकती है। चेतना चित् है और चित्-शक्ति भी है।

चेतना साधारण रूपसे मनके साथ अभिन्न होती है, पर मानसिक चेतना महज एक मानवीय क्षेत्र है; चेतनाके जो सब संभाव्य क्षेत्र

हैं वे बस इसीके अंदर समाप्त नहीं हो जाते, जिस तरह कि मानवीय दृष्टिके अंदर रंगके सभी स्तर अथवा मानवीय श्रवणके अंदर शब्दके सभी स्तर निःशेष नहीं हो जाते—सच पूछा जाय तो ऊपर या नीचे ऐसी बहुतसी चीजें हैं जो मनुष्यके लिये अगोचर और अश्रव्य हैं। इसी तरह मानवीय स्तरसे ऊपर और नीचे चेतनाके ऐसे स्तर हैं जिनके साथ साधारण मानव-चेतनाका कोई संपर्क नहीं है और वे इसके लिये अचेतन—अतिमानसिक या अधिमानसिक और अवमानसिक स्तर प्रतीत होते हैं।

जब याज्ञवल्क्य यह कहते हैं कि ब्रह्म-स्तरमें कोई चेतना नहीं है तब 'चेतना' से उनका मतलब होता है वह चीज जिसे मनुष्य चेतना कहता है। ब्रह्मकी स्थिति है परम सत्ताकी वह अवस्था जो चरम रूपमें अपने विषयमें सचेतन होती है—स्वयंप्रकाश होती है,—वह है सच्चिदानंद, सत्-चित्-आनंदकी स्थिति। जब उसके विषयमें यह कहा जाता है कि वह तत्के भी परे है—**परात् परम्**, तो भी इसका अर्थ यह नहीं होता कि वह कोई अनस्तित्व या अ-चैतन्यकी स्थिति है, बल्कि वैश्व सत्ता और चेतनाके उच्चतम आध्यात्मिक स्तरसे भी ऊपरकी स्थिति है (जिसे ऋग्वेद के उज्ज्वल विरोधाभासके अंदर **उपरि बुध्न एषाम्** कहा गया है)। जिस तरह चीनके ताओके तथा बौद्धोंके शून्यके वर्णनसे यह स्पष्ट है कि यह वह शून्यावस्था है जिसमें सब कुछ है, वैसे ही यहां चेतनाके अभावकी स्थितिसे भी वही मतलब निकलता है। अतिचेतन और अवचेतन तो केवल सापेक्षिक शब्द हैं; हम जैसे-जैसे अतिचेतनमें ऊपर उठते हैं, हम देखते हैं कि यह एक ऐसी चेतना है जो हमारी अबतक प्राप्त उच्चतम चेतनासे भी अधिक महान् है और इसलिये हमारी सामान्य स्थितिमें हमारी पहुँचसे परे है, और, हम यदि नीचे अवचेतनामें जायं तो हम देखेंगे कि वहां एक ऐसी चेतना है जो हमारी निम्नतम मानसिक सीमासे भिन्न है और इसलिये सामान्यतया हमारी पहुंचसे परे है। स्वयं निश्चेतना भी महज चेतनाकी एक निवर्त्तित स्थिति है जो ताओ और शून्यकी तरह ही, यद्यपि एक दूसरे ढंगसे, सभी चीजोंको अपने अंदर प्रकट रूपमें धारण करती है जिसमें कि ऊपर या नीचेसे दबाव पड़नेपर सब कुछ उसके अंदरसे विकसित हो सके—मानो "प्रसुप्त शक्तिसे युक्त कोई जड़ आत्मा" हो।

चेतनाके विभिन्न स्तर वैश्व स्थितियां हैं जो आत्मनिष्ठ व्यक्तिके

दृष्टिकोणपर निर्भर नहीं हैं; वल्कि आत्मनिष्ठ व्यक्तिका दृष्टिकोण ही चेतनाके उस स्तरके द्वारा निर्धारित होता है जिसमें वह उसकी वर्गगत प्रकृति या उसके क्रमविकासकी स्थितिके अनुरूप ,गठित होता है।

यह स्पष्ट है कि चेतनाका तात्पर्य है एक ऐसी चीज जो मूलतः सर्वत्र एक है पर अपनी स्थिति, अवस्था और क्रियामें विभिन्न है; किसी-किसी स्तर या अवस्थामें, जिन क्रियाओंको हम चेतना कहते हैं, वे या तो दवी हुई या अव्यवस्थित अथवा अन्य रूपमें व्यवस्थित स्थितिमें विद्यमान रह सकती हैं; फिर दूसरी स्थितियोंमें कुछ दूसरी क्रियाएं व्यक्त हो सकती हैं जो हमारे अंदर दवी हुई, अव्यवस्थित अथवा प्रसुप्त होती हैं अथवा फिर हमारी उच्चतम मानसिक सीमाके परेके उन उच्चतर स्तरोंकी अपेक्षा कम पूर्णताके साथ अभिव्यक्त, कम तीव्र, प्रसारित और शक्तिशाली होती हैं।



सव कुछ इस वातपर निर्भर करता है कि चेतना अपनेको कहांपर स्थापित करती हैं, कहांपर एकाग्र करती है। यदि चेतना अहंके अंदर अपनेको स्थापित या एकाग्र करती है तो तुम अहंके साथ एकाकार हो जाते हो—यदि मनमें करती है तो वह मन और उसकी क्रियाओंके साथ तदात्म हो जाती है और इसी भांति अन्य स्थानोंमें होता है। यदि चेतनाका दवाव वाहरकी ओर होता है तो कहा जाता है कि वह वाहरी सत्तामें निवास करती है और अपने आंतर मन, प्राण तथा अन्तरतम चैत्य पुरुषके विषयमें अचेत हो जाती है; यदि वह भीतर चली जाती है, वहां केंद्रीभूत होनेके लिये दवाव डालती है तो वह अपनेको आंतर सत्ताके रूपमें जानती है अथवा, और भी गहराईमें जानेपर, चैत्य पुरुष समझती है; यदि यह शरीरसे वाहर उन लोकोंमें आरोहण करती है जहां आत्मा स्वभावतः ही अपनी विशालता और स्वतंत्रतासे सचेतन रहता है तो वह अपनेको आत्मा समझती है, न कि मन, प्राण या शरीर। चेतनाका यह दवाव ही यह सव अंतर उत्पन्न करता है। यही कारण है कि मनुष्यको भीतर पैठने या ऊपर उठनेके लिये हृदय या मनमें अपनी चेतनाको एकाग्र करना पड़ता है। चेतनाका यह झुकाव ही सव कुछ निर्धारित करता है, मनुष्यको प्रधानतया मानसिक, प्राणिक, शारीरिक या चैत्य,

वुद्ध या मुक्त, पुरुपके अंदर पृथक् या प्रकृतिके अंदर निहित सत्ता वना देता है।



चेतनाको केंद्रीभूत होनेके अपने विभिन्न दवावको प्रयुक्त करनेके लिये किसी सुस्पष्ट व्यक्तिगत "मैं" की आवश्यकता नहीं होती,—जहां कहीं भी दवाव डाला जाता है, "मैं" आकर वहां चिपक जाता है, जिसके कारण मनुष्य अपनेको मनोमय पुरुप या भौतिक पुरुप अथवा चाहे और कुछ समझने लगता है। मेरे अंदरकी चेतना अपना दवाव चाहे इस प्रकार या उस प्रकार डाल सकती है—वह या तो नीचे शरीरमें जा सकती है और वहां भौतिक प्रकृतिमें क्रिया कर सकती है और वाकी सवको उस समयके लिये पीछे या ऊपरकी ओर रख सकती है; अथवा वह सिरसे ऊपरके स्तरमें चली जा सकती है और मन, प्राण तथा शरीरसे ऊपर अवस्थान करके उनकी ओर इस भांति ताक सकती है मानो वे उसके यंत्ररूप निम्न आकार हों या वह उनकी ओर विलकुल ही नहीं ताक सकती और मुक्त निर्विशेप ब्रह्ममें लीन हो जा सकती है; अथवा यह अपनेको सक्रिय शक्तिगर्भ विश्व-चेतनामें निक्षिप्त कर सकती और उसके साथ एकात्म हो सकती है या असंख्य अन्य चीजें कर सकती है पर तुम जिसे सुस्पष्ट व्यक्तिगत "मैं" कहते हो उस अति महत्त्वप्राप्त और विघ्न कारी यंत्रारूढ़ मक्षिकाकी सहायता विलकुल नहीं ले सकती। सच्चा "मैं"—यदि तुम इस शब्दका प्रयोग करना चाहो—"सुस्पष्ट व्यक्तित्व" अर्थात् सफाईसे कटा-छंटा सीमित पृथक्भूत अहं, नहीं है, वह तो विश्वकी तरह विशाल है, उससे भी अधिक विशाल है, अपने अंदर विश्वको धारण कर सकता है, पर वह अहंकार नहीं है, वह आत्मा है।

चेतना एक मौलिक वस्तु है, सत्ताकी एक मौलिक वस्तु है—चेतनाकी शक्ति, गति, स्पन्दन ही विश्वकी और विश्वमें जो कुछ है उस सवकी सृष्टि करती है—केवल विश्व-ब्रह्माण्ड ही नहीं वल्कि प्रत्येक पिंड भी और कुछ नहीं, केवल चेतनाकी ही एक व्यवस्था है। उदाहरणार्थ, जव चेतना अपनी गतिमें या यों कहें कि अपनी गति-के किसी विशेप दवावमें अपने-आपको कर्ममें भुला देती है तो वह

ऊपरसे देखनेमें "अचेतन" शक्ति बन जाती है; जब वह आकारमें अपनेको भूल जाती है तो वह विद्युत्कण, परमाणु, भौतिक वस्तु बन जाती है। सच पूछा जाय तो उस समय भी चेतना ही वह चीज होती है जो शक्तिके अंदर कार्य करती है और आकारका निश्चय करती है और आकारका विकास निर्धारित करती है। जब वह अपनेको धीरे-धीरे, क्रमधारामें, जड़तत्त्वमेंसे मुक्त करना चाहती है पर आकारमें ही रहकर, तो वह प्राणके रूपमें, पशुके, मानवके रूपमें प्रकट होती है और वह अपनी निवर्तनकी अवस्थामेंसे और भी आगे विकसित होती रह सकती है तथा महज मनुष्यसे अधिक कोई चीज बन सकती है। यदि तुम इस बातको समझ सको तो फिर तुम्हें आगे यह समझ सकनेमें कोई कठिनाई नहीं होनी चाहिये कि वह आंतरिक रूपसे अपनेको एक भौतिक, प्राणिक, मानसिक और चैत्य चेतनाके रूपमें भी गठित कर सकती है—ये सभी चेतनाएं मनुष्यमें विद्यमान हैं, पर ये सब-की-सब चूंकि बाहरी चेतनामें एक साथ मिली-जुली हैं और इनकी सच्ची स्थिति पीछेकी ओर आंतर सत्तामें है, कोई इनके विषयमें केवल तभी पूर्णतः सचेतन हो सकता है जबकि वह चेतनाके इस मूल सीमाकारी दबावको दूर करके, जो कि हमें अपनी बाह्य सत्तामें निवास करनेको बाध्य करता है, जागृत हो जाय और आंतर सत्ताके अंदर केंद्रित हो जाय। जिस प्रकार हमारे अंतरकी चेतना, अपनी बाहरी एकाग्रता या दबावके द्वारा, इन सभी चीजोंको पीछे—एक दीवाल या पर्देके पीछे—रख देती है, वैसे ही उसे उस दीवाल या पर्देको भंग कर देना होता है और सत्ताके इन आंतर भागोंमें आनेके दबावपर वापस आना होता है—इसीको हम लोग अंदर रहना कहते हैं। उस समय हमारी बाहरी सत्ता हमें एक क्षुद्र और छिछली वस्तु प्रतीत होती है और हम अंतरस्थ विशाल और समृद्ध और अक्षय साम्राज्यके विषयमें सचेतन हो जाते हैं या हो सकते हैं। उसी तरह हमारे अंदरकी चेतनाने चैत्यपर आधारित मन, प्राण और शरीरके निम्नतर लोकों तथा उच्चतर लोकोंके बीच, जिनमें वे आध्यात्मिक राज्य विद्यमान हैं जहां आत्मा सदा मुक्त और सीमाहीन रहता है, एक ढक्कन या आवरण या जो कुछ भी तुम उसे कहना चाहो, डाल दिया है, और वह इस ढक्कन या आवरणको भंग या उद्घाटित कर सकती, आरोहण कर सकती तथा

मुक्त, विशाल और ज्योतिर्मय आत्मा बन सकती है अथवा उच्चतर चेतनाके प्रभाव, प्रतिबिंब, अंतमें उसकी उपस्थिति तथा शक्ति-सामर्थ्य-तकको निम्नतर प्रकृतिमें उतार ला सकती है।

बस, यही वह चीज है जिसे चेतना कहते हैं—यह कई भागोंसे निर्मित नहीं है, यह सत्तामात्रके लिये मौलिक वस्तु है और यह स्वयं ही उन भागोंको निर्मित करती है जिन्हें वह अभिव्यक्त करना चाहती है—उन्हें ऊपरसे नीचेकी ओर, आध्यात्मिक स्तरोंसे धीरे-धीरे, क्रमशः, जड़तत्त्वमें निर्वर्तित होनेके लिये, नीचे आकर विकसित करती है अथवा जिसे हम क्रमविकास कहते हैं उस सामनेकी ऊर्ध्वमुखी क्रियाके द्वारा उन्हें आकार प्रदान करती है। यदि वह तुम्हारे अंदर अहंकारके द्वारा काम करना चाहती है तो तुम समझते हो कि सुस्पष्ट-निर्मित व्यक्तिगत "मैं" ही है जो सब कुछ करता है—यदि वह अपनेको उस सीमित क्रिया-व्यापारसे मुक्त करना आरंभ करती है तो तुम अपने "मैं"-पनके बोधको विस्तारित करना आरंभ करते हो और अंतमें जाकर वह अनंततामें विस्फोटित हो जाता है और अब तुम्हारा कोई अस्तित्व ही नहीं रह जाता अथवा तुम उसे झाड़ फेंकते हो तथा आध्यात्मिक विशालतामें पुष्पित हो उठते हो। निस्संदेह, यह वह चीज नहीं है जिसे आधुनिक जड़वैज्ञानिक विचारधारामें चेतना कहा गया है, क्योंकि वह विचारधारा विज्ञानके द्वारा परिचालित होती है और चेतनाको केवल इस रूपमें देखती है कि वह एक क्रिया-व्यापार है जो निश्चेतन जड़तत्त्वमेंसे प्रकट होता है और बाह्य वस्तुओंके प्रति अंग-प्रत्यंगोंकी किन्हीं प्रतिक्रियाओंसे निर्मित है। पर वह चेतनाका एक कार्य-व्यापार है, वह स्वयं चेतना नहीं है, और यहांतक कि वह चेतनाके संभवनीय कार्य-व्यापारका एक बहुत छोटा-सा अंश है और वह उस सद्वस्तु-रूप चेतनाको समझनेकी चाभी नहीं दे सकता जोकि सत्ताका सार-तत्त्व है।

बस, अभी इतना ही पर्याप्त है। इसी भावमें तुम्हें अपनेको स्थापित करना होगा—क्योंकि यह मौलिक बात है—उसके बाद ही और आगे बढ़ना उपयोगी हो सकेगा।



चेतना दो तत्त्वोंसे बनी है, अपने-आपकी और वस्तुओं, शक्तियों

और चेतन-शक्तिकी अभिज्ञतासे। अभिज्ञता पहली आवश्यक वस्तु है, तुम्हें यथार्थ चेतनासे, समुचित रूपमें वस्तुओंके विषयमें सज्ञान होना होगा, उन्हें उनके सत्य रूपमें देखना होगा; परंतु सज्ञानता अपने-आपमें पर्याप्त नही है। एक संकल्प और एक शक्ति भी होनी चाहिये जो चेतनाको फलोत्पादक बनाती हैं! किसी व्यक्तिको इस बातका पूरा बोध हो सकता है कि क्या चीज बदलती है, कौनसी चीज जानेवाली है और कौनसी चीज उसके स्थानमें आनेवाली है, पर परिवर्तन लानेमें निरुपाय हो सकता है। दूसरे व्यक्तिमें संकल्पशक्ति हो सकती है, पर यथार्थ अभिज्ञताके अभावके कारण समुचित ढंगसे और समुचित स्थानपर उसका प्रयोग करनेमें असमर्थ हो सकता है। सत्य-चेतनामें होनेका लाभ यह है कि तुम्हें वास्तविक बोध प्राप्त होता है और उसकी इच्छाशक्ति श्रीमाताजीकी इच्छाशक्तिके साथ समस्वर होनेके कारण तुम परिवर्तन लानेके लिये श्रीमाताजीकी शक्तिका आवाहन कर सकते हो। जो लोग मन और प्राणमें रहते हैं वे ऐसा करनेमें उतने दक्ष नही होते; उन्हें अधिकांशतः अपने व्यक्तिगत प्रयत्नका उपयोग करनेके लिये बाध्य होना पड़ता है और चूंकि मन और प्राणका बोध और संकल्पशक्ति और बल विभक्त और अपूर्ण होते है, किया गया कर्म भी अपूर्ण होता है और निर्णयात्मक नही होता। केवल अतिमानसमें ही चेतना, संकल्प, शक्ति, सर्वदा एक ही गति होती हैं और स्वयमेव प्रभावशाली होती हैं।

(2)

सच्चिदानंद त्रिविध भावसे युक्त 'एक' है। परात्परमें तीनों भाव तीन नहीं बल्कि एक है—सत् है चित्, चित् है आनंद, और इस तरह वे पृथक् नहीं किये जा सकते, और केवल यही नही कि वे पृथक् नही किये जा सकते बल्कि उनमेंसे एक इतना अधिक दूसरा है कि वे बिलकुल ही स्पष्ट रूपमें पृथक् नही दिखायी देते। अभिव्यक्तिके उच्चतर लोकोंमें वे त्रैत बन जाते है—यद्यपि अविभेद्य होते हैं, पर कोई एक अधिक प्रधान और आधार बनाया जा सकता है या दूसरोंका नेतृत्व कर सकता है। नीचे निम्नतर लोकोंमें वे देखनेमें विभेद्य बन जाते हैं, यद्यपि अपने गुह्य सत्यस्वरूपमें वैसे नही रहते, और उनमेंसे एक बाह्य-क्रियारूपमें दूसरेके बिना रह सकता है जिसमें कि हम उस

चीजके विषयमें सज्ञान हो सकें जो हमें निश्चेतन या दुःखमय अस्तित्व या आनंदरहित चेतना प्रतीत होती है। निःसंदेह, अनुभवमें आनेवाले इनके बीचके इस पार्थक्यके बिना दुःख-दर्द, अज्ञान मिथ्यात्व, मृत्यु तथा जिसे हम निश्चेतना कहते हैं वह—ये सब चीजें अभिव्यक्त नहीं हुई होतीं—जड़तत्त्वकी विश्वव्यापी निश्चेतनाके भीतरसे एक सीमित और दुःखमय चेतनाका यह क्रमविकास संभव ही न हुआ होता।



अतिमानस सच्चिदानंद और निम्नतर सृष्टिके बीचमें है। एकमात्र इसीके अंदर भागवत चैतन्यका आत्म-निर्धारक सत्य विद्यमान है और यह सत्य-सृष्टिके लिये आवश्यक है।

इसमें संदेह नहीं कि मनुष्य मन, प्राण और शरीरके संबंधसे भी सच्चिदानंदका साक्षात्कार पा सकता है—पर तब वह एक ऐसी चीज होगा जो स्थायी है, अपनी उपस्थितिसे निम्न प्रकृतिको धारण करती है, पर उसे रूपांतरित नहीं करती। एकमात्र अतिमानस ही निम्नतर प्रकृतिको रूपांतरित कर सकता है।



अतिमानसिक शक्ति ही मन, प्राण और शरीरको रूपांतरित करती है—सच्चिदानंद-चेतना नहीं जो निष्पक्षभावसे प्रत्येक वस्तुको धारण करती है। परंतु सच्चिदानंदका, विशुद्ध सत्-चित् आनंदका अनुभव प्राप्त होनेपर ही अतिमानसिक चेतनामें आरोहण और अतिमानसिक चेतनाका अवरोहण (बहुत बादकी स्थितिमें) संभव होता है। अतिमानसिक चेतनामें आरोहण करनेके लिये मनुष्यको मानसिक, प्राणिक और शारीरिक रचनाओंद्वारा उत्पन्न साधारण सीमाबंधनसे मुक्त होना चाहिये और सच्चिदानंदकी शांति, स्थिरता, पवित्रता और विशालताकी अनुभूति यह मुक्ति प्रदान करती है।

शून्यमें जानेके साथ अतिमानसका कोई संबंध नहीं। जब मन अपनी सीमाओंको पार कर जाता है और इसके लिये निषेधात्मक और निवृत्तिप्रधान मार्गका अनुसरण करता है तो वह महाशून्यमें पहुंच जाता है। 'अज्ञान' होनेके कारण मनको परम सत्यमें प्रवेश करनेके लिये अपने-आपको मिटा देना पड़ता है—अथवा, कम-से-कम,

मन ऐसा ही समझता है। परंतु अतिमानसको स्वयं सत्य-चेतना और भागवत ज्ञान होनेके कारण इस उद्देश्यकी सिद्धिके लिये अपने-आपको मिटानेकी कोई आवश्यकता नहीं होती।



अतिमानसिक चेतनामें कोई समस्या नही होती—समस्याकी सृष्टि मनद्वारा सृष्ट विभाजनसे होती है। अतिमानस सत्यको देखता है एकमेव पूर्ण वस्तुके रूपमें और प्रत्येक चीज उस पूर्ण वस्तुके भीतर अपने निजी स्थानमें बैठ जाती है। अतिमानसिक आध्यात्मिक भी है, पर पुराने योग अध्यात्मभावापन्न मनके द्वारा सच्चिदानंदको प्राप्त करते हैं और सच्चिदानंदके शाश्वततः स्थाणु एकत्वमें चले जाते हैं अथवा विशुद्ध सत्, अखंड और शाश्वत सत् अथवा विशुद्ध, अखंड और शाश्वत असत्‌में पहुंच जाते हैं। हमारा योग आध्यात्मिक मानसलोकमें सच्चिदानंदकी उपलब्धि करके अतिमानसिक लोकमें भी उसे प्राप्त करनेके लिये आगे बढ़ जाता है।

परात्पर विश्वातीत सच्चिदानंद सबसे ऊपर है। अतिमानसका वर्णन इस प्रकार किया जा सकता है कि वह सच्चिदानंदकी आत्मज्ञान और विश्व-ज्ञान प्राप्त करनेकी शक्ति है, अवश्य ही विश्वज्ञान सच्चिदानंदको स्वयं अपने अंदर प्राप्त होता है, अपनेसे बाहर नहीं। इसलिये सचेतन रूपसे परात्पर सच्चिदानंदमें निवास करनेके लिये मनुष्यको अतिमानसके भीतरसे गुजरना पड़ता है। यदि मनुष्य अभिव्यक्तिसे पृथक् विश्वातीत चेतनामें हो तो वहां समस्या या समाधानके लिये कोई स्थान नहीं होता। यदि कोई परात्परतामें निवास करे और साथ ही विश्वका अवलोकन भी करना चाहे तो वह ऐसा केवल तभी कर सकता है जब कि वह परात्पर सच्चिदानंद-चेतनामें विद्यमान अतिमानसिक चेतनामें निवास करे—अतएव प्रश्न क्यों उठना चाहिये? तब भला विश्वसंबंधी परात्पर सच्चिदानंदके विवरण और अतिमानसके विवरणमें भेद क्यों होना चाहिये? तुम्हारी कठिनाई शायद इस कारण उत्पन्न होती है कि तुम मनकी मायामें इन दोनोंकी कल्पना करते हो।

अतिमानस केवल अध्यात्मभावापन्न मनसे ही नहीं, बल्कि इसके और अतिमानसलोकके मध्य अवस्थित इसके ऊपरके लोकोंसे भी

पूर्णतः भिन्न चेतना है। एक बार जब कोई अधिमानससे परे अतिमानसमें चला जाता है तो वह एक ऐसी चेतनामें प्रवेश कर जाता है जिसमें अन्य लोकोंके मानदंड लागू नहीं होते और जिसमें वही सत्य अर्थात् सच्चिदानंद तथा इस विश्वका सत्य एकदम अलग रूपमें दिखायी देता है और उसका एक अलग ही क्रियात्मक परिणाम होता है। यह परिणाम आवश्यक रूपसे इस तथ्यसे उत्पन्न होता है कि अतिमानसमें एक अविभाज्य ज्ञान है, जब कि अधिमानस विभाजनमें प्राप्त एकत्वके द्वारा अग्रसर होता है और मन विभाजनको ही प्रथम सत्य मानकर विभाजनके द्वारा आगे बढ़ता है, क्योंकि वही उसके ज्ञानकी स्वाभाविक प्रक्रिया है।

सभी लोकोंमें सच्चिदानंदका, शुद्ध सत्, चित्, आनंदका मूल अनुभव एक-जैसा ही होता है और मन बहुधा उसीको एकमात्र सत्य मानकर संतुष्ट हो जाता है और अन्य सभी चीजोंको विराट् मायाका अंग कहकर रद्द कर देता है, परंतु भगवान्का या विश्व-सृष्टिका (जैसे, एक और बहु, व्यक्तिक और निर्व्यक्तिक, अनंत और सांत आदि-आदि) एक क्रियात्मक अनुभव भी है जो पूर्ण ज्ञानके लिये अत्यावश्यक है। क्रियात्मक अनुभव उच्चतर लोकोंकी तरह, मध्यवर्ती आध्यात्मिक स्तरों और अतिमानसिक लोककी तरह निम्नतर लोकोंमें एक जैसा नहीं होता। इन लोकोंमें विरोधोंको बस एक साथ रख दिया जा सकता और सुसमन्वित कर दिया जा सकता है, पर अतिमानसमें वे एक साथ घुलमिल जाते हैं और अविभेद्य रूपसे एक बन जाते हैं; इससे एक बहुत बड़ा अंतर आ जाता है।

विश्व सक्रियता, गतिशीलता है—सच्चिदानंदका मूल अनुभव सक्रियता और गतिशीलतासे भिन्न अचलता, स्थाणुत्व है। सच्चिदानंद और विश्वका पूरा सक्रिय सत्य और उसका परिणाम अतिमानसकी अपेक्षा अन्य किसी चेतनाकी पकड़में नहीं आ सकता, क्योंकि अन्य सभी (निम्नतर) लोकोंमें (ज्ञानका) साधन निम्नकोटिका है और इसलिये वहाँ स्थाणुत्वकी अनुभूतिकी परिपूर्णता और सक्रिय शक्ति, ज्ञान, निम्नतर ज्योतिके परिणाम तथा अन्य लोकोंकी शक्तिकी अपूर्णताके मध्य एक भेद है। यही कारण है कि दूसरे आध्यात्मिक लोकोंकी चेतना, यदि वह अवतरित भी हो, पार्थिव चेतनामें कोई मौलिक परिवर्तन नहीं ला सकती, वह महज उसे थोड़ा संशोधित

कर सकती तथा समृद्ध बना सकती है। मौलिक रूपांतर ले आनेके लिये अतिमानसिक शक्ति और प्रकृतिके अवतरणकी आवश्यकता होती है।

सच्चिदानंदकी दो श्रेणियोंकी बात नहीं कही जा सकती, क्योंकि सच्चिदानंद सर्वदा एक ही चीज है—पर सच्चिदानंदका ज्ञान और विश्वका ज्ञान अनुभव करनेवाली चेतनाकी मात्राके अनुसार बदलते रहते हैं।

भगवान्‌की साकार अनुभूति कभी-कभी आकारके साथ और कभी-कभी आकारके बिना भी हो सकती है। बिना आकार होनेपर, वह साक्षात् दिव्य पुरुषकी उपस्थिति होती है जो प्रत्येक वस्तुमें अनुभूत होती है। आकार होनेपर, वह एकमेवकी मूर्तिके साथ आती है जिसे पूजा अर्पित की जाती है। भगवान् सदा ही अपने भक्त या जिज्ञासुके सामने एक आकारमें प्रकट हो सकते हैं। मनुष्य जिस आकारमें उनकी पूजा करता है या उन्हें खोजता है उस आकारमें उन्हें देखता है, अथवा उन भागवत व्यक्तिके उपयुक्त आकारमें देखता है जो पूजाके विषय होते हैं। आकार कैसे अभिव्यक्त होता है—यह निर्भर करता है बहुतसी चीजोंपर और ये इतने विभिन्न प्रकारकी हैं कि इनके लिये कोई एक ही नियम नहीं बताया जा सकता। कभी-कभी उस उपस्थितिको आकारके साथ हृदयमें देखा जाता है, कभी-कभी किसी अन्य चक्रमें, कभी-कभी उसे ऊपर देखा जाता है जहांसे वह मार्गदर्शन करती है, कभी-कभी बाहर और सामने दिखायी देती है मानो कोई मूर्तिमान् व्यक्ति हो। इसके लाभ ये हैं कि मनुष्य एक घनिष्ठ संबंध और सतत मार्गदर्शन अनुभव करता है अथवा, यदि वह भीतर अनुभूत हो या दिखायी दे तो, सतत उपस्थितिका एक बहुत प्रबल और ठोस अनुभव प्राप्त होता है। परंतु मनुष्यको अपनी पूजा और खोजकी पवित्रताके विषयमें बहुत असंदिग्ध होना चाहिये—क्योंकि इस प्रकारके मूर्तिमान् संबंधकी असुविधा यह है कि दूसरी शक्तियां उस आकारका अनुकरण कर सकती हैं और वाणी और पथप्रदर्शनमें जालसाजी कर सकती हैं और यदि यह चीज किसी निर्मित मूर्तिके साथ, जो सच्ची चीज नहीं होती, संयुक्त हो जाय तो इसे और भी अधिक शक्ति प्राप्त हो जाती है। बहुतसे लोग इस प्रकार पथभ्रष्ट हो चुके हैं, क्योंकि दंभ, मिथ्याहंकार या कामना

उनमें प्रबल थी और उसने उनके सूक्ष्मतर चैत्य-बोधको निगल लिया जो कि मानसिक नहीं होता और तुरत ऐसी पथभ्रष्टताओं या भूलोंके ऊपर श्रीमांकी ज्योति डाल सकता है।

⊙

१. 'विश्वातीत सद्वस्तुसे' मेरा मतलब है परात्पर सच्चिदानंद जो इस अभिव्यक्ति और समस्त अभिव्यक्तियोंसे ऊपर है, इनमेंसे किसीसे भी बद्ध नहीं है, फिर भी जिससे सभी अभिव्यक्तियां अभिव्यक्त होतीं और समस्त विश्व उत्पन्न होते हैं।

२. 'अतिमानसिक' और 'विश्वातीत' एक ही चीज नहीं हैं। यदि ऐसी बात होती तो फिर कोई अतिमानसिक जगत् नहीं होता और न इस पार्थिव जगत्में अतिमानसिक तत्त्वका अवतरण ही होता—हमें फिर इस भावनापर वापस आ जाना होगा कि दिव्य सत्य और सद्वस्तु इस जगत्से परे ही हो सकते हैं और यह विश्व—कोई भी विश्व—केवल अर्द्ध-सत्यका या अज्ञानकी माया ही हो सकता है।

३. अतिमानसिकसे मेरा मतलब है सत्य-चेतना, चाहे वह विश्वसे अतीत हो या विश्वमें हो, जिससे भगवान् केवल अपने ही मूल तत्त्व और सत्ताको नहीं जानते वल्कि अपनी अभिव्यक्तिको भी जानते हैं। उसकी प्रमुख विशेषता है तादात्म्यके द्वारा ज्ञान प्राप्त करना, उसके द्वारा आत्माका ज्ञान प्राप्त होता है, भगवान् सच्चिदानंदका ज्ञान प्राप्त होता है, परंतु अभिव्यक्तिका भी ज्ञान प्राप्त होता है, क्योंकि यह भी 'वही' (तत्) है—सर्वं खल्विदं ब्रह्म, वासुदेवः सर्वम्। मन अज्ञानका यंत्र है और जाननेका प्रयास करता है—अतिमानस ज्ञाता है, ज्ञानको अधिकृत करता है, क्योंकि वह अपने तथा ज्ञात वस्तुके साथ एक है, इसलिये वह अपने निजी सत्यके प्रकाशमें तथा ज्ञात वस्तुओंके आत्मस्वरूपके प्रकाशमें जो कि वह स्वयं है, सभी वस्तुओंको देखता है। वह एक क्रियात्मिका शक्ति है न कि केवल स्थाणु शक्ति, केवल एक ज्ञान ही नहीं है वल्कि ज्ञानानुकूल एक संकल्पशक्ति भी है—एक अतिमानसिक शक्ति है जो सीधे ज्योति और शक्तिके अपने जगत्को अभिव्यक्त कर सकती है जिसमें समस्त वस्तुएं एकमेवके सामंजस्य और एकत्वपर ज्योतित रूपमें स्थापित हो सकती हैं और अज्ञानके किसी पर्दे या किसी छद्मवेशसे वाधाप्राप्त नहीं हो सकतीं।

अतएव अतिमानस समस्त संभव अभिव्यक्तिको अतिक्रांत नहीं करता, वल्कि यह मन, प्राण और जड़तत्त्वके त्रिविध जगत्‌से, जिस रूपमें हम इस अभिव्यक्तिको वर्तमान समयमें अनुभव करते है उससे ऊपर है।

४. अधिमानस एक प्रकारका अतिमानसका प्रतिनिधि है (यह एक प्रकारका केवल रूपक है), जो वर्तमान विकसनशील विश्वको, जिसमें कि हम यहां जड़-जगत्‌के अंदर रहते है, धारण करता है। यदि विलकुल आरंभसे एक प्रत्यक्ष सृजनात्मिका शक्तिके रूपमें अतिमानस यहां आरंभ करता तो जिस प्रकारका जगत् हम अभी देखते हैं उसका होना असंभव होता; तब यह जगत् आरंभसे ही ज्योतिसे परिपूर्ण होता, जड़-तत्त्वकी निश्चेतनामें चेतनाका क्रमनिवर्तन नहीं हुआ होता और इसलिये जड़तत्त्वमेंसे चेतनाका क्रमशः संघर्षशील क्रमविकास भी नहीं हुआ होता। अतएव चेतनाके विश्वके उच्चतर अर्ध-भाग, **परार्ध,** तथा निम्नतर अर्ध-भाग, **अपरार्ध,** के बीच एक रेखा खींच दी गयी है। परार्धका निर्माण सत्, चित्, आनंद और महस् (अतिमानस) से हुआ है—अपरार्धका मन, प्राण और जड़-तत्त्वसे हुआ है। यह बीचकी रेखा मध्यवर्ती अधिमानस है, जो स्वयं ज्योतिर्मय होनेपर भी, पूर्ण, अखंड अतिमानसिक ज्योतिको हमसे दूर रखता है; वह स्वयं निश्चय ही अतिमानसपर निर्भर करता है पर इसे ग्रहण करते समय इसे पृथक्-पृथक् भावों, शक्तियों, सभी प्रकारके बहुत्वोंमें विभक्त, वितरित और भंग कर देता है। फिर चेतनामें और भी अधिक ह्रास या न्यूनता आनेपर, जैसे मनमें पहुंचनेपर, इस तरह निरीक्षण करना संभव हो जाता है कि उन भावों, शक्तियों, बहुत्वों आदिमेंसे प्रत्येक एकमात्र या प्रमुख सत्य है और बाकी सब गौण या उसके विरोधी सत्य हैं। अधिमानसकी इस क्रियाके लिये उपनिषद्‌का यह वाक्य प्रयुक्त हो सकता है कि "सत्यका मुंह एक सुनहले ढक्कनसे छिपा हुआ है—**हिरण्मयेन पात्रेण सत्यस्यापिहितं मुखं,** अथवा वेदका यह वचन प्रयुक्त हो सकता है—**ऋतेन ऋतम् अपिहितम्।** यहां एक प्रकारकी विद्या-अविद्यामयी मायाकी क्रिया है जो अविद्याका प्रमुख होना संभव बनाती है। इसी आदि विभेदात्मक तत्त्वके कारण मन निर्व्यक्तिकको परम सत्यके रूपमें देखने लगता है और सव्यक्तिकको महज एक छद्मरूप समझता है, अथवा, साकार भगवान्‌को उच्चतम सत्य मानने लगता है और

निराकारत्वको महज एक भाव मानता है। फिर इसी कारण सब प्रकारके परस्पर-विरोधी दर्शन और धर्म उत्पन्न होते हैं; उनमेसे प्रत्येक मानव-मनके सम्मुख उपस्थित सत्यके किसी एक पक्ष या प्रच्छन्न शक्तिको वस्तुओंका पूरा और पर्याप्त वर्णन मानता है अथवा, भगवान्‌की किसी एक देवशक्तिको अन्य सबसे ऊपर सच्चा ईश्वर मानता है जिसके समान ऊंचा या जिससे अधिक ऊंचा दूसरा कोई अथवा कोई भी नही हो सकता। यह विभेदात्मक तत्त्व मनुष्यके मानसिक ज्ञानका सर्वत्र पीछा करता है और जब वह सोचता है कि वह अंतिम एकत्वपर पहुंच गया है तब भी वह उसका एक गढ़ा हुआ एकत्व होता है, वह किसी एक ही पक्षपर आधारित होता है। बस, इसी तरह वैज्ञानिक भी वस्तुओंके किसी आदि भौतिक पक्षपर, ऊर्जा या जड़तत्त्व, विद्युत् या आकाश-तत्त्वपर अपने ज्ञानका एकत्व स्थापित करनेकी चेष्टा करते है अथवा मायावादी यह समझता है कि वह जगत्-सत्ताको दो भागोंमें काटकर उच्चतर पक्षको ब्रह्म और निम्नतर पक्षको माया नाम देकर पूर्ण अद्वैतपर पहुँच गया है। यही कारण है कि मानसिक ज्ञान किसी वस्तुके अंतिम समाधानपर कभी नही पहुंच सकता, क्योंकि अधिमानसद्वारा विभक्त और वितरित सत्ताके असंख्य रूप और भाव है और मनुष्य चिरकाल दर्शनों और धर्मोंकी संख्या बढ़ाता जा सकता है।

स्वयं अधिमानसमें यह गड़बड़ी नही है क्योंकि अधिमानस 'एकमेव' को सभी वस्तुओंके अवलंब, मूलतत्त्व, मौलिक शक्तिके रूपमे जानता है, पर अपनी स्वभावगत क्रियात्मक क्रीड़ामे वह बहुत्वकी विभाजनकारी शक्तिपर बल प्रदान करता तथा प्रत्येक शक्ति या स्वरूपको अभिव्यक्त होनेका पूरा अवसर प्रदान करनेका प्रयत्न करता है; पर साथ ही किसी भी असामंजस्य या विरोधको रोकनेके लिये अंतर्निहित एकत्वपर निर्भर करता है। प्रत्येक देवता मानो अपना निजी जगत् उत्पन्न करता है, पर दूसरोके साथ कोई संघर्ष नही करता; वस्तुओंका प्रत्येक पहलू, प्रत्येक भावना, प्रत्येक शक्ति अपने पूरे पृथक् बल-पराक्रम या दीप्तिके साथ अनुभूत हो सकती है और अपने मूल्य-महत्त्वको क्रियान्वित कर सकती है, पर इससे कोई बेमेलपन उत्पन्न नही होता, क्योंकि अधिमानसमे अनंतका ज्ञान है और यथार्थ (देश-कालगत नहीं) अनंततामे बहुतसी समस्वर अनंतताओंका

होना संभव है। परंतु अधिमानसकी इस विशिष्ट संरक्षण-शक्तिको चेतनाके उन निम्नतर स्तरोंमें नहीं संचरित किया जा सकता जिन्हें अधिमानस धारण करता और नियमित करता है, क्योंकि जैसे-जैसे क्रमधारामें नीचे उतरा जाता है वैसे-वैसे विभाजन और बहुत्वपर जोर बढ़ता जाता है और मनमें आकर अंतर्निहित एकत्व अस्पष्ट, अव्यक्त, अनिर्दिष्ट और अनिर्देश्य बन जाता है और एकमात्र आपात-दृश्य ठोसपन जो रह जाता है वह गोचर वस्तुओंका होता है जो अपने स्वरूपमें आकार और चित्रण होते हैं—उस समय एकमेवकी आत्मदृष्टि एकदम विलीन होना आरंभ कर चुकी होती है। मन चित्रण और रचनाओंके द्वारा, पृथकीकरणद्वारा तथा अपनी निर्मित सामग्रियोंको एकत्र बुनकर कार्य करता है; वह एक सुसमंजस रचना कर सकता है और उसे 'पूर्ण' के रूपमें देख सकता है, पर जब वह वस्तुओंके सत्यके खोज करता है तो वह अमूर्त्त भावनाओंकी शरण लेता है—उसे वह ठोस दर्शन, अनुभव, संपर्क प्राप्त नहीं होता जिसे रहस्यवादी और आध्यात्मिक साधक खोजते हैं। आत्मा और सद्वस्तुको प्रत्यक्ष रूपमें या यथार्थ रूपमें जाननेके लिये मनको निश्चल-नीरव हो जाना और इन वस्तुओंको थोड़ी ज्योतिको प्रतिबिंबित करना होता है अथवा अपनेको अतिक्रम कर जाना और रूपांतरित कर देना होता है, और यह महज संभव होता है या तो किसी उच्चतर ज्योतिके इसमें उतर आनेपर या इसके उसमें ऊपर उठ जानेपर, सत्ताकी किसी उच्चतर ज्योतिमें उसे उठा लेनेपर या उसके उसमें गर्क हो जानेपर। मनसे और नीचे उतरनेपर, जड़तत्त्वमें हम भंजन और विभाजनकी चरम सीमापर पहुंच जाते हैं; एकमेव, यद्यपि गुप्त रूपसे वहां होता है, ज्ञानकी दृष्टिमें खो जाता है और हम अज्ञानकी पूर्णावस्थाको, यहांतक कि मौलिक निश्चेतनाको पाते हैं जिसमेंसे विश्वको चेतना और ज्ञानका विकास करना है।

५. यदि हम वैकुंठ या गोलोक प्रत्येकको भगवान्‌का, विष्णु या कृष्णका लोक मानें तो हममें स्वभावतः ही अधिमानस-लोकमें उसका स्थान या मूल खोजनेकी प्रवृत्ति होगी। अधिमानस देवताओंके उच्च-तम लोकोंका स्तर है। परंतु वैकुंठ और गोलोक मनुष्योंद्वारा कल्पित सत्ताकी वे स्थितियां हैं जो मानवताके परे हैं। गोलोक स्पष्ट ही आध्यात्मिक ज्योतियोंसे पूर्ण (गाय आध्यात्मिक ज्योतिकी प्रतीक है)

प्रेम, सौंदर्य और आनंदका एक धाम है जिसके रक्षक और धारणकर्त्ता मानव-जीव—गोप और गोपियां—हैं। इस अभिव्यक्तिके लिये कोई एक स्थान निश्चित करना आवश्यक नहीं है। सच पूछा जाय तो इसका या इसकी अवस्थाओंका प्रतिफलन या प्राप्ति चेतनाके किसी भी स्तरपर—मानसिक, प्राणिक, या यहांतक कि सूक्ष्म-भौतिक स्तरपर—हो सकती है। इसलिये इसकी जो व्याख्या तुमने लिखी है वह असंभव नहीं है बल्कि बिलकुल युक्तिसंगत है।

६. निर्वाणको एक लोक या स्तरके रूपमें स्थापित करना संभव नहीं क्योंकि निर्वाणका दबाव तो जगत् तथा जागतिक मूल्योंसे पृथक् हट जानेके लिये होता है; इसलिये यह चेतनाकी या यों कहें कि अतिचेतनाकी एक स्थिति है जिसका कोई स्थान या स्तर नहीं है। फिर एकसे कहीं अधिक प्रकारके निर्वाण (विलोप या लय) का होना भी संभव है। मनुष्य शरीरस्थ मनोमय पुरुष होनेके कारण अध्यात्म-भावापन्न मनके द्वारा विश्वसे अलग होनेका यह प्रयास करता है, वह अन्यथा कर भी नहीं सकता और यही प्रयास उसे लय या निर्वाणका आभास देता है; क्योंकि मन तथा उसपर निर्भर सभी वस्तुओंका, जिनमें पृथकात्मक अहं भी शामिल है, किसी परेकी दिव्य वस्तुमें लय हो जाना ऐसे पृथक् हट जानेका स्वाभाविक, लगभग अनिवार्य पथ है। जो इससे अधिक भावात्मक है और परात्परताको खोजता है पर विश्वसे पृथक् नहीं होना चाहता, उसके लिये ऐसा होना अनिवार्य नहीं है, क्योंकि उसमें मनोमय पुरुषके आत्म-अतिक्रमण या रूपांतरके पथका निर्देश पहलेसे ही विद्यमान रहेगा। परंतु यह भी संभव है कि मनुष्य निर्वाणकी किसी विशेष अनुभूतिके द्वारा, मनकी किसी पूर्ण निश्चल-नीरवता तथा कार्यों, रचनाओं, चित्रणोंकी निवृत्तिके द्वारा भी वहां पहुंच जाय और यह सब इतना पूर्ण हो सकता है कि न केवल नीरव मनको बल्कि निष्क्रिय इन्द्रियोंको भी समूचा संसार अपने ठोसपन और सत्यतासे खाली प्रतीत हो सकता है और सभी वस्तुएं ऐसी प्रतीत हो सकती है कि वे केवल सारहीन आकार हों और उनमें कोई सच्चा निवास न हो अथवा वे किसी ऐसी 'वस्तु'में तैर रही हों जो नामरहित अनंत है: यह अनंत ही अथवा उससे भी परेकी कोई वस्तु वह 'तत्' है जो एकमात्र सत्य है; कोई पूर्ण अचंचलता, शांति, मुक्ति ही अंतिम स्थिति हो सकती है। कर्म जारी रह सकता है, पर नीरव

मुक्त चेतना न तो उसे प्रारंभ करेगी और न उसमें भाग लेगी; एक नामरहित शक्ति तवतक सव कुछ करती रहेगी जवतक कि ऊपरसे अवतरण होना आरंभ नहीं हो जाता जो चेतनाको रूपांतरित कर देगा, अपनी नीरवता और मुक्तिको एक ज्योतिर्मय ज्ञान, कर्म और आनंदका आधार वना देगा। पर इस प्रकार वहुत कम ही होगा; सामान्यतया मनकी निश्चल-नीरवता, चेतनाकी मुक्ति तथा मनके अपूर्ण चित्रणों या रचनाओं के अंतिम-मूल्य या सत्यमें जो चेतनाका विश्वास है उसका परित्याग उच्चतर क्रियाके संभव होनेके लिये पर्याप्त होगा।

७. अव विश्व-चेतना और निर्वाणके विषयको लें। विश्व-चेतना एक जटिल वस्तु है। प्रथमतः, इसके दो पक्ष हैं, आत्माका अनुभव जो मुक्त, अनंत, नीरव, निष्क्रिय, सवमें एक और सवसे परे है तथा वैश्व शक्ति एवं उसकी क्रियाशक्तियों, क्रियाओं और रचनाओंका प्रत्यक्ष अनुभव, यह अंतिम अनुभव तवतक पूर्ण नहीं होता जवतक कि मनुष्यको यह वोध नहीं हो जाता कि वह विश्वके साथ समतुल्य वन गया है अथवा उसमें परिव्याप्त हो गया है, उसे अतिक्रम कर गया है और उसे धारण कर रहा है। जवतक ऐसा नहीं हो जाता तवतक वैश्व शक्तियों, सत्ताओं और गतियोंके साथ प्रत्यक्ष संसर्ग, संपर्क और आदान-प्रदान तो हो सकता है पर वैश्व मनके साथ मनकी, वैश्व प्राणके साथ प्राणकी और वैश्व भौतिक शक्ति और उसके उपादानके साथ शरीर और शारीर चेतनाकी पूर्ण एकता नहीं प्राप्त हो सकती। फिर विश्वव्यापी आत्माकी उपलब्धि हो सकती है पर उसके फलस्वरूप विश्वके साथ सक्रिय एकत्व नहीं भी प्राप्त हो सकता। अथवा, इसके विपरीत, सर्वत्र सर्वव्यापी मुक्त स्थाणु आत्माकी उपलब्धि हुए विना चेतनाको एक प्रकारकी सक्रिय विश्वव्यापकताका अनुभव हो सकता है,—और इस तरह जिन महत्तर ऊर्जाओंका अनुभव मनुष्यको होगा उनमें संलग्न हो जाने और उनका सुख उपभोग करनेके कारण मुक्तिका मार्ग अवरुद्ध हो जायगा। फिर विश्वके साथ तादात्म्य या विश्वभावापन्न होनेका अनुभव एक स्तर या लोकमें अन्य स्तर या लोककी अपेक्षा अधिक, प्रमुखतया मानसिक अथवा प्रमुखतया भावात्मक (विश्वव्यापी सहानुभूति या प्रेमके द्वारा) अथवा अन्य प्रकारके प्राणिक (विश्वव्यापी प्राण-शक्तियोंकी अनुभूति) अथवा भौतिक लोक या स्तरमें, हो सकता है। पर, चाहे जहां

भी हो, पूर्ण रूपमें अनुभव और उपलब्धि प्राप्त होनेपर भी, यह स्पष्ट रहना चाहिये कि यह वैश्व क्रीड़ा कुछ ऐसी ही चीज होगी जिसे अंतमें मनुष्य उसके अपने स्वभावसे ही सीमित, अज्ञानमय और अपूर्ण अनुभव करेगा। मुक्त आत्मा इससे अस्पृष्ट रहता हुआ तथा इसकी अपूर्णताओं एवं उलटफेरोंसे अविचलित रहकर इसे देख सकता, किसी निर्धारित कार्यको कर सकता, सबको सहायता देनेकी चेष्टा कर सकता अथवा भगवान्‌का यंत्र बन सकता है, पर न तो वह कर्म और न उसका यंत्र बनना ही पूर्णत्व जैसी या यहांतक कि भगवान्‌की पूर्ण ज्योति, शक्ति और आनंद-जैसी कोई चीज हो सकता है। इसे केवल तभी प्राप्त किया जा सकता है जबकि मनुष्य वैश्व सत्ताके उच्चतर लोकोंमें आरोहण कर जाय या उन लोकोंसे मानव-चेतनामें अवतरण हो—और, यदि इस बातकी परिकल्पना न की जाय या इसे स्वीकार न किया जाय तो निर्वाणकी ओर जानेका प्रवेग जगत्‌से दूर भागनेका एक पथ ही बना रहेगा। दूसरा पथ होगा मृत्युके बाद इन उच्चतर लोकोंमें आरोहण—विभिन्न धर्मोंके स्वर्गोंका इसके सिवा और कोई अर्थ नहीं कि वे एक महत्तर, ज्योतिर्मय, आनंदमय दिव्य जीवनकी ओर जानेका ऐसा ही एक प्रवेग है।

परंतु, यहां यह पूछा जा सकता है कि, यदि उच्चतर लोक या यदि स्वयं अधिमानसलोक उनकी समस्त शक्ति, ज्योति, स्वतंत्रता और विशालताके साथ उनकी चेतनाको अभिव्यक्त करे और ये सब चीजें यहां किसी व्यक्तिगत चेतनामें अवतरित हों तो क्या वह विश्वके प्रत्याख्यान अथवा निर्वाणकी ओर जानेकी प्रवृत्ति और किसी भागवत परात्परताकी ओर जानेकी लगन दोनोंको अनावश्यक नहीं बना देगा? परंतु परिणामस्वरूप भले ही मनुष्य समस्त विश्वको अपने अंदर समा लेनेवाली एक ज्योतिर्मय विशाल मुक्तचेतनाके अंदर प्राप्त भगवान्‌के साथ एकत्वकी स्थितिमें निवास कर सके और महान् शक्तियों या सृष्टियोंकी—चाहे वे आध्यात्मिक हों या बाह्य—एक प्रणाली बन सके, फिर भी यहां यह जगत् मूलतः वैसे का वैसा ही बना रहेगा—अंतरस्थ आत्मा तथा जिसपर उसने कार्य किया था, उसके उस माध्यम और उपादानके बीच, आंतरिक चेतना और जिसमें वह कार्य कर रही है उस जगत्‌के बीच विभेदकी एक खाई बनी रहेगी। आंतरिक आत्मनिष्ठ, व्यक्तिगत उपलब्धि पूर्ण हो सकती है, परंतु

सक्रिय परिणाम अपर्याप्त, विपरीत, एक प्रकारका मिश्रण होगा, आंतर और बाह्यका पूर्ण समन्वय नहीं होगा, यहां जीवनका एक नवीन सर्वांगपूर्ण छंद नहीं होगा जिसे सचमुच दिव्य कहा जा सके। एकमात्र अतिमानसिक जैसी कोई चेतना ही, जो निरपेक्ष और अपने मूलके साथ पूर्ण एकत्व रखती हो, एक सत्य-चैतन्य हो जो अपने निजी स्वतंत्र निश्चयोंकी सृष्टि करनेकी शक्ति रखती हो, निम्नतर गोलार्धकी इस निम्नतम भूमिकामें उच्चतर गोलार्धकी किसी पूर्ण समस्वरता और लय-छंदको स्थापित करनेमें समर्थ होगी। आया वह ऐसा करनेवाली है या नहीं यह क्रमविकसनशील जीवनके अभिप्रायपर निर्भर करता है; यह इस बातपर निर्भर करता है कि क्या वह जीवन अपने स्वभावमें ही कोई अपूर्ण वस्तु है और इसका विफल होना सुनिश्चित है—जिस स्थितिमें या तो किसी प्रकारके निर्वाणके द्वारा परात्परताकी ओर जानेके एक निषेधात्मक मार्गसे अथवा परात्परताकी ओर जानेके एक स्वीकारात्मक मार्गसे, संभवतः अधिमानसके चमकते आवरणको, हिरण्मय पात्रको, भंग करके वहां चला जाना जो इसके ऊपर है, इस अर्थहीन विश्वसे बाहर निकल जानेवाले आत्माकी अंतिम परिणति होगा; अवश्य ही जबतक कि अमिताभ बौद्धकी तरह कोई करुणाके द्वारा अथवा अंतरस्थ भागवत संकल्पके द्वारा उन लोगोंको जो यहां अभी भी अज्ञानके अंधकारमें हैं, ज्योतिकी ओर ऊपर जानेके संघर्षमें सहायता देने और उस संघर्षमें हिस्सा बंटानेके लिये रोक न लिया जाय। इसके विपरीत, यदि यह जगत् आध्यात्मिक क्रमनिवर्तन और क्रमविवर्तनकी एक लीला है जिसमें उच्चतम शक्तितक एकके बाद दूसरी शक्तिको प्रकट होना है जैसे कि अबतक जड़तत्त्व, प्राण और मन एक आपातदृष्ट अनिर्दिष्ट निश्चेतनामेंसे प्रकट हो चुके हैं, तो फिर दूसरी परिणति भी संभव है।

निर्वाणकी ओर जानेके प्रयासके पीछे दो प्रेरक-भाव हैं। एक तो है इस जगत्‌की अपूर्णता, शोक, मृत्यु और यंत्रणाका बोध—बुद्धकी आदि प्रेरक शक्ति। परंतु इन क्लेशोंसे छुटकारा पानेके लिये निर्वाणकी आवश्यकता नहीं भी हो सकती, यदि ऐसे उच्चतर जगत् हों जहां मनुष्य पहुंच सके और जहां इस प्रकारकी कोई अपूर्णता, शोक, मृत्यु या यंत्रणा न हो। परंतु छुटकारेकी इस दूसरी संभावनाके विरुद्ध खड़ी होती है यह भावना कि ये उच्चतर जगत् भी क्षणिक और

अज्ञानके अंग हैं, मनुष्यको सदा ही यहां वापस आते रहना होगा जबतक कि वह अज्ञानको नहीं जीत लेता और यथार्थ सत्य और वैश्व जीवन सत्य और मिथ्या हैं, एक-दूसरेके विपरीत हैं, परस्पर असंगत हैं। इससे उत्पन्न होती है दूसरी प्रेरक-शक्ति—परात्परताकी ओर जानेकी पुकारकी शक्ति। यदि परात्पर केवल विश्वातीत ही नहीं बल्कि एक दूरस्थ अव्यवहार्यम् हैं जिसे मनुष्य यहां जो कुछ है उस सबका प्रत्याख्यान किये विना अन्यथा नहीं प्राप्त कर सकता तो किसी प्रकारका निर्वाण, यहांतक कि नितांत निर्वाण ही अनिवार्य है। दूसरी ओर, यदि भगवान् परात्पर हों पर अव्यवहार्यम् न हों तो पुकार फिर भी बनी रहेगी और जीव परात्पर जीवनके महानंदको पानेके लिये इस रंग-बिरंगे विश्व-जीवनको छोड़ देगा, परंतु कोई विशुद्ध निर्वाण अपरिहार्य नहीं होगा; उस दशामें साधकके सामने भगवान्‌के साथ आनंदपूर्ण एकत्वकी प्राप्ति मार्गके रूपमें उपस्थित होती है। यही कारण है कि विश्व-चेतना पर्याप्त नहीं है और उससे दूर जानेका प्रयत्न इतना प्रबल है,—यदि अधिमानसका स्वर्णमय ढक्कन अतिक्रांत और उद्घाटित हो जाय और अतिमानसके साथ सक्रिय संपर्क और यहां उसकी ज्योति तथा शक्तिका अवतरण अभीप्सित हो तो फिर बात इससे भिन्न प्रकारकी हो सकती है।



भगवान् चेतनाके सभी लोकोंमें सर्वत्र विद्यमान हैं और हम उन्हें विभिन्न ढंगसे तथा उनकी सत्ताके विभिन्न भावोंमें देखते हैं। परंतु एक परात्पर तत्त्व है जो इन सभी लोकों और ढंगों और भावोंसे ऊपर है और उसीसे वे सब आते हैं।



भगवान् चेतनाके सभी स्तरोंमें, गुप्त या अर्ध-प्रकाशित या प्रकाशित होते हुए, सर्वत्र विद्यमान हो सकते हैं और होते हैं; अतिमानसिक लोकमें वह छद्मवेश या पर्देके विना अपने निजी स्वरूपमें अभिव्यक्त होना प्रारंभ करते हैं।



मैं नहीं समझता कि आध्यात्मिक और गुह्य ज्ञानकी दो धाराओंके

बीचके ठीक-ठीक पारस्परिक संबंधको सर्वदा ढूंढ़ निकाला जा सकता है। ये सभी धाराएं एक ही वस्तुसे सरोकार रखती हैं, परंतु उनके आधारबिंदुमें, दृष्टि-क्षेत्रमें विभेद होता है, जो कुछ दृष्ट और अनुभूत होता है उनसे तथा विभिन्न व्यावहारिक उद्देश्योंसे संबंधित मानसिक विचारोंमें विभिन्नता होती है और इसलिये जिन पथोंकी वे जांच-पड़ताल करतीं, जिन्हें काटती-छांटती या जिनका अनुसरण करती हैं उनमें भी अंतर होता है; पद्धतियां भिन्न होती हैं, प्रत्येक अपनी निजी योजना और तकनीक तैयार करती है।

प्राचीन भारतीय परंपरामें केवल एक ही त्रैत परात्पर तत्त्व है और वह है सच्चिदानंद। अथवा, तुम यदि उच्चतर गोलार्धको परात्पर तत्त्व कहो तो वहां तीन लोक हैं: सत्-लोक, चित्-लोक और आनंद-लोक। अतिमानसको वहां चौथे लोकके रूपमें जोड़ा जा सकता है, क्योंक यह अन्य तीनोंसे निकलता है और उच्चतर गोलार्धसे संबंध रखता है। भारतीय परंपराने दो बिलकुल भिन्न शक्तियों और चेतनाके स्तरोंके बीच कोई भेद नहीं किया, एक तो वह है जिसे हम अधिमानस कहते हैं और दूसरा वह है जो यथार्थ अतिमानस या दिव्य विज्ञान है। और यही कारण है कि वे माया (अधिमानस-शक्ति या विद्या-अविद्या) के विषयमें विभ्रांत हो गये, और उसे ही उन्होंने चरम सृजनात्मिका शक्ति मान लिया। इस तरह अर्ध-प्रकाशमें ही आकर ठहर जानेके कारण उन्होंने रूपांतरका रहस्य खो दिया—यद्यपि वैष्णव और तांत्रिक योगोंने उसे फिरसे पानेकी अंधवत् चेष्टा की और कभी-कभी वे सफलताकी सीमापर भी पहुंच गये थे। बाकीके लिये, मैं समझता हूं कि यही बात सक्रिय दिव्य सत्यकी खोज करनेके प्रयासमें सबसे बड़ी बाधा रही है; मैं ऐसे किसीको नहीं जानता जिसने अधिमानस-ज्योतिके अवतरित होते ही ऐसा न अनुभव किया हो कि बस यही सत्य-प्रकाश, विज्ञान-चेतना है और इसके फलस्वरूप या तो वे वहीं बीचमें रुक गये और आगे न जा सके अथवा उन्होंने यह सिद्धांत बना लिया कि यह भी महज माया या लीला है और एकमात्र करणीय कार्य है इससे परे परात्परकी किसी अचल-अटल तथा निष्क्रिय निश्चल-नीरवतामें चला जाना।

संभवतः परात्पर तत्त्वोंसे मतलब वर्तमान अभिव्यक्तिके तीन मौलिक तत्त्व भी हो सकता है। भारतीय पद्धतिमें ये है ईश्वर,

शक्ति और जीव, अथवा सच्चिदानद, माया और जीव। परंतु हमारी पद्धतिमें, जो कि वर्तमान अभिव्यक्तिसे परे जानेका प्रयास करती है, इन्हें अच्छी तरह स्वीकार किया जा सकता है, और चेतनाके स्तरोंकी दृष्टिसे देखा जाय तो तीन उच्चतम—आनंद (जिसपर सत् और चित् आधारित हैं), अतिमानस और अधिमानसको तीन परात्पर तत्त्व या लोक कहा जा सकता है। अधिमानस निम्नतर गोलार्धकी चोटीपर अवस्थित है, और यदि तुम अतिमानसतक जाना चाहो तो तुम्हें अधिमानससे होकर और उसके परे जाना होगा। अतिमानससे और भी ऊपर और उसके परे हैं सच्चिदानंदके लोक।

तुम अधिमानससे नीचे एक खाईकी बात कहते हो। परंतु क्या वहां कोई खाई है—अथवा मानवीय अचेतनाके सिवा और कोई खाई है? चेतनाके लोकों या स्तरोंकी संपूर्ण श्रेणीमें कहीं कोई सच्ची खाई नहीं है, सर्वत्र ही संयोजक स्तर मिलते हैं और तुम एक-एक पग ऊपर आरोहण कर सकते हो। अधिमानस और मानव-मनके बीच कितने ही अधिकाधिक ज्योतिर्मय स्तर हैं; परंतु, चूंकि ये मानव-मनके लिये अतिचेतन हैं (निम्नतम स्तरोंमेंसे एक या दोको छोड़कर जिनका कि वह कुछ सीधा स्पर्श प्राप्त करता है), यह उन्हें श्रेष्ठतर निश्चेतना माननेकी प्रवृत्ति रखता है। अतएव एक उपनिषद् ईश्वर-चेतनाको 'सुषुप्ति' कहती है, क्योंकि सामान्यतया मनुष्य तबतक केवल समाधिमें ही उस चेतनामें प्रवेश करता है जबतक कि वह अपनी जागृत चेतनाको किसी उच्चतर स्थितिकी ओर मोड़ देनेका प्रयास नहीं करता।

सच पूछा जाय तो सत्ता और उसके अंगोंकी व्यवस्थामें दो धाराएं साथ-साथ कार्य कर रही हैं। एक तो है समकेंद्रिक धारा, चक्रों अथवा कोषोंकी एक परंपरा जिसके केंद्रमें है चैत्य पुरुष; दूसरी है लंबरूप, आरोहण और अवरोहणकी धारा, सीढ़ियोंकी एक पंक्तिकी जैसी, एकके ऊपर एक स्थापित लोकोंकी एक श्रेणी जिसके अंदर मानवसे परे भगवान्‌में संक्रमण करनेके मार्गके महत्त्वपूर्ण केंद्र हैं अतिमानस-अधिमानस। इस संक्रमणका, यदि इसे साथ-ही-साथ एक रूपांतर भी होना हो तो, केवल एक ही पथ है, एक ही मार्ग है। सर्वप्रथम, एक अंतर्मुखी परिवर्तन होना चाहिये, अंतरतम चैत्य पुरुषको ढूंढ़ निकालनेके लिये और उसे सामनेकी ओर ले आनेके लिये अंतस्‌में

पैठना चाहिये। और साथ-ही-साथ प्रकृतिके आंतर मन, आंतर प्राण और आंतर भौतिक अंशको उद्घाटित करना चाहिये। उसके बाद, एक प्रकारका आरोहण होना चाहिये, ऊपरकी ओर क्रमशः परिवर्तन होने चाहियें और फिर निम्नतर अंगोंको परिवर्तित करनेके लिये नीचेकी ओर मुड़ना चाहिये। जब मनुष्य अंतर्मुखी परिवर्तन साधित कर लेता है तो वह समूची निम्न प्रकृतिको चैत्यभावापन्न बनाता है जिसमें कि वह दिव्य रूपांतरके लिये तैयार हो जाय। ऊपरकी ओर जानेपर मनुष्य मानव-मनके परे चला जाता है और आरोहणकी प्रत्येक अवस्थामें एक नयी चेतनामें परिवर्तन होता है। तथा यह नयी चेतना सारी प्रकृतिमें व्याप्त हो जाती है। इस तरह बुद्धिके परे ऊपर उठकर आलोकित उच्चतर मनमेंसे पार होते हुए हम संबोधि-चेतनामें चले जाते हैं और प्रत्येक वस्तुकी ओर बौद्धिक क्षेत्रसे नहीं अथवा किसी यंत्रकी तरह बुद्धिके भीतरसे नहीं, बल्कि एक महत्तर संबोधिकी ऊंचाईसे तथा संबुद्ध संकल्प, भावना, भावावेग, संवेदन तथा भौतिक संपर्कके भीतरसे ताकना आरंभ करते हैं। इसी तरह, संबोधिसे आगे महत्तर अधिमानसिक ऊंचाईपर जानेपर एक नया परिवर्तन होता है और हम अधिमानस-चेतनासे तथा अधिमानसिक विचार, दृष्टि, संकल्प, भावना, संवेदन, शक्तिकी क्रिया तथा संकल्पसे ओतप्रोत मन, हृदय, प्राण और शरीरके माध्यमसे प्रत्येक वस्तुको देखते और अनुभव करते हैं। परंतु अंतिम परिवर्तन है अतिमानसिक, क्योंकि एक बार जब हम वहां पहुंच जाते हैं—एक बार यदि प्रकृति अतिमानसभावापन्न हो जाती है, तो हम अज्ञानके परे चले जाते हैं, उसके बाद चेतनाके परिवर्तनकी कोई आवश्यकता नहीं होती, यद्यपि उससे आगे दिव्य प्रगति होती है, यहांतक कि अनंत विकासकी संभावना भी अभी रहती है।



एक अज्ञानका जगत् है, सत्यके भी कई जगत् हैं। सृष्टिका न तो कोई आरंभ है और न कोई अंत। केवल किसी विशिष्ट सृष्टिके विषयमें ही यह कहा जा सकता है कि उसका एक प्रारंभ और एक अंत है।



तुम्हें यह अवश्य याद रखना चाहिये कि निम्नतर लोकोंमें उच्चतर लोकोंका प्रतिबिंब पड़ता है और उसे क्रमविकासकी उस स्थितिमें परात्पर तत्त्वके रूपमें आसानीसे अनुभव किया जा सकता है। परंतु परात्पर सच्चिदानंद अपने-आपमें एक जगत् नहीं है, वह विश्वातीत है। इस विश्वसे संबंधित क्रमपरंपरामें सबसे उच्च जगत् सत् या सत्य-लोक है।



वही मूल तपोलोक है जिसमें चित्-तत्त्व है और उसकी शक्ति तपस् है, पर तपस्के और भी जगत् हैं जो नीचेके लोकोंमें हैं। एक तो मनोमय लोकमें है, दूसरा प्राणलोकमें। इन्हीं तपस्-लोकोंमेंसे कोई एक लोक होगा जहांसे वे सत्ताएं आयी होंगी जिन्हें तुमने देखा था।



जिस भौतिक विश्वको हम देखते हैं उससे ऊपर एक प्राण-लोक (स्वयं-स्थित) है; फिर प्राणिक और स्थूल जगत्के ऊपर एक मनोमय लोक (स्वयं-स्थित) है। ये तीनों—मनोमय, प्राणमय और भौतिक—जगत् एक साथ मिलकर निम्न गोलार्द्धके त्रिविध विश्व कहलाते हैं। क्रमविकासके द्वारा ये पृथ्वी-चेतनामें स्थापित हुए हैं—पर क्रमविकाससे पहलेसे ही, पृथ्वी-चेतनासे तथा जड़जगत्से ऊपर जहां पृथ्वी है, ये अपने-आपमें विद्यमान हैं।



अगर हम जगतों या स्तरोंकी संपूर्ण परंपराको एक साथ देखें तो हमें वे एक महान् संवद्ध जटिल क्रियाके रूपमें दिखायी देंगे। उच्चतर लोक निम्नतर लोकोंपर अपना प्रभाव डालते हैं, निम्नतर उच्चतरके प्रति प्रतिक्रिया करते हैं तथा अपने अंदर अपने ही नियमके अधीन किसी ऐसी वस्तुको विकसित या अभिव्यक्त करते हैं जो श्रेष्ठतर शक्ति और उसकी क्रियाके अनुरूप होती है। भौतिक जगत्ने प्राण-जगत्का दवाव मानकर प्राणको विकसित किया है, मानसिक जगत्का दवाव मानकर मनका विकास किया है। यह अब अतिमानसिक जगत्के दवावको स्वीकार करके अतिमानसका विकास करनेका

प्रयास कर रहा है। अधिक ब्योरेको दृष्टिमें रखें तो उच्चतर जगतोंकी विशेष-विशेष शक्तियां, गतियां, क्षमताएं और सत्ताएं ऐसे समुचित और अनुरूप आकारोंको स्थापित करनेके लिये निम्नतर जगतोंमें अपने-आपको फेंक सकती हैं जो उन्हें भौतिक जगत्के साथ युक्त कर देंगे तथा उनके कार्योंको मानो यहां उत्पन्न या प्रक्षिप्त कर देंगे। और यहां सृष्ट होनेवाली प्रत्येक वस्तुके, उसे सहारा देनेवाले स्वयं उसीके कई सूक्ष्म कोप या आकार होते हैं जो उसे बनते रहनेमें मदद करते हैं तथा उसे ऊपरसे कार्य करनेवाली शक्तियोंके साथ युक्त कर देते हैं। उदाहरणार्थ, मनुष्यके स्थूल भौतिक शरीरके अतिरिक्त और भी सूक्ष्मतर कोप या शरीर हैं जिनकी सहायतासे वह पर्देके पीछे चेतनाके अतिभौतिक लोकोंके साथ सीधा संबंध बनाये रखता है एवं उनकी शक्तियों, गतियों और सत्ताओंसे प्रभावित हो सकता है। जो कुछ भी प्राणमें घटित होता है उसके पीछे सर्वदा ही गुह्य प्राणलोककी क्रियाएं और आकृतियां विद्यमान रहती हैं। जो कुछ भी मनमें घटित होता है उससे पहले गुह्य मानसिक स्तरोंपर अनुरूप गतियां और आकार विद्यमान रहते हैं। वस्तुओंका यही रूप, जैसे-जैसे हम एक सक्रिय योगमें प्रगति करते जाते हैं वैसे-वैसे, हमारे सामने सुस्पष्ट होता, बार-बार सामने आता तथा महत्त्वपूर्ण बनता जाता है।

परंतु इन सब चीजोंको अत्यंत कठोर और यांत्रिक अर्थमें नहीं ग्रहण करना चाहिये। यह एक अत्यंत अधिक नमनीय क्रिया है और संभावनाओंकी क्रीड़ासे भरी है। इस चीजको अपनी द्रष्टा चेतनाके अंदर एक लचकीली और सूक्ष्म चातुरी तथा विवेकबुद्धिके द्वारा पकड़ना चाहिये। इसे अति कठोर यौक्तिक या यांत्रिक सूत्रके अंदर नहीं बांधा जा सकता। दो या तीन बातोंपर जोर दिया जा सकता है जिसमें कि यह नमनीयता हमारी दृष्टिसे ओझल न हो जाय।

सर्वप्रथम, प्रत्येक लोक, उससे ऊपर और नीचेके लोकोंके साथ उसका संबंध होनेके बावजूद, अपने-आपमें एक पृथक् जगत् होता है, उसकी अपनी क्रियाएं, शक्तियां, सत्ताएं, नमूने, रूप होते हैं जो मानो उस लोकके और स्वयं अपने खातिर, उसके अपने नियमानुसार, महान् शृंखलाके अन्य लोकोंका आपाततः कोई ख्याल न रख स्वयं उसकी अभिव्यक्तिके लिये अस्तित्व रखते हैं। इस तरह, यदि हम प्राणमय या सूक्ष्म-भौतिक लोकको देखें तो हम उसके महान् क्षेत्रोंको (उनमेंसे

अधिकांश को) अपने-आपमें विद्यमान देखेंगे, ऐसा लगेगा कि भौतिक जगत्के साथ उनका कोई संबंध नहीं और न उनमें कोई ऐसी क्रिया हो रही है जो भौतिक जगत्को अभिभूत या प्रभावित करती हो, उससे भी कम, भौतिक नियमके अधीन कोई अपने अनुरूप अभिव्यक्ति करती हो। अधिक-से-अधिक हम कह सकते हैं कि प्राणिक, सूक्ष्म-भौतिक या किसी भी अन्य लोकमें किसी वस्तुका अस्तित्व ही अभिव्यक्तिकी अनुरूप गतियोंके होनेकी संभावना उत्पन्न करता है। परंतु उस निष्क्रिय या अंतर्निहित संभावनाको सक्रिय शक्तिमत्तामें परिवर्तित करनेके लिये अथवा स्थूल सृष्टि करनेके वास्तविक आवेगमें बदल देनेके लिये किसी और चीजकी आवश्यकता होती है। वह कोई चीज भौतिक जगत्से उठनेवाली कोई पुकार हो सकती है अर्थात् कोई शक्ति या कोई व्यक्ति भौतिक लोकमें होना चाहिये जो अतिभौतिक शक्ति या जगत् या उसके एक भागके साथ संपर्क प्राप्त करे और उसे पार्थिव जीवनमें उतार लानेके लिये प्रेरित हो। अथवा, स्वयं प्राणलोक या अन्य लोकमें एक प्रवेग हो अर्थात् एक प्राणमय सत्ता अपना कार्य पृथ्वीकी ओर विस्तारित करनेके लिये और अपने लिये वहां एक राज्य स्थापित करनेके लिये अथवा अपने लोकमें वह जिन शक्तियोंका प्रतिनिधि हो उनकी क्रीड़ाकी व्यवस्था करनेके लिये प्रेरित हो। अथवा, यह ऊपरसे एक दबाव भी हो सकती है; उदाहरणार्थ, कोई अतिमानसिक या मानसिक शक्ति ऊपरसे अपनी रचना उत्पन्न कर रही हो और स्थूल जगत्में अपनी आत्मसृष्टिको संक्रमित करनेके माध्यमके रूपमें प्राण-स्तरपर आकारों और क्रियाओंको विकसित कर रही हो। अथवा, ऐसा भी हो सकता है कि ये सभी चीजें एक साथ कार्य करती हों और ऐसी हालतमें एक सफल सृष्टि होनेकी सबसे बड़ी संभावना उत्पन्न होती है।

द्वितीयतः, परिणामस्वरूप, उसके बाद ऐसा होता है कि प्राण-जगत् या किसी अन्य उच्चतर जगत्की क्रियाका एक सीमित अंश ही पार्थिव जीवनके साथ संबद्ध होता है। परंतु इससे भी बहुत सारी संभावनाएं उत्पन्न हो जाती हैं, जो, पृथ्वी जो कुछ ,एक समयमें अभि-व्यक्त कर सकती है या अपने कम नमनीय नियमोंके अधीन धारण कर सकती है उस सबसे बहुत अधिक महान् होती हैं। ये सब संभावनाएं संसिद्ध नहीं होतीं; कुछ तो एकदम व्यर्थ हो जाती हैं

और अधिक-से-अधिक एक ऐसी भावना छोड़ जाती हैं जिसका कुछ अर्थ नहीं होता; कुछ संभावनाएं गंभीरतापूर्वक प्रयास करती हैं और पीछे ढकेल दी जातीं तथा परास्त कर दी जाती हैं, और यदि कुछ समयके लिये कुछ करती भी हैं तो वह निरर्थक ही हो जाता है। दूसरी अपनी आधी अभिव्यक्ति कर पाती हैं, और यही अधिकांशमें सामान्य परिणाम होता है। इसका अधिकांश कारण यह होता है कि ये प्राणिक या अन्य अतिभौतिक शक्तियां संघर्षरत होती हैं और उन्हें केवल भौतिक चेतना और जड़तत्त्वके विरोधको ही नहीं बल्कि अपने पारस्परिक भयानक विरोधको भी जीतना होता है। कुछ संभावनाएं अपने परिणाम उत्पन्न करनेमें और एक अधिक पूर्ण और सफल सृष्टि करनेमें सफलता प्राप्त करती हैं और यदि तुम इस सृष्टि-की तुलना उच्चतर लोकमे विद्यमान इसकी मूल सृष्टिसे करो तो वहां उनमें बड़ी घनिष्ठ एकरूपता दिखायी देगी अथवा यहांतक कि एक प्रकारकी आपाततः यथार्थ प्रतिकृति अथवा अतिभौतिकसे भौतिक नियमके अधीन रूपांतर प्रतीत होगी। और फिर भी वहां यथार्थता केवल बाह्यतः ही होगी; अभिव्यक्तिके दूसरे सत्तत्व और दूसरे छंदमें रूपांतर करनेकी बात ही विभेद उत्पन्न कर देती है। अब कोई दूसरी ही चीज होती है जो अभिव्यक्त होती है और यही बात सृष्टिको मूल्यवान् बना देती है। उदाहरणार्थ, भला पृथ्वीपर अति-मानसिक सृष्टि होनेकी क्या उपयोगिता होगी यदि वह ठीक वही चीज हो जो कि अधिमानस-लोकमें अतिमानसिक सृष्टि है? तत्त्वतः यह है वही चीज पर फिर भी कुछ और है, यह ऐसी स्थितियोंमें भगवान्‌का नवीन विजयपूर्ण आत्मानुसंधान है जो अन्यत्र नहीं है।

निस्संदेह, सूक्ष्म-भौतिक भौतिकके एकदम समीप है और बहुत कुछ इसीके जैसा है। पर, फिर भी उसकी अवस्थाएं भिन्न हैं और वस्तुएं अत्यधिक भिन्न हैं। जैसे सूक्ष्म-भौतिक लोकमें एक स्वतंत्रता नमनीयता, तीव्रता, शक्तिशालिता, रंग, तथा ऐसी चीजोंकी विस्तारित और बहुविध क्रीड़ा है जिनकी कोई भी संभावना अभी इस पृथ्वीपर नहीं है (वहां हजारों ऐसी चीजें हैं जो यहां नहीं हैं)। और फिर भी यहां कुछ है, भगवान्‌की एक ऐसी संभाव्यता है जो दूसरेमें उसकी महत्तर स्वतंत्रताके बावजूद नहीं है; यहां एक ऐसी चीज है जो

सृष्टिको अधिक कठिन बना देती है, पर अंतिम परिणाममें उस श्रम-की सार्थकताको सिद्ध करती है।



अधिकांश चीजें भौतिक स्तरमें घटित होनेसे पहले प्राणिक जगत्में घटित होती हैं, परंतु प्राण-जगत्में जो कुछ घटित होता है वह सबका-सब भौतिकमें नहीं संसिद्ध होता, अथवा उसी रूपमें नहीं होता। सर्वदा ही अथवा कम-से-कम साधारण तौरपर भौतिक स्तरकी भिन्न अवस्थाओंके कारण आकार, काल और परिस्थितियोंमें अंतर पड़ जाता है।



मोटे रूपमें तुमने जो कुछ देखा है वह ठीक है। अपने-आपमें प्रत्येक स्तर सत्य है, पर अतिमानसके लिये केवल आंशिक सत्य है। जब ये उच्चतर सत्य भौतिक लोकमें आते हैं तो वे वहां अपनेको चरितार्थ करनेका प्रयत्न करते हैं, पर वे उसे आंशिक रूपमें और भौतिक स्तरकी अवस्थाओंके अधीन ही कर पाते हैं। एकमात्र अति-मानस ही इस कठिनाईको जीत सकता है।



दिव्य जगत् शरीरसे ऊपर हैं। जिनके साथ शरीरके अंगोंका सादृश्य है वे हैं—सूक्ष्म-भौतिक, उच्चतर, मध्यवर्ती और निम्नतर प्राणिक और मानसिक जगत्। प्रत्येक स्तरका विभिन्न लोकोंके साथ, जो उससे संबंधित होते हैं, संपर्क बना रहता है।



यहां इन नामों (मांडूक्य उपनिषद्में आये हुए विश्व, तैजस और प्रज्ञा) का मतलब है बाह्य चेतना, आंतरिक चेतना और अतिचेतना। जागृत, स्वप्न और सुषुप्ति शब्दोंका प्रयोग इसलिये किया गया है कि मनुष्यकी सामान्य चेतनामें बाह्य ही केवल जागृत है, आंतरिक सत्ता अधिकांशमें अवचेतन है और केवल स्वप्नकी स्थितिमें ही सीधे कार्य करती है जब कि उसकी क्रियाएं स्वप्न और सूक्ष्म-दर्शनकी चीजोंकी

तरह अनुभूत होती हैं। अतिचेतन (अतिमानस, अधिमानस आदि) इस क्षेत्रसे भी परे है और मनके लिये गभीर निद्रा (सुषुप्ति) की तरह है।



परंतु इन चीजोंको तुम अंतरात्माके साथ क्यों जोड़ना चाहते हो? ये चार नाम (विश्व, तैजस, प्रज्ञा और कूटस्थ) परात्पर और वैश्व ब्रह्म या आत्माकी चार अवस्थाओंको दिये गये हैं। ये महज सत्ता और चेतनाकी अवस्थाएं हैं—वह आत्मा जो जागृत अवस्था या स्थूल चेतनाको सहारा देता है, वह आत्मा जो स्वप्नावस्था या सूक्ष्म चेतनाको सहारा देता है, वह आत्मा जो गभीर निद्रावस्था या कारण-चेतनाको सहारा देता है तथा वह आत्मा जो विश्वातीत चेतनामें अवस्थित है। व्यक्ति निस्संदेह भाग लेता है पर ये आत्माकी स्थितियां हैं, व्यक्तिगत आत्मा या अंतरात्माकी नहीं। मांडूक्य उपनिषद्में इन शब्दोंका अर्थ निश्चित कर दिया गया है।



तीन-तीन नामोंके इन दो समूहोंका अर्थ एक ही है। विश्व या विराट्का मतलब है बाहरी विश्वका आत्मा, हिरण्यगर्भ या तैजस (ज्योतिर्मय) का अर्थ है आंतर लोकोंका आत्मा, प्रज्ञा या ईश्वरका अर्थ है अतिचेतन आत्मा, सभी वस्तुओंका प्रभु तथा उच्चतम आत्मा जिसपर सब कुछ निर्भर है। मानसिक चेतना ईश्वर नहीं हो सकती।



विराट् है बाह्य अभिव्यक्ति और यदि हम उस सबको ब्रह्म मानें और यह न जानें कि अभिव्यक्तिके पीछे क्या है तो हम विश्व देवता-वादकी बौद्धिक भूलमें जा गिरेंगे, यह उपलब्ध नहीं करेंगे कि भगवान् इस बाह्य अभिव्यक्तिसे अधिक हैं तथा एकमात्र इसीके द्वारा नहीं जाने जा सकते। प्राणके क्षेत्रमें हम यह स्वीकार करनेकी भूल कर सकते हैं कि जो कुछ अंधकार और अपूर्णता है उसका भी उतना ही मूल्य है जितना कि उस सबका जो ज्योति और दिव्य पूर्णता उत्पन्न करता है। इसके अलावा भी परिणामस्वरूप अनेक भूलें हो सकती हैं।

(3)

अतिमानससे मतलब है भागवत प्रकृतिकी पूर्ण सत्य-चेतना जिसमें विभाजन और अज्ञानके तत्त्वके लिये कोई स्थान नहीं हो सकता। यह सर्वदा ही होती है एक पूर्ण ज्योति और ज्ञान जो समस्त मानसिक सतत्त्व या मानसिक क्रियासे श्रेष्ठ होता है। अतिमानस और मानव-मनके बीचमें चेतनाके कई क्षेत्र, स्तर या लोक हैं—हम इसे विभिन्न रूपोंमें देख सकते हैं—जिनमें मनका तत्त्व या सतत्त्व और फलस्वरूप उसकी क्रियाएं भी अधिकाधिक ज्योतिर्मय और शक्तिशाली और विशाल होती हैं। अधिमानस इन क्षेत्रोंमें सबसे ऊपर है; यह ज्योति और शक्तिसे भरपूर है। परंतु जो कुछ इसके ऊपर है उसकी दृष्टिसे यह वह रेखा है जहांसे जीव पूर्ण और अविभाज्य ज्ञानसे मुंह मोड़ लेता है और अज्ञानकी ओर उतरने लगता है। यद्यपि यह पूर्ण सत्यसे निकलता है, पर यहींपर सत्यके विभिन्न पहलुओंमें विभाजन होना आरंभ होता है, विभिन्न शक्तियां अलग होने लगती हैं और इस प्रकार कार्य करने लगती हैं मानो वे स्वतंत्र ज्ञान हैं तथा यह ऐसी प्रक्रिया है जो, ज्यों ही मनुष्य सामान्य मन, प्राण और जड़तत्त्वकी ओर उतरता है, ऊर्ध्वस्थित अविभाज्य सत्यसे एकदम पूर्ण विभाजन, विखण्डन और विघटनमें जाकर समाप्त होती है। वहां अब मूलगत, सर्वांगपूर्ण, पूर्णतः समन्वयकारी और एकत्वकारक ज्ञान नहीं रहता अथवा वह ज्ञान नहीं रहता जो चिरदिन सामंजस्यपूर्ण होता है क्योंकि वह सदा एक होता है जो कि अतिमानसका स्वभाव है। अतिमानसमें मानसिक विभाजन और विरोध समाप्त हो जाते हैं, हमारे विभाजन और छिन्न-भिन्न करनेवाले मनके द्वारा उत्थापित समस्याएं विलीन हो जाती हैं तथा सत्य एक ज्योतिर्मय संपूर्ण वस्तुके रूपमें दिखायी देता है। अधिमानसमें आकर वास्तवमें अज्ञानमें पतन नहीं होता, पर पहला कदम उठ गया होता है जो पतनको पीछे अनिवार्य बना देता है।

⊙

अतिमानस एकमेव सत्य है जो अपनी शक्तियोंकी अभिव्यक्तिको उद्घाटित और निश्चित करता है—सभी शक्तियां इस प्रकार कार्य करती हैं मानो बहुविध एकत्व हों, समस्वर हों, उनमें कोई विरोध या

संघर्ष न हो, सबमें निहित एक अखंड संकल्पके अनुसार कार्य करती हो। अधिमानस इन सत्योंको ग्रहण करता है और प्रत्येकको एक ऊर्जाके रूपमें अपने अंदर कार्यरत करता है और उससे उसका आवश्यक परिणाम उत्पन्न होता है—वहां उनके कार्यमें सामंजस्य हो सकता है, पर वह कहीं अधिक कृत्रिम और अधिकांशतः आंशिक होता है, वह अंतर्निहित और अनिवार्य नहीं होता और जैसे-जैसे हम उच्चतम अधिमानससे नीचे उतरते हैं वैसे-वैसे शक्तियोंकी पृथकता, मुठभेड़ और विरोधिता बढ़ती जाती है, पृथक्-भाव प्रधानता पाता है, अज्ञान बढ़ता है, जीवन संभावनाओंका अखाड़ा, संघर्षकारी अर्धसत्योंका एक सम्मिश्रण और एक अमीमांसित और आपाततः अमीमांस्य पहेली और कूटप्रश्न बन जाता है।



यदि अतिमानस हमें किसी भी निम्नतर लोककी अपेक्षा एक महत्तर और पूर्णतर सत्य न दे तो उसे पानेका प्रयास करना उचित नहीं होगा। प्रत्येक लोकके अपने निजी सत्य होते हैं। उनमेंसे कुछ उच्चतर लोकमें सत्य नहीं रह जाते; उदाहरणार्थ, कामना और अहंकार मानसिक, प्राणिक और भौतिक अज्ञानके सत्य हैं—वहां कोई मनुष्य कामना या अहंकारके बिना एक तामसिक यंत्रभर रह जायगा। जैसे-जैसे हम ऊपर उठते हैं, अहंकार और कामना सत्यके रूपमें नहीं दिखायी देते, वे मिथ्यात्व बन जाते हैं और सच्चे व्यक्तित्व और सत्य संकल्पको विकृत करते हैं। ज्योतिकी शक्तियां और अंधकारकी शक्तियोंके बीच संघर्ष होना यहांका एक सत्य है—जैसे-जैसे हम ऊपर उठते हैं, यह धीरे-धीरे कम सत्य बनने लगता है और अति-मानसमें यह बिलकुल सत्य नहीं रह जाता। दूसरे सत्य बने तो रहते हैं पर उनका स्वभाव, महत्त्व, पूर्णके अंदर उनका स्थान बदल जाता है। सव्यक्तिक और निर्व्यक्तिकके मध्यका विभेद या विरोध अधिमानसका एक सत्य है—अतिमानसमें उनका कोई पृथक् सत्य नहीं है, वे वहां अविभाज्य एक हैं। परंतु जिसने अधिमानसके सत्योंको अधिगत नहीं किया है और जीवनमें नहीं उतारा है वह अतिमानसिक सत्यको नहीं प्राप्त कर सकता। मानव-मनका अक्षम अभिमान रहित विभेद करता है और बाकी सबको सत्य घोषित करना चाहता है

तथा तुरत उच्चतम सत्यतक, चाहे वह जो भी हो, कूद जाता है—परंतु वह एक महत्त्वाकांक्षापूर्ण और औद्धत्यपूर्ण भ्रांति है। शिखरतक पहुंचनेके लिये सीढ़ी-दर-सीढ़ी चढ़ना होता है और प्रत्येक सीढ़ीपर अपने पैरोंको दृढ़तासे रखना पड़ता है।



मैं नहीं समझता। सव्यक्तिक भगवान्‌का मतलब अवतार नहीं है। मैंने यह कहा था कि भगवान्‌को दो रूपोंमें विभाजन करना अधिमानसकी सृष्टि है जो भगवान्‌के विभिन्न रूपोंको लेता और उन्हें पृथक्-पृथक् देवोंके रूपमें विभक्त करता है। इस तरह वह सत्, चित् और आनंदको पृथक् करता है जिससे कि वे एक-दूसरेसे भिन्न तीन पृथक् रूप बन जाते हैं। वास्तवमें दिव्य सद्वस्तुके अंदर कोई पृथकत्व नहीं है, तीनों रूप इस प्रकार एक-दूसरेमें घुलेमिले हैं, इतने अविभाज्य रूपसे एक हैं कि वे एक अविभक्त सद्वस्तु बन जाते हैं। यही बात सव्यक्तिक और निर्व्यक्तिक, सगुण और निर्गुण, निश्चल-नीरव और सक्रिय ब्रह्मके साथ है। दिव्य सद्वस्तुके अंदर वे परस्पर-विपरीत और असंगत रूप नहीं हैं। जिसे हम व्यक्तित्व कहते हैं और जिसे हम निर्व्यक्तित्व कहते हैं वे दोनों एकमात्र दिव्य सत्यके अंदर एक साथ अविभाज्य रूपसे मिलेजुले हैं। सच पूछा जाय तो "एक साथ मिलेजुले" कहना भी गलत है, क्योंकि वे कभी पृथक् थे ही नहीं जिसमें कि उन्हें मिलना-जुलना पड़े। ये सभी झगड़े कि या तो निर्व्यक्तिक सत्ता ही एकमात्र यथार्थ सत्य है अथवा सव्यक्तिक सत्ता ही एकमात्र उच्चतम सत्य है, मनोनिर्मित झगडे हैं और अधिमानसके इस विभाजक भावसे उत्पन्न होते हैं। अधिमानस इन रूपोंमेंसे किसीको अस्वीकार नहीं करता जैसे मन करता है, वह एकमेव सत्यके रूप मानकर उन सबको स्वीकार करता है, परंतु उन्हें पृथक् करके वह अपेक्षाकृत अधिक अज्ञ और अधिक सीमित तथा विभक्त मनमें एक झगड़ेको पैदा करता है, क्योंकि मनको यह नहीं दिखायी दे सकता कि दो विपरीत वस्तुएं एक ही सत्यके अंदर एक साथ कैसे विद्यमान रह सकती हैं, भगवान् निर्गुणोगुणी कैसे हो सकते हैं;—इन दो शब्दोंके पीछे क्या है इसका अनुभव न होनेके कारण वह प्रत्येक शब्दको एक पूर्ण अर्थमें ग्रहण करता है। निर्व्यक्तिक सत्,

चैतन्य, आनंद है, कोई व्यक्ति नहीं है, बल्कि एक स्थिति है। सव्यक्तिक सत्ता, चेतन, आनंदमय है; चेतना, सत्ता, आनंदको पृथक् वस्तुओंके रूपमें ग्रहण करनेपर वे सव्यक्तिककी सत्ताकी केवल अवस्थाएं हैं। परंतु वास्तवमें देखा जाय तो ये दोनों (साकार पुरुष और शाश्वत स्थिति) अविच्छेद्य हैं तथा एक सद्वस्तु हैं।



मनकी भाषामें, यहांतक कि अध्यात्मभावापन्न मनकी भाषामें भी कदाचित ही यह कहना संभव है कि अतिमानस क्या है, क्योंकि वह एकदम भिन्न चेतना है और भिन्न रूपमें कार्य करता है। उसके विषयमें चाहे जो भी कहा जाय उसे न समझने या गलत रूपमें समझनेकी ही संभावना है। एकमात्र उसके अंदर वर्द्धित होनेपर ही हम यह जान सकते हैं कि वह क्या है और इसे भी तबतक नहीं किया जा सकता जबतक कि एक लंबी प्रक्रियाके बाद मन अपनेको उन्नत और उद्भासित करके शुद्ध अंतर्ज्ञानात्मक मन (कोई मिलीजुली वस्तु नहीं जिसे साधारणतया लोग यह नाम देते हैं) नहीं बन जाता और अपनेको अधिमानसमें पूंजीभूत नहीं कर देता; उसके बाद अधिमानसको ऊपर अतिमानसमें उठाना होगा और उससे सराबोर कर देना होगा जबतक कि वह रूपांतरको नहीं प्राप्त हो जाता।

अतिमानसके अंदर सब कुछ निज ज्योतिसे स्वयं-ज्ञात होता है, यहाँ कोई विभाजन, कोई विरोध अथवा पृथक्कृत रूप नहीं होता जैसे कि मनमें होता है जिसका मूल सिद्धांत है ज्ञानको अलग-अलग टुकड़ोंमें बांट देना और प्रत्येक टुकड़ेको दूसरेके विरुद्ध स्थापित करना। अधिमानस अपने शीर्षस्थानपर अतिमानसके निकटस्थ होता है और बहुधा भूलवश अतिमानस मान लिया जाता है, परंतु वह अपनेको ऊपर उठाये और रूपांतरित किये बिना उसमें पहुंच नहीं सकता।



सच पूछा जाय तो जब अधिमानसकी शक्ति (कभी प्रत्यक्ष रूपमें और कभी अप्रत्यक्ष रूपमें) मनको उसके संकीर्ण विभाजनोंसे मुक्त करती है तो साधकमें वैश्व चेतना उद्घाटित होती है

और वह विश्वात्मा और वैश्व शक्तियोंकी क्रीड़ाके संबंधमें सज्ञान होता है।

इस जगत्में अधिमानस-लोकसे अथवा कम-से-कम उसके माध्यमसे ही वस्तुओंकी मूल पूर्व-व्यवस्था कार्यान्वित होती है; क्योंकि उसीसे निर्णायक विभेद उत्पन्न होते हैं। परंतु सभी स्तरोंपर—मन, प्राण, और यहांतक कि भौतिक स्तरपर भी उससे मिलती-जुलती क्रियाएं होती हैं और निम्नतर चेतनाकी अत्यन्त सुस्पष्ट या ज्योतिपूर्ण अवस्थामें इन क्रियाओंके प्रति सचेतन होना, वस्तुओंकी योजनाको समझना तथा सचेतन यंत्र बनना, या, यहांतक कि एक सीमित हदतक निश्चायक संकल्प या शक्ति होना भी संभव है। पर निम्नतर लोकोंकी वस्तुएं सर्वदा अधिमानस शक्तियोंके अवतरित होनेपर उनके साथ मिलजुल जातीं, उनके सत्य और शक्तिको कम कर देतीं या यहांतक कि मिथ्या बना डालतीं तथा विकृत कर डालती हैं।

अधिमानसके लिये यह भी संभव है कि वह अतिमानसिक ज्योतिके कुछ अंशको चेतनाके निम्नतर लोकोंमें संचारित करे; पर, जबतक अतिमानस सीधे अभिव्यक्त नहीं होता, इसकी ज्योति स्वयं अधिमानसमें भी मंद पड़ जाती है और फिर जब व्यक्तिगत प्रकृतिकी आवश्यकताओं, मांगों, सीमित करनेवाली संभावनाओंके अनुसार वह व्यवहृत होती है तो और भी अधिक क्षीण हो जाती है। इस ह्रास-प्राप्त और परिवर्तित ज्योतिको, उदाहरणार्थ, शरीरको शुद्ध करनेमें, तुरत-फुरत सफलता नहीं मिल सकती और न उसकी सफलता उतनी पूर्ण हो सकती है जितनी कि पूर्ण और प्रत्यक्ष अतिमानसिक क्रिया होगी। वह ज्योति अभी भी सापेक्षिक होती है, व्यक्तिगत प्रकृति तथा विश्वव्यापी शक्तियोंके संतुलनके द्वारा प्रसीमित और विरोधी शक्तियों-द्वारा अवरुद्ध होती है, निम्न क्रियाओंकी बंद होनेकी अनिच्छा होनेके कारण अपना पूर्ण परिणाम नहीं उत्पन्न कर पाती और भौतिक प्रकृतिमें पूर्ण सहमतिके अभावके कारण या तो अपने क्षेत्र या फलो-त्पादकतामें सीमित होती है।



अतिमानसका अवतरण संभव होनेसे पहले अधिमानसको प्राप्त करना और उसे नीचे उतारना आवश्यक है—क्योंकि अधिमानस ही

वह रास्ता है जिसके भीतरसे होकर मनुष्य मनसे अतिमानसमें जाता है।

अधिमानससे ही वस्तुओंके सृजनात्मक सत्यकी ये सब विभिन्न व्यवस्थाएं उत्पन्न होती हैं। अधिमानसमेंसे निकलकर वे संबोधिके क्षेत्रमें आती हैं और वहांसे ज्योतिर्मय और उच्चतर मनमें संचारित कर दी जाती हैं जिसमें वहां उन्हें हमारी बुद्धिके लिये व्यवस्थित कर दिया जाय। परंतु इस प्रकार नीचे भेजनेपर जैसे-जैसे वे निम्नतर स्तरोंमें आती हैं, अपनी शक्ति और निश्चिततताको अधिकाधिक खोती जाती हैं। प्रत्यक्षतः दृष्ट सत्यकी जो शक्ति उनमें होती है वह मानव-मनमें आकर खो जाती है। कारण, मानव-बुद्धिको वे महज कल्पनाप्रसूत भावनाएं प्रतीत होती हैं, ·अनुभूत सत्य, प्रत्यक्ष दृष्टि नहीं, कोई सशक्त दर्शन नहीं प्रतीत होतीं जिसके साथ एक ठोस अस्वीकार्य अनुभव जुड़ा हुआ हो।



अधिमानसके विभिन्न स्तर हैं। एक है मानसिक, यह सीधे उन सभी रचनाओंकी सृष्टि करता है जो नीचे मानसिक जगत्‌में अभिव्यक्त होती हैं—यह मानसिक अधिमानस है। उसके ऊपर है अधिमानस संबोधि। उससे भी ऊपर हैं अधिमानसके वे स्तर जो अधिकाधिक अतिमानससे संयुक्त होते जाते हैं और जिनमें अंशतः अतिमानसिक गुण होते हैं। अधिमानसिक श्रेणियोंमें उच्चतम श्रेणी है अधिमानसिक अधिमानस या अधिमानस-विज्ञान। परंतु इन चीजोंको तुम तबतक नहीं समझ सकते जबतक कि तुम्हें उच्चतर अनुभव नहीं प्राप्त हो जाता। ऐसा तुम वर्तमान समयमें नहीं कर सकते। केवल वे लोग ही ऐसा कर सकते हैं जो पूर्णतः वैश्व चेतनामें प्रविष्ट हो चुके हैं और वे भी प्रारंभमें ऐसा नहीं कर सकते। सबसे पहले मनुष्यको पूर्णतः उच्चतर मन, आलोकित मन और संबोधि-मनके अनुभवके भीतरसे गुजर जाना होगा, उसके बाद ही वह ऐसा कर सकता है।



यह उतना सरल नहीं है जितना कि तुम समझते हो—परंतु

इसे (अधिमानसको) सुविधाके लिये चार स्तरोंमें विभक्त किया जा सकता है—मानसिक अधिमानस और तीन जिन्हें तुमने लिखा है (संबोधिमय अधिमानस, प्रकृत अधिमानस और अतिमानसिक अधिमानस), परंतु प्रत्येक स्तरमें वहुतसे तह हैं और इनमेंसे प्रत्येकको अपने-आपमें एक स्तर या लोक माना जा सकता है।



यह असंभव नहीं है—यह किसी भी वृहत्तर लोकमें पूर्णतः संभव है—यदि एक वार मनुष्य व्यक्तिगत सीमाओंको तोड़ दे तो उसके लिये अनंतता सर्वत्र विद्यमान है।

मनोमय अधिमानससे अतिमानसमावापन्न अधिमानसमें जानेके वहुतसे स्तर हैं और फिर वहांसे अतिमानसिक अधिमानसतक और फिर वहांसे अतिमानसतक जानेके कई स्तर हैं। यह कहनेकी जल्दवाजी मत करो कि "यही अंतिम और उच्चतम अधिमानस है।"



जिसे तुम अतिमानसिक अधिमानस[1] कहते हो वह अभी भी अधिमानस ही है—वह सच्चे अतिमानसका कोई अंग नहीं है। कोई सच्चे अतिमानसमें (किसी प्रकारकी समाधि-अवस्थाके अलावा) तवतक नहीं प्रवेश कर सकता जवतक कि वह पहले केवल ध्यान और आंतरिक अनुभवमें अधिमानसको उपलब्ध ही नहीं कर लेता, वल्कि अपने जीवन, वाणी, कार्य, वाह्य ज्ञान आदितकमें उसको दृष्टिगोचर नहीं कर लेता।



'योग-समन्वय' (The Synthesis of Yoga) के अंतिम अध्याय जव 'आर्य' में लिखे गये तव 'अधिमानस' (overmind) शब्दका पता नहीं था, इसलिये उसमें इसका कोई जिक्र नहीं है। उन

---

1. यह शब्द गलत रूपमें प्रयुक्त है, क्योंकि अधिमानस अतिमानस नहीं हो सकता : वह अधिकसे अधिक उच्चतर स्रोतसे कुछ ज्योति और सत्य ग्रहण कर सकता है।

अध्यायोंमें जो कुछ वर्णित है वह अतिमानसकी क्रिया है जब कि वह अधिमानस-स्तरमें अवतरित होता तथा अधिमानस-क्रियाओंको लेकर उन्हें रूपांतरित करता है। उच्चतम अतिमानस अथवा भागवत विज्ञान, जो स्वयं-स्थित है, ऐसी चीज है जो और भी परे स्थित है और एकदम ऊपर है। बादके अध्यायोंमें यह दिखानेकी इच्छा थी कि यह भी कितना कठिन है और मानव-मन तथा अतिमानसके बीच कितने स्तर हैं और जब अतिमानस उतरता है तब भी किस प्रकार वह निम्नतर क्रियाओंसे मिलजुल सकता तथा एक ऐसी वस्तुमें बदल जा सकता है जो यथार्थ सत्यसे कम होता है। पर ये बादके अध्याय लिखे नहीं गये।

⊙

'आर्य' में [अधिमानस और अतिमानसके बीच] विभेद नहीं किया गया है, क्योंकि उस समय जिसे मैं अब अधिमानस कहता हूं वह अतिमानसका ही एक निम्नतर स्तर माना जाता था। परंतु यह बात इस कारण थी कि मैं उन्हें मनके स्तरसे देखता था। अधिमानसका सच्चा दोष, उसकी सीमा, जिसने अज्ञानके जगत्की सृष्टिको, केवल तभी पूर्णरूपमें दिखायी देती है जब मनुष्य उसकी ओर भौतिक चेतनासे देखता है, परिणामकी ओरसे (जड़तत्त्वके अज्ञानसे) उसके कारण (सत्यका अधिमानस-विभाजन) की ओर देखता है। अपने निजी स्तरमें अधिमानस केवल सत्यकी एक विभक्त, बहु-पक्षीय क्रीड़ा होता है, इसलिये मन आसानीसे उसे अतिमानसका प्रांत समझ सकता है। फिर मन जब अधिमानसज्योतिसे छलछला उठता है तो वह ऐसा अनुभव करता है मानो वह भागवत सत्यकी एक आश्चर्यजनक अभिव्यक्तिके अंदर निवास कर रहा हो। कठिनाई तब आती है जब हम प्राणके साथ कार्य करते हैं और उससे भी अधिक आती है जब शरीरके साथ कार्य करते हैं। उस समय कठिनाईका सामना करना और अधिमानस और अतिमानसके बीच एक सुस्पष्ट विभेद करना अनिवार्य हो जाता है—क्योंकि उस समय यह प्रत्यक्ष हो जाता है कि अधिमानस-शक्ति (अपनी ज्योति और जगमगाहटके बावजूद) अज्ञानको जीतनेके लिये पर्याप्त नहीं है, क्योंकि यह स्वयं उस विभाजनके सिद्धान्तके अधीन है जिसके भीतरसे अज्ञान उत्पन्न

हुआ। मनुष्यको अधिमानससे परे जाना होगा और उसे अतिमानस-भावापन्न बनाना होगा जिसमें कि मन और बाकी सब अंतिम परिवर्तनमेंसे गुजरें।

संभवतः जिसे वह अधिमानस कहता है वह चेतनाका पहला "मानसोत्तर" स्तर है। अथवा ये वृहत्तर मन या प्राण-क्षेत्रोंके अनुभव हो सकते हैं। मानव-मनके लिये ये सब इतने बड़े होते हैं कि उन्हें अधिमानस या यहांतक कि अतिमानस मान लेना बड़ा आसान होता है। यदि कोई विश्व-चेतनाकी ओर उद्घाटित हो जाय तो उसे अधिमानसका अप्रत्यक्ष स्पर्श प्राप्त हो सकता है, और यदि वह उस चेतनामें स्वाधीनतापूर्वक प्रवेश कर जाय तो उससे भी अधिक स्पर्श प्राप्त हो सकता है। जबतक सत्ताका कम-से-कम एक भाग विशालता और शांतिमें स्थापित नहीं हो जाता तबतक प्रत्यक्ष रूपसे अधिमानसिक अनुभव नहीं प्राप्त हो सकता।



संबोधि आलोकित मनसे ऊपर है—आलोकित मन महज उच्चतर मन है जो महान् ज्योतिमें उठा दिया गया है और संबोधि तथा अंतःप्रेरणाके परिवर्तित रूपोंकी ओर अधिक खुला हुआ है।



संबोधि पहला स्तर है जिसमें उपलब्धिकी पूरी संभावनाकी ओर सच्चा उद्घाटन होता है—इसीके भीतरसे होकर मनुष्य और आगे जाता है—सबसे पहले अधिमानसमें और फिर अतिमानसमें जाता है।



संबोधि या संबुद्ध मन वस्तुओंके सत्यको एक प्रत्यक्ष आंतरिक संपर्कके द्वारा देखता है; वह सामान्य मानवीय बुद्धिकी तरह इंद्रियों आदिकी सहायतासे प्रत्यक्ष संपर्कोंको खोजकर और प्राप्त करके नहीं देखता। अतिमानसके मुकाबलेमें संबोधिकी सीमा यह है कि यह वस्तुओंको एक-एक करके चमकके रूपमें देखता है, सबको एक अखंड रूपमें नहीं देखता। फिर मनमें आनेपर यह मानसिक क्रियाके साथ मिलजुल जाता और एक प्रकारकी अंतःप्रेरणात्मक मनकी क्रियाका

निर्माण करता है जो शुद्ध सत्य नहीं होती, बल्कि उच्चतर सत्य तथा मानसिक खोजके बीचकी कोई चीज होती है। यह चेतना एक प्रकारकी मध्यवर्ती स्थितिमेंसे आगे ले जा सकती है और व्यवहारतः यही उसका कार्य है।



मानसिक अंतःप्रेरणात्मक ज्ञान सीधे सत्यके किसी रूपको पकड़ता है, पर उसमें कोई पूर्णता या सुनिश्चितता नहीं होती और अंतः-प्रेरणा आसानीसे उस सामान्य मानसिक वस्तुके साथ घुलमिल जाती है जो भ्रांतिपूर्ण हो सकती है। व्यवहारमें यह सहज ही अर्ध-सत्य हो सकती है अथवा इस तरह इसकी मूल व्याख्या की जा सकती और गलत रूपमें इसका प्रयोग किया जा सकता है कि यह एक भ्रांति बन जाय। इसके अतिरिक्त, मन आसानीसे अंतःप्रेरणाकी नकल ऐसे ढंगसे कर सकता है कि सच्ची या झूठी अंतःप्रेरणामें विभेद करना कठिन हो जाय। यही कारण है कि बुद्धिप्रधान मनुष्य मान-सिक अंतःप्रेरणापर अविश्वास करते हैं और कहते हैं कि उसे तबतक स्वीकार नहीं किया जा सकता अथवा उसका अनुसरण नहीं किया जा सकता जबतक कि उसे बुद्धिके द्वारा जांच न लिया जाय और उसे प्रमाणित न कर लिया जाय। अधिमानसिक अंतःप्रेरणामेंसे जो कुछ आता है उसमें एक ज्योति, सुनिश्चितता तथा सत्यकी एक प्रभावशाली शक्ति होती है जो उत्तम-से-उत्तम मानसिक अंतःप्रेरणामें भी हीन होती।



मानसिक, प्राणिक, सूक्ष्म-भौतिक अंतःप्रेरणाएं होती हैं और साथ-ही-साथ उच्चतर और आलोकित मनसे आनेवाली अंतःप्रेरणाएं भी होती हैं।



यह (विज्ञान और संबोधिके साथ बुद्धिको एक समझना) दार्श-निकों तथा टीकाकारोंकी अति-बौद्धिकतासे उत्पन्न एक भूल है। मैं नहीं समझता कि बुद्धि अंतःप्रेरणाको युक्तिप्रधान मनसे भिन्न प्रकारकी

कोई वस्तु मानती है। वुद्धिवादी लोग अंतःप्रेरणाको वस मानसिक चिंतनकी एक द्रुत प्रक्रिया मानते थे—और वे अव भी ऐसा ही सोचते हैं। तैत्तिरीय उपनिषद्‌में 'विज्ञान' का अर्थ विलकुल स्पष्ट है—इसका सार है ऋतम् अर्थात् आध्यात्मिक सत्य; पर वादमें इसे सामान्य रूपसे वुद्धिसे अभिन्न समझा जाने लगा।



मैं नहीं समझता कि उनका मतलव आवश्यक रूपसे संवोधि है। वे वुद्धिको ज्ञानका साधन मानते हैं, इसलिये वे समस्त ज्ञानको इसमें समाविष्ट कर लेते हैं, और, चूंकि विज्ञानमय कोष ज्ञान-कोष है, वे समझते हैं कि इसका अर्थ अवश्य ही वुद्धि है। पर स्पष्ट ही यह अर्थ नहीं है। जिस वर्णनको तुमने उद्धृत किया है उसका अर्थ स्पष्ट ही एक ऐसी चीज है जो वुद्धि से वहुत उच्चतर है। वह उपनिषदोंका सत्यं ऋतं वृहत् है—वेदोंका सत्यचैतन्य है।

(4)

हमारे योगमें "केंद्रीय सत्ता" पदका प्रयोग सामान्यतया हमारे अंदर विद्यमान भगवान्‌के उस अंशके लिये होता है जो हमारे वाकी सभी अंगोंको सहारा देता और जन्म-मृत्युमें भी अपना अस्तित्व वनाये रखता है। इस केंद्रीय सत्ताके दो रूप हैं—ऊपर, यह जीवात्मन् हैं, हमारा सच्चा स्वरूप है जिसके विषयमें हम तव सचेतन होते हैं जव हमें उच्चतर आत्मज्ञान प्राप्त होता है,—नीचे, यह चैत्य पुरुष है जो मन, शरीर और प्राणके पीछे स्थित है। जीवात्मन् जीवनमें होनेवाली अभिव्यक्तिसे ऊपर रहता तथा उसकी अध्यक्षता करता है; चैत्य पुरुष जीवनमें होनेवाली अभिव्यक्तिके पीछे रहता और उसे सहारा देता है।

चैत्य पुरुपका स्वाभाविक भाव होता है अपने-आपको ईश्वरका वालक, उनकी संतान, उनका भक्त अनुभव करना; वह भगवान्‌का एक अंश होता है, सारतः उनके साथ 'एक' होता है, किंतु अभिव्यक्तिकी क्रियाके अंदर उस एकत्वमें भी सदा एक भेद वना रहता है। इसके विपरीत जीवात्मन् सार-रूपमें विद्यमान रहता है और भगवान्‌के साथ प्राप्त एकत्वमें विलीन हो सकता है; किंतु वह भी,

जिस क्षण अभिव्यक्तिकी क्रियाओंके ऊपर अध्यक्षता करता है, अपने-आपको 'बहु'-रूप भगवान्‌के एक केंद्रके रूपमें जानता है, न कि परमेश्वरके रूपमें। इस भेदको याद रखना बड़ा आवश्यक है; क्योंकि ऐसा न होनेपर, प्राणिक अहं यदि जरा भी आ जाय तो व्यक्ति अपने-आपको अवतार समझने लग सकता है अथवा रामकृष्णके साथ रहनेवाले हृदयकी तरह संतुलन खो सकता है।



संस्कृत भाषामें "जीव" शब्दके दो अर्थ हैं—"सजीव प्राणी"[1] और आत्मा जो व्यष्टिभावापन्न हुआ है और सजीव प्राणीको जन्म-जन्ममें होनेवाले उसके क्रमविकासमें धारण करता है। दूसरे अर्थमें पूरा शब्द है जीवात्मा—सजीव सत्ताका आत्मा अथवा शाश्वत स्वरूप। गीतामें रूपककी भाषामें इसे "भगवान्‌का शाश्वत अंश" कहा गया है—परंतु तुमने जो खंड (fragmentation) शब्दका व्यवहार किया है वह बहुत कड़ा शब्द है, इसका व्यवहार आकारोंके लिये तो किया जा सकता है पर उनमें विद्यमान आत्माके लिये नहीं किया जा सकता। अधिकंतु, 'बहु' भगवान् एक शाश्वत सत्य हैं जो इस सृष्टिके पहलेसे हैं। जीवात्माका विस्तृत वर्णन यह होगा कि "वह 'बहु'-रूप भगवान् है जो यहां सृष्ट सत्ताके व्यष्टिगत आत्माके रूपमें अभिव्यक्त हुआ है।" जीवात्मा अपने मूल रूपमें न तो परिवर्तित होता है और न विकसित, अपने मूल रूपमें यह वैयक्तिक क्रमविकासके ऊपर अवस्थित रहता है; स्वयं क्रमविकासके अंदर उसका प्रतिनिधित्व करता है विकसनशील चैत्य पुरुष जो प्रकृतिके बाकी सभी अंगोंको सहारा देता है।



अद्वैत वेदांत यह घोषित करता है कि जीवनका कोई सच्चा अस्तित्व नहीं है, क्योंकि भगवान् अविभाजेय हैं। दूसरा मत जीवके

---

1. भारतमें जब कोई किसी छोटे-से पशुको जानसे मारने लगता है तो लोग बहुधा यह कहकर उसका विरोध करते हैं कि "मत मारो—यह भगवान्‌का एक जीव (उनका सजीव प्राणी है)।"

सच्चे अस्तित्वको स्वीकार तो करता है पर उसका स्वतंत्र अस्तित्व नहीं मानता—उसका कहना है कि वह तत्वतः एक है, अभिव्यक्तिमें भिन्न है, और चूंकि अभिव्यक्ति सत्य, शाश्वत है, कोई भ्रम नहीं है, इसलिये उसे भी असत्य नहीं कह सकते। द्वैतवादी दर्शन जीवको एक स्वतंत्र श्रेणी मानते हैं और उनका सिद्धांत ईश्वर, जीव और प्रकृतिके त्रैतपर आधारित है।



जीवात्मा चैत्य पुरुष नहीं है—हमने अंगरेजी शब्द 'साइकिक बीइंग' (Psychic being) का समानार्थक शब्द संस्कृतमें 'चैत्य पुरुष' निश्चित कर दिया है। जीवात्मा है व्यष्टिभूत आत्मा—केंद्रीय पुरुष।

केंद्रीय पुरुष वह पुरुष है जो जन्म नहीं लेता, विकसित नहीं होता, बल्कि समूची व्यक्तिगत अभिव्यक्तिके ऊपर अधिष्ठान करता है। चैत्य पुरुष उसका यहां प्रक्षेप है—कारण, चैत्य पुरुष क्रमविकासके अंदर है और भीतरसे हमारे संपूर्ण क्रमविकासको सहारा देता है; वह समस्त अनुभवका सारतत्त्व ग्रहण करता और उसके द्वारा व्यक्तित्वको भगवान्‌की ओर खोलता है।

आत्मा एक साथ ही सबमें एक और बहु भी है—अपने सारतत्त्वमें एक है, यह व्यक्तिगत आत्माके रूपमें भी अभिव्यक्त होता है जिसका वर्णन प्रकृतिके अंदर भगवान्‌का शाश्वत अंश कहकर किया जा सकता है; स्वरूपतः यह अभिव्यक्तिका केंद्र, व्यष्टिभूत होता है पर अपने वैश्वभावको विस्तारित करता और परात्परताकी ओर ऊपर जाता है।



जीवात्मासे हमारा तात्पर्य है व्यक्तिगत आत्मा। सारतः यह अन्य सबके साथ एक आत्मा है, पर भगवान्‌के बहु-भावमें यह व्यक्तिगत आत्मा है, विश्वका एक व्यक्तिगत केंद्र है—और यह प्रत्येक वस्तुको अपने अंदर अथवा अपनेको प्रत्येक वस्तुमें देखता है अथवा अपनी चेतनाकी स्थिति और दृष्टिकोणके अनुसार दोनों ही एक साथ देखता है।



आत्मा अपने स्वरूपमें या तो परात्पर है या वैश्व (परमात्मा, आत्मा)। जब यह व्यष्टिभाव ग्रहण करता है और केंद्रीय पुरुष बन जाता है तो फिर यह जीवात्मा होता है। जीवात्मा विश्वके साथ एकत्व अनुभव करता है पर उसके साथ-ही-साथ भगवान्‌के अंशके रूपमें अपना केंद्रसे पृथक्त्व भी अनुभव करता है।



केंद्रीय पुरुषका प्रतिनिधि यह अंतरात्मा भगवान्‌का एक स्फुलिंग है और प्रकृतिके अंदर समस्त वैयक्तिक जीवनको सहारा देता है; चैत्य पुरुष इसी अंतरात्माका एक सचेतन आकार होता है जो क्रम-विकासके अंदर वर्द्धित होता रहता है—उस नित्य-प्रक्रियामें वर्द्धित होता रहता है जिसमें सबसे पहले जड़तत्त्वके अंदर प्राण, प्राणमें मन विकसित होता है और अंतमें चलकर यह मन अधिमानसमें तथा अधिमन अतिमानसिक सत्यमे विकसित हो सकता है। अंतरात्मा इन स्तरोंमेंसे होकर प्रकृतिको उसके विकासक्रममें सहारा देता है, पर वह स्वयं इन सब चीजोंमेसे कोई चीज नहीं है।

निम्नप्रकृति, अपरा प्रकृति यह बाह्य वस्तुनिष्ठ तथा उपरितलीय व्यक्तिनिष्ठ आपातदृष्ट प्रकृति है जो इन सब मनों, प्राणों और शरीरोंको अभिव्यक्त करती है। इसके पीछे छिपी हुई उच्च प्रकृति, परा प्रकृति भगवान्‌की सच्ची प्रकृति है—परमा चिच्छक्ति है जो 'बहु' के रूपमें अनेकरूप भगवान्‌को व्यक्त करती है। ये 'बहु' अपने-आप में परात्परकी परमा प्रकृति, पराप्रकृतिके अंदर उनके शाश्वत आत्मभाव हैं। यहां इस जगत्‌के संबंधसे ये जीवात्माओंके रूपमें दिखायी देते हैं और क्षणभंगुर संभूतिके अंदर, जो कि क्षर पुरुषका जीवन है, प्राकृतिक सत्ताओं, सर्वभूतानि, के क्रमविकासको अवलंब प्रदान करता है। जीव (या जीवात्मा) और प्राणी, सर्वभूतानि, एक ही चीज नहीं हैं। जीवात्मा वास्तवमें सृष्टिसे ऊपर अवस्थित होता है, यद्यपि इससे संबंधित होता है; प्राकृतिक सत्ताएं, सर्वभूतानि, प्रकृति-के प्राणी हैं। मनुष्य, पक्षी, पशु, सर्पादि प्राकृतिक सत्ताएं हैं, पर उनमें विद्यमान व्यक्तिगत आत्मा एक क्षणके लिये भी प्रकृत्या मनुष्य, पक्षी, पशु या सर्प नहीं है। अपने विकासक्रममें वह इन सभी परिवर्तनोंमें ज्योंका त्यों बना रहता है, एक आध्यात्मिक सत्ता बना रहता है जो प्रकृतिके खेलको अनुमति देती है।

भगवान्‌में जो कुछ चिरदिन मौलिक और शाश्वत होता है वह है सत्-भाव, असंभूति; जो कुछ चेतनामें, अवस्थाओं, शक्तियों, आकारों आदिमें भागवत शक्तिके द्वारा विकसित किया जाता है वह है संभूति। शाश्वत भगवान् सत्, असंभूति हैं; कालान्तर्गत विश्व और उसमें जो कुछ दृश्य है वह सब संभूति है। शाश्वत सत् अपनी उच्चतर प्रकृति, पराप्रकृतिमें एक संग ही एक और बहु है; परंतु भगवान्‌का शाश्वत बहु-भाव जब सृष्ट सत्ताओं, सर्वभूतानि, के पीछे अवस्थित होता है तो वह जीव-रूपमें दिखायी देता है (अथवा जैसा कि हम कहते हैं, बन जाता है)—**परा प्रकृतिर्जीवभूता**। चैत्यके अंदर, दूसरी ओर, दो पक्ष हैं, पीछेकी ओर चैत्य सत्-भाव या अंतरात्मा और सामनेकी ओर चैत्य व्यक्तित्वका रूप जिसे प्रकृतिमें होनेवाले अपने क्रमविकासमें वह ग्रहण करता है।

अंतरात्मा या चैत्य-तत्त्व केवल इस अर्थमें सनातन है कि वह अपने अंदर भगवान्‌की सारी संभावनाएं वहन करता है, किंतु उसे इन सबका विकास करना होता है और अपने विकासक्रममें वह एक विकसनशील चैत्य व्यक्तित्वका रूप ग्रहण करता है जो कि अभिव्यक्तिमें वैयक्तिक प्रकृतिको विकसित करता और विकासक्रममें भाग लेता है। वह दिव्य अग्निका एक स्फुलिंग है जो चैत्य पुरुषके माध्यमसे मन, प्राण और देहके पीछे वर्द्धित होता रहता है जबतक कि वह अज्ञानकी प्रकृतिको ज्ञानकी प्रकृतिमें रूपांतरित करनेमें समर्थ नहीं हो जाता। अतएव अंतरात्मा या मूल चैत्य-तत्त्व अपने अंदर जो कुछ वहन करता है वह सब कुछ यह विकसनशील चैत्य पुरुष कभी नहीं होता; आत्माके इस प्रसरणमें जो कुछ संभावनाके रूपमें शाश्वत है, तत्त्वतः परात्पर है, उसे वह यहां अनित्य और व्यक्तिगत रूप प्रदान करता है।

केन्द्रीय पुरुष वह पुरुष है जो एकके बाद एक विभिन्न जन्मोंके ऊपर अधिष्ठान करता है, पर जो स्वयं अजन्मा है, क्योंकि वह सत्तामें उतरता नहीं बल्कि उससे ऊपर रहता है—वह मानसिक, प्राणिक और भौतिक सत्ताको और व्यक्तित्वके सभी विविध भागोंको एक साथ धारण करता है तथा जीवनको या तो मनोमय पुरुष और मानसिक विचार एवं संकल्पके द्वारा या चैत्य पुरुषके द्वारा, इनमेंसे जो कोई प्रकृतिमें सबसे अधिक सामने या अत्यंत प्रबल होता है उसके द्वारा संयमित करता है। यदि वह अपने संयमका प्रयोग नहीं करता

तो चेतना बहुत अस्तव्यस्त रहती है और व्यक्तित्वका प्रत्येक भाग स्वयं अपने लिये कार्य करता है जिससे विचार, हृद्‌गत अनुभव या कर्ममें कोई संगति नहीं रहती।

चैत्य पुरुष ऊपर नहीं बल्कि पीछे रहता है—इसका स्थान हृदयके पीछे है, उसका बल ज्ञान नहीं है वरन् एक तात्त्विक या आध्यात्मिक बोध है—उसे सत्यका स्पष्टतम बोध होता है और एक प्रकारका उसका सहज बोध होता है जो अंतरात्म-बोध और अंतरात्मानुभूतिके स्वभावका होता है। यह हमारा अंतरतम पुरुष है और अन्य सबको, मानसिक, प्राणिक और भौतिकको धारण करता है पर यह उनके द्वारा बहुत अधिक ढका हुआ भी होता है और उसे उनके ऊपर प्रत्येक कार्य करनेके अपने सर्वोच्च अधिकारकी अपेक्षा कहीं अधिक एक प्रभावके रूपमें ही कार्य करना होता है। केवल विकासकी एक उच्च स्थितिमें अथवा योगके द्वारा ही उसकी प्रत्यक्ष क्रिया स्वाभाविक और प्रभावशाली होती है। सच पूछो तो भावी चीजोंका सहजज्ञान या विशेष कार्योंके परिणामोंकी चेतावनी, जैसा कि तुम अनुभव करते हो, तुम्हें चैत्य पुरुष नहीं देता; उसे आंतर सत्ताका कोई भाग देता है, कभी तो वह आंतरिक मन होता है, कभी आंतरिक प्राण और कभी वह आंतरिक या सूक्ष्म-भौतिक पुरुष भी हो सकता है। आंतर पुरुषको—आंतरिक मन, आंतरिक प्राण, आंतरिक या सूक्ष्म शरीरको—ऐसी बहुतसी चीजें मालूम होती हैं जिन्हें बाह्य-मन, बाह्य प्राण, बाह्य शरीर नहीं जानते, क्योंकि प्रकृतिकी गुप्त शक्तियोंके साथ उसका सीधा संघर्ष रहता है। चैत्य पुरुष सबका अंतरतम पुरुष है; चेतनाके गभीरतम सत्तत्वमें जो सत्य अंतर्निहित है उसे देख लेना, सत्यं, शिवं, सुन्दरम्‌को, भगवान्‌को अनुभव कर लेना उसका विशेषाधिकार है।

केंद्रीय पुरुष, जीवात्मन्, जो कि जन्म नहीं लेता और न विकसित होता है, पर वैयक्तिक जन्म और विकासक्रमकी अध्यक्षता करता है, चेतनाके हर स्तरपर अपना प्रतिनिधि खड़ा करता है। मनके स्तरपर वह सच्चा मनोमय पुरुष है, प्राणके स्तरपर सच्चा प्राणमय पुरुष और दैहिक स्तरपर सच्चा दैहिक या अन्नमय पुरुष है। अतः जबतक अज्ञान रहता है तबतक जिस स्तरपर व्यक्ति प्रमुखतः निवास करता है उसके अनुरूप वह अपने मनोमय, प्राणमय या अन्नमय

पुरुषके चारों ओर केंद्रित रहता है और वही उसके लिये केंद्रीय पुरुष होता है। किंतु सच्चा प्रतिनिधि सब समय मन, प्राण और देहके पीछे छिपा रहता है, वह है चैत्य पुरुष, हमारा अंतरतम पुरुष।

जब अंतरतम ज्ञान आने लगता है तब हम अपने अंदरके चैत्य पुरुषके प्रति सचेतन होते हैं और वह आगे आकर साधनाका नेतृत्व करता है। हम जीवात्मन्‌के प्रति भी सचेतन होते हैं जो कि अभि-व्यक्तिके ऊपर रहनेवाला अविभक्त आत्मन्‌ है और जिसका यहां प्रतिनिधि है चैत्य पुरुष।



सच्चा आंतर पुरुष—सच्चा मानसिक, सच्चा प्राणिक, सच्चा भौतिक पुरुष प्रत्येक अपने लोकमें केंद्रीय पुरुषका प्रतिनिधित्व करता है और उसे प्रत्युत्तर देता है, पर समूची प्रकृति और विशेष रूपमें बाह्य प्रकृति नहीं देती, न सामान्य मानसिक, प्राणिक या भौतिक व्यक्तित्व देता है। चैत्य पुरुष क्रमविकासके उद्देश्योंके लिये केंद्रीय पुरुष है—वह वर्द्धित और विकसित होता है; परंतु ऊपर एक केंद्रीय पुरुष भी है जिसके विषयमें मन सज्ञान नहीं होता, जो अदृश्य रूपसे समूची सत्तापर अधिष्ठान करता है और अभिव्यक्त प्रकृतिके अंदर जिसका प्रतिनिधि चैत्य पुरुष है। यही वह पुरुष है जिसे जीवात्मन्‌के नामसे पुकारा जाता है।



चैत्य पुरुष भगवान्‌का एक स्फुलिंग है—परंतु मैं नहीं समझता कि इसे जीवात्माका एक अंश कहा जा सकता है—यह वही जीवात्मा-तत्त्व है जिसे अन्य प्रकारसे सामने रखा गया है।



हां, इसे समझाना थोड़ा कठिन है। संभवतः सबसे उत्तम बात है मेरे उत्तरको कई पृथक्‌ वक्तव्योंमें विभक्त कर देना, क्योंकि समूची चीज अत्यंत जटिल हो गयी है और समझमें आने लायक नहीं है।

1. जीवात्मासंबंधी मेरी परिकल्पना या अनुभवके साथ अद्वैतके विशुद्ध "मैं" की तुलना करना असंभव है, जिससे, मेरी समझमें,

तुम्हारा मतलब है वह चीज जो कहती है कि "मैं वही हूं" और उस अनुभवके द्वारा ब्रह्ममें लीन हो जाती है। मायावादियोंके अद्वैतके अनुसार यह जीवात्मा, स्वयं ईश्वरकी तरह, भ्रमात्मक मायाके अंदर ब्रह्मका महज एक आभास है। उस मतके अनुसार कोई ईश्वर, जगत्का स्वामी, नहीं है, क्योंकि —सिवा मायाके अंदर—कोई जगत् ही नहीं है। ठीक उसी तरह कोई जीवात्मा नहीं है, केवल मायाके अंदर निम्नतर (भ्रमात्मक) चेतनाके द्वारा परमात्मा ही भूलवश व्यक्तिगत आत्माके रूपमें दिखायी देता है। दूसरी ओर, जो लोग ईश्वरके साथ एकत्व प्राप्त करना चाहते हैं वे जीवात्माको या तो एक पृथक् पुरुषके रूपमें, ईश्वरपर आश्रित समझते या अनुभव करते हैं अथवा एक ऐसा पुरुष मानते हैं जो ईश्वरके साथ तत्वतः एक है पर फिर भी भिन्न है, परंतु यह भिन्नता मौलिक एकत्वकी तरह ही शाश्वत है—और जीवात्मा तथा भगवान्के साथ या परात्परके साथ उसके संबंधके विषयमें और दूसरी भावनाएं भी हैं। अतएव यह शुद्ध "मैं", यदि इसी भांति इसका वर्णन करना है, अलग ढंगसे, विभिन्न रूपोंमें, हम कह सकते हैं कि, विभिन्न लोगोंके सम्मुख उपस्थित होता है। यदि तुम पूछो कि क्यों, तो मैं 'अ' को दिये गये अपने उत्तरकी ओर तुम्हारा ध्यान आकर्षित करता हूं। अधिमानस वस्तुओंके सत्यको सभी प्रकारके रूपोंमें उपस्थित करता है और मन, आध्यात्मिक मन भी, किसी एक या दूसरेको एकमात्र सत्य, उस विषयका एकमात्र सच्चा सत्य निर्धारित कर देता है। सच पूछो तो यह मन ही इन विभेदोंकी सृष्टि करता है, पर उससे कुछ आता-जाता नहीं, क्योंकि, अंतरात्माको अथवा व्यक्तिभावापन्न चेतना या उसे तुम जो भी नाम देना चाहो उसे देखने और अनुभव करनेके अपने निजी तरीकेसे मनोमय पुरुष वहीं जाता है जहां उसे जाना जरूरी है। मैं आशा करता हूं कि इतनी बात इस विषयके प्रथम पक्षके रूपमें सुस्पष्ट है।

2. मैं इस कथनपर जरा भी विवाद नहीं करता कि मनुष्य आत्मा, ब्रह्म या ईश्वरको ऊर्ध्वस्थ क्षेत्रोंमें, सक्रिय आध्यात्मिक लोकोंमें गये बिना अथवा, जैसा कि इस योगमें घटित होता है, शरीरसे ऊपर स्थायी रूपमें अवस्थान किये बिना उपलब्ध कर सकता है। यदि ऐसा सहस्रारके द्वारा भी किया जाय तो, हां महाशय, सहस्रार

अध्यात्मभावापन्न मनतक प्रसारित रहता है और मस्तकके शीर्षभागमें अनुभूत हो सकता है, अतएव ऊपर आरोहण करना अपरिहार्य नहीं है। परंतु, इसके अलावा, जैसा कि तुम कहते हो, मनुष्य भलीभांति आत्माको उपलब्ध कर सकता है यदि वह मन और हृदयके पीछे अवस्थित हो जाय, प्रकृतिके मार्गोंसे अपनेको विमुक्त कर ले, मन, प्राण और शरीरके साथ तदात्म होना बंद कर दे और एक प्रकारकी आंतरिक निश्चल-नीरवतामें चला जाय। इसके लिये आंतर मन या आंतर प्राणके राज्योंका अन्वेषण करनेकी भी कोई आवश्यकता नहीं है, उससे भी कम अपरिहार्य है अपने पंखोंको ऊपर के क्षेत्रोंमें प्रसारित करना। आत्मा सर्वत्र है और पूर्ण पृथक्त्व और नीरवतामें प्रवेश करनेपर, अथवा चाहे पृथकता या नीरवताके द्वारा भी, कहीं भी आत्माकी कुछ झांकी, कोई प्रतिबिंब, यहांतक कि शायद पूर्ण प्रतिबिंब, अथवा उसकी उपस्थितिका बोध अथवा अपने-आप किसी ऐसी चीजमें जो मुक्त, विस्तारित, नीरव, शाश्वत, अनंत है, डूब जानेका बोध प्राप्त हो सकता है। स्पष्ट ही, यदि यह विशुद्ध "मैं" ही, वह चाहे जिस स्वभाववाला क्यों न हो, वह चीज है जो अनुभव करती है तो जो चेतना अनुभव प्राप्त करती है वह उसे सत्ताका व्यक्तिगत आत्मा, जीवात्मा अवश्य समझेगी।

8. मनुष्य अपने संबंधमें यह अनुभव भी कर सकता है कि वह मन नहीं बल्कि विचारक है, हृदय नहीं बल्कि आत्मा या "मैं" है जो हृद्गत भावोंको धारण करता है, प्राण नहीं बल्कि प्राणको अवलंब देनेवाला है, शरीर नहीं बल्कि शरीर धारण करनेवाला है। यह आत्मा स्पष्ट ही क्रियाशील और साथ ही निश्चल-नीरव भी हो सकता है; अथवा तुम कह सकते हो कि, यद्यपि वह स्थिर और अचल होता है, अपनी नीरवतासे ही वह प्रकृतिकी क्रियाशीलताको उत्पन्न करता है। हम इसे सबमें विद्यमान एक आत्मा तथा अपने अंदर विद्यमान सच्चा "मैं" भी अनुभव कर सकते हैं। सब कुछ निर्भर करता है अनुभवपर। बहुत सामान्य रूपमें, यह पुरुषका अनुभव होता है, बहुधा आरंभमें नीरव साक्षीके रूपमें, समस्त प्रकृतिके धारणकर्त्ताके रूपमें अनुभूत होता है; परंतु पुरुषको ज्ञाता और ईश्वरके रूपमें भी अनुभव किया जा सकता है। कभी-कभी तो एक-न-एक केंद्रमें मनोमय पुरुषके रूपमें अथवा उसके द्वारा, कभी-कभी प्राणमय

पुरुषके रूपमें अथवा उसके द्वारा हम अपने आत्मा या जीवात्माका ज्ञान प्राप्त कर सकते हैं। यह भी संभव है कि हम अपने अंतरस्थ गुह्य चैत्य पुरुषको स्वयं उसके द्वारा अपने सच्चे 'व्यक्तित्वके' रूपमें जानें; अथवा हम चैत्य पुरुषको शुद्ध "मैं" के रूपमें जान सकते हैं और साथ ही इन दूसरोंको मन या प्राणमें इन क्षेत्रोंके या इन स्तरोंपर प्रतिनिधियोंके रूपमें अनुभव करें। अपने अनुभवके अनुसार हम इनमेंसे किसी एकको जीव या शुद्ध "मैं" (यह अंतिम बड़ा ही भ्रामक शब्द है) अथवा सच्चा पुरुष या सच्चा व्यक्ति कह सकते हैं जो अपने-आपको वैश्व या परात्पर पुरुषके साथ एक या उसका एक अंग अथवा उसपर पूर्णतः आश्रित जानता है तथा उसीमें अपनेको डुबा देने या उसमें ऊपर आरोहण कर जाने और वही बन जाने या उसके साथ एक होकर बने रहनेका प्रयास करता है। सिरसे ऊपरकी अनुभूतिकी, या सिरके ऊपर स्थायी रूपसे बने रहनेकी किसी आवश्यकताके बिना भी ये सब चीजें बिलकुल संभव हैं।

4. यहां, पहले, कोई पूछ सकता है कि फिर यह क्यों न कहा जाय कि जो जीवात्मा इस प्रकार अनुभूत हो सकता है वही विशुद्ध "मैं" है जिसका अनुभव निम्नतर आत्माको होता है और जिसके द्वारा वह मुक्ति प्राप्त करता है; और, दूसरे, भला ऊर्ध्वस्थ लोकोंमें जानेकी बिलकुल आवश्यकता ही क्या है? ठीक, सबसे पहले, यह विशुद्ध "मैं" मुक्तिके लिये, चाहे वह मुक्ति नैर्व्यक्तिक आत्मा या ब्रह्ममें हो अथवा किसी भी शाश्वत वस्तुके अंदर हो, एक मध्यस्थके रूपमें एकदम ही आवश्यक नहीं प्रतीत होता। बौद्ध मतावलंबी किसी आत्मा या जीवात्मा या विशुद्ध "मैं" के किसी अनुभवको स्वीकार नहीं करते; वे चेतनाको संस्कारोंके एक समूहमें विलीन करना आरंभ करते हैं, संस्कारोंसे मुक्त होते हैं और इस भांति किसी नित्य वस्तुमें, जिसका वे वर्णन करना अस्वीकार करते हैं या किसी शून्यमें मुक्त होते हैं। इसलिये विशुद्ध "मैं" या जीवात्माका अनुभव प्राप्त करना ऐसे प्रत्येक व्यक्तिके लिये अनिवार्य नहीं है जो शाश्वतके अंदर मुक्त होना चाहता है पर जो अध्यात्मभावापन्न मनसे परे किसी ऊर्ध्वस्थ उच्च ज्योतिमें उठे बिना उसे प्राप्त करके संतुष्ट रहता है। स्वयं मुझे भी निर्वाण और ब्रह्मकी निश्चल-नीरवता आदिका अनुभव ऊर्ध्वस्थ आध्यात्मिक लोकोंका कोई ज्ञान होनेसे बहुत पहले ही प्राप्त हुआ था; वह सर्व-

प्रथम महज पूर्ण निस्तब्धता आ जानेपर और मानो समस्त मानसिक, भावात्मक और अन्य आंतरिक क्रियाओंको विलुप्त कर देनेपर आया था—अवश्य ही शरीरने देखना, चलना-फिरना, बोलना और अपने अन्य कार्योंको करते रहना जारी रखा, पर ठीक एक शून्य स्वचालित मशीनकी तरह, इससे अधिक कुछ नहीं। मैं किसी शुद्ध "मैं" के विषयमें सचेतन नहीं हुआ और न किसी आत्माके विषयमें ही, चाहे निर्व्यक्तिक कहो या अन्य,—एकमात्र सद्वस्तुके रूपमें केवल 'तत्' की ही अभिज्ञता प्राप्त थी, बाकी सब कुछ एकदम सारहीन, शून्य, असत्य प्रतीत होता था। यदि यह पूछा जाय कि किस चीजने उस सद्वस्तुको उपलब्ध किया तो वह कोई नामहीन चेतना थी जो उस 'तत्'[1] से भिन्न नहीं थी; हम शायद यह कह सकते थे, यद्यपि बड़ी मुश्किलसे इतना भी जितना यह है, क्योंकि उस समय उसके विषयमें कोई मानसिक धारणा नहीं थी, पर इससे अधिक कुछ नहीं था। और न मुझे किसी निम्नतर आत्मा या बाह्य आत्माके विषयमें, जिसे अमुक-अमुक वैयक्तिक नामसे पुकारा जाता है, सचेतनता थी जो निर्वाणकी चेतनाको प्राप्त करनेका यह कमाल पूरा कर रही थी। हां, तो फिर तुम्हारे विशुद्ध "मैं" का और उस सबमें निम्नतर "मैं" का क्या हुआ? चेतना (चेतनाका यह या वह भाग या किसी प्रकार-का कोई "मैं" नहीं) एकाएक समस्त अंतर्वस्तुसे खाली हो गयी और केवल असत्य परिपार्श्वके विषयमें तथा किसी सत्य, पर अनिर्वचनीय वस्तुके विषयमें सज्ञान बनी रही। तुम कह सकते हो कि उस समय कोई चेतना अवश्य होगी जो किसी अनुभव करनेवाली सत्ताके विषयमें सचेतन होगी, भले ही कोई शुद्ध "मैं" न हो, पर, यदि ऐसा हो तो, वह कोई ऐसी चीज थी जिसके लिये ये सब नाम अपर्याप्त प्रतीत होते हैं।

5. मैंने कहा है कि सामान्य आध्यात्मिक प्रयोजनोंके लिये सिरसे ऊपर आरोहण करना अनिवार्य नहीं है,—पर यह इस योगके

---

1. जरा ध्यान रखो कि इन चीजोंके विषयमें मैंने कोई विचार नहीं किया, उस समय न तो कोई विचार थे न कोई विकल्प और न वे इस रूपमें किसी 'मैं' के सम्मुख उपस्थित हुए; यह महज ठीक ऐसा ही था या ऐसा ही अपने-आप प्रतीत होता था।

प्रयोजनोंके लिये अनिवार्य है। कारण, इसका उद्देश्य है एक सत्य-चैतन्यसे अवगत होना और उसकी ज्योतिमें समस्त सत्ताको मुक्त, रूपांतरित और युक्त करना जो सत्य-चैतन्य ऊपर है और जिसे पूर्णतः अंदर पैठे विना, अतिक्रम किये विना तथा ऊपर उठे विना प्राप्त नहीं किया जा सकता। यही कारण है कि मोटे रूपमें जो मैंने मनोवैज्ञानिक विवरण दिये हैं वे इतने जटिल हो गये हैं, मूलतः इनमें कोई नवीनता नहीं है—क्योंकि इनकी अधिकांश बातें उपनिषदों-में और अन्यत्र पायी जाती हैं, पर ये नवीन हैं समष्टिगत वर्णनकी अपनी पूर्णतामें और अपने विकासमें जिनको एक सर्वांगपूर्ण योगकी ओर नियोजित किया जाता है। किसी व्यक्तिके लिये इसे स्वीकार करना आवश्यक नहीं है जवतक कि इस लक्ष्यसे वह सहमत नहीं है; अन्य उद्देश्योंके लिये यह आवश्यक नहीं है और यह उनके लिये भली-भांति अतिरिक्त हो सकता है।

6. परंतु जब कोई आंतरिक अनुसंधान और ऊर्ध्वारोहण कर लेता है, जब किसीकी चेतना ऊपर स्थापित हो जाती है तो फिर चीजोंको ठीक उसी भांति देखनेकी उससे आशा नहीं की जाती जिस भांति वे नीचेसे दिखायी देती हैं। मेरे लिये जीवात्मा अजन्मा है जो व्यक्तिगत सत्ता और इसके विकसित रूपोंके ऊपर अधिष्ठान करता है, व्यक्तिगत सत्तासे संबंधित होता है पर उससे तथा उसके विकसित रूपोंसे ऊपर होता है और जो अपनी सत्ताके ठीक स्वभावसे ही अपनेको व्यष्टिगतकी तरह ही वैश्व और परात्पर भी जानता है और भगवान्‌को अपना मूल, अपनी सत्ताका सत्य, अपने स्वभावका प्रभु, अपनी सत्ताका एकदम उपादान अनुभव करता है। वह भगवान्-में निमग्न रहता है और शाश्वतके साथ सर्वदा एक होकर रहता है, अपनी स्वीय अभिव्यक्ति और यंत्रात्मक क्रियाशक्तिके विषयमें, जो कि स्वयं भगवान्‌की क्रियाशक्ति है, सज्ञान रहता है, प्रेम और आनंदमें उस तत् पर आश्रित होता और उसके प्रति पूजा-भाव रखता है जिसके साथ अब भी उस प्रेम और आनंदके द्वारा एकात्म होता है, एकत्वमें संबंध स्थापित करनेमें समर्थ होता है, इस बहुविधताके अंदर विना विरोध सुसमंजस रहता है, क्योंकि यह मनकी, यहांतक कि आध्यात्मिक मनकी चेतना और सत्तासे भी भिन्न दूसरी चेतना और सत्ता है; यह अनंतकी, केवल तत्त्व-रूपमें नहीं वल्कि क्षमतामें भी,

एक स्वाभाविक चेतना है जो अपनी निजी आत्मचेतनाके सम्मुख सभी वस्तुएं हो सकती हैं और फिर भी सदैव वही और एक बनी रहती है। अतएव, मनके लिये कठिनाइयोंसे भरी हुई त्रिविध अनुभूति अतिमानसिक चेतनाके लिये अथवा, सामान्यतया, उच्च गोलार्धकी चेतनाके लिये बिलकुल स्वाभाविक, सुगम, और सुनिश्चित है। यह सभी आध्यात्मिक लोकोंमें ज्ञानके रूपमें दृष्ट और अनुभूत हो सकता है, पर इसका पूर्णतः अविभाज्य ज्ञान, संपूर्ण गतिशील शक्तियां एकमात्र स्वयं अतिमानसिक चेतनाके द्वारा उसके अपने लोकमें अथवा उसका अवतरण होनेपर यहां अनुभूत हो सकती हैं।

7. विशुद्ध "मैं" का वर्णन जीवात्माकी उपलब्धिका वर्णन करनेके लिये बिलकुल अपर्याप्त है—बल्कि उसका वर्णन सच्चे पुरुष या भागवत व्यक्तिके रूपमें किया जा सकता है, यद्यपि यह भी पर्याप्त नहीं है। "मैं" शब्द बराबर ही अहंके, पार्थक्यके गर्भित सुझावके साथ आता है; परंतु इस आत्मदृष्टिमें कोई पृथकताका भाव नहीं है, क्योंकि यहांपर व्यक्ति एकमेवके लिये कर्मका एक आध्यात्मिक सजीव केन्द्र है और जो कुछ वह 'एक' है उस सबसे कोई पार्थक्य अनुभव नहीं करता।

8. यहां व्यक्तिगत प्रकृतिके अंदर जीवात्मा की अपनी प्रतिनिधि-शक्ति होती है; यह प्रतिनिधि-शक्ति है वह पुरुष जो प्रकृतिको धारण करता है—केंद्रीय रूपसे यह शक्ति चैत्य पुरुषमें है, अधिक उपकरण-रूपसे मनमें, प्राणमें और भौतिक सत्ता तथा प्रकृतिमें है। अतएव इनको या इनमेंसे किसीको यह मानना संभव है कि ये मानों यहां जीव हों। तथापि मैं इनमें विभेद करनेके लिये बाध्य हूं, केवल स्पष्ट चिंतनके लिये ही नहीं बल्कि अनुभव तथा सर्वांगपूर्ण सक्रिय आत्म-ज्ञानके लिये इसकी आवश्यकता होनेके कारण, जिसके बिना इस योग-में सफल होना कठिन है। इस सबको अपने लिये मानसिक रूपमें गढ़ लेना अनिवार्य नहीं है, इस सबका अनुभव प्राप्त किया जा सकता है और, यदि कोई आंतरिक दर्शन-शक्तिके द्वारा स्पष्ट रूपमें देख ले तो यह अपने लक्ष्यकी ओर प्रगति करनेके लिये पर्याप्त है। परंतु, मन यदि निर्मल हो और मानसिक कठोरता और मूलभ्रांतिमें न जा गिरे तो योगके साधकके लिये बातें अधिक सरल हो जाती हैं। परंतु नमनीयताको अवश्य सुरक्षित रखना चाहिये, क्योंकि नमनीयताका अभाव व्यवस्थित बौद्धिक सूत्रीकरणका खतरा बन जाता है; मनुष्यको

स्वयं वस्तुका निरीक्षण करना चाहिये और किसी भावनामें ही आबद्ध नहीं हो जाना चाहिये. सच पूछा जाय तो इन सब बातोंमेंसे कोई भी बात वास्तविक आध्यात्मिक अनुभवके बिना यथार्थरूपमें नहीं जानी जा सकती।

⊙

मैंने जीव और जीवात्मा शब्दोंका व्यवहार इन उद्धरणों तथा सभी लेखोंमें ठीक एक ही अर्थमें किया है—यह बात कभी मेरे ध्यानमें नहीं आयी कि इनमें कोई अंतर हो सकता है। यदि मेरा इस प्रकार अभिप्राय होता तो मैंने इनका अवश्य ही अंतर बताया होता—ये दोनों शब्द-एक जैसे हैं—बहुत स्पष्ट रूपमें एक-जैसे हैं और अनुमानसे समझनेके लिये नहीं छोड़ दिये गये हैं।

"अतिमानसकी त्रिविध स्थितियां" शीर्षक अध्यायके इस उद्धरणमें मैं यह वर्णन कर रहा था कि किस प्रकार अतिमानसने भगवान्के उच्चतम आत्म-निर्धारणकी एक शक्तिके रूपमें कार्य करते हुए अपने-आपको तीन अवस्थाओंमें अभिव्यक्त किया और अतिमानसिक सृष्टिमें जीवात्माकी चेतना क्या है। वहां ऐसा कोई कथन नहीं कि जीवात्माका स्थान केवल अतिमानसिक लोकमें है; यदि ऐसी बात होती तो मनुष्यको अतिमानसिक लोकमें आरोहण करनेसे पहले अपने व्यक्तिगत आत्मा या जीवात्माका कोई ज्ञान न हो पाता; उसे आत्माकी कोई अनुभूति न हो पाती, यद्यपि उसे यह बोध हो सकता कि किसी वैश्व वस्तुमें उसका अहंभाव विलीन हो गया है। परंतु वह अपने जन्मरहित अविकसनशील आत्माके, भागवत चैतन्यके एक केंद्रके विषयमें उससे बहुत पहले सज्ञान हो सकता है; वैश्वका व्यक्तिगत आत्माका अनुभव अतिमानसमें ऊपर उठनेसे बहुत पहले ही प्राप्त हो जाता है। यदि ऐसा न होता तो उतने ऊंचे प्रकारका आध्यात्मिक अनुभव मनोमय मानवके लिये असंभव होता, मुक्ति पाना असंभव हो जाता; उसे सबसे पहले अतिमानसिक पुरुष बनना पड़ता। पुरुषका जहांतक प्रश्न है वह सभी लोकोंमें विद्यमान है; एक मनोमय पुरुष है जो प्राण और शरीरका नेता है जैसा कि उपनिषद् इसे प्रस्तुत करती है, एक प्राणमय और एक अन्नमय पुरुष है; फिर एक चैत्य पुरुष है जो मानो इन सबको धारण करता

और वहन करता है। हम कह सकते हैं कि ये सब जीवात्माके प्रक्षिप्त भाग हैं जो सत्ताके विभिन्न स्तरोंपर प्रकृतिको धारण करनेके लिये वहां रखे गये हैं। उपनिषद् एक विज्ञानमय पुरुष और एक आनंदमय पुरुषकी भी बात कहती है और यदि पृथ्वीपर होनेवाले क्रमविकासके अंदर विज्ञानमय और आनंदमय प्रकृति संगठित हो जाय तो हम यहांकी गतिविधियोंको धारण करनेवाले इन पुरुषोंके विषयमें सज्ञान हो सकते हैं।

चैत्य पुरुषका जहांतक प्रश्न है, वह विकासक्रममें प्रवेश करता है, जन्मके समय शरीरमें प्रवेश करता है और मृत्युके समय उससे बाहर चला जाता है; किंतु, जैसा कि मैं जानता हूं, जीवात्मन् अजन्मा और शाश्वत है, हालांकि अभिव्यक्त व्यक्तित्वको वह ऊपरसे सहारा देता है। यदि चाहो तो कह सकते हो कि चैत्य पुरुष जन्ममें प्रवेश करनेवाला जीवात्मन् है, किंतु यदि यह विभेद न किया जाय तो आत्मन्का स्वरूप अस्पष्ट हो जायगा और एक भ्रम उत्पन्न होगा। यह भेद तात्त्विक ज्ञानके लिये और एक ऐसी चीजके लिये बड़ा आवश्यक है जो आध्यात्मिक अनुभवकी एक बहुत महत्त्वपूर्ण चीज है। आत्मन्को अंगरेजीके 'स्पिरिट' शब्दकी भांति सब प्रकारके अर्थोंमें प्रयुक्त किया जाता है, किंतु आध्यात्मिक और दार्शनिक दोनों ही प्रकारके ज्ञानके लिये यह आवश्यक है कि हम अपने शब्दोंका व्यवहार खूब स्पष्ट और ठीक-ठीक अर्थमें करें ताकि जिस विचार और अनुभवको व्यक्त करनेके लिये हम शब्दोंका प्रयोग करते हैं उनमें अपने शब्दोंकी गड़बड़ीके कारण कोई गड़बड़ी न आने दें।



जीवका अनुभव व्यक्तिगत आत्मा, प्रकृतिसे ऊपर स्थित केंद्रीय पुरुषके रूपमें होता है जो शांत-स्थिर, प्रकृतिकी क्रियाओंसे अस्पष्ट, पर उनके विकासक्रमको धारण करनेवाला, यद्यपि उसमें ग्रस्त न होनेवाला होता है। इस उपलब्धिके द्वारा निश्चल-नीरवता, मुक्ति, प्रसारता, प्रभुत्व, पवित्रता, इस दिव्य वैश्वभावके एक केंद्रके रूपमें व्यक्तिके अंदर वैश्वभावका बोध सामान्य अनुभव बन जाते हैं। चैत्य पुरुषकी अनुभूति होती है हृदयके पीछे स्थित पुरुषके रूपमें।

वह जीवात्माकी भांति विश्वव्यापी नहीं होता, बल्कि वैयक्तिक अंतरात्मा होता है जो कि हृच्चक्रके पीछेके अपने स्थानसे प्रकृतिके अंदर सत्ताके मानसिक, प्राणिक, दैहिक और चैत्य विकासक्रमको सहारा देता रहता है। उसकी उपलब्धि ले आती है भक्ति, आत्मदान, समर्पण, समस्त गतियोंमें ईश्वरोन्मुख प्रवृत्ति, जो कुछ दिव्य, सत्य, शिव और सुन्दरसे संबंधित है उसे पहचानने और अपनानेकी शक्ति, जो कुछ मिथ्या, अशुभ, असुन्दर और सामंजस्यहीन है उसका त्याग करनेकी वृत्ति, जो कुछ भी अस्तित्व रखता है उस सबसे प्रेम और संवेदनाके द्वारा एकत्व, तथा आत्मा और भगवान्‌के सत्यके प्रति उन्मीलन।



आत्माकी चेतनामें रहनेका अर्थ है स्थिरता, एकता और शांतिमें रहना जो वस्तुसे ऊपर है और संसारमें परिव्याप्त होनेपर भी उससे पृथक् है। परंतु चैत्य चेतनाके लिये दो वस्तुएं हैं—जगत् और जगत्‌में काम करनेवाला वह स्वयं। जीवात्मा जगत्‌में नीचे नहीं उतरा है, वह ऊपर स्थित रहता है, सदा एक-जैसा रहता और मनोमय आदि विभिन्न सत्ताओंको धारण करता है जो यहां कार्य करती हैं। चैत्य वह पुरुष है जो यहां नीचे आया है—उसका मुख्य कार्य है रूपांतरके लिये सभी वस्तुओंको भगवान्‌के चरणोंमें अर्पित कर देना।



सच्चे पुरुषकी उपलब्धि इन दोनों रूपोंमेंसे किसी एक या दोनोंमें की जा सकती है—(१) आत्मन्, और (२) अंतरात्मन् या चैत्य पुरुष। अंतर बस यह है कि एककी अनुभूति होती है विराट् रूपमें और दूसरेकी वैयक्तिक रूपमें जो कि मन, प्राण और देहको सहारा देता है। जब कोई व्यक्ति आत्मन्‌की उपलब्धि पहले करता है तो वह अनुभव करता है कि आत्मन् सब चीजोंसे पृथक् है, स्वयंसत् है और अनासक्त है। इसी उपलब्धिके लिये सूखे नारियलकी उपमा दी जा सकती है। जब हमें चैत्य पुरुषकी उपलब्धि होती है तब ऐसा नहीं होता, क्योंकि इस उपलब्धिसे भगवान्‌के साथ एकत्वका, उनके ऊपर निर्भरताका और एकमात्र भगवान्‌के प्रति एकांत आत्म-

निवेदनका भाव आता है, अपने अंदर सच्चे मनोमय, सच्चे प्राणमय, सच्चे अन्नमय पुरुषको ढूंढ़ने और प्रकृतिको बदलनेकी शक्ति आती है। ये दोनों ही उपलब्धियां इस योगके लिये आवश्यक हैं।

"मैं" या तुच्छ अहं प्रकृतिद्वारा निर्मित होता है और एक साथ ही मानसिक, प्राणिक और दैहिक रचना है जिसका उद्देश्य है बाह्य चेतना और कर्मको केंद्रीभूत और व्यक्तिभावापन्न करनेमें सहायक होना। जब सच्चे पुरुषका पता लग जाता है तो अहंकी उपयोगिता समाप्त हो जाती है और इस रचनाको विलीन हो जाना होता है—उसके स्थानमें फिर सच्चा पुरुष अनुभूत होता है।



जीवात्मा मनसे ऊपरकी चेतना है, आत्मा है जो सर्वदा भगवान्‌के साथ एकत्वमें बना रहता है—आध्यात्मिक चेतना वह चेतना है जो सदा एकत्वमें रहती है या कम-से-कम भगवान्‌के संपर्कमें रहती है।

चैत्य-तत्त्व भगवान्‌से आया हुआ एक स्फुलिंग है जो सभी वस्तुओंमें है और जैसे-जैसे व्यक्ति विकास करता है वैसे-वैसे यह भी उसमें वर्द्धित होता है तथा चैत्य पुरुष, अंतरात्मपुरुषके रूपमें प्रकट होता है और सर्वदा ही भगवान्‌को और परम सत्यको खोजता है और जब भी जहां भी वह भगवान् या सत्यके सम्मुख आता है उसका प्रत्युत्तर देता है।



अंगरेजी शब्द 'स्पिरिट' (Spirit) का अर्थ है आत्मन्, ब्रह्मन्, तत्त्वतः भगवान्।

जब एकमेव भगवान् अपने चिर-अंतर्निहित बहुत्वको अभिव्यक्त करते हैं तब यह तत्त्व-रूप आत्मन् उस अभिव्यक्तिके लिये 'केंद्रीय पुरुष' बन जाता है और ऊपरसे ही यहां नीचे विद्यमान अपने व्यक्तित्वों और पार्थिव जीवनोंपर अध्यक्षता करता है, किंतु स्वयं भगवान्‌का एक शाश्वत अंश भी होता है और पार्थिव अभिव्यक्तिका पूर्ववर्त्ती होता है—परा प्रकृतिर्जीवभूता।

इस निम्न अभिव्यक्तिमें, अपरा प्रकृतिमें, भगवान्‌का यह शाश्वत अंश अंतरात्माके रूपमें, दिव्य अग्निके स्फुलिंगके रूपमें प्रकट होता है,

वह व्यक्तिगत क्रमविकासको, मनोमय, प्राणमय और अन्नमय सत्ताको सहारा देता रहता है। चैत्य पुरुष वही स्फुलिंग है जो वर्द्धित होकर अग्नि बन जाता है, चेतनाकी वृद्धिके साथ-साथ विकसित होता है। अतः चैत्य पुरुष विकसनशील है, वह जीवात्मन्की तरह क्रमविकासके पहलेसे ही विद्यमान नहीं रहता।

किंतु मनुष्य आत्मन् या जीवात्मन्के प्रति सचेत नहीं होता, वह केवल अपने अहंको ही जानता है या अपने मनोमय पुरुषको जानता है जो प्राण और शरीरपर शासन करता है। परंतु अधिक गहराईमें जानेपर वह अपने अंतरात्मा या चैत्य पुरुषको अपने सच्चे केंद्रके रूपमें, हृदयस्थ पुरुषके रूपमें जानने लगता है। चैत्य पुरुष क्रमविकासके अंदर अवस्थित केंद्रीय पुरुष है, वह उस जीवात्मासे निकलता और उसका प्रतिनिधित्व करता है जो कि भगवान्का सनातन अंश है। जब पूर्ण चेतना प्राप्त हो जाती है तब जीवात्मन् और चैत्य पुरुष एक साथ मिल जाते हैं।

'अहं' प्रकृतिकी एक रचना है; परंतु यह एकमात्र भौतिक प्रकृतिकी रचना नहीं है, इसलिये यह शरीरके साथ ही समाप्त नहीं हो जाता। हमारे अंदर मानसिक और प्राणिक अहं भी होते हैं।

यहां जड़-भौतिक चेतनाका आधार केवल अज्ञान ही नहीं है, बल्कि निश्चेतना भी है—तात्पर्य, चेतना जड़तत्त्वके आकार तथा जड़तत्त्वकी ऊर्जाके अंदर निवर्तित है। अज्ञानके द्वारा केवल जड़-भौतिक चेतना ही नहीं, वरन् प्राणिक और मानसिक चेतना भी दिव्य सत्यसे विच्छिन्न हैं।



अधिकांशतः परमात्मा जीव और उसकी प्रकृतिके माध्यमसे कार्य करता है और जीव तथा प्रकृति अहंके माध्यमसे कार्य करते हैं और अहं बाह्य यंत्रोंके द्वारा कार्य करता है—यही है अज्ञानकी क्रीड़ा।



इस भाषामें जीव और जीवात्माके बीच कोई भेद नहीं है—अतएव यह विभेद नहीं किया जा सकता। अपरा प्रकृति वह प्रकृति है जो इन सब मनों, प्राणों और शरीरोंको व्यक्त करती है। परा प्रकृति

स्वयं भगवान्‌की अपनी प्रकृति है—परमा चित्-शक्ति है जो अनेकधा भगवान्‌को 'बहु' के रूपमें अभिव्यक्त करती है।



शरीर व्यक्तिगत आत्मा नहीं है—यह बाह्य व्यक्तित्वका आधार है अथवा, यदि तुम इस प्रकार कहना चाहो तो, यह भौतिक या अन्नमय पुरुषका आधार है; परंतु यह व्यक्तिगत आत्मा नहीं है। व्यक्तिगत आत्मा केंद्रीय पुरुष (जीवात्मा) है जो निम्नतर प्रकृतिमें चैत्य पुरुषके रूपमें अभिव्यक्त होता है—यह प्रत्यक्ष रूपमें भगवान्‌का एक अंश होता है।



जीवात्मा सभी लोकोंसे ऊपर है। इसका कोई निश्चित रूप या रंग नहीं है; यद्यपि यह किसी रूपमें अपनेको प्रकट कर सकता है।



(अ) यह (प्रत्येक जीवात्मा) एक है, फिर भी (दूसरे जीवात्मासे) भिन्न है। गीता इसके विषयमें कहती है कि जीव एकमेवका 'अंशः सनातनः' है। इसके विषयमें यह भी कहा जा सकता है कि यह वैश्व पुरुष और चेतनाके बहु केंद्रोंमेंसे एक केंद्र है।

(ब) मूलतः एक जीवका दूसरोंके जैसा एक ही स्वभाव होता है—परंतु अभिव्यक्तिके अंदर प्रत्येक जीव स्वभावकी अपनी निजी-धाराको प्रकट करता है।

(स) नहीं। कूटस्थ अक्षर पुरुषको कहते हैं—यह जीवात्मा नहीं है।

(द) यह (जीवात्माका स्थान) सर्वदा आध्यात्मिक लोकमें होता है जो मनसे ऊपर है, पर वह वहां किसी एक स्तरपर निश्चित नहीं है।

(इ) नहीं (एक चैत्य पुरुष दूसरेके साथ युक्त नहीं हो सकता)। समानता, सामंजस्य, सहानुभूति हो सकती है, पर एकत्व नहीं। एकत्व भगवान्‌के साथ होता है।



जीवात्मा[1], स्फुलिंग-रूप अंतरात्मा और चैत्य पुरुष एक ही सद्वस्तुके तीन अलग-अलग रूप हैं और इन्हें एक साथ मिलाजुला नहीं देना चाहिये, क्योंकि उससे आंतरिक अनुभवकी स्पष्टता अस्त-व्यस्त हो जाती है।

जीवात्मा अभिव्यक्त या यंत्रस्वरूप सत्ताके ऊपर स्वयं-स्थित है—यह जन्म और मृत्युसे परे है, सर्वदा एक-जैसा है, यह व्यक्तिगत आत्मा है; व्यक्तिका सनातन सच्चा पुरुष है।

अंतरात्मा भगवान्का एक स्फुलिंग है जो प्रकृतिके जीवंत प्राणियोंके हृदयमें विद्यमान है। यह अभिव्यक्त सत्तासे ऊपर अवस्थित नहीं है; यह आत्माकी अभिव्यक्तिके अंदर प्रवेश करता है, उसकी स्वाभाविक नामरूपात्मक संभूतिका एक अंश होना स्वीकार करता है, स्थूल प्रकृतिके जगत्में उसके विकासक्रमको धारण करता है। यह सर्वप्रथम अपने साथ उन सभी संभावनाओंको धारण करनेवाली भागवत चेतनाकी एक अभिन्न चेतनाको वहन करता है जिन्होंने अभीतक रूप नहीं ग्रहण किया है पर जिनको रूप देना क्रमविकासका कार्य है। भगवान्का यह स्फुलिंग सभी पार्थिव सजीव प्राणियोंमें, पृथ्वीके सर्वोच्च प्राणियोंसे लेकर उसके निम्नतम प्राणियोंतकमें विद्यमान है।

चैत्य पुरुष एक आध्यात्मिक व्यक्ति है जिसे अंतरात्माने अपने विकासक्रममें सामने ला रखा है; इसका विकास यह सूचित करता है कि व्यक्तिका आध्यात्मिक विकास किस स्तर तक पहुंचा है और भविष्यके लिये उसकी तात्कालिक संभावनाएं क्या हैं। यह मानसिक, प्राणिक और भौतिक प्रकृतिके पीछे अवस्थित रहता है, उनके अनुभवोंके द्वारा वर्द्धित होता है, एक जीवनसे दूसरे जीवनमें चेतनाकी ओर ले जाता है। यही है चैत्य पुरुष। प्रथम वह मानसिक, प्राणिक और भौतिक भागोंमें छिपा रहता है, उनकी सीमाओंके द्वारा अपनी आत्माभिव्यक्ति-में सीमित होता है, प्रकृतिकी प्रतिक्रियाओंसे बंधा होता है, पर, जब वह वर्द्धित होता है तो आगे आने और मन, प्राण और शरीरपर

---

1. इस पत्रके मूल पाठको बादमें श्रीअरविंदने दो अवसरोंपर सुधारा था। चूंकि इन दोनों संशोधित पाठोंमें स्थान-स्थान पर बहुत अधिक अंतर है, हम यहां उन दोनोंको ही क्रमशः प्रकाशित कर रहे हैं।

आधिपत्य जमानेमें समर्थ होता है। साधारण मनुष्यमें वह अब भी अपनी अभिव्यक्तिके लिये उनपर निर्भर करता है और उन्हें अपने हाथमें लेने और खुले तौरपर उनका उपयोग करनेमें समर्थ नहीं होता। उस समय जीवका जीवन पशुतुल्य और मानवीय होता है, दिव्य नहीं होता। जब चैत्य पुरुष साधनाके द्वारा प्रभुत्वशाली हो जाता और अपने यंत्रोंका अबाध रूपसे उपयोग करने लगता है तो भगवान्‌की ओर जानेका प्रवेग पूर्ण हो जाता है और मन, प्राण और शरीरकी महज मुक्ति ही नहीं वरन् उनका रूपांतर संभव हो जाता है।

चूंकि आत्मा मुक्त और जन्म-मरणसे परे है, जीवात्मा और परात्पर या विश्वात्माके साथ उसके एकत्वका अनुभव मुक्तिका बोध प्रदान करनेके लिये पर्याप्त होता है। परंतु जीवन और प्रकृतिके रूपांतरके लिये अपने चैत्य पुरुषका पूर्णज्ञान और उसका जागरण भी अत्यंत आवश्यक है।

चैत्य पुरुष इस स्थितिमें सच्चे पुरुष, आत्माके साथ अपने एकत्वको अनुभव करता है, पर वह उसमें विलीन या रूपांतरित नहीं हो जाता; वह प्रकृतिमें चैत्य और आध्यात्मिक आत्माभिव्यक्तिके लिये, एक दिव्य अभिव्यक्तिके लिये उसके यंत्रके रूपमें बना रहता है।

अपने ऊपर जो तुमने 'बिंदु' देखा, वह जीवात्माको देखनेका एक प्रतीकात्मक तरीका हो सकता है, मानो व्यक्तिगत आत्मा 'समुद्र' का एक बिंदु हो, विश्वव्यापी भगवानका एक व्यक्तिभावापन्न अंश हो, उस स्तरपर स्वभावतः ही यह अभीप्सा होगी कि उच्चतर चेतनाकी ओर उद्घाटन हो जाय जिसमें कि जीव वहां निवास कर सके और अज्ञानमें निवास न करे। वस्तुतः जीवात्मा पहलेसे ही भगवान्‌के साथ युक्त होता है, परंतु इसकी आध्यात्मिक मांग यह हो सकती है कि चेतनाके बाकी अंश भी उस एकत्वको उपलब्ध करें।

चैत्य पुरुषकी अभीप्सा उस दशामें उस मांगको पूर्णतः बदलकर यह रूप देगी कि भगवान्‌की ओर समूची निम्नप्रकृतिका, मन, प्राण, शरीरका उद्घाटन हो जाय, भगवान्‌के प्रति प्रेम और उनके साथ एकत्व प्राप्त हो, हृदयके अंदर उनकी उपस्थिति और शक्ति आ जाय; इस यंत्रात्मक सत्ता और प्रकृतिके अंदर उच्चतर चेतनाका अवतरण हो और उससे मन, प्राण और शरीरका रूपांतर हो जाय।

22

ये दोनों ही अभीप्साएं इस योगकी पूर्णताके लिये आवश्यक हैं, ऊपरसे आत्माकी प्रकृतिसे मांग, नीचेसे प्रकृतिकी चैत्य अभीप्सा। जब चैत्य पुरुष अपनी अभीप्सा मन, प्राण और शरीरपर आरोपित करता है तो वे भी अभीप्सा करते हैं और यही चीज है जिसका अनुभव तुमने निम्न सत्ताके स्तरसे उठनेवाली अभीप्साके रूपमें किया था। ऊपर जिस अभीप्साका अनुभव हुआ था वह जीवात्माकी इसलिये अभीप्सा है कि उच्चतर चेतना अपनी एकतमकी उपलब्धिके साथ समस्त सत्तामें अभिव्यक्त हो। दोनों अभीप्साएं सहायता करती हैं और एक दूसरीके लिये आवश्यक हैं। परंतु निम्नतर सत्ताकी खोज आरंभमें सामान्य चेतनाकी अंधता और सीमाओंसे खंडित और प्रदमित होती है। इसे, साधनाके द्वारा सुस्पष्ट, सतत, प्रबल और स्थायी होना होता है; उसके बाद यह सिद्धिको बाध्य करती है, उसे अनिवार्य बना देती है।

शांति, पवित्रता और स्थिरताका जो तुम्हें बोध प्राप्त हुआ है वह उच्चतर चेतनाके साथ निम्नतरका एकत्व हो जाने या कोई प्रबल संपर्क हो जानेके कारण उत्पन्न हुआ है; यह प्रारंभमें स्थायी नहीं हो सकता, पर यह स्थिरता और शांतिकी अधिकाधिक आवृत्ति होते रहने और उसके स्थायी होते रहनेपर और अंतमें निम्नतर प्रकृतिमें उच्चतर चेतनाकी शाश्वत शांति और स्थिरता और नीरवता-का पूर्ण अवतरण होनेपर स्थायी हो सकता है।



जीवात्मन्, स्फुलिंग-रूप अंतरात्मा और चैत्य पुरुष एक ही सद्वस्तु-के तीन विभिन्न रूप हैं और उन्हें एक-दूसरेके साथ मिला नहीं देना चाहिये, क्योंकि इससे आंतरिक अनुभूतिमें स्पष्टता नहीं रहती।

जीवात्मन् अपने-आपमें स्वयं-सत् है, वह अभिव्यक्त या कारणरूप सत्तासे ऊपर रहता है—वह जन्म और मृत्युसे ऊपर रहता है, सदैव एक-सा रहता है, वह व्यक्तिगत आत्मन् है। वह व्यक्तिका शाश्वत यथार्थ स्वरूप है।

अंतरात्मा है भगवान्‌का स्फुलिंग जो अभिव्यक्त सत्तासे ऊपर स्थित नहीं रहता, वरन् अभिव्यक्तिके अंदर उतर आता है और भौतिक जगत्‌में उसके क्रमविकासको सहारा देता है। प्रथमतः वह भागवत चेतनाकी एक निर्विशेष शक्ति होता है, उसके अंदर सारी संभावनाएं समायी रहती हैं जिन्होंने अभीतक रूप नहीं लिया है, किंतु जिन्हें

रूप देना ही क्रमविकासका कार्य है। यह स्फुलिंग सब प्राणियोंमें, निम्नतमसे लेकर उच्चतम प्राणियोंमें, विद्यमान रहता है।

चैत्य पुरुष क्रमविकासके अंदर अंतरात्माके द्वारा गठित होता है। वह मन, प्राण और देहको सहारा देता है, उनके अनुभवोंसे वर्द्धित होता है, प्रकृतिको एक जीवनसे दूसरे जीवनमें ले जाता है। यह अंतःपुरुष या चैत्य पुरुष कहलाता है। आरंभमें वह मन, प्राण और देहसे आच्छादित रहता है, किंतु ज्यों-ज्यों वह वर्धित होता है त्यों-त्यों वह आगे आने तथा मन, प्राण और शरीरपर अधिकार जमानेमे सक्षम होता जाता है; सामान्य मनुष्यमें वह व्यक्त होनेके लिये उनपर निर्भर करता है और उन्हें अपने हाथोंमें लेने तथा स्वतंत्रतापूर्वक व्यवहृत करनेकी क्षमता उसमें नहीं होती। उस समय व्यक्तिका जीवन पशुवत् या मानवीय होता है न कि दिव्य। किंतु साधनाके द्वारा जब चैत्य पुरुष प्रमुत्व प्राप्त कर लेता है और अपने यंत्रोंको अबाध रूपसे व्यवहृत करने लगता है तो भगवन्मुखी आवेग अपनी पूर्णताको प्राप्त करता है तथा मन, प्राण और शरीरकी महज मुक्ति ही नहीं, उनका रूपांतर भी संभव हो जाता है।

आत्मा चूंकि जन्म और मृत्युसे ऊपर तथा मुक्त है, जीवात्माकी और परम या विश्वव्यापी आत्माके साथ उसके एकत्वकी अनुभूति मुक्तिका बोध प्रदान करती है; यही वह चीज है जो चरम आध्यात्मिक मुक्तिके लिये आवश्यक है। किंतु जीवन और प्रकृतिके रूपांतरके लिये चैत्य पुरुषका जागरण और प्रकृतिपर उसका शासन अनिवार्य है।

चैत्य पुरुष सच्चे पुरुष अर्थात् जीवात्माके साथ अपने एकत्वकी उपलब्धि करता है, किंतु उसमें परिवर्तित नहीं हो जाता।

ऊपर दिखायी दिया हुआ बिंदु जीवात्माको, भगवान्के अंशको देखनेका एक प्रतीकात्मक तरीका हो सकता है; स्वभावतः ही वहां अभीप्सा होगी उच्चतर चेतनाके उद्घाटनके लिये ताकि पुरुष वहां (उच्चतर चेतनामें) निवास कर सके और अब अज्ञानमें न रहे। वस्तुतः जीवात्मा पहलेसे ही भगवान्के साथ एक होता है, पर आवश्यकता इस बातकी है कि बाकी चेतना भी उसे उपलब्ध करे।

चैत्य पुरुषकी अभीप्सा होती है भगवान्के प्रति मन, प्राण और देहके, सारी प्रकृतिके उद्घाटनके लिये, भगवान्के प्रति प्रेम और उनके

साथ प्राप्त एकत्वके लिये, हृदयके अंदर उनकी उपस्थिति और उनकी शक्ति-सामर्थ्यके लिये, इस आधार-रूप सत्ता और प्रकृतिमें उच्चतर चेतनाके अवतरणके द्वारा मन, प्राण तथा देहके रूपांतरके लिये।

इस योगकी परिपूर्णताके लिये ये दोनों अभीप्साएं आवश्यक और अनिवार्य हैं। जब चैत्य पुरुष मन, प्राण और देहपर अपनी अभीप्सा आरोपित करता है तो वे भी अभीप्सा करने लगते हैं और निम्नतर सत्ताके स्तरसे उठती हुई अभीप्साके रूपमें यही चीज अनुभूत हुई थी। ऊपर जिस अभीप्साका अनुभव हुआ वह है जीवात्माकी इसलिये अभीप्सा कि उच्चतर चेतना एकमेवकी उपलब्धिके साथ सत्तामें अभिव्यक्त हो। अतः दोनों अभीप्साएं एक-दूसरीकी सहायिका होती हैं। निम्नतर सत्ताकी खोज आरंभमें अनिवार्य रूपसे खंडित और सामान्य चेतनासे प्रदमित होती है। साधनाके द्वारा उसे सुस्पष्ट, सतत, सबल और सुदृढ़ बनाना होता है।

निम्नतर चेतना जब उच्चतरसे मिल जाती है तो शांति, पवित्रता और स्थिरताका बोध होता है। सामान्यतया यह बोध या तो बीच-बीचमें आया करता है या एक गभीरतर चेतनामें रहता है और प्रायः ऊपरी सतहके तूफानों और आलोड़नोंसे छिपा रहता है। आरंभमें यह कदाचित् ही स्थायी होता है, किंतु स्थिरता और शांतिके अधिकाधिक क्षिप्रताके साथ आने और बने रहनेपर, और अंतमें निम्नतर प्रकृतिके अंदर उच्चतर चेतनाकी शाश्वत शांति, स्थिरता और निश्चल-नीरवताका पूर्ण अवतरण होनेपर यह स्थायी हो सकता है।



योगके अनुभवमें आत्मन् या पुरुष सारतः भगवान्‌के साथ एक होता है या कम-से-कम भगवान्‌का अंश होता है और उसमें सारी दिव्य भावनाएं निहित होती हैं। किंतु अभिव्यक्तिमें उसके दो पक्ष होते हैं, पुरुष और प्रकृति। यहां प्रकृतिके अंदर भगवान् पर्देसे आवृत हैं और वैयक्तिक पुरुष प्रकृतिके अधीन है जो प्रकृति कि यहां निम्न प्रकृतिके रूपमें, अज्ञानकी, अविद्याकी, शक्तिके रूपमें क्रिया करती है। स्वयं पुरुष दिव्य है, पर प्रकृतिके अज्ञानमें बाह्य रूप लेनेके कारण वह वैयक्तिक बाह्य पुरुष बन जाता और प्रकृतिकी अपूर्णताके

कारण अपूर्ण बन जाता है। इस प्रकार अंतरात्मा या चैत्य तत्त्व, जो कि क्रमविकासमें प्रवेश करनेवाला और उसे सहारा देनेवाला स्वयं पुरुष ही है, अपने अंदर सारी दिव्य संभावनाओंको वहन करता है; परंतु जिस वैयक्तिक चैत्य पुरुषको वह अपने प्रतिनिधिके रूपमें प्रसारित करता है वह प्रकृतिकी अपूर्णताको ग्रहण करता है और उसके अंदर तबतक क्रमशः विकसित होता रहता है जबतक कि वह अपने परिपूर्ण चैत्य गुणको फिरसे प्राप्त नहीं कर लेता और ऊपरके उस आत्माके साथ एक नहीं हो जाता जिसका कि क्रमविकासके अंदर उद्‌गत वैयक्तिक अंश अंतरात्मा होता है। पुरुषकी यह द्विविधता विभिन्न रूपोंमें सभी स्तरोंपर पायी जाती है और केवल आत्मा और चैत्यके विषयमें ही नहीं, वरन् मनोमय, प्राणमय और अन्नमय पुरुषोंके संबंधमें भी सत्य है। योगके अनुभवोंको पूरी तरह समझनेके लिये इस द्विविधताको ठीक-ठीक समझना और स्वीकार करना आवश्यक है।

पुरुष सर्वत्र एक ही होता है, पर प्रकृतिके प्रत्येक स्तरपर उसका कोई एक रूप उसका प्रतिनिधित्व करता है और यह रूप उस स्तरके अनुरूप होता है; यह मनोमय स्तरमें मनोमय पुरुष, प्राणमयमें प्राणमय पुरुष और अन्नमयमें अन्नमय पुरुष होता है। तैत्तिरीय उपनिषद् सत्ताके अन्य दो स्तरोंकी भी चर्चा करती है; वे हैं सत्य या ज्ञानका लोक और आनंद-लोक। इनमेंसे प्रत्येकका अपना-अपना पुरुष होता है, किंतु इन लोकोंका कुछ प्रभाव भले ही नीचे आ सकता हो, वे मानव-मनकी चेतनासे परे ही हैं और उनकी प्रकृति यहां संगठित नहीं हुई है।



सामान्यतया व्यष्टि-आत्माको परात्पर और विराट् आत्माका अंश कहा जाता है—चेतनाके उच्चतर और सूक्ष्मतर क्षेत्रोंमें वह अपनेको वही अनुभव करता है, पर निम्नतरमें, जहां चेतना अधिकाधिक मेघाच्छन्न होती जाती है, यह अपनेको व्यक्तित्वके ऊपरी आकारोंके साथ, प्रकृतिकी सृष्टियोंके साथ एकात्म करता जाता है और अपने दिव्य मूलस्रोतके विषयमें अनजान बन जाता है। जब मनुष्य अपने आत्माके विषयमें सज्ञान होता है तो वह एक ऐसी चीजके रूपमें

अनुभूत होता है जो स्वयंभू और शाश्वत हो, जो मनोमय, प्राणमय और अन्नमय व्यक्तित्वके आकारोंके साथ एकात्म न हो,—ये सब तो प्रकृतिमें विद्यमान उसकी क्षमताओंकी महज तुच्छ अभिव्यक्तियां हैं। जिसे लोग अपना "मैं" समझते हैं वह तो केवल अहं होता है या मन या प्राण-शक्ति या शरीर, पर इसका कारण यह है कि वे प्रकृतिके बाह्य रूपोंकी दृष्टिसे विचार करते हैं, उनके पीछे अपनी दृष्टि नहीं ले जाते।



केंद्रीय पुरुष और अंतरात्मा दोनों विभिन्न रूपोंमें भगवान्‌के अंश हैं। वास्तवमें वे एक ही दिव्य सत्ताके दो पक्ष हैं, पर एक तो अविकसनशील और प्रकृतिसे ऊपर है, दूसरा प्रकृतिमें चैत्य पुरुषको विकसित करता है।



वास्तवमें व्यष्टि-पुरुष ही भगवान्‌का एक अंश है। विश्वात्मा जो कि सबके अंदर एक ही है, भगवान्‌का अंश नहीं बल्कि एक रूप है।



आत्मा एक विशिष्ट रूपमें स्वयं भगवान् है; वह अंश नहीं है। "एक अंश भी नहीं" या "केवल एक रूप" इन वाक्यांशोंका कोई अर्थ नहीं है। रूप कोई ऐसी चीज नहीं है जो अंशसे निम्नतर हो।



क्या तुम नहीं जानते कि "essential" (मौलिक) का क्या अर्थ है? किसी वस्तुके सारतत्त्व (मौलिक रूप), जो कि सर्वदा वही रहता है, और उसकी रचनाओं और विकासोंमें, जो कि विविध रूप लेते हैं, एक भेद होता है। उदाहरणार्थ, सोनेका एक मूल रूप होता है और फिर अनेक रूप हैं जिन्हें सोना ग्रहण कर सकता है।



सत्‌की कभी परिभाषा नहीं दी जा सकती—वह बस है।



भगवान् आत्मासे कहीं अधिक हैं। वह प्रकृति भी हैं। वह प्रत्येक वस्तुको अपने अंदर धारण करते हैं।



सक्रिय उपलब्धि प्राप्त करनेके लिये इतना ही पर्याप्त नहीं है कि पुरुषको प्रकृतिकी अधीनतासे मुक्त किया जाय; बल्कि निम्न प्रकृति और उसकी अज्ञानमयी शक्तियोंकी क्रीड़ाके साथ पुरुषका जो संपर्क है उसे वहाँसे हटाकर परमा भगवती शक्तिके साथ, भगवती माताके साथ जोड़ दिया जाय।

भगवती माताको निम्न प्रकृति तथा उसकी शक्तियोंकी यांत्रिकताके साथ एक कर देना भूल है। प्रकृति यहां केवल एक यंत्र-शक्ति है जो विकासात्मक अज्ञानकी क्रियाके लिये उत्पन्न की गयी है। जिस तरह अज्ञ मन, प्राण या शरीर स्वयं भगवान् नहीं है, यद्यपि वह आता भगवान्‌से ही है, उसी तरह प्रकृतिकी यांत्रिकता भी भगवती माता नहीं है। इसमें कोई संदेह नहीं कि इस यांत्रिकतामें और इसके पीछे उनका कुछ अंश है जो विकासक्रमके उद्देश्यको सिद्ध करनेके लिये इसे बनाये रखता है; पर वह स्वयं जो कुछ है वह अविद्याकी शक्ति नहीं है बल्कि वह दिव्य चेतना, शक्ति, ज्योति है, वह परा प्रकृति है जिसकी ओर हम मुक्ति और दिव्य संसिद्धिके लिये मुड़ते हैं।

पुरुष-चेतनाको इस प्रकार अनुभव करना कि वह स्थिर, मुक्त है, शक्तियोंकी क्रीड़ाका निरीक्षण करनेवाली पर उनमें आसक्त या अंतर्ग्रस्त नहीं है, मुक्तिका एक साधन है। अचंचल, अनासक्त शांति-पूर्ण सामर्थ्य और हर्ष (आत्मरति) को प्राण तथा शरीर एवं मनमें भी उतार लाना चाहिये। यदि यह स्थापित हो जाय तो मनुष्य फिर प्राणिक शक्तियोंके चांचल्यका शिकार नहीं होता। परंतु यह अचंचल, शांत, नीरव शक्ति-सामर्थ्य और हर्ष वास्तवमें आधारके अंदर भगवती माताकी शक्तिका प्रथम अवतरण है। उसके परे है एक ज्ञान, एक कार्यकारी शक्ति, एक क्रियाशील आनंद जो सामान्य

प्रकृतिका, जब वह अपने सर्वोत्तम रूपमें और अत्यंत सात्त्विक होती है तब भी, नही है बल्कि स्वभावतः ही स्वयं भगवान्‌का है।

परंतु, सबसे पहले यह अचंचलता, शांति और मुक्ति आवश्यक है। सक्रिय पक्षको अत्यंत शीघ्र उतार लानेकी चेष्टा करना उचित नहीं है, क्योंकि वैसी हालतमें यह अवतरण एक ऐसी संक्षुब्ध और अपवित्र प्रकृतिमें होगा जो उसे आत्मसात् नही कर सकेगी और उसके फलस्वरूप गंभीर अस्तव्यस्तता उत्पन्न हो सकती है।



जिसे हम प्रकृति कहते हैं वह जगतोंकी रचना करनेवाली और चलानेवाली शक्ति या चिच्छक्तिका बाह्य या कार्यकारी पक्ष है। यह बाहरी पक्ष यहां यांत्रिक, शक्तियों, गुणों आदिकी एक क्रीड़ा प्रतीत होता है। इसके पीछे विद्यमान हैं भगवान्‌की जीवंत चेतना और शक्ति, भागवती शक्ति। प्रकृति दो भागोंमें विभक्त है—निम्नतर और उच्चतर; निम्नतर अज्ञानकी प्रकृति है, चेतनामें भगवान्‌से पृथक्कृत मन, प्राण और शरीरकी प्रकृति है; उच्चतर सच्चिदानंदकी दिव्य प्रकृति है और उसकी अभिव्यक्तिकारिणी शक्ति है अतिमानस जो सर्वदा भगवान्‌से सज्ञान होता है और अज्ञान तथा उसके परिणामोंसे मुक्त होता है। जबतक मनुष्य अज्ञानमें रहता है तबतक वह निम्न प्रकृतिके अधीन होता है, पर आध्यात्मिक विकासके द्वारा वह उच्चतर प्रकृतिके विषयमें सचेतन होता और उसके संपर्कमें आनेका प्रयत्न करता है। मनुष्य उसमें ऊपर उठ सकता है, और वह मनुष्य में नीचे उतर सकती है—ऐसा आरोहण और अवतरण मन, प्राण और जड़तत्त्वकी निम्नतर प्रकृतिको रूपांतरित कर सकते हैं।

परिभाषाकी[1] दृष्टिसे देखें तो चैत्य पुरुष वह अंग नहीं है जो अतिमानसिक लोकके सीधे संस्पर्शमें रहता है,—यद्यपि, जब एक बार

---

1. किसीने पूछा था कि चैत्य पुरुष क्या है, क्या चैत्य पुरुषकी परिभाषा इस प्रकार की जा सकती है कि वह सत्ताका वह भाग है जो बराबर अतिमानसिक चेतनाके सीधे संपर्कमें रहता है? मैंने उत्तर दिया कि उसकी परिभाषा इस प्रकार नहीं की जा सकती। क्योंकि पशुओंके अंदर या अधिकांश मनुष्योंके अंदर चैत्य पुरुष अति-

अतिमानसके साथ संबंध स्थापित हो जाता है तो वह उसे सबसे अधिक तत्परताके साथ प्रत्युत्तर देता है। हमारा चैत्य अंश एक ऐसी चीज है जो सीधे भगवान्‌से आती है और उनके संस्पर्शमें रहती है। अपने मूल रूपमें चैत्य अंश एक ऐसा केंद्र होता है जो दिव्य संभावनाओंसे भरा होता है और मन, प्राण तथा देहकी इस निम्न त्रिविध अभिव्यक्तिको सहारा देता है। यह दिव्य तत्त्व समस्त प्राणियोंमें होता है, किंतु वह सामान्य चेतनाके पीछे छिपा रहता है, आरंभमें विकसित नहीं होता, और जब विकसित हो जाता है तब भी, सदैव या प्रायः सम्मुख भागमें नहीं रहता। अपने करणोंके सहारे, उनकी सीमाओंके अधीन, जहांतक उन करणोंकी अपूर्णताएं उसे प्रकट होने देती हैं वहांतक, वह अभिव्यक्त होता है। भगवन्मुखी अनुभूतिके द्वारा वह अपनी चेतनामें वर्द्धित होता है, जब-जब हमारे अंदर उच्चतर क्रिया होती है उसे बल मिलता है और अंतमें, इन गभीरतर और उच्चतर क्रियाओंके एकत्रित हो जानेपर एक चैत्य व्यक्तित्वका विकास हो जाता है,—उसे ही हम सामान्यतया चैत्य पुरुष कहते हैं। यह चैत्य पुरुष ही मनुष्यके आध्यात्मिक जीवनकी ओर मुड़नेका सदा सच्चा कारण—यद्यपि बहुधा गुप्त कारण—

मानसिकके सीधे संपर्कमें नहीं रहता—अतएव उसकी परिभाषा इस प्रकार नहीं की जा सकती।

परंतु एक बार जब अतिमानसिक और मानवीय चेतनाके बीच संपर्क हो जाता है तो चैत्य पुरुष ही सबसे अधिक तत्परताके साथ मन, प्राण या शरीरकी अपेक्षा कहीं अधिक तत्परताके साथ—प्रत्युत्तर देता है। यहां इतना और जोड़ा जा सकता है कि उसका प्रत्युत्तर अधिक शुद्ध भी होता है। जब मन, प्राण और शरीर अतिमानसिक प्रभावको ग्रहण करते हैं तब वे उसमें अन्य चीजें भी मिला-जुला सकते हैं और अतिमानसिक सत्यको भ्रष्ट कर सकते हैं। चैत्य पुरुषका प्रत्युत्तर शुद्ध होता है और वह वैसा कोई मिश्रण नहीं होने देता।

अतिमानसिक परिवर्तन केवल तभी घटित हो सकता है जब कि चैत्य पुरुष जागृत् हो और अवतरित होनेवाली अतिमानसिक शक्तिका मुख्य आधार उसे बनाया जाय।

होता है और उस जीवनमें उसका सबसे बड़ा सहायक होता है। अतः योगमें उसे ही पीछेकी ओरसे आगे ले आना होगा।

अंगरेजी भाषामें 'Soul' (सोल—अंतरात्मा या आत्मा) और 'Psychic' (साइकिक—चैत्य या अंतःशक्ति) शब्द बहुत अस्पष्ट रूपमें और अनेक भिन्न-भिन्न अर्थोंमें व्यवहृत होते हैं। साधारणतया, मामूली बोलचालकी भाषामें, मन और अंतरात्माके बीच कोई स्पष्ट विभेद नहीं किया जाता और अक्सर उससे भी कहीं अधिक गंभीर गड़बड़ी रहती है, क्योंकि 'सोल' और 'साइकिक' शब्दसे लोगोंका तात्पर्य कामनामय प्राण-पुरुष—मिथ्या आत्मा या कामनात्मा होता है; न कि सच्चा अंतरात्मा, चैत्य पुरुष। चैत्य पुरुष मन या प्राणसे बिलकुल भिन्न होता है; वे जहां हृदयमें मिलते हैं वहां उनके पीछे वह रहता है। उसका केंद्रीय स्थान वहीं है, पर हृदयके अंदर नहीं वरन् हृदयके पीछे है। मनुष्य साधारणतया जिसे हृदय कहते हैं वह भावावेगका स्थान होता है, और मनुष्यके भावावेग मानसिक-प्राणिक आवेग हुआ करते हैं, सामान्यतया उनका स्वरूप चैत्य नहीं होता। यह पीछे रहनेवाली अत्यंत गुप्त शक्ति ही, जो कि मन तथा प्राण-शक्तिसे भिन्न वस्तु होती है, हमारा सच्चा अंतरात्मा, चैत्य पुरुष है। परंतु चैत्यकी शक्ति मन, प्राण और शरीरपर क्रिया कर सकती है, हमारे विचार, अनुभव और भावावेगको (जो उस समय चैत्य भाव बन जाता है), हमारे संवेदन और कर्म तथा हमारे अंदरकी प्रत्येक चीजको शुद्ध कर सकती और उन्हें दिव्य क्रियाएं बननेके लिये तैयार कर सकती है।

भारतीय भाषामें 'Psychic being' (साइकिक बीइंग) को हृदयस्थ पुरुष या चैत्य पुरुष[1] कहा जा सकता है; किंतु यहां आंतरिक या गुह्य हृदय—'हृदये गुहायाम्'—का तात्पर्य समझना आवश्यक है—

---

1. चित्त और चैत्य भाग बिलकुल ही एक चीज नहीं हैं। चित्त एक बिलकुल भिन्न वर्गका शब्द है जिसमें हजारों बाह्य चेतनाकी मुख्य-मुख्य क्रियाओंको समन्वित किया गया है और अपने-अपने स्थान में रख दिया गया है, और इसे जाननेके लिए हमें अपनी उपरितलीय या बाह्य प्रकृतिके पीछे जानेकी आवश्यकता नहीं है।

'वर्ग'का यहां मतलब है मनोवैज्ञानिक तत्त्वोंकी दूसरी श्रेणी—

वह बाहरी प्राणिक भावावेगका केंद्र नहीं है। वह सच्ची चैत्य सत्ता (प्राणिक कामनामय मनसे भिन्न) है—चैत्य-तत्त्व—जिसकी बात 'आर्य' के पृष्ठोंमें की गयी है जिसका उल्लेख तुमने किया है।



चैत्य पुरुषको प्राचीन पद्धतियोंमें हृदयमें (गुह्य. हृदयमें—हृदये गुहायाम्) स्थित पुरुष कहा गया है, जो उस सत्तासे बहुत अधिक मिलता-जुलता है जिसकी परिभाषा हम इस प्रकार करते हैं कि वह हृत्केंद्रके पीछे अवस्थित चैत्य पुरुष है। यही वह पुरुष था जो मृत्यु होनेपर शरीरसे बाहर चला गया और बना रहा—जो फिर हमारी इस शिक्षासे मिलता-जुलता है कि यही बाहर जाता है और वापस आता है, पूर्वजीवनके साथ नवीन जीवनको जोड़ता है। हम यह भी कहते हैं कि चैत्य पुरुष ही हमारे अंदर भगवान्का अंश है—इसी तरह किसी स्थानमें हृदयस्थ पुरुषका वर्णन व्यक्तिगत प्रकृतिके ईश्वरके रूपमें किया गया है।

अंगरेजीमें 'सोल' (soul) शब्दका व्यवहार बहुत अस्पष्ट रूपमें किया जाता है—जैसे, यह अक्सर समस्त अ-भौतिक चेतनाको सूचित करता है जिसमें अपनी सभी कामनाओं और आवेगोंके साथ प्राण भी शामिल होता है। यही कारण था कि चैत्य पुरुष शब्दका उपयोग करना पड़ा जिसमें कि इस भावगत अंशको प्रकृतिके यंत्रात्मक भागोंसे अलग किया जा सके।



तत्व-विभाग। चैत्य एक श्रेणीसे संबंध रखता है—अतिमानस, मानस, प्राण, चैत्य, शरीर—और आंतर तथा बाह्य दोनों प्रकृतियोंको अंतर्भूक्त करता है। चित्त एकदम दूसरी श्रेणी या वर्गसे संबंधित है—बुद्धि, मनस्, चित्त, प्राण आदि—जो सामान्य भारतीय मनोविज्ञानद्वारा किया गया वर्गीकरण है; यह केवल बाह्य सत्ताके मनोविज्ञानको अंतर्भूक्त करता है। इस वर्गके अंदर भारतीय विचारकोंद्वारा केवल हमारी बाह्यचेतनाकी मुख्य-मुख्य क्रियाओंको सुसंगत किया गया है और उनको अपने-अपने स्थानमें रखा गया है; चित्त बाह्य चेतनाकी इन मुख्य क्रियाओंमेंसे एक है और, इसलिये, इसे जाननेके लिये हमें बाहरी प्रकृतिके पीछे जानेकी आवश्यकता नहीं।

ऐसा लगता है कि 'अ' ने यह मान लिया कि चैत्य पुरुषसे मेरा मतलब है प्रवुद्ध अहंभाव। परंतु लोग यह नहीं समझते कि चैत्य पुरुषसे मेरा मतलब क्या है क्योंकि 'साइकिक' (Psychic) शब्द अंगरेजीमें आंतर मन, आंतर प्राण या आंतर शरीरमेंसे किसी भी चीजके लिये या किसी असामान्य चीजके लिये अथवा गुह्य या यहांतक कि बाहरी सत्ताके अधिक सूक्ष्म क्रियाओंके अर्थमें, सब कुछ व्यामिश्रित करके, व्यवहृत हुआ है। फिर समस्त गुह्य व्यापारोंको भी बहुधा 'साइकिक' कहा जाता है। सत्ताके इन विभिन्न भागोंका विभेद अज्ञात है। यहांतक कि भारतमें भी उपनिषदोंका प्राचीन ज्ञान, जिसमें इन्हें पृथक् किया गया है, अब लुप्त हो गया है। जीवात्मन्, चैत्य पुरुष (पुरुष अंतरात्मन्), मनोमय पुरुष, प्राणमय पुरुष सभी एक साथ मिलाजुला दिये जाते हैं।



मैं नहीं जानता कि इस वाक्यका ठीक-ठीक अर्थ क्या है—चैत्य पुरुषके वर्णनके लिये यह अत्यंत स्पष्ट और सीमित है। साधारणतया अंतःकरणका अर्थ होता है शरीरके विपरीत मन और प्राण,—शरीर है अंतरात्माका वहिःकरण और मनः-प्राण हैं उसके अंतःकरण। चैत्य पुरुषसे मेरा मतलब किसी ऐसी चीजसे है जो विशुद्ध मन और प्राणसे भिन्न है। विशुद्ध मन और प्राण जागृत और मुक्त चैत्य पुरुषकी क्रियाके फल हैं पर वे स्वयं चैत्य पुरुष नहीं हैं।

फिर, यह निर्भर करता है इस वातपर कि अहंभावका अर्थ क्या है। परंतु चैत्य पुरुष कोई 'भाव' नहीं है। यह एक पुरुष है। अहंभाव तो प्रकृतिकी एक रचना है, यह कोई सत्ता या कोई पुरुष नहीं है। अहंभाव विलीन हो सकता है और फिर भी पुरुष वहां बना रहेगा।

मुक्त चैत्य पुरुषसे मेरा तात्पर्य यह है कि वह अब अंधकारपूर्ण और अज्ञानमय यंत्रोंको शक्तोंके अधीन, पर्देके पीछेसे अभिव्यक्त होनेके लिये वाध्य नहीं होता, बल्कि सामने आनेमें, मन और प्राण और शरीरपर संयम लादनेमें और उनकी क्रियाको परिवर्तित करनेमें सक्षम होता है।

यदि उसे संभवतः कभी विशुद्ध और परिपूर्ण कहा गया है तो

वहां अवश्य ही उसका तात्पर्य होगा मन, प्राण और शरीररूपी यंत्रोंमें चैत्य क्रिया। विशुद्ध आंतरपुरुषका अर्थ विशुद्ध चैत्य पुरुष नहीं है, बल्कि विशुद्ध आंतर मन, प्राण और शरीर है। चैत्यके लिये जो विशेषण मैंने व्यवहृत किये थे वे हैं "जागृत और मुक्त"।

आध्यात्मिक व्यक्तित्व वस्तुतः एक अस्पष्ट शब्द है और इसकी व्याख्या नाना रूपोंमें की जा सकती है। मैंने चैत्य पुरुषके विषयमें लिखा है कि चैत्य तत्त्व अंतरात्मा या भागवत अग्निका स्फुलिंग है जो पृथ्वीपर व्यक्तिगत क्रमविकासको सहारा देता है और चैत्य पुरुष अंतरात्म-चेतना है जो अपनेको अथवा यों कहें कि अपनी अभिव्यक्तिको और मन, प्राण और शरीरको भी अपने यंत्रोंके रूपमें जन्म-जन्ममें तबतक विकसित करती है जबतक सब कुछ भगवान्‌के साथ एकत्व प्राप्त करनेके लिये तैयार नहीं हो जाता। मैं नहीं समझता कि मैं इसमें और कुछ जोड़ सकता हूं।



प्रकृतिस्थ पुरुष है क्षर पुरुष—इससे पीछे अवस्थित है अक्षर पुरुष।

अहंभाव और पुरुष दो बिलकुल भिन्न वस्तुएं हैं—अहंभाव प्रकृतिका एक यंत्र, पुरुष है सचेतन सत्ता।

चैत्य पुरुष विकसित होता है, इसलिये यह अपरिवर्तनीय नहीं है।

चैत्य पुरुष विशेषरूपमें व्यक्तिका अंतरात्मा है जो अभिव्यक्तिके अंदर व्यक्तिगत प्रकृतिको विकसित करता है और क्रमविकासमें भाग लेता है। यह भगवदग्निका वह स्फुलिंग है जो मन, प्राण और शरीरके पीछे तबतक चैत्य पुरुषके रूपमें वर्द्धित होता रहता है जबतक कि यह अज्ञानकी प्रकृतिको ज्ञानकी प्रकृतिमें रूपांतरित करनेमें समर्थ नहीं हो जाता। ये बातें गीतामें नहीं हैं, पर हम अपने ज्ञानको गीताके तत्त्वोंसे सीमित नहीं कर सकते।



नहीं, अंतर्ज्ञानात्मक आत्मा बिलकुल दूसरी चीज है, अथवा यों कहें कि अंतर्ज्ञानात्मक चेतना दूसरी चीज है जो कहीं मनसे ऊपर

स्थित है। चैत्य पुरुष सत्ताके पीछे अवस्थित रहता है—भगवान्‌के प्रति सरल और सच्ची भक्ति, जो कुछ यथार्थ और परम सत्य और भगवान्‌की ओर जानेमें सहायक होता है उसका सीधा और तत्काल बोध और जो कुछ विपरीत है उस सबसे स्वाभाविक रूपसे पीछे हट आना उसकी अत्यंत सुस्पष्ट विशिष्टताएं हैं।



तत्त्वरूप[1] अंतरात्मा और चैत्य पुरुषके बीच विभेद करना आवश्यक है। प्रत्येकके और सबके पीछे अंतरात्मा रहता है जो भगवान्‌का स्फुलिंग है—उसके बिना कोई जीवित नहीं रह सकता। परंतु यह बिलकुल संभव है कि किसीमें प्राणिक और भौतिक पुरुष हों जिन्हें ऐसे अंतरात्म-तत्त्वका सहारा प्राप्त हो पर उसमें उनके पीछे कोई स्पष्ट रूपमें विकसित चैत्य पुरुष न हो।

निस्संदेह, एक आंतर पुरुष होता है जो आंतर मन, आंतर प्राण और आंतर शरीरसे गठित होता है,—परंतु वह चैत्य पुरुष नहीं है। चैत्य सबका अंतरतम पुरुष है और इससे एकदम पृथक् है। 'साइ-किक' (चैत्य) शब्द निश्चय ही अंगरेजीमें बाहरी मन, प्राण और शरीरसे भिन्न या अधिक गभीर किसी भी चीज को सूचित करनेके लिये व्यवहृत होता है अथवा यह कभी-कभी किसी गुह्य या अति-भौतिक वस्तुको सूचित करता है। परंतु वह प्रयोग ऐसा है जो गड़बड़ी और भूलभ्रांति उत्पन्न करता है और हमें लगभग पूर्ण रूपसे उसका त्याग करना होगा।

चैत्य पुरुष सतही क्रियाओंसे छिपा रहता है और जितने उत्तम रूपमें उसके लिये संभव होता है वह तीन बाहरी यंत्रोंके द्वारा व्यक्त होता है जो आंतर पुरुष अथवा चैत्य सत्ताकी अपेक्षा कहीं अधिक बाहरी शक्तियोंके द्वारा शासित होते हैं। अंतरात्मा उसी तरह शरीरके अंदर है जिस तरह मन या प्राण है—परंतु शरीर केवल

1. इस पत्रके मूल पाठको श्रीअरविंदने क्रमशः दो अवसरोंपर शुद्ध किया था। चूंकि इन दोनों संशोधित रूपोंमें स्थान-स्थानपर पर्याप्त अंतर है, इसलिये हम यहां उन दोनोंको लगातार प्रकाशित कर रहे हैं।

यह स्थूल भौतिक शरीर ही नहीं है, वल्कि सूक्ष्म शरीर भी है। जब स्थूल शरीर गिर जाता है तो शरीरके प्राणमय और मनोमय कोष फिर भी अंतरात्माके वाहनके रूपमें तवतक बने रहते हैं जब-तक ये भी विलुप्त नहीं हो जाते।

पौधे या पशुका अंतरात्मा सोया हुआ नहीं होता—केवल उसकी अभिव्यक्तिके साधन मनुष्यके साधनोंकी अपेक्षा कम विकसित होते हैं। पौधोंमें बहुत कुछ ऐसा होता है जो चैत्य होता है, पशुओंमें बहुत कुछ ऐसा होता है जो चैत्य होता है। पौधेके शरीरमें केवल प्राणिक-भौतिक तत्त्व ही विकसित होते हैं; पौधेके रूपके पीछेकी चेतनाके पास कोई विकसित या सुसंगठित मनःशक्ति नहीं होती जिसमें उसे अभिव्यक्त करनेकी क्षमता हो,—पशु एक पग और आगे जाता है; उसमें प्राणिक मन होता है और कुछ हदतक वह अपनेको प्रकट कर सकता है, पर उसकी चेतना सीमित होती है, उसकी मनःशक्ति सीमित होती है, उसके अनुभव सीमित होते हैं; उसका चैत्य-तत्त्व भी अपना प्रतिनिधित्व करनेके लिये मनुष्यके अंदर जितना संभव है उससे कम विकसित चेतना और अनुभवको सामने स्थापित करता है। तथापि, पशुओंमें अंतरात्मा होता और मनुष्यके चैत्य पुरुषको बहुत सत्वर प्रत्युत्तर दे सकता है।

किसी मनुष्यका "भूत" अवश्य ही उसका अंतरात्मा नहीं होता। यह या तो अपने प्राण शरीरमें प्रकट वह मनुष्य होता है या उसकी प्राणिक रचनाका एक अंश होता है जिसे अपने निजी उद्देश्यसे प्राण-जगत्की कोई शक्ति या सत्ता अधिकृत कर लेती है। क्योंकि सामान्यतया प्राण-सत्ता अपने व्यक्तित्वके साथ भौतिक शरीरके अवसानके बाद केवल कुछ समयतक ही बनी रहती है; उसके बाद वह प्राण-लोकमें चली जाती है जहां वह तवतक बनी रहती है जबतक प्राण-मय कोष गल नहीं जाता। फिर मनुष्य मनोमय कोषमें, किसी मनोमय जगत्में चला जाता है; परंतु अंतमें अंतरात्मा अपने मनोमय कोषको भी छोड़ देता है और अपने विश्राम-स्थलमें चला जाता है। यदि मन प्रबल रूपमें विकसित हो तो मनोमय सत्ता बनी रह सकती है और उसी तरह प्रबलतया विकसित प्राण भी बना रह सकता है, बशर्ते कि वे सच्चे चैत्य पुरुषके द्वारा सुसंगठित तथा उसके चारों ओर केंद्रित हों—उस समय वे चैत्य-तत्त्वके अमरत्वमें हिस्सा बंटाते

हैं। परंतु साधारणतया ऐसा घटित नहीं होता; मानसिक और प्राणिक तथा साथ ही भौतिक अंगोंका विलयन हो जाता है और अंतरात्मा पुनर्जन्ममें नया मन, प्राण और शरीर ग्रहण करता है और, जैसा कि बहुधा माना जाता है, अपने पुराने प्रकृति-रूपको ही किसी प्रतिकृतिको नहीं ग्रहण करता। ऐसी पुनरावृत्ति अर्थहीन और बेकार होगी तथा पुनर्जन्मके उद्देश्यको ही नष्ट कर डालेगी जो उद्देश्य है अनुभवके द्वारा प्रकृतिका प्रगतिके पथपर आगे बढ़ना, प्रकृतिस्थ अंतरात्माका अपने-आपको पानेके लिये विकासक्रममें वर्द्धित होना। साथ-ही-साथ अंतरात्मा विगत जीवनों और व्यक्तित्वोंमें जो कुछ मुख्य था उनके संस्कारोंको बनाये रखता है और नवीन जन्म और व्यक्तित्व इस अतीत और भविष्यकी अंतरात्माकी आवश्यकताके बीच एक संतुलनरूप होते हैं।

पुनश्च: ऐसे प्रसंग भी होते हैं जिनमें बाह्य सत्ताका तुरत पुनर्जन्म होता है और उसका पुराना व्यक्तित्व बना रहता है और यहांतक कि अपने पूर्वजन्मकी स्मृति भी बनी रहती है, परंतु यह असामान्य बात है, और साधारणतया तभी घटित होती है जब असामयिक मृत्युके कारण विवशता होती है और प्राण-पुरुषमें अपने अपूर्ण अनुभवको जारी रखनेका एक प्रबल संकल्प होता है।



सार-रूप अंतरात्मा और चैत्य पुरुषमें विभेद करना आवश्यक है। सबके और प्रत्येकके पीछे एक अंतरात्मा रहता है जो कि भगवान्‌का स्फुलिंग होता है—इसके बिना किसीका अस्तित्व नहीं रह सकता। परंतु यह बिलकुल संभव है कि मनुष्यमें प्राणमय और अन्नमय पुरुष हो और उसके पीछे कोई स्पष्टतः विकसित चैत्य पुरुष न हो। फिर भी, सर्वसामान्य रूपसे ऐसा नहीं कहा जा सकता कि किसी आदिवासीके अंतरात्मा नहीं होता या उसमें कहीं भी अंतरात्माका कोई चिह्न नहीं दिखायी देता।

आंतरिक सत्ता निर्मित होती है आंतरिक मन, आंतरिक प्राण और आंतरिक शरीरसे—किंतु वह चैत्य-सत्ता नहीं है। चैत्य सत्ता अंतरतम सत्ता है और इन सबसे बिलकुल भिन्न है। निश्चय ही अंगरेजीमें 'साइकिक' (चैत्य) शब्द बाह्य मन प्राण और शरीरसे

भिन्न या गभीरतर किसी भी वस्तुके लिये अथवा किसी भी गुह्य या अतिभौतिक वस्तुके लिये व्यवहृत होता है परंतु वह एक ऐसा व्यवहार है जो गोलमाल और मूल-भ्रांतिकी सृष्टि करता है और हम उसका पूर्णतः बहिष्कार करते हैं जब हम योगके विषयमें बोलते या लिखते हैं। सामान्य बोलचालकी भाषामें हम कभी-कभी 'चैत्य' शब्दको अधिक शिथिल प्रचलित अर्थमें व्यवहृत कर सकते हैं अथवा कवितामें कर सकते हैं जो बौद्धिक यथार्थताके लिये बाध्य नहीं है, हम अंतरात्माकी चर्चा भी कभी-कभी साधारण और अधिक बाह्य अर्थमें अथवा सच्चे पुरुषके अर्थमें कर सकते हैं।

चैत्य पुरुष उपरितलीय क्रिया-व्यापारोंसे आच्छादित रहता है और जितना संभव होता है उतने अच्छे रूपमें इन बाहरी यंत्रोंके द्वारा अपने-आपको अभिव्यक्त करता है जो कि चैत्यके आंतरिक प्रभावकी अपेक्षा कहीं अधिक बाहरी शक्तियोंसे परिचालित होते हैं। परंतु इसका अर्थ यह नहीं है कि वे पूर्णतः अंतरात्मासे विच्छिन्न होते हैं। अंतरात्मा शरीरमें उसी तरह है जैसे मन या प्राण है—पर जिस शरीरको वह अधिकृत किये हुए है वह केवल यह स्थूल भौतिक ढांचा ही नहीं है बल्कि सूक्ष्म शरीर भी है। जब स्थूल कोष झड़ जाता है तब शरीरके प्राणमय और मनोमय कोष बने रहते हैं और जबतक ये विलीन नहीं हो जाते तबतक अंतरात्माके वाहन बने रहते हैं।

पौधे या पशुका अंतरात्मा एकदम निद्रित नहीं होता—केवल उसकी अभिव्यक्तिके साधन मनुष्यके साधनोंकी अपेक्षा कम विकसित होते हैं। पौधेमें बहुत कुछ ऐसा होता है जो चैत्य होता है, पशुमें बहुत कुछ ऐसा होता है जो चैत्य होता है। पौधेके आकारमें केवल प्राणिक-भौतिक अंग विकसित होता है इसलिये वह अपनेको अभिव्यक्त नहीं कर सकता; पशुमें प्राणिक मन होता है और वह अभिव्यक्त कर सकता है, पर उसकी चेतना सीमित होती है और उसके अनुभव सीमित होते हैं, इसलिये वहां चैत्यतत्त्वको उतनी अधिक विकसित चेतना और अनुभव नहीं प्राप्त होता जितना कि मनुष्यके अंदर विद्यमान है अथवा कम-से-कम विद्यमान होनेकी संभावना है। पर जो हो, पशुओंमें अंतरात्मा होता है और बड़ी तत्परतासे मनुष्यके चैत्य पुरुषको प्रत्युत्तर दे सकता है।

प्रेत निश्चय ही अंतरात्मा नहीं है। प्रेत या तो अपनी प्राणिक देहमें प्रकट मनुष्य होता है या वह मनुष्यकी प्राणिक सत्ताका कोई अंश होता है जिसे कोई प्राणिक शक्ति या सत्ता अधिकृत कर लेती है। देहके विलीन होनेके बाद हमारा प्राणिक अंग साधारणतः कुछ समयतक बना रहता है और प्राणिक लोकमें चला जाता है, वहां वह तबतक बना रहता है जबतक कि प्राणिक कोष विलीन नहीं हो जाता। बादमें, यदि मनुष्य मानसिक रूपमें विकसित होता है तो, चैत्य पुरुष मनोमय कोषमें रहता और किसी मनोमय जगत्‌में चला जाता है और अंतमें वह अपना मनोमय कोष भी त्याग देता और अपने विश्राम-स्थलमें चला जाता है। यदि मनका खूब प्रबल विकास हुआ हो तो हमारा मनोमय अंग भी बना रह सकता है; वैसे ही प्राण-भाग भी रह सकता है, बशर्तें कि वे सच्चे चैत्य पुरुषके द्वारा और उसे केंद्र बनाकर गठित हुए हों, क्योंकि तब वे चैत्यकी अमरतामें हिस्सा बंटाते हैं। नहीं तो, चैत्य पुरुष मन और प्राणको अपने अंदर खींच लेता है और दूसरे जन्मकी पूर्ववर्ती शांतिमें प्रवेश कर जाता है।



महज भूत-पिशाचके अंदर चैत्य-सत्ता नहीं होती, क्योंकि भूतपिशाच प्राणिक सत्ता होता है; परंतु सभी मनुष्योंमें (वे किसी प्राणिक सत्ता या पिशाच-शक्तिद्वारा अधिकृत भी हों) चैत्य पुरुष होता है जो इस सबके पीछे आवृत होता है।



अंतरात्माको प्राण और जड़तत्त्वमें भगवदग्निका स्फुलिंग कहा गया है, यह एक रूपक है। इसे चेतनाका स्फुलिंग नहीं कहा गया है।

हमारे अंदर मानसिक, प्राणिक और भौतिक चेतना है—ये चैत्यसे भिन्न हैं। चैत्य पुरुष और चेतना एक ही वस्तु नहीं हैं।

जब अंतरात्मा अथवा "भगवदग्निका स्फुलिंग" चैत्य व्यक्तित्वको विकसित करना आरंभ करता है तो उस चैत्य व्यक्तित्वको चैत्य-पुरुष कहते हैं।

संगठित प्राण और मनके विकासके पहले भी अंतरात्मा या

स्फुलिंग वहां रहता है। अंतरात्मा स्वयं भगवान्का कोई अंश है जो क्रमविकासके अंदर उतरता है और उसके अंदर वह एक भागवत तत्त्व है जो अज्ञानसे ज्योतिमें होनेवाले व्यक्तिके विकासक्रमको सहारा देता है। यह क्रमविकासकी धारामें एक चैत्य व्यक्ति या अंतरात्म-व्यक्तित्वको विकसित करता है जो जन्म-जन्ममें वर्द्धित होता है और विकसनशील मन, प्राण और शरीरको अपने यंत्रोंके रूपमें व्यवहृत करता है। यह अंतरात्मा ही अमर है और बाकी सब चीजें विघटित हो जाती हैं। अंतरात्मा एक जीवनसे दूसरे जीवनमें जाता है और सार-रूपमें अपने अनुभवको तथा व्यक्तिके विकासक्रमकी धाराको वहन करता है।

सच पूछा जाय तो संपूर्ण चेतनाको, मानसिक, प्राणिक और भौतिक चेतनाको भी ऊपर उठना और उच्चतर चेतनासे युक्त होना होगा और, एक बार जब यह युक्तावस्था सिद्ध हो जाती है तो, उच्चतर चेतनाको भी उनमें उतर आना होता है। चैत्य पुरुष इस सबके पीछे विद्यमान रहता है और इसे सहारा देता रहता है।



अतिमानस सत्य-चेतना है; उससे नीचे आता है अधिमानस जिसका स्वभाव है भगवान्की शक्तियोंको ग्रहण करना और उन्हें अलग-अलग कार्यान्वित करनेका प्रयास करना; वहां प्रत्येक शक्ति अपने निजी अधिकारके अधीन कार्य करती है और अपनी निजी दुनियाको साकार करनेके लिये कार्य करती है अथवा, यदि उसे दूसरोंके साथ कार्य करना पड़ता है तो जितना अधिक संभव होता है अपने निजी नियमोंको लागू करती है। पृथक् व्यक्तित्वका तत्त्व यहींसे आता है। आरंभमें यह अपने दिव्य-स्रोतके विषयमें सज्ञान रहता है, फिर जैसे-जैसे नीचे उतरता है यह अधिकाधिक पृथक् होता जाता है और उसे भूलता जाता है, विभाजन और अहंके तत्त्व-द्वारा शासित होने लगता है। मन अधिमानसकी अपेक्षा सत्यसे बहुत दूर हट गया है, प्राण-प्रकृति अज्ञानमय शक्तियोंकी प्राप्तिमें संलग्न हो गयी है, जब कि जड़तत्त्वमें आकर सब कुछ उस वस्तुमें चला गया है जो एक आदि निश्चेतना प्रतीत होती है। अधिमानस-माया ही इस जगत्का शासन कर रही है, पर जड़तत्त्वमें यह घनी-

भूत होकर निश्चेतना बन गयी है जिसके भीतरसे चेतना पुनः बाहर निकलती है और फिर ऊपर उठकर जड़तत्त्वके अंदर प्राण और मनको उतार लाती है, और मनमें उच्चतर क्षेत्रोंकी ओर उद्घाटित होती है—जो अभी भी सत्यके साथ कुछ प्रत्यक्ष संपर्क बनाये हुए हैं (संबोधि, अधिमानस, अतिमानस)।



आकारप्राप्त अंतरात्मा केवल सुसंघटित शरीरमें प्रवेश करते हैं—प्रोटोप्लाज्म (जीवद्रव्य) आदिमें केवल भगवान्‌का स्फुलिंग ही रहता है, आकारप्राप्त अंतरात्मा नहीं।



चैत्यतत्त्व भगवान्‌का स्फुलिंग है जो यहां व्यक्तिगत जीवनमे विकसित हुआ है। यह चैत्य पुरुषके रूपमें वर्द्धित और विकसित होता है—अतएव यह स्पष्ट है कि उसमें पहलेसे ही भगवान्‌की शक्तियां नहीं हो सकतीं। केवल उसीकी उपस्थिति यह संभव बनाती है कि व्यक्ति भगवान्‌की ओर खुले और भागवत चेतनाकी ओर वर्द्धित हो और जब वह क्रिया करता है तो सर्वदा ही उसे दिव्य ज्योति और सत्यका बोध रहता है और भगवान्‌की ओर दबाव बना रहता है।



यह चैत्य पुरुषकी क्रिया है—उसे प्रत्येक स्तरपर कार्य करना है जिससे कि प्रत्येक स्तरको यथार्थ सत्य और भागवत सद्वस्तुके प्रति जागृत होनेमें वह सहायता कर सके।



प्रत्येक अंतरात्मा विकसित और क्रियाशील नहीं होता; और न प्रत्येक अंतरात्मा योगाभ्यास करनेसे पहले सीधे भगवान्‌की ओर मुड़ा ही हुआ होता है। दीर्घकालतक यह प्रत्यक्ष रूपमें नहीं बल्कि कहीं अधिक मनुष्यों और वस्तुओंके द्वारा भगवान्‌को खोजता है।



ऐसा लगता है कि तुमने मेरे उत्तरको बिलकुल ही नहीं समझा है। साधारण चेतनामें, जिसमें मन वगैरह जाग्रत् नहीं होते, चैत्य पुरुष कार्य करता है तथा उसके द्वारा कर सकता है, पर करता है अज्ञानके विधानोंके अनुसार।



सब कुछ प्रकृतिसे संबंध रखता है—स्वयं अंतरात्मा प्रकृतिकी शर्तोंके अधीन तथा उसके माध्यमसे कार्य करता है।



अंतरात्मा सर्वदा शुद्ध रहता है, पर ज्ञान और शक्ति उसमें अंतर्लीन रहते हैं और जब चैत्य पुरुष विकसित होता और प्रबल रूप ग्रहण कर लेता है केवल तभी वे प्रकट होते हैं।



चैत्य पुरुष जन्म और पुनर्जन्मकी धारामें विकसित अंतरात्मा है और अंतरात्मा है भगवान्‌का एक अंश—पर अंतरात्माके साथ सदा ही विराजमान रहते हैं प्रच्छन्न भगवान्, हृषीकेश।



भगवान् सदा आंतर हृदयमें विराजमान रहते हैं और उसका त्याग नहीं करते।



यह (चैत्य पुरुष) निरंतर अंतर्यामी भगवान्—व्यक्तिके अंदर गुह्य भगवान्‌के साथ संपर्क बनाये रखता है।



वे (चैत्य पुरुष तथा हृदयमें स्थित भागवत उपस्थिति) बिलकुल भिन्न चीजें हैं। चैत्य पुरुष मनुष्यका अपना व्यष्टिभावापन्न अंतरात्म-सत्ता है। यह भगवान् नहीं है, यद्यपि यह भगवान्‌से आता है और भगवानकी ओर विकसित होता है।



सच पूछो तो (हमारे अंदर) चैत्य पुरुष ही परात्पर भगवान्के साथ सीधा संबंध बनाये रखता है और प्रकृतिको ऊपर परात्परकी ओर ले जाता है।



चैत्य व्यक्तिके विकासक्रमका आधार है; यह सीधे संपर्क तथा मन, प्राण और शरीरके द्वारा—दोनों तरहसे वैश्वके साथ संयुक्त होता है।



साधनामें चैत्य पुरुषकी देन है: (१) प्रेम और भक्ति, वह प्रेम जो प्राणिक न हो, मांग करनेवाली और अहमात्मक न हो, बल्कि निरपेक्ष हो और कोई दावा न करे, स्वयंसत् हो; (२) अंतरस्थ भगवती माताका संपर्क या सान्निध्य; (३) अंतरसे निर्भ्रांत पथप्रदर्शन; (४) मन, प्राण और भौतिक चेतनाको चैत्य प्रभाव तथा पथप्रदर्शनके अधीन लाकर शांत-स्थिर और शुद्ध बनाना; (५) इस समस्त निम्नतर चेतनाको ऊर्ध्वस्थित उच्चतर आध्यात्मिक चेतनाकी ओर खोल देना ताकि वह उच्चतर चेतना जब नीचे उतरे तो उसे ऐसी प्रकृति मिले जो संपूर्ण ग्रहणशीलता और समुचित मनोभावके साथ ग्रहण करनेके लिये प्रस्तुत हो गयी हो—क्योंकि, चैत्य पुरुष प्रत्येक बातमें सम्यक् विचार, सम्यक् दृष्टि, सम्यक् अनुभव, सम्यक् मनोभाव ले आता है।

हम अपनी चेतनाको मन और प्राणके स्तरसे ऊपर उठा सकते हैं और ऊपरसे शक्ति, ज्योति, ज्ञान तथा आनंदको उतार सकते हैं; किंतु, यदि सत्ता पर्याप्त रूपमें तैयार न हो, या पर्याप्त मात्रामें शुद्ध न हो तो यह चीज कहीं अधिक कठिन होती है और उसका परिणाम कहीं अधिक अनिश्चित तथा संकटपूर्ण भी होता है। इस उद्देश्यके लिये चैत्य पुरुषके साथ ऊपर उठना कहीं अधिक उत्तम मार्ग है। यदि तुम इस प्रकार चैत्य केंद्रसे ऊपरकी ओर उठ रहे हो तो यह बहुत उत्तम है।

जो कुछ तुम कहते हो वह यह सूचित करता है कि चैत्य और मानस-केंद्र संपर्कमें हैं और उनके द्वारा तुम उच्चतर चेतनाकी चीजें

नीचे उतार लानेमें समर्थ हो। परंतु तुमने शिर-केन्द्रको शिरोपरि केंद्रके लिये अथवा शिरोपरि-विशालताके लिये छोड़ा नहीं है। साधारणतया सचेतन अंगोंको धीरे-धीरे ऊपर उठाकर मस्तकके शीर्ष भागमें तथा फिर उससे ऊपर ले जानेपर वैसी स्थिति आती है। परंतु उसके लिये अत्यधिक प्रयास या जोर-जबर्दस्ती नहीं करनी चाहिये; वह स्वयं ही आयेगी।



चैत्य पुरुष है अंतरात्मा, गुह्य हृदयमें स्थित पुरुष; वह अपनी उपस्थितिके द्वारा मन, प्राण और देहकी क्रियाको सहारा देता है। प्राण है तैत्तिरीय उपनिषद्में वर्णित 'प्राणमय पुरुष', जीवनी-शक्तिके पीछे विद्यमान पुरुष; अविद्याके अंदर अपने 'बाहरी रूपमें रहते हुए वह कामनामय आत्माको उत्पन्न करता है जो कि अधिकांश मनुष्यों-पर शासन करता है और जिसे मनुष्य बहुधा अपना वास्तविक अंत-रात्मा समझनेकी भूल करते हैं।

आत्मन् रहता है ऊपर, विशुद्ध और निष्कलंक, जीवनकी कालि-मासे, कामना, अहंकार और अविद्यासे अछूता। उसका अनुभव व्यक्तिके सच्चे स्वरूपके रूपमें होता है, परंतु अधिक व्यापक रूपमें उसका अनुभव होता है सबके अंदर विद्यमान एक ही पुरुषके रूपमें और विश्वमें विद्यमान आत्मा (ब्रह्म) के रूपमें; फिर, उसका एक अपना अस्तित्व है जो व्यक्ति और विश्वसे ऊपर है तथा वह परमात्मा, परम दिव्य पुरुष कहा जाता है। इस अंतरका चैत्य और प्राणके बीचके अंतरसे कोई संबंध नहीं, प्राण पुरुष वह चीज नहीं है जिसे आत्मा कहा जाता है।

कामनामय आत्मा और कामनामयी प्रकृतिके रूपमें प्राण पुरुष अधिकांश मनुष्योंकी चेतनाको बहुत अधिक मात्रामें अपने अधिकारमें रखता है, क्योंकि मनुष्य कामनासे परिचालित होते हैं। किंतु मनुष्यकी उपरितलीय प्रकृतिमें भी चेतनाका यथार्थ शासक होता है मनोमय पुरुष, जैसा कि उपनिषदोंमें कहा गया है, "मनोमय पुरुष प्राण-शरीर-नेता"। चैत्य पुरुष पीछेसे चेतनाको प्रभावित करता है। किंतु उसे पानेके लिये और, जैसा कि होना उचित है, उसे चेतनाका शासक बनानेके लिये हमें सामान्य चेतनासे निकलकर अपनी अंतरतम सत्तामें जाना होगा। ऐसा करना योगका एक प्रधान उद्देश्य है। प्राणको चेतनाका एक यंत्र होना चाहिये, न कि उसका शासक।

प्राण पुरुष ही 'मैं' नहीं है—'अहं' होता है मनोमय, प्राणमय और अन्नमय। 'अहं' का अर्थ है बाहरी आत्माके साथ अपनी सत्ताका तादात्म्य, हमारे ऊर्ध्वमें स्थित सच्चे आत्मा और हमारे अंदर विद्यमान चैत्य पुरुषके विषयमें अज्ञान।

हमारे अंदर जो विभिन्न पुरुष हैं चैत्य, मनोमय, प्राणमय, अन्नमय, वे एक अर्थमें आत्मन्के प्रक्षिप्त रूप हैं, किंतु यह केवल तभी पूर्ण सत्य होता है जब कि हम अपनी आंतरिक सत्तामें पहुंच जाते हैं और अपने आंतरिक सत्यका ज्ञान प्राप्त कर लेते हैं। ऊपरी तलपर, अज्ञानमें, मनोमय, प्राणमय और अन्नमय प्रकृति ही क्रिया करती है और पुरुष मानो प्रकृतिकी क्रियासे विकृत हो जाता है। हम जिसके प्रति सचेतन रहते हैं वह हमारा सच्चा मनोमय पुरुष, हमारा सच्चा प्राणमय पुरुष, हमारा सच्चा अन्नमय पुरुष भी नहीं होता, वे तो पीछेके भागमें रहते हैं, आच्छादित और मौन। जबतक हमें ज्ञान नहीं हो जाता हम मनोमय, प्राणमय और अन्नमय अहंको ही अपना आत्मा समझते हैं।



अंतरात्मा और प्राण दो बिलकुल भिन्न-भिन्न शक्तियां हैं। अंतरात्मा है परब्रह्म परमात्माका एक स्फुलिंग जो कि वैयक्तिक प्रकृतिको सहारा देता है; मन, प्राण और शरीर प्रकृतिकी अभिव्यक्तिके साधन हैं। अधिकांश मनुष्योंमें बाहरी प्रकृतिकी क्रियाके द्वारा अंतरात्मा छिपा हुआ और ढका हुआ होता है। वे प्राण-पुरुषको ही अंतरात्मा समझनेकी भूल करते हैं, क्योंकि प्राण ही शरीरको जीवंत बनाता और परिचालित करता है। परंतु यह प्राण-सत्ता भली और बुरी क्रिया-शक्तियों और कामनाओंसे बनी होती है; वह कामनात्मा होती है, न कि सच्ची चीज। जब सच्चा अंतरात्मा (चैत्य) आगे आता है, यंत्ररूपी प्रकृतिको, पहले तो प्रभावित करना और फिर बादमें उसकी क्रियाओंपर शासन करना आरंभ करता है, केवल तभी मनुष्य प्राणिक कामनाको जीतना और दिव्य प्रकृतिकी ओर विकसित होना शुरू करता है।

⊙

(1) अंतरात्मा और चैत्य पुरुष व्यवहारतः एक ही हैं; हां, जिन चीजोंमें चैत्य सत्ताका विकास नहीं हुआ रहता उनमें भी भगवान्‌का एक स्फुलिंग रहता है जिसे अंतरात्मा कहा जा सकता है। अंग्रेजीके 'साइकिक बीइंग' को संस्कृतमें हृदयस्थ पुरुष या चैत्य पुरुष कहते हैं। (चैत्य पुरुष है विकासक्रममें विकसित होता हुआ अंतरात्मा)।

(2) पुरुष और प्रकृतिका भेद सांख्य दर्शनमें किया गया है—पुरुष है मौन साक्षी चेतना जो प्रकृतिकी क्रियाओंको देखती है, प्रकृति है वह शक्ति जिसे हम सारे कर्म करती हुई अनुभव करते हैं, जब कि हमें कर्त्तापनके अहंबोधसे छुटकारा मिल जाता है। तभी इन दो सत्ताओंकी अनुभूति होती है। यह चीज (पुरुष) चैत्य पुरुषसे बिलकुल भिन्न है। इस पुरुषका अनुभव होता है मनमें, प्राणमें तथा अन्नमय चेतनामें—सबसे अधिक आसानीसे मनमें जहां कि मनोमय पुरुष स्थित होता है और अन्य पुरुषोंपर शासन करता है (**मनोमयः पुरुषः प्राणशरीरनेता**)।

(3) प्रज्ञा, तेजस् आदि एक भिन्न प्रकारका विभाजन है और उनका संबंध सत्ताके विभिन्न अंगोंसे नहीं, वरन् तीन विभिन्न स्थितियोंसे (जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति—स्थूल, सूक्ष्म और कार्य-कारणसे) है। मेरी समझमें इन विभिन्न चीजोंको एक दूसरेसे संबद्ध करनेकी चेष्टा नहीं करनी चाहिये—क्योंकि इससे भ्रम हो सकता है। ये चीजें विभिन्न श्रेणियोंकी हैं और अनुभूतियोंके विभिन्न स्तरोंकी हैं।



तुममें जो कुछ भी घटित होता है उसे अंतरका मनोमय पुरुष देखता रहता, निरीक्षण करता रहता और उसपर निर्णय देता रहता है। चैत्य इस प्रकार साक्षीके रूपमें नहीं देखता या निरीक्षण नहीं करता, वरन् वह अनुभव करता है और सहज-स्वाभाविक रूपमें, बहुत अधिक प्रत्यक्ष और सुस्पष्ट रूपमें, अपने निजी स्वभावकी विशुद्धताके द्वारा और अपने अंदर विद्यमान दिव्य सहजज्ञानके द्वारा जानता है, और इसलिये, जब कभी वह सम्मुख भागमें आता है, वह तुरत ही यह प्रकट कर देता है कि तुम्हारी प्रकृतिमें कौनसी गतियां सही हैं और कौनसी गलत।

मनुष्यकी सत्ता इन तत्त्वोंसे बनी है—सबको सहारा देनेवाला पीछेकी ओर विद्यमान चैत्य पुरुष, आंतरिक मन, प्राण और शरीर तथा मन, प्राण और शरीरकी बाहरी, बिल्कुल बाह्य प्रकृति जो कि उनके प्रकट होनेका साधन है। परंतु सबसे ऊपर है केंद्रीय पुरुष (जीवात्मा) जो इन सबको अपनी अभिव्यक्तिके लिये व्यवहृत करता है। वह परमात्माका अंश है; किंतु उसका यह प्रकृत स्वरूप बाह्य मानवसे छिपा रहता है जो कि अपने इस अंतरतम आत्मा और अंतरात्माके स्थानमें मानसिक और प्राणिक अहंको ला बिठाता है। जो लोग अपने-आपको जानना आरंभ करते हैं केवल वे ही अपने सच्चे केंद्रीय पुरुषसे अवगत होते हैं; किंतु वह फिर भी सदैव मन, प्राण और शरीरकी क्रियाके पीछे ही विद्यमान रहता है और उसका सबसे सीधा प्रतिनिधि होता है चैत्य पुरुष जो स्वयं भगवान्का स्फुलिंग है। अपनी प्रकृतिके अंदर चैत्य तत्त्वके वर्द्धित होनेपर ही हम अपने ऊपरके केंद्रीय पुरुषके साथ सचेतन संपर्क बनाना आरंभ करते हैं। जब ऐसा होता है और केंद्रीय पुरुष प्रकृतिकी क्रियाओंको सुसंगठित और शासित करनेके लिये सचेतन इच्छा-शक्तिका प्रयोग करता है तभी एक आंशिक या मात्र मानसिक अथवा नैतिक आत्मप्रभुत्वके बदले हमें एक वास्तविक, आध्यात्मिक आत्म-प्रभुत्व प्राप्त होता है।



उपनिषद्में वर्णित 'मनोमय पुरुष' मन-स्नायु-शरीरके सम्मिश्रणका अंग नहीं है—यह मनोमय पुरुष प्राण-शरीर-नेता है। यदि वह उस सम्मिश्रणका भाग होता तो उसका वर्णन ऐसा नहीं किया गया होता। और कोई सम्मिश्रण या उसका भाग पुरुष नहीं हो सकता,—क्योंकि वह सम्मिश्रण प्रकृतिसे बना हुआ है। उपनिषद्ने उसे मनोमय इसलिये कहा है कि चैत्य पुरुष पर्देके पीछे है और मनुष्य प्राण तथा शरीरमें रहनेवाला मनोमय पुरुष होनेके कारण अपने मनमें निवास करता है, अपने चैत्य पुरुषमें नहीं, इसलिये उसके लिये मनोमय पुरुष प्राण और शरीरका नेता है,—उस चैत्य पुरुषके विषयमें, जो सबको धारण करता है, वह सचेतन नहीं होता अथवा अपने सर्वोत्तम क्षणोंमें क्षीण रूपमें ही सचेतन होता है। मनुष्यमें चैत्य पुरुषका प्रतिनिधित्व करता है प्रधान मंत्री, मनोमय पुरुष, वह स्वयं एक नम्र वैधानिक

राजा बना रहता है। उस समय प्रकृति अपने कार्योंकी अनुमति मनोमयसे लेती है। परंतु, फिर भी, उपनिषद्का वक्तव्य वास्तविक सत्यका ऊपरी तथ्य ही बताता है, जो मनुष्यके लिये और केवल मानवीय स्तरके लिये सत्य है। क्योंकि पशुमें वस्तुतः प्राणमय पुरुष मन और शरीरका नेता होगा। यह एक कारण है जिससे मैंने अभीतक 'पुनर्जन्म और कर्म'[1] को प्रकाशित करनेकी अनुमति नहीं दी है, क्योंकि इसे सुधारना होगा और इसके स्थानमें गभीरतर सत्यको रखना होगा। मेरा इरादा इसे बादमें करनेका था, पर बाकी लेखोंको पूरा करनेका समय नहीं मिला।



जिस "दुःखपूर्ण हास्यास्पद" विरोधकी बात तुम कहते हो वह इस बातसे उत्पन्न होती है कि मनुष्य एक टुकड़ेसे नहीं बना है बल्कि बहुतसे टुकड़ोंसे बना है और उसके प्रत्येक भागका एक अपना व्यक्तित्व है। यह एक ऐसी चीज है जिसका ज्ञान अभी लोगोंको पर्याप्त नहीं है—मनोवैज्ञानिकोंको उसकी झांकी मिलने लगी है, पर वे तभी उसे जान पाते हैं जब कोई द्विविध या त्रिविध व्यक्तित्व-वाला मनुष्य उन्हें मिलता है। परंतु वास्तवमें सभी मनुष्य वैसे हैं। योगमें मनुष्यका उद्देश्य होना चाहिये (यदि अभीतक मनुष्यने ऐसा न किया हो) एक प्रबल केंद्रीय सत्ताको विकसित करना और उसीके अधीन बाकी सबको, जो कुछ परिवर्तन करने योग्य है उसका परि-वर्तन करके, सुसमंजस करना। यदि यह केंद्रीय सत्ता चैत्य पुरुष हो तो कोई बड़ी कठिनाई नहीं होती। यदि यह मनोमय पुरुष हो, मनोमयः पुरुषः प्राणशरीरनेता, तो यह अधिक कठिन होता है—जबतक कि मनोमय पुरुष निरंतर भगवान्के महत्तर संकल्प और शक्तिके संपर्कमें रहना और उनसे सहायता पाना न सीख ले।



---

1. एक अपूर्ण लेखमाला जो सबसे पहले 'आर्य' पत्रिकामें सन् 1915 से 1921 के बीच क्रमानुगत छपती रही और पीछे अपूर्णावस्थामें ही "The Problem of Rebirth" (पुनर्जन्मकी समस्या) शीर्षकसे पुस्तकाकार प्रकाशित हुई (फरवरी 1952)।

इस प्रश्नको जिस रूपमें रखा गया है उसे मैं नहीं समझता। प्रत्येक भागको दूसरेसे अलग करके स्पष्ट रूपमें रखना होगा और प्रत्येक भागको अपना निजी कार्य करना होगा और प्रत्येक भागको अपने अंदर निहित सत्यको चैत्य पुरुषसे अथवा ऊपरसे पाना होगा। ऊपरसे अवतरित होकर सत्य अधिकाधिक उनके कार्यको समन्वित करेगा, यद्यपि पूर्ण सामंजस्य केवल तभी आ सकता है जब अतिमानसिक सिद्धि प्राप्त होगी।



जो अनुभव तुम्हें हो रहा है वह यौगिक चेतना और आत्मज्ञानकी प्रथम अवस्था है। साधारण मन अपनेको केवल एक अहं समझता है जिसके साथ प्रकृतिकी सभी क्रियाएं एक साथ मिली-जुली अवस्थामें रहती हैं, और इन क्रियाओंके साथ एकाकार होकर यह सोचता है कि "मैं" यह कर रहा हूं, उसे अनुभव कर रहा हूं, विचार कर रहा हूं, हर्षमें हूं या शोकमें हूं इत्यादि-इत्यादि।" सच्चे आत्मज्ञानका प्रथम प्रारंभ तब होता है जब तुम अपनेको अपने अंदरकी प्रकृति और उसकी क्रियाओंसे पृथक् अनुभव करते हो और फिर तुम यह देखते हो कि तुम्हारी सत्ताके बहुत-से भाग हैं, बहुतेरे व्यक्तित्व हैं जो स्वयं अपने तई और स्वयं अपने ढंगसे कार्य करते हैं। दो विभिन्न सत्ताएं जो तुम अनुभव करते हो वे हैं—एक, चैत्य पुरुष जो तुम्हें श्रीमांकी ओर खींचता है; दूसरी, बाहरी सत्ता, अधिकांशतः प्राण जो तुम्हें बाहरकी ओर और नीचे निम्न प्रकृतिकी क्रीड़ाकी ओर खींचता है। तुम्हारे अंदर मनके पीछे भी एक पुरुष है जो निरीक्षण करता है, जो साक्षी पुरुष है, जो प्रकृतिकी क्रीड़ासे अनासक्त रह सकता, उसे देख सकता और चुनाव कर सकता है। इसे सर्वदा चैत्य पुरुषके पक्षमें अपनेको रखना होगा, उसकी क्रियाको स्वीकृति एवं समर्थन देना होगा और निम्न प्रकृतिकी निम्नगुणी और बहिर्मुखी क्रियाका त्याग करना होगा, निम्न प्रकृतिको उसे चैत्य पुरुषकी अधीनतामें लाना होगा तथा उसके प्रभावके द्वारा उसे परिवर्तित करना होगा।



जिस अवस्थाका वर्णन तुम करते हो उससे यह पता नहीं मिलता कि योग नहीं करना चाहिये, बल्कि यह मिलता है कि तुम्हें सत्ताके

दोनों भागोंके बीचकी दरार धीरे-धीरे भरते हुए आगे बढ़ना चाहिये। यह विभाजन एक सर्वसामान्य वस्तु है, मनुष्य-स्वभावके लिये प्रायः सार्वभौम वस्तु है, और लगभग प्रत्येक व्यक्तिके साथ ऐसा घटित होता है कि उच्चतर भागोंमें विपरीत संकल्प होनेपर भी निम्न आवेग-का ही वह अनुगमन करता है। इस क्रियापर अर्जुनका भी ध्यान गया था और उसने श्रीकृष्णसे यह प्रश्न किया था: "मनुष्य इच्छा न होनेपर भी बुरी बातें क्यों करता है, मानो कोई शक्ति उससे जबर्दस्ती करा लेती हो?" और होरेसने भी सारगर्भित रूपमें व्यक्त किया है—"मैं उत्तमको देखता और उसका समर्थन करता हूं, मैं निकृष्टका अनुसरण करता हूं।" निरंतर अभ्यास और अभीप्साके द्वारा मनुष्य एक ऐसे मोड़पर पहुंच सकता है जहां चैत्य पुरुष दृढ़ता-पूर्वक जम जाता है और जो चीज वहां बहुत मामूली मनोवैज्ञानिक परिवर्तन प्रतीत होती है वह प्रकृतिके सारे संतुलनको ही पलट देती है।



तुम बाहरी जाग्रत् चेतनाको इस रूपमें लेते हो मानो यही सच्ची सत्ता या व्यक्ति हो और यह निष्कर्ष निकालते हो कि यदि यह चीज नहीं वरन् कोई दूसरी चीज अनुभूति प्राप्त करती है या अनुभूतिमें निवास करती है तो फिर किसीको अनुभूति नहीं होती—क्योंकि, जाग्रत् चेतनाके सिवा यहां और कोई चेतना है ही नहीं। यही वह भूल है जिससे अज्ञान टिका रहता है और उससे छुटकारा नहीं पाया जा सकता। अज्ञानसे बाहर निकलनेका एकदम पहला कदम यही है कि इस तथ्यको स्वीकार किया जाय कि यह बाह्य चेतना मनुष्यका आत्मा नहीं है, स्वयं मनुष्य नहीं है, सच्चा व्यक्ति नहीं है बल्कि ऊपरी क्रीड़ाके उद्देश्यसे ऊपरी सतहपर बनी हुई एक क्षणिक रचना है। अंतरात्मा, व्यक्तिके भीतर अवस्थित है, ऊपरी सतहपर नहीं है—बाह्य व्यक्तित्व तो महज वह व्यक्ति है जिसे लैटिन भाषामें छद्मवेश कहते हैं।



चैत्य पुरुषको वह पद प्राप्त है जिसकी चर्चा तुम करते हो, क्योंकि चैत्य पुरुष ही निम्न प्रकृतिके अंदर भगवान्‌के साथ संपर्क

बनाये रखता है। परंतु आंतर मन, प्राण और शरीर वैश्व चेतनाके अंग हैं और इनोंकी ओर खुले हुए हैं—बस, वे बाहरी मन, प्राण और शरीरसे अधिक विशाल हैं तथा दिव्य प्रभावको अधिक परिमाणमें तथा अधिक आसानीसे ग्रहण कर सकते हैं।



अंतरात्मा शब्द बहुत अस्पष्ट रूपमें, अंगरेजी शब्द 'सोल' (Soul) की तरह, व्यवहृत होता है—उस तरह व्यवहृत होनेपर उसमें आंतरिक सत्ता, आंतरिक मन, आंतरिक प्राण और आंतरिक शरीरतक सब कुछ आ जाता है, और साथ-ही-साथ अंतरतम पुरुष, चैत्य पुरुष भी आ जाता है।



अधिकांशतः यूरोपीय मन कभी आत्मा+शरीरके सिद्धांतके परे नहीं जा सका है—सामान्यतया मनको आत्मा (Soul) में जोड़ देता है और शरीरके सिवा बाकी सब कुछको मनमें सम्मिलित कर देता है। कुछ गुह्यविद्गण आत्मा, अंतरात्मा और शरीरमें विभेद करते हैं। फिर कुछ ऐसी अस्पष्ट भावना भी जरूर विद्यमान है कि आत्मा और मन बिलकुल एक वस्तु नहीं हैं, क्योंकि यह वाक्य प्रयुक्त होता है कि "इस आदमीमें आत्मा नहीं है", अथवा "उसमें आत्मा है", जिसका अर्थ होता है कि उसमें ऐसी कोई चीज है जो महज मन और शरीरके परेकी है। परंतु यह सब बहुत अस्पष्ट है। वहां मन और आत्मामें स्पष्ट भेद नहीं किया गया है तथा मन और प्राणमें भी कोई भेद नहीं किया गया है और प्रायः प्राणको ही आत्मा समझा जाता है।



परंतु यह[1] तो ठीक वही बात है जिसका विरोध पाश्चात्य वैज्ञानिक मन करता रहा है या कलतक करता था और आज भी यह सत्य सिद्ध होने योग्य नहीं माना जाता। यह तर्क किया जाता

---

1. यह विश्वास कि शरीर एक जन्मके लिये आत्माका अस्थायी निवास-स्थान है।

है कि आत्माविषयक भावना—शरीरसे भिन्न—एक भ्रम है। वास्तवमें शरीरके अनुभव ही आत्माकी भावनाको जन्म देते हैं और जीनेकी कामना ही मूलवश अपनेको इस धारणामें प्रसारित कर देती है कि आत्मा शरीरके बाद भी बना रहता है। इसके अलावा पश्चिम इस ईसाई भावनाका अभ्यस्त है कि आत्मा शरीरके साथ सृष्ट होता है—यह एक ऐसी भावना है जिसे ईसाइयोंने यहूदियोंसे ली जो भगवान्में तो विश्वास करते थे पर अमरत्वमें विश्वास नहीं करते थे—अतएव पाश्चात्य मन पुनर्जन्मकी किसी भावनाके विरुद्ध आक्रमण करता है। वहांके धार्मिक लोगतक यह विश्वास करते थे कि अंतरात्मा शरीरमें पैदा होता है भगवान् पहले शरीर बनाते और फिर उसमें अंतरात्माको (प्राण?) फूंक देते हैं। यूरोपियन लोगोंके लिये इस अतीत मानसिक उत्तराधिकारका अतिक्रमण करना कठिन है।



उपनिषदोंमें चैत्यपुरुषका वर्णन इस प्रकार किया गया है कि वह मनुष्यके अंगूठेके आकारसे बड़ा नहीं है! वह, निस्संदेह, एक प्रतीकात्मक आकार है। क्योंकि सामान्यतया जब कोई किसीके चैत्य पुरुषको एक आकारमें देखता है तो वह उससे अधिक बड़ा होता है। आंतर सत्ताका जहांतक प्रश्न है, मनुष्य उसे बड़ा अनुभव करता है, क्योंकि सच्ची मानसिक या सच्ची प्राणिक या यहांतक कि सच्ची भौतिक सत्ता बाह्य चेतनाकी अपेक्षा, जो शरीरसे सीमित होती है, चेतनामें बहुत अधिक विशाल होती है। यदि बाहरी अंग समस्त चेतनाको अधिकृत किये हुए प्रतीत होते हैं तो ऐसा तब होता है जब मनुष्य शरीरमें नीचे उतर आता है और प्रकृतिकी सभी क्रियाओंको उसके ऊपर होते हुए अनुभव करता है—उस समय मानसिक और प्राणिक क्रियाएं भी शरीरके भीतरसे अनुभूत होती हैं और पृथक् स्तरकी चीजें मालूम होती हैं। परंतु जब मनुष्य आंतरिक सत्तामें निवास करता है तो वह एक ऐसी चेतनासे सज्ञान होता है जो विश्वमें फैलना आरंभ करती है और बाहरी सत्ता केवल वैश्व शक्तियोंद्वारा प्रक्षिप्त उपरितलीय क्रिया प्रतीत होती है।



हां, चैत्य पुरुपका एक रूप होता है। परंतु वह फोटोमें नहीं दिखायी देता; क्योंकि चैत्य पुरुपका रूप सर्वदा या सामान्यतया ऐसा नहीं होता जो भौतिक शरीरके रूपसे घनिष्ठ रूपमें मिलता-जुलता हो, वल्कि कभी-कभी वह उससे विलकुल भिन्न होता है। जव हम फोटोकी ओर देखते हैं तो उस समय जो दिखायी देता है वह आकार नहीं होता, वल्कि चेतनाका कुछ अंश होता है जो या तो शरीरमें अभिव्यक्त होता है अथवा किसी प्रकार उसके भीतरसे अनुभूत होता है; हम फोटोके द्वारा उसे वहां देखते या अनुभव करते हैं।

⊙

अंतरात्मा किसी आकारसे सीमित नहीं होता, पर चैत्य पुरुप अपनी अभिव्यक्तिके लिये एक आकार धारण करता है ठीक जिस तरह कि मनोमय, प्राणमय और सूक्ष्म-भौतिक पुरुप करते हैं—तात्पर्य, हम अपने चैत्य पुरुपको या कोई दूसरा व्यक्ति हमारे चैत्य पुरुपको अमुक रूपमें देख सकता है। परंतु यह देखना दो प्रकारका होता है—एक तो इस जीवनमें इस पुरुपद्वारा गृहीत एक स्थायी विशिष्ट रूप होता है और दूसरे, उसके प्रतीकात्मक आकार होते हैं, जैसे कि जव कोई व्यक्ति चैत्य पुरुपको श्रीमाताजीकी गोदीमें एक नवजात शिशुके रूपमें देखता है।

यदि विचाराधीन साधकने वास्तवमें अपने चैत्य पुरुपको एक स्त्रीके रूपमें देखा तो वह केवल कोई निर्मित आकार ही हो सकता है जिसमें चैत्यके कुछ गुण या स्वभाव अभिव्यक्त हुए थे।

VI

मनुष्यमें सर्वदा ही दो पृथक् चेतनाएं विद्यमान रहती हैं; एक वाह्य जिसमें वह साधारणतया रहता है; दूसरी आंतरिक और प्रच्छन्न जिसके विपयमें वह कुछ नहीं जानता। जव कोई साधना करता है तो आंतर चेतना खुलना आरंभ करती है और वह अंदर पैठनेमें तथा वहां सव प्रकारके अनुभव प्राप्त करनेमें समर्थ होता है। जैसे-जैसे साधना आगे वढ़ती है, वह इस आंतर सत्तामें अधिकाधिक निवास करना आरंभ करता है और वाह्य अधिकाधिक छिछली होती जाती है। प्रारंभमें आंतरिक चेतना स्वप्न-प्रतीत होती है और वाह्य

जाग्रत् सत्य। पीछे आंतरिक चेतना सत्य वस्तु बन जाती है और बाह्य बहुतोंको स्वप्न या मिथ्या, अथवा कोई उपरितलीय और बाहरी वस्तु अनुभूत होती है। आंतरिक चेतना गंभीर शांति, ज्योति, आनंद, प्रेम, भगवान्के सामीप्य अथवा भगवान्की, श्रीमांकी उपस्थिति-का स्थान होना आरंभ हो जाती है। उस समय मनुष्य दो चेतनाओंसे अवगत होता है: आंतर और बाह्य जिसे उसकी प्रतिवस्तुमें परिवर्त्तित कर देना और उसका यंत्र बना देना होगा—वह भी शांति, ज्योति, और भगवान्के साथ एकत्वभावसे अवश्य भर जानी चाहिये। अभी तुम दोनोंके बीच झूल रहे हो और इस अवधिमें जो कुछ तुम अनुभव करते हो वह बिलकुल स्वाभाविक है। उसके विषयमें तुम्हें तनिक भी चिंतित नहीं होना चाहिये, बल्कि आंतरिक चेतनाके पूर्ण विकासके लिये प्रतीक्षा करनी चाहिये जिसमें तुम निवास करनेमें सक्षम होगे।



आंतरिक सत्तासे मेरा मतलब चैत्य या अंतरतम पुरुष नहीं था। वास्तवमें चैत्य पुरुष ही प्रेम, भक्ति तथा श्रीमांके साथ एकत्व अनुभव करता है। मैं तो आंतर मन, आंतर प्राण, आंतर शरीरकी बात कह रहा था; चैत्य पुरुषके गुह्य स्थानतक पहुंचनेके लिये मनुष्यको पहले इन चीजोंके भीतरसे गुजरना पड़ता है। जब मनुष्य बाह्य चेतनाको छोड़ देता और अंदर पैठता है तो यही वह स्थान है जहां वह प्रवेश करता है—कुछ लोग या अधिकांश लोग पहले आंतर प्राणमें प्रवेश करते हैं, दूसरे आंतर मन या आंतर शरीरमें; भावात्मक प्राण अत्यंत सीधा पथ है, क्योंकि चैत्यका निवासस्थान ठीक भावा-त्मक सत्ताके पीछे हृदय-केंद्रमें है। हमारे उद्देश्यके लिये यह एकदम आवश्यक है कि मनुष्य इन आंतर क्षेत्रोंमें सचेतन हो, क्योंकि यदि वे जाग्रत् न हों तो चैत्य पुरुषको अपनी क्रियाओंके लिये कोई समुचित और पर्याप्त यंत्र नहीं मिलेगा; फिर उसे केवल बाह्य मन, बाह्य प्राण और शरीर ही अपने साधनके रूपमें प्राप्त होंगे और ये अत्य-धिक तुच्छ और संकीर्ण और तिमिराच्छन्न हैं। तुम अभीतक आंतर प्राणके केवल बाहरी सीमांततक ही प्रवेश करनेमें समर्थ हुए हो और अभी भी वहां बहुत कम सचेतन हो। वहां अधिक सचेतन

होने और अधिक गहराईमें प्रवेश करनेपर मनुष्य चैत्यतक पहुंच सकता है—निरापद स्थानतक, जिसकी तुम चर्चा करते हो; फिर तुम आंतर प्राणके उपांतके अस्तव्यस्त अंतर्दर्शनों तथा अनुभूतियोंसे विक्षुब्ध नही होगे।



आंतरिक चेतनाका अर्थ है आंतर मन, आंतर प्राण, आंतर शरीर और उनके पीछे विद्यमान चैत्य पुरुष जो उन सबका अंतरतम पुरुष है। पर आंतर मन उच्चतर मन नहीं है; यह बाह्य या उपरितलीय मनकी अपेक्षा कहीं अधिक वैश्व शक्तियोंके संपर्कमें रहता है, उच्चतर चेतनाकी ओर खुला होता है तथा कर्मके एक अतिगंभीर और अतिविशाल क्षेत्रको अधिकृत करनेमें समर्थ होता है—पर यह मूलतः उसी स्वभावका होता है। उच्चतर चेतना सामान्य मनसे ऊपर है और अपनी क्रियाओंमें उससे भिन्न है; इसका क्षेत्र उच्चतर मनसे आरंभ होता है और ज्योतिर्मय मन, संबोधि और अधिमानससे होता हुआ अतिमानसकी सीमा-रेखातक चला जाता है।

यदि चैत्य मुक्त हो, अपने ढंगसे क्रिया करनेको स्वतंत्र हो तो अज्ञानमें अभी जो ठोकरें लग रही हैं वे सब न रहें। परंतु चैत्य अज्ञानी मन, प्राण और शरीरसे ढका होता है और इन्हींके जरिये अज्ञानके नियमोंके अनुसार क्रिया करनेको बाध्य होता है। यदि इस आवरणसे मुक्त हो जाय तो वह अपने स्वभावके अनुसार निर्बंध अभीप्सा करता हुआ, उच्चतर चेतनाके साथ सीधा संपर्क रखता हुआ और अज्ञानी प्रकृतिको बदलनेकी शक्ति रखता हुआ क्रिया कर सकता है।



सच्ची सत्ता, चाहे मानसिक, प्राणिक या सूक्ष्म-भौतिक हो, सर्वदा ही अपने स्तरके महत्तर गुणोंको धारण करती है—वह पुरुष है और चैत्यकी तरह ही, पर एक दूसरे तरीकेसे, भगवान्‌का ही प्रक्षेप है. इसलिये वह उच्चतर चेतनाके संपर्कमें रहता है और उसकी

कुछ चीजोंको प्रतिबिंबित करता है, यद्यपि यह एकदम वही नहीं होता—यह वैश्व सत्यके साथ समस्वर भी रहता है।



मनुष्यमें उसकी समस्त प्राणिक प्रकृतिके पीछे छिपा हुआ और अचल उसका सच्चा प्राण-पुरुष विद्यमान है जो ऊपरी प्राणिक प्रकृतिसे एकदम भिन्न है। ऊपरी प्राण संकीर्ण, अज्ञ, सीमित तथा अंधकारपूर्ण कामनाओं, आवेगों लालसाओं, विद्रोहों, दुःख-सुखों, क्षणिक हर्षों और शोकों एवं उल्लासों और विषादोंसे भरा है। इसके विपरीत सच्चा प्राण-पुरुष विस्तीर्ण, विशाल, स्थिर, सबल, सीमाओंसे रहित, सुदृढ़ और अचलायमान है तथा सर्वशक्ति, सर्वज्ञान और सर्वआनंद प्राप्त करनेमे सक्षम है। अधिकंतु, यह अहंसे रहित है, क्योंकि यह जानता है कि यह भगवान्‌से निकला हुआ और उनका यंत्र है। यह दिव्य योद्धा है, पवित्र और पूर्ण है। इसमें सभी भागवत सिद्धियोंको लानेवाली एक करण-रूप शक्ति है। यही सच्चा प्राण-पुरुष तुम्हारे अंदर जाग्रत् हो गया तथा सामने आ गया है। इसी तरह एक सच्चा मनोमय पुरुष भी है, एक सच्चा अन्नमय पुरुष भी है। जब वे व्यक्त होते हैं तो तुम अपने अंदर दो सत्ताओंको अनुभव करते हो: पीछेकी वह सत्ता सदा अचल-अटल और प्रबल होती है, ऊपरी तलकी सत्ता ही केवल विक्षुब्ध और तमसाच्छन्न होती है। परंतु पीछेकी सच्ची सत्ता यदि स्थायी बनी रहे और तुम उसमें निवास करो तो विक्षोभ और अंधकार केवल ऊपरी भागमें ही रह जाते हैं; इस अवस्थामें बाह्य भागोंमें भी अधिक शक्तिमत्ताके साथ कार्य किया जा सकता और उन्हें भी मुक्त और पूर्ण बनाया जा सकता है।



यह (सच्चा प्राण) उच्चतर चेतनाकी क्रियाओंको ग्रहण करनेमें सक्षम होता है, और फिर पीछे यह और भी महत्तर अतिमानसिक शक्ति और आनंदको ग्रहण करनेमें समर्थ हो सकता है। यदि यह ऐसा न हो तो उच्चतर चेतनाका अवतरण असंभव हो जायगा और अतिमानसिक रूपांतर भी असंभव हो जायगा। यह अभिप्रेत नहीं

है कि वह स्वयं इन चीजोंको अपने निजी अधिकारसे अधिकृत करे और जैसे ही कोई सच्चे प्राणके विषयमें अवगत हो जाय वह इन सब चीजोंको सच्चे प्राणमें अंतर्निहित शक्तिके रूपमें प्राप्त कर लें।



यथार्थ प्राण आंतर चेतनामें है, बाह्य चेतना वह चीज है जो उपरितलीय व्यक्तित्वके अंदर प्रकृतिकी वर्तमान क्रीड़ाका यंत्र है। जब परिवर्तन आता है, यथार्थ प्राण उस सबका बाह्य चेतनामेंसे त्याग कर देता है जो उसके अपने सत्यके साथ समस्वर नहीं होता और उसे (बाह्य चेतनाको) अपनी अभिव्यक्तिका सच्चा यंत्र, अपने आंतरिक संकल्पकी अभिव्यक्तिका साधन बना लेता है, वह फिर निम्न प्रकृतिके सुझावोंको प्रत्युत्तर देनेवाली कोई चीज नहीं रह जाती। इन दोनोंके बीचका तीव्र विभेद वस्तुतः दूर हो जाता है।



यथार्थ प्राण-चेतना वह चेतना है जिसमें प्राण पूर्ण समर्पण कर देता है और अपने-आपको भगवान्‌के एक यंत्रमें बदल देता है, कोई मांग नहीं करता, किसी कामनापर आग्रह नहीं करता, श्रीमांकी शक्तिको उत्तर देता है, अन्य किसी शक्तिको नहीं, स्थिर, अहंशून्य होता है, पूर्ण निष्ठा और आज्ञाकारिताका भाव बनाये रखता है, उसमें कोई व्यक्तिगत मिथ्याभिमान या महत्त्वाकांक्षा नहीं होती, वह केवल शुद्ध और पूर्ण यंत्र बननेकी याचना करता है, अपने लिये कुछ नहीं चाहता वरन् यह चाहता है कि उसके अंदर और सर्वत्र सत्यका अधिकार स्थापित हो, भगवान्‌की विजय हो और भगवान्‌का कार्य संपन्न हो।



यह (आलोकित प्राण) भागवत शक्ति या उच्चतर सत्यके संपर्कमें रहता है और स्वयं रूपांतरित होने और सच्चा यंत्र बननेका प्रयास करता है—यह साधारण प्राणिक क्रियाओंका त्याग कर देता है।



यदि आंतर सत्ता अभिव्यक्त न हो या कर्म न करे, तो बाह्य सत्ता कभी रूपांतरित न होगी।



बाह्य चेतना वह है जो सामान्यतया अपने-आपको साधारण जीवनमें व्यक्त करती है। यह बाह्य मन, प्राण और शरीर है। यह, कुछ लोगोंके अतिरिक्त, मनुष्यमें आंतर सत्ताके साथ बहुत अधिक संबद्ध नहीं होती—जबतक कि कोई साधनाके क्रममें इन दोनोंको एक साथ जोड़ नहीं देता।



वे (आंतर मन और आंतर प्राण) कुछ प्रभाव विस्तारित करते हैं और अपनी शक्तियां या सुझाव भेजते हैं जिन्हें कभी-कभी बाह्य चेतना यथासंभव उत्तम रूपमें क्रियान्वित करती है और कभी-कभी उनका अनुसरण नहीं करती। कितना अधिक वे बाह्यके ऊपर क्रिया करते हैं यह इस बातपर निर्भर है कि किस हदतक व्यक्ति आंतरिक जीवन यापन करता है। उदाहरणार्थ, कवि, संगीतज्ञ, कलाकार, विचारक आदि बहुत कुछ अंदरसे जीवन यापन करते हैं—प्रतिभाशाली व्यक्ति तथा किसी आदर्शके अनुसार जीवन बितानेकी चेष्टा करनेवाले लोग भी वैसा करते हैं। परंतु बहुत सारे लोग ऐसे होते हैं जो बहुत थोड़ा आंतरिक जीवन बिताते हैं और पूर्णतया प्रकृतिकी शक्तियोंके द्वारा परिचालित होते हैं।



जैसे-जैसे मनुष्य जीवनपर जीवन अनुभव एकत्र करता जाता है, चाहे मानसिक हो या प्राणिक, वैसे-वैसे आंतर मन और प्राण भी विकसित होते जाते हैं—हमारे अनुभवका जो उपयोग किया जाता है तथा जिस हदतक सत्ताके विकासके लिये व्यवहार किया जाता है उसीके अनुसार वे विकसित होते हैं।



बाह्य सत्ता केवल अभिव्यंजनाका एक साधन है, मनुष्यका स्वरूप नहीं। मनुष्यको उसके साथ एकात्म नहीं होना चाहिये, क्योंकि जो कुछ वह अभिव्यक्त करती है वह पुरानी अज्ञ प्रकृतिद्वारा निर्मित व्यक्तित्व होता है। यदि मनुष्य उसके साथ तदात्म न हो तो वह उसे परिवर्त्तित कर सकता है जिसमें कि वह ज्योतिपूर्ण यथार्थ आंतर व्यक्तित्वको प्रकट करे।



वे (बाह्य मन, प्राण और शरीर) क्षुद्र हैं, पर अपनी आपातःदृष्ट नगण्यताके बावजूद महत्त्वहीन नहीं हैं—क्योंकि वे अंतरात्मा और बाह्य जगत्के बीच संक्रमणके आवश्यक पथ हैं।



बाहरी चेतना देहकी सीमामें और देहपर आश्रित व्यक्तिगत मन और इंद्रियके तुच्छ अंशोंमें आवद्ध है—वह केवल बाह्यको, केवल वस्तुओंको देखती है। परंतु भीतरी चेतना वस्तुओंके पीछे देख सकती है, वह, शक्तियोंकी, चाहे वे व्यक्तिगत हों या विश्वगत, क्रीड़ासे अवगत होती है—क्योंकि वह विश्वव्यापी कर्मके साथ सचेतन संपर्क बनाये रखती है।



हमारी आंतरिक सत्ता वैश्व मन, प्राण और जड़तत्त्वके संपर्कमें रहती है; यह उन सबका एक अंग है, परंतु इसी तथ्यके कारण, यह मुक्ति और शांतिको हस्तगत नहीं कर सकती। संभवतः तुम्हारे मनमें आत्माकी बात है और तुम उसे आंतरिक सत्ताके साथ मिलाजुला रहे हो।



आंतर सत्ताको ऊपर "स्थापित" नहीं किया जा सकता, वह ऊर्ध्वके साथ केवल युक्त हो सकती है, उसमें प्रवेश कर सकती तथा उससे परिव्याप्त हो सकती है। यदि यह ऊर्ध्वमें स्थित हो तो फिर आंतर सत्ता नामकी कोई चीज नहीं रह जायगी।



मैं नहीं समझता कि चैत्यके 'चारों ओर' इस (आंतर सत्ता) के होनेसे तुम्हारा मतलब क्या है। स्पष्ट ही यह बाह्य मन, प्राण अथवा शरीरकी अपेक्षा चैत्यके अधिक समीप है, परंतु इससे यह बात सुनिश्चित नहीं हो जाती कि वह केवल चैत्यकी ओर ही खुली रहती है, और अन्य वैश्व शक्तियोंके प्रति नहीं खुली रहती।



चैत्य पुरुषके पीछे शांति विराजमान रह सकती है—पर आंतर मन, प्राण और शरीर आवश्यक रूपसे निश्चल-नीरव नहीं हैं—वे गतिविधियोंसे भरपूर हैं। वास्तवमें उच्चतर चेतना वह चीज है जो शांतिके आधारपर प्रतिष्ठित है।



आंतर सत्ता साधारणतया चंचल नहीं होती पर वह बाह्य सत्ताकी तरह शांत-स्थिर या चंचल हो सकती है।



प्रत्येक व्यक्तिके आंतरिक भाग या तो अज्ञानकी बाहरी शक्तियोंकी ओर मुड़े होते हैं अथवा ऊपरकी उच्चतर शक्तियों तथा चैत्य पुरुषकी आंतर प्रेरणाकी ओर मुड़े होते हैं और उसीके अनुरूप या तो वे ओछे बने रहते हैं अथवा ऊंचे उठ जाते हैं। सभी शक्तियां वहां क्रीड़ा कर सकती हैं। बाहरी सत्ता ही ऐसी है जो एक विशेष स्वभाव, विशेष प्रवृत्ति, विशेष गतिविधिमें अचल होती है।



आंतर सत्ताका अपना निजी समय होता है जो भौतिक समयकी अपेक्षा कभी-कभी अधिक धीमा और कभी-कभी अधिक तेज होता है।

VII

व्यक्ति भौतिक शरीरसे सीमित नहीं है—केवल बाहरी चेतना ही ऐसा अनुभव करती है। जैसे ही मनुष्य इस सीमाबंधनको

भावनासे परे चला जाता है, वह पहले आंतर चेतनाको अनुभव कर सकता है जो शरीरके साथ संबद्ध है, पर इसका अंग नहीं है, उसके बाद शरीरसे ऊपरकी चेतनाके स्तरोंको अनुभव कर सकता है, साथ ही शरीरके चारों ओर विद्यमान चेतनाको भी अनुभव कर सकता है पर उसे अपने अंगके रूपमें, व्यक्तिगत सत्ताके भागके रूपमें अनुभव कर सकता है जिसके द्वारा मनुष्य विश्व-शक्तियों तथा अन्य सत्ताओंके साथ संपर्क स्थापित करता है। अंतिम चीज वह है जिसे मैंने पारिपार्श्विक चेतनाका नाम दिया है।



प्रत्येक मनुष्यकी निजी व्यक्तिगत चेतना उसके शरीरमें डूबी होती है और उसके परिपार्श्वके साथ उसका संपर्क केवल शरीर और इंद्रियों तथा इंद्रियोंका व्यवहार करनेवाले मनके द्वारा होता है।

फिर भी सब समय वैश्व शक्तियां, उसके बिना जाने, उसके अंदर भरती रहती है। वह केवल विचारों, भावों आदिके विषयमें अवगत होता है जो ऊपरी तलपर उठते हैं और इन्हें वह अपनी चीजें समझता है। वास्तवमें ये बाहरसे मन-तरंगों, प्राण-तरंगों, भावों और संवेदनोंके तरंगों आदिके रूपमें आते हैं जो उसके अंदर विशेष रूप ग्रहण करते तथा भीतर घुसनेके बाद उपरितलपर आते हैं।

परंतु ये उसके शरीरमें तुरत प्रवेश नहीं करते। वह अपने साथ एक पारिपार्श्विक चेतनाको (जिसे थियोसोफिस्ट लोग 'Aura'—तेजोमंडल कहते है) वहन करता है जिसमें ये पहले प्रविष्ट होते हैं। यदि तुम अपने इस पारिपार्श्विक स्वरूपके विषयमें सचेतन हो सको तो तुम विचार, आवेग, सुझाव या बीमारीकी शक्तिको पकड़ सकते हो और उसे अपने अंदर घुसनेसे रोक सकते हो। यदि तुम्हारे अंदरसे चीजें बाहर फेंक दी जायं तो वे बहुधा बिलकुल बाहर नहीं चली जाती बल्कि इसी पारिपार्श्विक चेतनामें आश्रय ग्रहण करती हैं और वहांसे फिर भीतर घुसनेकी चेष्टा करती हैं। अथवा, वे बाहर कुछ दूरीतक चली जाती हैं पर बाहरी सीमाओंपर अथवा शायद उससे भी बहुत दूर रुकी रहती हैं और जबतक प्रवेश करनेका प्रयास करनेका कोई मौका नही मिल जाता तबतक वहां प्रतीक्षा करती है।



पारिपार्श्विक चेतना कोई जगत् नहीं है—यह एक व्यक्तिगत वस्तु है।



वे (अवचेतना तथा पारिपार्श्विक चेतना) दो बिलकुल भिन्न वस्तुएं हैं। जो कुछ अवचेतनामें संगृहीत होता है—संस्कार, स्मृतियां—वहांसे सचेतन अंगोंमें ऊपर उठता है। पारिपार्श्विकके अंदर चीजें संग्रहीत और आबद्ध नहीं होतीं, यद्यपि वे वहां घूमा करती हैं। यह सचलतासे पूर्ण है, प्रकंपनोंका एक क्षेत्र अथवा शक्तियोंके आवा-गमन का मार्ग है।



यह (पारिपार्श्विक चेतना) निश्चल-नीरव हो सकती है जब वहां विशालता आती है। मनुष्य उसके विषयमें सचेतन हो सकता है और उसके भीतरसे जो कुछ आता है उससे निपट सकता है। इसके बिना मनुष्य बाकी संसारके साथ कोई संपर्क नहीं रख सकता।

VIII

व्यक्तिकी चेतना बाहरकी ओर विश्व-चेतनामें विस्तारित होती है और उसके साथ किसी भी प्रकारका व्यवहार कर सकती है, उसमें घुस सकती, उसकी क्रियाओंको जान सकती, उसपर क्रिया कर सकती या उससे ग्रहण कर सकती है, यहांतक कि उसके समान बन सकती या उसे धारण कर सकती है, और पुराने योगोंकी भाषामें जो अपने अंदर ब्रह्मांडको लेनेकी बात कही जाती थी उसका अर्थ यही है। विश्व-चेतना विश्वकी चेतनाको, विश्वात्माकी चेतनाको और विश्व-प्रकृति तथा उसमें विद्यमान सभी सत्ताओं और शक्तियोंकी सम्मिलित चेतनाको कहते हैं। यह सब कुछ संपूर्ण रूपमें उतना ही चेतन है जितना कि व्यक्ति पृथक् रूपसे है, यद्यपि है एक भिन्न ढंगसे। व्यक्तिकी चेतना उसका एक अंश है, पर ऐसा अंश है जो अपनेको एक पृथक् सत्ता अनुभव करता है। फिर भी, व्यक्ति जो कुछ है उसका अधिकांश सब समय विश्व-चेतनासे ही उसमें आता है। परंतु दोनोंके बीच पृथक्कारी अज्ञानकी एक दीवार है। एक बार

जब यह दीवार भंग हो जाती है तो व्यक्ति विश्वात्माके विषयमें, विश्व-प्रकृतिकी चेतनाके विषयमें, उसमें क्रिया करनेवाली शक्तियोंके विषयमें सचेतन हो जाता है। उन सब चीजोंको वह वैसे ही अनुभव करता है जैसे वह अभी भौतिक वस्तुओं और अभिघातोंको अनुभव करता है। वह इस सबको अपने बृहत्तर या विराट् आत्माके साथ एक अनुभव करता है।

फिर वैश्व मन, वैश्व प्राण और वैश्व भौतिक प्रकृति भी है और इन्हीकी शक्तियों और क्रियाओंमेंसे चुनाव करके व्यक्तिगत मन, प्राण और शरीर बनते हैं। अंतरात्मा मन-प्राण-शरीरकी इस प्रकृतिके परेसे आता है। उसका संबंध परात्परके साथ है और इसी कारण हम परेकी उच्चतर प्रकृतिकी ओर अपनेको खोल सकते हैं।

भगवान् सर्वदा एक हैं जो बहु है। व्यक्तिगत आत्मा 'एकमेव' के "बहु" पक्षका अंश है, और चैत्य पुरुष वह चीज है जिसे यहां पृथ्वी-प्रकृतिमें विकसित होनेके लिये प्रकट किया गया है। मुक्ति प्राप्त होनेपर व्यक्तिगत आत्मा अपनेको 'एकमेव'के रूपमें (जो फिर भी बहु है) अनुभव करता है। यह 'एकमेव' में डूब सकता और लीन हो सकता है अथवा उसके वक्षस्थलमें अपनेको छिपा सकता है—यही अद्वैत मतका लय है; यह अपने एकत्वको और फिर जो 'बहु' 'एक' है उसके अंशके रूपमें भगवान्का आनंद भोग सकता है, यही द्वैताद्वैत मुक्ति है; यह अपने 'बहु' पक्षपर जोर दे सकता और भगवान्के द्वारा अधिकृत हो सकता है, यह विशिष्टाद्वैत मुक्ति है अथवा शाश्वत वृंदावनमें कृष्णके साथ क्रीड़ा करता रह सकता है, यह द्वैत मुक्ति है। अथवा यह, मुक्त होनेके बाद भी, लीला या अभिव्यक्तिमें बना रह सकता है अथवा जितनी बार चाहे उतनी बार इसमें उतर सकता है। भगवान् मानवीय दर्शनशास्त्रोंसे बद्ध नहीं हैं—वह अपनी लीलामें स्वतंत्र हैं और अपने सार-तत्त्वमें मुक्त हैं।



अंगरेजीके "यूनिवर्सल" और "कॉस्मिक" शब्दोंमें कोई अंतर नहीं है सिवा इसके कि "यूनिवर्सल" का प्रयोग "कॉस्मिक" की अपेक्षा अधिक मुक्त रूपमें किया जा सकता है। "यूनिवर्सल" का

अर्थ "आफ दि यूनिवर्स" (विश्वका) हो सकता है, "कॉस्मिक" उस सामान्य अर्थमें व्यवहृत हो सकता है। परंतु "यूनिवर्सल" का अर्थ "कामन टु आल" (सर्वसामान्य) भी है, जैसे, "दिस इज ए यूनिवर्सल वीकनेस" (यह एक सर्वसामान्य दुर्बलता है)—पर तुम यह नहीं कह सकते कि "दिस इज ए कॉस्मिक वीकनेस" (यह एक वैश्व दुर्बलता है)।



1. आध्यात्मिक चेतना वह है जिसमें जानेपर हम आत्मा, ब्रह्म, भगवान्‌का ज्ञान प्राप्त करते हैं और सभी वस्तुओंमें उनके मूल सत्यको तथा उस मूल सत्यसे निकलनेवाली शक्तियों और क्रियाओंकी लीलाको देख पाते हैं।

2. वैश्व चेतना वह है जिसमें अहं, व्यक्तिगत मन और शरीरकी सीमाएं विलीन हो जाती हैं और मनुष्य एक विराट् विशालताके विषयमें सचेतन होता है जो विश्वात्मा है या उससे भरी हुई है तथा वैश्व शक्तियों, विश्वमानसकी शक्तियों, विश्वप्राणकी शक्तियों, जड़-तत्त्वकी विश्वव्यापी शक्तियों एवं विश्वव्यापी अधिमानस-शक्तियोंकी प्रत्यक्ष क्रीड़ाके विषयमें भी अवगत हो जाता है। परंतु मनुष्य सबके विषयमें एक साथ ही सज्ञान नहीं हो जाता; वैश्व चेतनाका उद्घाटन सामान्यतया धीरे-धीरे होता है। यह बात नहीं कि अहं, शरीर तथा व्यक्तिगत मन विलीन हो जाते हैं, बल्कि मनुष्य उन्हें केवल अपना एक छोटा-सा भाग अनुभव करता है। मनुष्य दूसरोंको भी अपने ही अंगके रूपमें या अपने ही अन्य प्रकारके रूपमें, अन्य शरीरोंमें प्रकृतिद्वारा परिवर्तित अपने ही स्वरूपके रूपमें अनुभव करता है। अथवा, कम-से-कम, वृहत्तर वैश्व आत्मामें निवास करता हुआ अनुभव करता है जो अबसे अपना ही महत्तर सत्य-स्वरूप है। वास्तवमें सभी वस्तुएं अपना स्वभाव और स्वरूप बदलना आरंभ कर देती हैं; मनुष्यका जगत्संबंधी सारा अनुभव मूलतः उन लोगोंके अनुभवसे भिन्न हो जाता है जो अपने व्यक्तिगत स्वरूपके अंदर बंद हैं। मनुष्य एक विभिन्न प्रकारके अनुभवके द्वारा वस्तुओंको, अधिक प्रत्यक्ष रूपमें तथा बाह्य मन और इंद्रियोंपर आश्रित हुए बिना, जानना आरंभ करता है। ऐसी बात नहीं है कि मूल-भ्रांतिकी

संभावना दूर हो जाती है, क्योंकि ऐसा तवतक नहीं हो सकता जवतक कि किसी प्रकारका मन ही ज्ञानको व्यक्त करनेका मनुष्यका यंत्र है, परंतु उस समय वस्तुओंको अनुभव करने, देखने, जानने और उनके साथ संपर्क स्थापित करनेकी एक नवीन, विशाल और गभीर प्रणाली प्राप्त हो जाती है; और ज्ञानकी सीमाएं लगभग अपरिमेय हदतक फिरसे उद्घाटित हो सकती हैं। विश्व-चेतनामें वस एक ही चीजसे मनुष्यको वचनेकी सावधानी वर्तनी चाहिये और वह है अतिरंजित अहंकी क्रीड़ा, विरोधी शक्तियोंके विशालतर आक्रमण—क्योंकि वे भी वैश्व चेतनाके अंग हैं—और फिर वैश्व सत्यमें अंतरात्माकी वृद्धि रोकनेके लिये वैश्व माया-शक्ति (अज्ञान, अविद्या) का प्रयास। ये ऐसी चीजें हैं जिन्हें मनुष्यको अनुभवसे सीखना होता है; बौद्धिक शिक्षण या विवेचन विलकुल पर्याप्त नहीं होता। विश्व-चेतनामें सुरक्षित रूपमें प्रवेश करने तथा उसे सुरक्षित रूपमें पार करनेके लिये यह आवश्यक है कि मनुष्यमें खूव प्रवल केंद्रीय अहंशून्य सच्चाई हो तथा चैत्य पुरुष सत्य-संबंधी अपने सच्चे अनुमान तथा भगवान्‌की ओर ले जानेवाले निर्भूल दिशाज्ञानके साथ प्रकृतिके पुरोभागमें पहलेसे अवस्थित हो।

3. सामान्य चेतना वह है जिसमें मनुष्य वस्तुओंको एकमात्र या प्रधानतया वुद्धिसे, वाहरी मन और इंद्रियोंसे जानता है और शक्तियों आदिको केवल उनकी वाहरी अभिव्यक्ति और परिणामके द्वारा तथा शेष चीजोंको इनके द्वारा प्राप्त तथ्योंके आधारपर अनुमान करके जानता है। इस चेतनामें कभी-कभी मानसिक अंतर्ज्ञान, गभीरतर चैत्य दृष्टि या प्रेरणाओं, आध्यात्मिक सूचनाओंकी क्रीड़ा हो सकती है—पर साधारण चेतनामें ये सब केवल आकस्मिक होते हैं और उसके मौलिक स्वभावमें कोई परिवर्तन नहीं ले आते।



साधारण व्यक्ति अपनी निजी व्यक्तिगत चेतनामें निवास करता है और वस्तुओंको अपने मन और इंद्रियोंके द्वारा जानता है जैसे कि ये एक जगत्‌के द्वारा स्पष्ट होते हैं जो जगत् उससे वाहर, उसकी चेतनासे वाहर है। जव चेतना सूक्ष्म होती है तो वह वहुत अधिक

प्रत्यक्ष रूपमें वस्तुओंके संपर्कमें आती है, परंतु केवल उनके रूपोंके साथ और बाह्य संस्पर्शोंके साथ ही नहीं बल्कि जो कुछ उनके अंदर है उसके साथ संपर्कमें आती है, पर फिर भी क्षेत्र संकीर्ण हो सकता है। परंतु चेतना विस्तारित भी हो सकती है और फिर पहले तो संसारकी समस्त वस्तुओंके एक विश्वके प्रत्यक्ष संपर्कमें आना, फिर मानो उन्हें अपने अंदर धारण करना, —जैसे, कहा जाता है, अपने अंदर विश्वको देखना—, और एक प्रकारसे उसके साथ एकात्म होना आरंभ कर सकती है। सभी वस्तुओंको आत्मामें देखना और आत्माको सभी वस्तुओंमें देखना—सर्वत्र एक ही पुरुषके विषयमें सचेतन होना, विभिन्न लोकों, उनकी शक्तियों, उनकी सत्ताओंके विषयमें सीधे सज्ञान होना—यही है विश्व-भावापन्न होना।



हां, निश्चय ही [वैश्व मनमें भौतिक मनका भी एक स्तर है], व्यक्तिमें ऐसी कोई चीज नहीं जो वैश्व शक्तिके अंदर न हो। समस्त सामान्य उद्देश्योंके लिये व्यक्ति महज वैश्व शक्तियोंका एक पृथक्कृत केंद्र है—यद्यपि उसका अंतरात्मा परेके लोकसे आता है।



चूंकि वह (प्रत्येक मानव प्राणी) एक पृथकात्मिका चेतनामें निवास करता है, इसलिये वह सामान्य जगत्के, जिसमें सब यहां निवास करते हैं, अपने अनुभवोंके आधारपर अपना एक निजी मानसिक जगत् तैयार कर लेता है। यह जगत् उसी तरह बनाया जाता है जिस तरह दूसरोंका जगत् बना होता है और वह इसके अंदर दूसरोंके विचारों, भावों आदिको, बहुत बार अनजानमें ही, ग्रहण करता है तथा उन्हें भी अपने पृथक् जगत्के लिये उपादानके रूपमें व्यवहृत करता है।



सारा जीवन ही वैश्व शक्तियोंकी क्रीड़ा है। व्यक्ति इन वैश्व शक्तियोंको एक व्यक्तिगत रूप प्रदान करता है। परंतु वह यह चुनाव कर सकता है कि वह किसी विशेष शक्तिकी क्रियाको प्रत्युत्तर

देगा या नहीं। तब अधिकांश लोग वास्तवमें चुनाव नहीं करते—वे शक्तियोंकी क्रीड़ाको प्रश्रय देते हैं। तुम्हारी बीमारियां, अवसाद आदि ऐसी ही शक्तियोंके बारम्बार होनेवाले खेल हैं। जब मनुष्य इनसे अपनेको मुक्त कर पाता है केवल तभी वह सच्चा पुरुष बन पाता है और सच्चा जीवन यापन कर सकता है—परंतु मनुष्य केवल भगवान्‌में निवास करनेपर ही मुक्त हो सकता है।



सच पूछो तो यह प्रकृति है जो इन आवेगोंको भेजती है। प्रकृति सभी प्रकारकी शक्तियों और अनुभवोंको प्रत्येक व्यक्तिके पास भेजती है। एक सचेतन पुरुष होनेके नाते यह चुनाव करना तुम्हारा काम है कि तुम करोगे या नहीं। तुम्हें उस चीजका त्याग करना चाहिये जिसे तुम गलत वस्तु समझते हो, केवल ,उसे ही स्वीकार करना चाहिये जो सच्ची और यथार्थ हो। प्रकृतिमें उच्चतर और निम्नतर, सत्य और मिथ्या दोनों हैं। भगवान् तुमसे यह आशा करते हैं कि तुम्हें दिव्य सत्य और उच्चतर प्रकृतिमें वर्द्धित होना चाहिये और मिथ्या तथा निम्नतर प्रकृतिका त्याग कर देना चाहिये।



मनुष्य केवल किसी शक्तिको ही नहीं ग्रहण कर सकता, बल्कि किसी आवेग, विचार या संवेदनको भी ग्रहण कर सकता है। वह इसे किसी दूसरे व्यक्तिसे, प्रकृतिमें विद्यमान किसी सत्तासे या स्वयं प्रकृतिसे ही ग्रहण कर सकता है यदि वह अपनी शक्तिको उस प्रकारका एक तैयार रूप देना पसंद करे।



1. कामनासे रहित प्राण पुरुष हो सकता है। जब कामना मानव-सत्तासे विलीन हो जाती है तब उसके साथ-साथ प्राण भी विलीन नहीं हो जाता।

2. प्रकृतिका अर्थ है विश्वव्यापी प्रकृति। विश्व-प्रकृति जब प्राणसत्तामें प्रवेश करती है तो वह कामनाकी सृष्टि करती है जो अपनी अभ्यासगत प्रतिक्रियाके कारण व्यक्तिगत प्रकृति प्रतीत होती

है। परंतु जिन अभ्यासगत कामनाओंको वह फेंकती है उन्हें यदि त्याग दिया जाय और दूर फेंक दिया जाय तो सत्ता बनी रहती है पर प्राणिक कामनाकी पुरानी व्यक्तिगत प्रकृति अब नहीं होती— निम्नतर प्रकृतिके नहीं बल्कि ऊपरके सत्यके प्रत्युत्तरमें, एक नवीन प्रकृति निर्मित हो जाती है।

3. विश्व-प्रकृति इसे (प्रत्युत्तर देनेके अभ्यासको) निश्चित करती है और अंतरात्मा या पुरुष इसे स्वीकार करता है। इस स्वीकृतिमें ही उत्तरदायित्व निहित है। पुरुष वह है जो अनुमति देता या अस्वीकार करता है। पशुमें प्राण-सत्ता साधारण जीवनकी लहरोंको प्रत्युत्तर देती है; मनुष्य उन्हें प्रत्युत्तर देता है पर उसमें मानसिक संयम स्थापित करनेकी शक्ति है। उसमें मनोमय पुरुषके जागृत हो जानेके कारण उसमें यह चुनाव करनेकी शक्ति भी है कि आया वह कामनाको स्वीकार करेगा या उसे जीतनेके लिये अपनी सत्ताको शिक्षित करेगा। अंतमें उसमें यह संभावना भी है कि वह उच्चतर प्रकृतिको उतार लावे जो कामनाके अधीन नहीं होगी वरन् एक दूसरे ही प्राण-तत्त्वपर क्रिया करेगी।



जबतक व्यक्तिगत मन अपने व्यक्तित्वमें आबद्ध रहता है तबतक उसके लिये यह संभव नहीं कि वह वैश्व संकल्पकी क्रियाओंको समझ सके, क्योंकि व्यक्तिगत चेतनाद्वारा निर्मित मानदंड उनपर लागू किये जाने योग्य नहीं होते। शरीरका एक कोष, यदि वह सचेतन हो, यह समझ सकता है कि मानव-प्राणी और उसके कर्म उसीके जैसे कुछ कोषोंके पारस्परिक संबंधों तथा क्रियाओंके महज़ परिणाम होते हैं, न कि किसी एकीकृत आत्माके कर्म। जब मनुष्य वैश्व चेतनामें प्रवेश करता है केवल तभी वह यह देखना- समझना आरंभ करता है कि कार्यरत शक्तियां कौन हैं और किन धाराओंमें वे कार्य करती हैं और फिर विश्वात्मा और वैश्व मन तथा संकल्पकी झांकी पा सकता है।



ऐसा कोई अज्ञान नहीं जो वैश्व अज्ञानका अंग न हो, केवल व्यक्तिमें वह एक सीमित रचना और क्रिया बन जाता है, जब कि

वैश्व अज्ञान परम सत्यसे विच्छिन्न जगत्-चेतनाकी समूची क्रिया होता है और उस समय जगत्-चेतना एक निम्नतर गतिधारामें कार्य करती है जिसमें सत्य मिथ्यात्व और मूलभ्रांतिके द्वारा विकृत, ह्रसित, मिश्रित और मेघाच्छन्न हो जाता है। वैश्व सत्य है वैश्व चेतनाका वस्तुओंसंबंधी दृष्टिकोण जिसमें वस्तुएं अपने सच्चे स्वरूपमें तथा भगवान्के साथ अपने सच्चे संबंध तथा अपने पारस्परिक संबंधके साथ दिखायी देती हैं।



वैश्व सत्य वस्तुओंका वह सत्य है जैसा कि वे अभी विश्वके अंदर अभिव्यक्त हैं। भागवत सत्य विश्वसे स्वतंत्र है, उसके ऊपर है और उसे उत्पन्न करता है।



योगीके अनुभव आध्यात्मिक अनुभव होते हैं—वे हैं शक्तियोंकी क्रीड़ा और उसका आत्माके साथ संबंध, गुरुके कार्य, वस्तुओं और घटनाओं आदिके बाह्य रूपके पीछे विद्यमान वस्तु तथा पुरुष और प्रकृतिकी क्रियाओंके वास्तविक सत्य आदिके अनुभव। भागवत सत्य है भागवत सत्, चैतन्य, आत्मा, ज्ञान, ज्योति, शक्ति और आनंदका सत्य। यह वह चीज है जिससे विश्व अपनी सभी गतिविधियोंको प्राप्त करता है, पर वह विश्वसे बहुत अधिक कुछ है।

IX

शब्दके साधारण व्यवहारके अंदर "मन" बिना किसी विचारके समूची चेतनाको अंतर्निहित करता है, क्योंकि मनुष्य मनोमय पुरुष है और प्रत्येक चीजको मनकी भाषामें ढाल देता है; परंतु इस योग-की भाषामें "मन" और "मनोमय" विशेषकर प्रकृतिके उस भागको सूचित करनेके लिये व्यवहृत होते हैं जो समझ और बुद्धिवृत्तिके साथ, भावनाओंके साथ, मानसिक या चिंतनपरक अनुभवोंके साथ, वस्तुओंके प्रति विचारकी प्रतिक्रियाके साथ, सच्ची मानसिक क्रियाओं और रचनाओं, मानसिक दृष्टि और संकल्प आदिके साथ जो उसकी बुद्धिके अंग है, संबंध रखता है। प्राणको सावधानीके साथ मनसे पृथक्

करना होगा, यद्यपि इसमें एक प्रकारका मनस्तत्त्व मिलाजुला है; प्राण है वह जीवंत प्रकृति जो कामनाओं, संवेदनों, भावों, आवेगों, कर्मकी शक्तियों, कामनाकी इच्छा, मनुष्यके कामनात्माकी प्रतिक्रियाओं और प्रकृतिके इस क्षेत्रसे संबंधित अधिकारात्मक तथा अन्य संबंधित सहजवृत्तियों, क्रोध, भय, लोभ, काम आदिकी समस्त क्रीड़ाओंसे बनी हुई है। चेतनाके ऊपरी सतहपर मन और प्राणको मिलाजुला दिया जाता है, पर वे अपने-आपमें बिल्कुल अलग-अलग शक्तियां हैं और ज्योंही मनुष्य सामान्य ऊपरी चेतनाके पीछे चला जाता है वह उन्हें पृथक् देखता है, उनके भेदको जान जाता है और इस ज्ञानकी सहायतासे उनके उपरितलीय मिश्रणका विश्लेषण कर सकता है। यह बिल्कुल संभव है और यहांतक कि सामान्य बात है कि देरसे हो या जल्द, कभी-कभी बहुत दीर्घकालमें, मन तो भगवान्को या यौगिक आदर्शको स्वीकार कर लेता है पर प्राण न तो विश्वास करता है और न समर्पण करता है तथा कामना, आवेग और साधारण जीवनके प्रति आकर्षणके पथपर ही आग्रहपूर्वक चलता रहता है। उनका विभाजन या उनका संघर्ष ही साधनाकी अधिकांश अधिक तीव्र कठिनाइयोंका कारण होता है।



संत आगस्टीन (St. Augustine) एक भागवत पुरुष और महान् संत थे, पर महान् संत सदा—या बहुधा—महान् मनोवैज्ञानिक या महान् चिंतक नहीं होते। यहांपर जो मनोविज्ञान है वह, यदि सामान्य जनका नहीं तो, अत्यंत छिछले संप्रदायका मनोविज्ञान है; उसमें उतनी ही भूलें हैं जितने कि मनोवैज्ञानिक कथन हैं—और अधिक हैं, क्योंकि बहुतेरे कथन व्यक्त नहीं हैं पर जो कुछ वह लिखते हैं उसमें अंतर्हित हैं। मैं जानता हूं कि ये भूलें एक प्रकारसे सार्वजनीन हैं, क्योंकि यूरोपमें मनोवैज्ञानिक खोज (और बिना खोजके कोई पक्का ज्ञान नहीं प्राप्त हो सकता) केवल प्रारंभिक स्थितिमें है और बहुत दूरतक नहीं गयी है, और अबतक मनुष्योंके मनोंमें जो चीज प्रधान रूपसे विद्यमान रही है वह हमारी चेतनाके उपरितलीय रूपोंका, जैसा कि वे हमें प्रथम दृष्टिमें दिखायी देते हैं, एक छिछला कथन है और उससे अधिक कुछ नहीं। परंतु ज्ञान केवल

तब आरंभ होता है जब हम उपरितलीय व्यापारोंसे अलग होते और उनकी वास्तविक क्रियाओं और कारणोंको जाननेके लिये उनके पीछे दृष्टि ले जाते है। बाहरी मन और इंद्रियोंकी बाह्य दृष्टिके लिये सूर्य एक छोटीसी आग्नेय गेंद है जो हवामें पृथ्वीके चारों ओर घूम रही है और तारे चमकती हुई छोटी-छोटी चीजें हैं जो रातमें हमारी सुविधाके लिये आकाशमें चिपकी हुई हैं। वैज्ञानिक अन्वेषण आगे आता है और इस बालोचित प्रथम-दृष्टिको चूरमार कर देता है। सूर्य एक विशाल व्यापार (हमारी हवासे लाखों मील दूर) है जिसके चारों ओर हमारी छोटीसी पृथ्वी चक्कर काटती है, और सितारे विशाल परिमंडलके विशाल सदस्य हैं, यहांसे वर्णनातीत दूरीपर है और बाह्यतः इस नन्हीसी पृथ्वी और उसके जीवोंके साथ उनका कोई सरोकार नहीं है। सभी विज्ञान ऐसे ही हैं, इंद्रिय-दृष्टि या वस्तुओंके उपरितलीय रूपोंके खंडन-रूप हैं और ऐसे सत्योंके समर्थन हैं जो सामान्य और अशिक्षित बुद्धिसे अकल्पनीय हैं। मनोविज्ञानमें भी हमें इसी प्रक्रियाका अनुसरण करना होगा यदि हम वास्तवमें यह जानना चाहें कि हमारी चेतना क्या चीज है, कैसी उसकी रचना है और कैसे यह बनी है और इसकी क्रियाओंका रहस्य क्या है अथवा इसकी अव्यवस्थासे बाहर निकलनेका मार्ग क्या है।

यहांपर कई प्रधान और सामान्य भूलें हैं—

1. मन और आत्मा एक ही चीज है।

2. समस्त चेतनाको "मन" कहा जा सकता है।

3. समस्त चेतना, इसलिये, एक आध्यात्मिक सत्तत्त्व है।

4. शरीर महज जड़तत्त्व है, सचेतन नहीं है, अतएव प्रकृतिके आध्यात्मिक भागसे एकदम पृथक् कोई चीज है।

पहले, आत्मा और मन दो पृथक् वस्तुएं है और इन्हें एक साथ मिलाजुला नहीं देना चाहिये। मन एक यंत्रात्मक सत्ता या यंत्रात्मक चेतना है जिसका कार्य है विचार करना और अवगत होना—आत्मा एक मौलिक सत्ता या चेतना है जिसे विचार करने या अवगत होनेकी, चाहे मानसिक ढंगसे हो या संवेदनात्मक ढंगसे, कोई आवश्यकता नही होती, क्योंकि जो कुछ ज्ञान उसे होता है वह प्रत्यक्ष अथवा सारभूत ज्ञान, स्वयं प्रकाश, होता है।

दूसरे, यह तात्पर्य निकलता है कि समस्त चेतना आवश्यक रूपसे

आध्यात्मिक स्वभावकी नहीं होती और इस बातका सच होना आवश्यक नहीं और यह सच नहीं है कि जो वस्तु शासन करती है और जो चीज शासित होती है दोनों ही एक हैं, बिलकुल ही भिन्न नहीं हैं, एक ही उपादानतत्त्वसे गठित हैं और इसलिये परस्पर एकमत होनेके लिये बाध्य हैं अथवा कम-से-कम उन्हें एकमत होना ही चाहिये।

तीसरे, यह बात सत्य भी नहीं है कि मन ही वह वस्तु है जो मनपर शासन करती है और अपने द्वारा अपनी अवज्ञा होते देखती है। सबसे पहले, मनके बहुतसे भाग हैं, उनमेंसे प्रत्येक अपने-आपमें एक शक्ति है और उसकी अपनी रचनाएं, क्रियाएँ, अभिरुचियां हैं, और वे एकमत नहीं हो सकते। मनका एक भाग अध्यात्मभावसे प्रभावित हो सकता है और भगवान्के विषयमें सोचना पसंद कर सकता है और आध्यात्मिक प्रवेगका अनुसरण कर सकता है, दूसरा भाग तार्किक या वैज्ञानिक या साहित्यिक हो सकता है और अपनी शिक्षा तथा अपने स्वभावसे मेल खानेवाली रचनाओं, विश्वासों या संदेहों, मानसिक पसंदों और अभिरुचियोंका अनुसरण करना पसंद कर सकता है। परंतु उससे एकदम अलग, जो संत आगस्टीनमें शासन कर रहा था वह भलीभांति चिंतक मन अथवा बुद्धि हो सकता है जब कि जो कुछ शासित हो रहा था वह प्राण था, और मन तथा प्राण, चाहे कोई कुछ भी कहे, एक ही वस्तु नहीं हैं। चिंतक मन या बुद्धि, चाहे जितने अपूर्ण रूपमें क्यों न हो मनुष्यमें ज्ञान और तर्कके द्वारा जीती है। दूसरी ओर, प्राण कामनाओं, आवेगों, शक्ति-चापों, हृदयावेगों, संवेदनों, जीवनकी चरितार्थताकी खोजों, अधिकारभाव और भोगोंकी वस्तु है; यही हैं उसके कार्य और उसके स्वभाव;—हमारा यही भाग वह चीज है जो जीवन तथा उसकी गतिविधियोंकी, उन्हींके लिये, खोज करती है और वह उनपरसे अपना अधिकार नहीं छोड़ना चाहती यदि वे उसके लिये दुःख और सुख अथवा सुखसे अधिक दुःख ले आवें; उसमें जीवन-नाटकके अंगके रूपमें आंसुओं तथा पीड़ामें भी आनंद मनानेकी क्षमता है। तब भला चिंतनशील बुद्धि और प्राणके बीच एक समान क्या है और प्राणको मनकी आज्ञाका पालन क्यों करना चाहिये तथा अपनी निजी प्रकृतिका अनुसरण क्यों नहीं करना चाहिये? प्राणकी यह अवज्ञा पूर्णतः

स्वाभाविक है और, जैसा कि आगस्टीन संकेत करते हैं, इसमें समझमें न आने योग्य कोई बात नहीं। निस्संदेह, मनुष्य अपने प्राणके ऊपर एक मानसिक संयम स्थापित कर सकता है और जितने अंशमें वह इसे करता है उतने अंशमें वह मनुष्य है,—क्योंकि चिंतनशील मन प्राणकी अपेक्षा अधिक उच्च और अधिक आलोकित सत्ता तथा चेतना है एवं, इसलिये, उसे शासन करना चाहिये और, यदि मानसिक संकल्प प्रबल हो तो, शासन कर सकता है। परंतु यह शासन अनिश्चित और अपूर्ण होता है और केवल पर्याप्त आत्मानुशासनके द्वारा ही बनाये रखा जाता है। क्योंकि, यदि मन अधिक प्रबुद्ध है तो प्राण पृथ्वीके अधिक समीप है, अधिक तीव्र, उग्र, अधिक प्रत्यक्ष रूपमें शरीरको छूनेमें समर्थ है। फिर एक प्राणिक मन भी है जो कल्पना, कामनात्मक विचारों, कर्म करनेके संकल्प तथा अपने निजी आवेगसे भोग आदिपर जीता है तथा स्वयं बुद्धिको अधिकृत करने, उसे अपना सहायक, अपना ही समर्थन करनेवाला वकील और तर्क तथा बहाने देनेवाला बनाये रखनेकी शक्ति रखता है। फिर मनुष्यमें विशुद्ध कामनाकी शक्ति है जो प्राणका प्रमुख आधार तथा तर्क-बुद्धिको झाड़-बुहारनेके लिये पर्याप्त प्रबल है, जैसा कि गीता कहती है, "तूफानी समुद्रमें नावके समान",—"नावमिवांभसि" है।

अंतमें, शरीर सहज-स्वाभाविक ढंगसे उन्हीं बातोंमें मनकी आज्ञा मानता है जिनमें वह उसकी आज्ञा माननेके लिये संगठित या प्रशिक्षित होता है, पर मनके साथ शरीरका संबंध सब वस्तुओंमें एक स्वयंचालित पूर्ण यंत्रका संबंध नहीं है। शरीरकी भी एक अपनी चेतना है, यद्यपि यह एक अव-मानसिक यंत्र अथवा दास-चेतना है, यह आज्ञाका उल्लंघन कर सकती अथवा आज्ञा माननेमें असफल भी हो सकती है। बहुतसी बातोंमें, उदाहरणार्थ, स्वास्थ्य और रोगके मामलोंमें, सभी स्वाभाविक क्रियाओंमें, शरीर स्वतंत्रतापूर्वक कार्य करता है और मनका दास नहीं होता। यदि यह क्लांत हो तो यह मनके संकल्पके विरुद्ध निष्क्रिय प्रतिरोधका प्रयोग कर सकता है। यह मनको तमस्, जड़ता, अलसता तथा अवचेतनाके धुंएंसे आच्छादित कर सकता है जिससे मन कार्य नहीं कर सकता। बांह ऊपर उठती है, निस्संदेह, जब उसे इशारा किया जाता है, पर प्रारंभमें जब पैरोंसे चलनेके लिये कहा जाता है तो वे आज्ञाका पालन नहीं

करते; उन्हें यह सीखना होता है कि कैसे घुटनेके बल चलनेकी स्थिति और गतिको छोड़ने तथा सीधे खड़े होने और चलनेकी आदत ग्रहण करनी होती है। जब तुम प्रारंभमें हाथसे एक सीधी रेखा खींचने या बाजा बजानेको कहते हो तो वह इसे नहीं कर सकता और नहीं करेगा। उसे शिक्षा देना, प्रशिक्षित करना, सिखाना होता है, और पीछे वह जो कुछ उससे चाहा जाता है उसे सहज-स्वाभाविक रूपसे करता है। इस सबसे यह सिद्ध होता है कि एक शरीर-चेतना है जो मनके आदेशपर कार्य कर सकती है, पर उसे जगाना, प्रशिक्षित करना, एक अच्छा और सचेतन यंत्र बनाना होगा। इसे इस ढंगसे भी प्रशिक्षित किया जा सकता है कि एक मानसिक संकल्प या सुझाव शरीरकी बीमारीको दूर कर सकता है। परंतु ये सब चीजें, मन और शरीरके ये संबंध तत्त्वतः उसी भूमिपर अवस्थित हैं जहां प्राणके साथ मनका संबंध अवस्थित होता है और यह इतना आसान या प्राथमिक चीज नहीं है जैसा कि आगस्टीन इसे चाहते हैं।

इससे समस्या एक दूसरी भूमिपर खड़ी हो जाती है और इसके कारण अधिक स्पष्ट है और, यदि हम काफी दूरतक जानेको तैयार हों तो, इससे निकलनेका पथ, योगका पथ सूचित होता है।

पुनश्च : यह सब बहु-व्यक्तित्वके सहायक तथा अति-महत्त्वपूर्ण विषयसे बिलकुल भिन्न बातें हैं; बहु-व्यक्तित्वसंबंधी मनोवैज्ञानिक खोज कुछ-कुछ अस्पष्ट रूपमें देखना-समझना बस आरंभ ही कर रही है। वह एक अधिक जटिल विषय है।



जब मन भगवान् और सत्यकी ओर मुड़ जाता है और केवल या मुख्यतया उसीको अनुभव करता और प्रत्युत्तर देता है तो उसे चैत्य मन कहते हैं—यह कभी-कभी मानसिक स्तरपर चैत्य पुरुषका प्रभाव पड़नेपर निर्मित होता है।

आध्यात्मिक मन वह मन है जो अपनी पूर्णावस्थामें आत्मासे सज्ञान होता है, भगवच्चिन्तन करता है, आत्माके स्वभाव तथा अभि-व्यक्तिके साथ उसके संबंधोंको देखता और समझता है, उसीमें या उसके संपर्कमें, स्थिर, विस्तारित और उच्चतर ज्ञानके प्रति जागृत रहता है, शक्तियोंकी क्रीड़ासे विक्षुब्ध नहीं होता। जब यह अपनी

पूर्ण मुक्त प्रवृत्तिको पा जाता है तो इसका केंद्रीय स्थान प्रायः बराबर सिरके ऊपर अनुभूत होता है, यद्यपि इसका प्रभाव नीचेकी ओर समस्त सत्तामें और बाहरकी ओर दूरतक फैल सकता है।



आध्यात्मिक क्षमताका अर्थ है सच्चे आध्यात्मिक अनुभव और विकासके लिये महज एक स्वाभाविक क्षमता। यह किसी भी स्तर-पर प्राप्त हो सकती है, पर स्वाभाविक परिणाम यह है कि मनुष्य आसानीसे आत्माके तथा उच्चतर लोकोंके संपर्कमें आ जाता है।

चैत्य मन और मनोमय चैत्य वस्तुतः एक ही चीज हैं—जब मनकी क्रिया ऐसी होती है जिसमें चैत्य प्रभावकी प्रधानता होती है तो उसे मनमें चैत्य या चैत्य मन कहते हैं।



उच्चतर मन आध्यात्मिक मनका एक स्तर है, मनके स्तरोंमेंसे सबसे पहला और सबसे निचला स्तर; यह साधारण मानसिक स्तरसे ऊपर है।

आंतर मन वह मन है जो ऊपरी मन (हमारे सामान्य मन) के पीछे है और केवल साधनाके द्वारा, ऊपरी सतहपर रहनेकी आदत छोड़ देने और भीतर गहराईमें पैठ जानेपर प्रत्यक्ष अनुभूत हो सकता है (ऊपरी मनमें उसकी जो वृत्तियां कभी-कभी अनुभूत होती हैं, जैसे, दर्शन, कविता, आदर्शवाद आदि उनसे भिन्न।)

बृहत्तर मन एक सामान्य शब्द है जो मनके उन प्रदेशोंको अंत-र्मुक्त करता है जो चाहे भीतर जाने या वैश्व चेतनामें विस्तारित होनेपर हमारे क्षेत्र बनते हैं।

सच्चा मनोमय पुरुष ठीक वही नहीं है जिसे आंतर मन कहते हैं—सच्चा मन, सच्चा प्राण, सच्ची भौतिक सत्ताका अर्थ है उन-उन क्षेत्रोंका पुरुष जो निम्न प्रकृतिकी मूल-भ्रांतियों तथा अज्ञानपूर्ण चिंतन और संकल्पसे मुक्त है तथा सीधे ऊपरसे आनेवाले ज्ञान एवं पथप्रदर्शनकी ओर खुला हुआ है।

उच्चतर प्राण सामान्यतया प्राणिक मन और भावात्मक सत्ताको सूचित करता है और यह मध्य-प्राणसे भिन्न है जिसका स्थान नाभि-

केंद्रमें है और जो क्रियाशील, संवेदनात्मक और उग्र है और निम्नतर प्राण वह है जो मानवीय प्राणिक कामना और प्राणिक प्रतिक्रियाओंकी तुच्छतर गतिविधियोंसे बना होता है।



यहां जो कुछ यथार्थतः पृथ्वी-लोकसे संबंधित है वह निश्चेतनासे, जड़तत्त्वसे विकसित हुआ है—पर मूल मनोमय सत्ता पहलेसे मनोमय लोकमें विद्यमान है, निर्वातित नहीं है। केवल व्यक्तिगत मन ही वास्तवमें यहां निश्चेतनामेंसे किसी चीजके बाहर निकलनेसे विकसित हुआ है और ऊपरके दबावसे विकसित हो रहा है।

पूछताछ करने और जाननेकी प्रवृत्ति स्वयं अपने-आपमें अच्छी है, पर इसे संयमके अधीन रखना होगा। साधनामें प्रगति करनेके लिये जो आवश्यक है वह चेतना और अनुभवको तथा अंतःप्रेरणात्मक ज्ञानको बढ़ानेसे सर्वोत्तम रूपमें प्राप्त होता है।

मस्तकसे ऊपर वैश्व या भागवत चेतना और शक्ति है। कुंडलिनी वह निगूढ़ शक्ति है जो चक्रोंमें सोयी हुई है।



यथार्थ मन तीन भागोंमें विभक्त है—चिंतनशील मन, क्रियाशील मन, बाह्य रूप देनेवाला मन—पहला भावनाओं और ज्ञानसे, उनके यथार्थ स्वरूपमें, संबंधित होता है; दूसरा भावनाकी सिद्धिके लिये मानसिक शक्तियोंका प्रयोग करनेसे मतलब रखता है; और तीसरा जीवनमें उनकी अभिव्यक्तिसे (केवल वाणीद्वारा नहीं, बल्कि जो भी रूप वह दे सके उससे) सरोकार रखता है। "भौतिक मन" थोड़ा अस्पष्ट है, क्योंकि इसका अर्थ यह बाह्य रूप देनेवाला मन तथा भौतिक सत्तामें विद्यमान मन दोनों एक साथ हो सकता है।

यथार्थ प्राणिक मन प्राणिक भावावेग, कामना, प्रेरणा इत्यादि तथा यथार्थ मनके बीचका एक प्रकारका मध्यस्थ है। यह कामनाओं, वोधों, भावों, आवेगों, महत्त्वाकांक्षाओं, प्राणकी अधिकार करने और कर्म करनेकी प्रवृत्तियोंको अभिव्यक्त करता है और उन्हें मानसिक आकारोंमें ढाल देता है (विशुद्ध कल्पनाएं या महानता, सुख-समृद्धि आदिके स्वप्न, जिनमें मनुष्य आसक्त होते हैं, प्राणिक मनकी

क्रियाके विशिष्ट रूप हैं)। प्राणके अंदर मनकी एक और भी अधिक नीचेकी स्थिति है जो महज प्राणिक तत्त्वको ही, बुद्धिकी किसी भी क्रीड़ाके अधीन लाये बिना, अभिव्यक्त करती है। इसी मनोमय प्राणके द्वारा प्राणिक आवेग, प्रवेग, कामनाएं ऊपर उठती हैं और बुद्धिके अंदर घुस जाती हैं तथा उसे या तो आच्छन्न कर देती या विकृत कर देती हैं।

जिस तरह प्राणिक मन वस्तुओंसंबंधी प्राणिक दृष्टि और अनुभवसे सीमित होता है (जब कि सक्रिय बुद्धि सीमित नहीं होती, क्योंकि वह भावना और विचार-तर्कके द्वारा कार्य करती है), उसी तरह शरीरगत या मानसिक-भौतिक मन वस्तुओंसंबंधी भौतिक दृष्टि और अनुभवसे सीमित होता है, यह बाह्यजीवन और वस्तुओंके संस्पर्शो-द्वारा प्राप्त अनुभवोंको मानसिक रूप प्रदान करता है, और उसके परे नहीं जाता (यद्यपि वह उतना बड़ी चतुराईके साथ कर सकता है), पर यह बाह्य रूप प्रदान करनेवाले मनके जैसा नहीं है जो उनके साथ कहीं अधिक युक्ति-तर्क तथा अपनी उच्चतर बुद्धिमत्ताके साथ व्यवहार करता है। परंतु व्यवहारमें ये दोनों प्रायः एक साथ मिलजुल जाते हैं। यांत्रिक मन मानसिक-भौतिकको एक अधिक निम्नतर क्रिया है जो, अपने तईं छोड़ देनेपर, केवल रूढ़िगत भाव-नाओंको दुहराता रहेगा और बाहरी जीवन तथा वस्तुओंके संस्पर्शों के प्रति भौतिक चेतनाके स्वाभाविक प्रतिक्रियाओंको अभिलिखित करेगा।

उच्चतरसे भिन्न निम्नतर प्राण केवल तुच्छ लालसाओं, सामान्य कामनाओं, हीन आवेगों आदिसे सरोकार रखता है जो साधारण संवेदनशील मनुष्यके दैनंदिन जीवनके उपादान तत्त्वका निर्माण करते हैं—जब कि यथार्थ प्राणिक-भौतिक वह स्नायविक सत्ता है जो भौतिक चेतनाके साथ वस्तुओंके संपर्कोको प्राणिक प्रतिक्रिया प्रदान करती है।



मनके सक्रिय तथा निर्माणकारी भागके लिये यह बिलकुल स्वाभाविक है कि चिंतनशील और विवेचक भाग उसपर जो संयम लाता है उससे कहीं अधिक तेजीसे वह कार्य करे। वास्तवमें उन

दोनोंके बीच एक प्रकारका संतुलन और सामंजस्य स्थापित करनेका यह प्रश्न है।



चिंतनशील मन मनुष्योंको नहीं चलाता, उन्हें सबसे अधिक प्रभावित नहीं करता—वास्तवमें प्राणिक प्रवृत्तियां और प्राणिक मन ही अधिक प्रबल होते हैं। अधिकांश मनुष्योंमें, जीवनसंबंधी मामलोंमें चिंतनशील मन केवल प्राणका एक यंत्र होता है।



यथार्थ चिंतनशील मनका संबंध भौतिकसे नही है, यह एक पृथक् शक्ति है। मनके उस भागको भौतिक मन कहते हैं जिसका सरोकार केवल भौतिक वस्तुओंके साथ होता है—यह इंद्रिय-मनपर निर्भर करता है, केवल वस्तुओंको, बाहरी क्रियाओंको देखता है, बाह्य वस्तुओंद्वारा प्राप्त तथ्योंसे अपने विचार बनाता है, उनके आधार-पर केवल अनुमान करता है और जबतक ऊपरसे प्रकाश नहीं पाता तबतक कोई दूसरा यथार्थ सत्य नहीं जान पाता।



भौतिक मन केवल बाहरी वस्तुओंके साथ व्यवहार कर सकता है। मनुष्यको दूसरी वस्तुओंके विषयमें स्वयं मन (बुद्धि) से सोचना और निर्णय करना होता है, न कि उसके भौतिक भागसे।



सत्ताके उस भाग (भौतिक मन) में कोई युक्ति-विचार नहीं है, हैं केवल उसकी सनकें, उसकी आदतें या तामसिक बननेकी प्रवृत्ति।



वास्तवमें भौतिक मन ही प्रत्येक वस्तुको आसान बना देना चाहता है।



भौतिक मनकी यह आदत है कि वह वस्तुओंको प्रयोजनवश या विना प्रयोजन देखता है।



पुनरावृत्ति करना मानसिक-भौतिककी आदत है—वास्तवमें यथार्थ चिंतनशील मन इसे पसंद नहीं करता, मानसिक-भौतिक या फिर भौतिक मनका निम्नतम भाग इसे पसंद करता है।



परंतु यहां मुख्य भूल है मनके भौतिक भागके तुम्हारे वर्णनमें—तुमने जिस चीजका वर्णन किया है वह है यंत्ररूप मानसिक—भौतिक या शारीर मन जो, जब अपने तई छोड़ दिये जानेपर, महज प्राचीन अभ्यासगत विचारों और गतिविधियोंको दुहराते रहता है अथवा अधिकसे अधिक उनके साथ वस्तुओंके प्रति होनेवाली और भी ऐसी यांत्रिक प्रतिक्रियाओं और प्रत्यावर्तनोंको जोड़ देता है जैसे कि वे जीवनचक्रमें आया करते हैं। वास्तविक भौतिक मन वह ग्रहण करनेवाली और बाहरी रूप देनेवाली बुद्धि है जिसके दो प्रधान कार्य हैं—एक, बाहरी वस्तुओंपर कार्य करना और उन्हें मानसिक आज्ञा प्रदान करना और उनके साथ यथार्थ रूपमें व्यवहार करनेका एक तरीका देना; दूसरे, जो कुछ चिंतनशील और सक्रिय मन इसके पास इस उद्देश्यसे भेजता है उसे स्थूल रूप देने और प्रभावशाली बनानेका माध्यम बनना।



यांत्रिक मन एक प्रकारका इंजिन है—जो कुछ इसके पास आता है उसे यह इंजिनमें डाल देता है और उसे घुमाता रहता है—इसका कोई विचार नहीं कि वह क्या है।



मानसिक-भौतिक भागका यह स्वभाव ही है कि जो क्रिया हो चुकी है उसे ही वह विना मतलब दुहराता रहता है। इसीको हम लोग यांत्रिक मन कहते हैं—यह बचपनमें प्रबल होता है, क्योंकि

चिंतनशील मन विकसित नहीं होता और उसके अलावा हितोंका क्षेत्र भी संकीर्ण होता है। पीछे चलकर यह मानसिक क्रियाओंके अंदर प्रवाहित एक अंतःस्रोत बन जाता है। यह चीज मानसिक-भौतिक भागके अन्य लक्षणोंके साथ अवश्य ही ऊपर उठ आयी होगी, क्योंकि क्रिया भौतिक स्तरपर नीचे उतर आयी है। कभी-कभी जब मन निश्चल-नीरव हो जाता है तब भी ये चीजें तबतक ऊपर आती रहती हैं जबतक वे भी शांत नहीं कर दी जातीं।



जो कुछ तुम वर्णन कर रहे हो उससे यह प्रतीत होता है कि तुम्हें यांत्रिक मनके साथ संपर्क प्राप्त हो गया है जिसका स्वभाव ही यह है कि जो विचार इसके अंदर आते हैं उन्हें यह एक चक्रमें घुमाता रहता है। ऐसा कभी-कभी घटित होता है जब चिंतनशील मन स्थिर होता है। यह भौतिक मनका भाग है और तुम्हें इसके उठनेके कारण विक्षुब्ध या भयभीत नहीं होना चाहिये, बल्कि देखना चाहिये कि यह क्या है और इसे शांत करना चाहिये अथवा इसकी क्रियाओंपर संयम स्थापित करना चाहिये।



प्राणिक मन अपने अधिक यांत्रिक चक्करोंमें भी प्रायः फुर्तीला और सर्जनशील होता है, अतएव यह अवश्य ही भौतिक होगा जो चक्कर काट रहा है। यह और यांत्रिक ही सबसे अधिक समयतक बने रहते हैं, पर ये भी उस समय नीरव हो जाते हैं जब शांति तथा निश्चल-नीरवता ठोस और पूर्ण हो जाती हैं। उसके बाद उच्चतर लोकोंसे ज्ञान उतरना आरंभ करता है—उच्चतर मनसे प्रारंभ होता है, और यह विचार और दर्शनका एक नवीन कर्म उत्पन्न करता है जो सामान्य मानसिक कर्मका स्थान ले लेता है। यह ऐसा सबसे पहले चिंतनशील मनमें करता है, पर पीछे प्राणिक मन तथा भौतिक मनमें भी करता है, जिससे ये सभी एक रूपांतरमेंसे गुजरना आरंभ कर देते हैं। इस प्रकारका विचार अनियमित और अस्थिर नहीं होता, बल्कि सुनिश्चित और सदुद्देश्य होता है—यह केवल तभी आता है जब इसकी आवश्यकता होती है या इसे चाहा

जाता है और यह नीरवताको भंग नहीं करता। बल्कि जिसे हम विचार कहते हैं उसका तत्त्व वहां गौण होता है और जिसे हम प्रत्यक्ष बोध (अंतर्ज्ञान) कह सकते हैं वह उसका स्थान ले लेता है। परंतु जबतक मन एक पूर्ण निश्चल-नीरवताके योग्य नहीं बन जाता, यह उच्चतर ज्ञान, विचार, बोध या तो नीचे नहीं उतरता या, यदि अंशतः उतरता है, यह निम्नतरके साथ मिलजुल जाने या सीमित हो जानेके लिये बाध्य होता है, और यह एक गड़बड़ और बाधा है। अतएव निश्चल-नीरवता आवश्यक है।



जब उच्चतर चेतना यांत्रिक मनपर कब्जा कर लेती है तो वह अब यांत्रिक नहीं रह जाता।



मनस् आदि शब्द साधारण मनोविज्ञानके शब्द हैं और उपरि-तलीय चेतनाके लिये व्यवहृत होते हैं। हम अपने योगमें एक भिन्न प्रकारका वर्गीकरण अपनाते हैं—वह यौगिक अनुभवपर आधारित है। मनस्की इस क्रियाको जो कुछ उत्तर देता है उसमें दो अलग-अलग वस्तुएं होंगी—भौतिक मनका एक अंग भौतिक प्राणके साथ संपर्क स्थापित करता होगा। यह भौतिक इंद्रियोंसे ग्रहण करता है और बुद्धितक—अर्थात् विचार-बुद्धिके किसी भागतक—पहुंचा देता है। यह फिर बुद्धिसे ग्रहण करता है और भावना तथा संकल्पको संवेदन और कर्मके करणतक पहुंचा देता है। यह सब चेतनाके सामान्य कार्यके लिये अनिवार्य है। परंतु साधारण चेतनामें प्रत्येक चीज एक साथ मिलजुल जाती है और वहां कोई सुस्पष्ट व्यवस्था या नियंत्रण नहीं होता। योगमें मनुष्य विभिन्न भागों और उनके विशिष्ट कार्यके विषयमें सचेतन होता है, और प्रत्येकको उसके अपने स्थानमें तथा उसके विशिष्ट कर्ममें रख देता तथा उच्चतर चेतनाके नियंत्रणके अधीन अथवा भागवत शक्तिके नियंत्रणके अधीन ला देता है। उसके बाद सब आध्यात्मिक चेतनासे परिपूरित हो जाता है और प्रत्येक भाग सहजभावसे यथार्थ बोध और यथार्थ कर्मके योग्य हो जाता है, क्योंकि वे सब पूर्ण रूपसे ऊपरसे नियंत्रित

होते हैं और उसके आदेशोंको दूषित या अवरुद्ध या अव्यवस्थित नहीं करते।



भौतिक मनमें बौद्धिक युक्ति-तर्क और समन्वयनकी क्रिया हो सकती है। वह बुद्धिद्वारा प्रेषित क्रिया होती है और संभवतः प्राचीन मनोविज्ञान मनस्‌के साथ इसका कोई संबंध नहीं स्वीकार करेंगे। फिर भी भौतिक मनके कार्यका अधिकतर भाग मनस्‌के कार्यसे मिलता-जुलता है, पर यह उस चीजको भी बहुत कुछ अपने अंदर समाविष्ट करता है जिसे हम प्राणिक मन और स्नायुसत्ताकी चीज समझते हैं। इस पुरानी नामावलीको इस योगकी नामावलीके साथ समानता दिखाना थोड़ा कठिन है, क्योंकि प्राचीन मनोविज्ञान ऊपरी तलकी मिश्रित क्रियाको लेता है और उसका विश्लेषण करनेकी चेष्टा करता है—जब कि इस योगमें जो कुछ उपरितलपर एक साथ मिलाजुला होता है उसे अलग किया जाता और पीछेकी उस गभीरतर क्रियाके प्रकाशमें देखा जाता है जो ऊपरी जानकारीसे छिपी होती है। इसलिये हमें एक भिन्न वर्गीकरणको ग्रहण करना होगा।

इस भौतिक मनको पहले उच्चतर चेतनाकी ओर खुलना होगा—तब इसकी सीमाएं भंग हो जाती हैं और वह अतिभौतिक वस्तुओंको स्वीकार करता और उच्चतर ज्ञानके साथ सामंजस्य रखकर वस्तुओंको देखना आरंभ करता है। यह भौतिक जीवनके व्यावहारिक बोधों और कर्मोंमें उस ज्ञानको बाहरी रूप देनेका यंत्र बन जाता है। यह वस्तुओंको वैसा ही देखता है जैसी कि वे हैं और बृहत्तर सत्य तथा बोध, संकल्प और बाह्य स्पर्शोंकी प्रतिक्रियाकी सहज-स्वाभाविक यथार्थताके अनुसार उनके साथ व्यवहार करता है।



मैं स्वयं सामान्यतया इन शब्दों (मनस् आदि) को नहीं व्यवहृत करता—ये प्राचीन योगके मनोवैज्ञानिक शब्द हैं।



[मनस्‌का कार्य है:] वस्तुओंको जानना-समझना, विषयोंके प्रति मानसिक रूपमें प्रतिक्रिया करना और संस्कारोंको बुद्धितक ले जाना आदि।



चित्त मानसिक चेतनाका सामान्य उपादान-तत्त्व है जो मनस् तथा अन्य प्रत्येक वस्तुको सहारा देता है—यह अनिर्दिष्ट चेतना है जो विचारों, स्मृतियों, कामनाओं, संवेदनों, बोधों, आवेगों तथा अनुभवोंमें निर्दिष्ट होती है (चित्तवृत्ति)।



चित्त वह चेतना है जिसमेंसे सभी चीजें निर्मित होती हैं, पर रचना मन, प्राण या अन्य शक्तिके द्वारा की जाती है—जो मानो आत्माभिव्यक्तिके चित्तके उपकरण हों।



यह दोनों तरहसे काम करता है—चित्त इन चीजोंको ग्रहण करता है, इन्हें रूप देनेके लिये प्राण और मनको देता है और सब कुछ बुद्धितक पहुँचा दिया जाता है, पर यह बुद्धिसे भी विचार ग्रहण करता है और उन्हें कामनाओं और संवेदनों और आवेगोंमें बदल देता है।



हां, पर चित्त बुद्धिसे कामनाओं और संवेदनोंको नहीं ग्रहण करता। वह बुद्धिसे विचारोंको लेता है और उन्हें कामनाओंमें बदल देता है।



चित्तमें सर्वदा ही या कम-से-कम सामान्य रूपसे [बाहरसे ग्रहण किये गये विचारों आदिके प्रति] एक प्रकारकी प्रतिक्रिया होती है जो उन्हें (विचारों आदिको) परिवर्तित करनेवाली होती है—हां, जब चित्त महज ग्रहण करता और संचित करता है पर करणोंकी ओर संचारित नहीं करता तब वैसा नहीं होता।



हां, निश्चय ही, परंतु इसका (चित्तका) सारा कार्य ही चूंकि ऊपरसे या नीचेसे या चारों ओरसे ग्रहण करना है, यह ऐसा करना बंद नहीं कर सकता, यह स्वयं यह निश्चय नहीं कर सकता कि उसे क्या ग्रहण करना चाहिये और क्या नहीं। इसे बुद्धि, प्राणिक संकल्प या किसी उच्चतर शक्तिसे सहायता लेनी होती है। पीछे जब उच्चतर चेतना अवतरित होती है तो यह रूपांतरित होना और सत्तामें दिव्यत्वकी वृद्धिके लिये जो कुछ सच्चा या समुचित या दिव्य या सहायक नहीं है उसे स्वाभाविक ढंगसे त्यागनेमें समर्थ होना आरंभ करता है।



वास्तवमें चित्तका अर्थ है सामान्य चेतना जिसमें मन, प्राण और भौतिक सम्मिलित हैं—पर व्यावहारिक रूपमें इसका अर्थ एक ऐसी चीज मान सकते हैं जो चेतनाके केंद्रमें है। यदि वह भगवान्‌में केंद्रित हो जाय तो बाकी सब कुछ, कम या अधिक तेजीसे, स्वाभाविक परिणामके रूपमें उसका अनुसरण करता है।



चित्त हृदयके समीप नहीं है—यदि तुम्हारा मतलब निम्नतर चेतनाके उपादानसे हो तो इसका कोई खास स्थान नहीं है। इस जीवनकी सभी वस्तुएं चेतनाके इस उपादान-तत्त्वमें विद्यमान हैं पर पूर्वजीवनोंकी स्मृति अन्यत्र आवृत और अंतर्निहित है। निस्संदेह, अधिकांश मनुष्योंके लिये इस चेतनाका मुख्य केंद्र हृदय है, अतएव तुम इसकी क्रियाओंको उस स्तरमें केंद्रित अनुभव कर सकते हो।



यही बात सत्ताके अन्य भागोंके साथ है—चित्तका एक अवचेतन भाग है जो वस्तुओंके विगत संस्कार एकत्र कर रखता है और स्वप्नमें चेतनाके समीप उनके आकारोंको भेजता है अथवा पुरानी क्रियाओंके अभ्यासको संचित रखता है और उन्हें अवसर पाते ही ऊपर भेजता है।



यदि मूलमें[1] वासना शब्दका प्रयोग हुआ है तो इसका अर्थ 'कामना' नहीं है। साधारणतः इसका अर्थ होता है चित्तसे उठनेवाली भावना या मानसिक प्रतीति, कल्पनाएं, संस्कार, स्मृतियां आदि, पसंद और नापसंद, दुःख और सुखका संस्कार। वशिष्ठका कहना यह है कि जब भावनाएं, संस्कार, आवेग आदि जो साधारण मनुष्यको कर्ममें प्रवृत्त करते है, चित्तसे उठते है, वे चीजें जो जीवन्मुक्तमें उठती हैं सीधे सत्त्वसे —पुरुषकी मूल चेतनासे आती हैं, दूसरे शब्दोंमें, वे मानसिक नहीं बल्कि आध्यात्मिक रचनाएं होती हैं। ऐसा कहा जा सकता है कि ये "चित्त-वृत्ति" नहीं बल्कि "सत्वप्रेरणा" होती हैं, क्या सोचना, अनुभव करना या संपन्न करना चाहिये इसका आंतर सत्ताद्वारा प्राप्त प्रत्यक्ष संकेत होती हैं। जब चित्त अब सक्रिय नही रहता और मन नीरव हो जाता है—जो मुक्ति आनेपर घटित होता है और इसके बिना कोई जीवन-मुक्त नहीं हो सकता, तब जो कुछ बना रहता, देखता-समझता और कार्य करता है वह मौलिक चेतना, सच्चे स्व या सच्चे पुरुषकी चेतनाके रूपमें अनुभूत होता है।



मैं समझता हूं कि महत् प्रकृतिमें विद्यमान (विकसित नहीं अंतर्हित) चेतनाका मूलभूत और आदि गर्भाशय है जिसमेंसे व्यक्तित्व और आकार आते हैं।



तन्मात्रा केवल जड़तत्त्वका आधार है। सांख्यमें आधार है प्रधान (प्रकृतिका), जिसमेंसे बुद्धि तथा अन्य सभी चीजें आती हैं। वेदांतमें आध्यात्मिक सत्तत्त्व वह चीज है जिसमेंसे सब कुछ आता है।



प्राण-सत्ताके चार भाग हैं—पहला मनोमय प्राण है जो प्राणसत्ताके भावों, कामनाओं, आवेगों, संवेदनों तथा अन्यान्य क्रियाओंको विचार, वाणी या अन्य चीजोंके द्वारा मानसिक अभिव्यक्ति प्रदान करता है।

---

1. योग-वाशिष्ठ

दूसरा है भावात्मक प्राण जो प्रेम, हर्ष, शोक, घृणा तथा अन्यान्य प्रकारके विभिन्न हृद्गत भावोंका आगार है। तीसरा है केंद्रीय प्राण जो तीव्रतर प्राणिक लालसाओं और प्रतिक्रियोंओंका, जैसे, महत्त्वाकांक्षा, गर्व, भय, प्रतिष्ठाकी चाह, आकर्षण और विकर्षण, नाना प्रकारकी कामनाओं और आवेगों आदिका घर है तथा अनेक प्राणिक शक्तियोंका क्षेत्र है। अंतिम है निम्नतर प्राण जो छोटी-छोटी कामनाओं और हृद्गत भावोंमें व्यस्त रहता है, ऐसी कामनाओं और भावोंमें जो दैनिक जीवनके बहुत बड़े भागका निर्माण करते हैं, जैसे, भोजनकी इच्छा, काम-वासना, मामूली पसंदगियां, नापसंदगियां, मिथ्याभिमान, लड़ाई-झगड़े, प्रशंसा पानेकी चाह, निंदा होनेपर क्रोध, सभी प्रकारकी तुच्छ इच्छाएं आदि—तथा अन्यान्य चीजोंकी अगणित जमात। इनके क्रमशः स्थान हैं (1) गलेसे लेकर हृदयतकका क्षेत्र, (2) हृदय (यह द्विविध केंद्र है, सामनेकी ओर यह भावात्मक प्राणका क्षेत्र है और पीछेकी ओर चैत्य पुरुषका), (3) हृदयसे लेकर नाभिकेंद्रतक और (4) नाभिकेंद्रके नीचेका भाग।



प्रकृतिका एक भाग है जिसे मैंने प्राणिक मनका नाम दिया है। इस मनका कार्य चिंतन और तर्क-वितर्क करना, समझना, विचार करना और वस्तुओंको ढूंढ़ निकालना या मूल्यांकन करना नहीं है, क्योंकि वह तो यथार्थ चिंतनशील मन, बुद्धिका कार्य है—, बल्कि जो कुछ किया जा सकता है उसकी योजना बनाना या स्वप्न देखना या कल्पना करना है। यह भविष्यके लिये रचनाएं गढ़ता है जिसे संकल्प-शक्ति कार्यान्वित करनेकी कोशिश कर सकती है यदि संयोग और परिस्थितियां अनुकूल बन जायं अथवा यहांतक कि उन्हें अनुकूल बनानेके लिये भी कार्य कर सकती है। कर्मशील पुरुषोंमें यह शक्ति सबसे प्रमुख होती है और उनके स्वभावकी मार्गदर्शिका होती है; महान् कर्मठ पुरुषोंमें यह शक्ति बहुत अधिक मात्रामें विद्यमान रहती है। परंतु कोई यदि कर्मशील या व्यावहारिक कार्योंको संपन्न करनेवाला व्यक्ति न भी हो अथवा यदि परिस्थितियां अनुकूल न हों अथवा मनुष्य केवल तुच्छ और सामान्य कार्य ही कर सके तो भी यह प्राणिक मन वहां होता है। यह उनमें छोटे पैमानेपर काम करता है, या यदि इसे विशालताके किसी भावकी आवश्यकता होती है तो यह बहुधा शून्यमें योजनाएं बनाता है, यह जानते

हुए कि वह अपनी योजनाओंको कार्यान्वित नहीं कर सकता अथवा यह बड़ी-बड़ी चीजों, कहानियों, साहसिक कर्मों, महान् कर्मोंकी कल्पना करता है जिनमें यह स्वयं नायक या स्रष्टा होता है। तुमने अपने अंदर घटित होनेवाली जिस चीजका वर्णन किया है वह इसी प्राणिक मनका तीव्र प्रवाह या कल्पना है जो अपने आकार बना रही है; इसका कार्य तुम्हारे साथ ही अनूठा नहीं है, बल्कि यह अधिकांश व्यक्तियोंमें काफी अधिक इसी ढंगसे काम करता है—पर प्रत्येकमें उसकी निजी ढंगकी कल्पना, रुचि, प्रिय भावनाओं और कामनाओंके अनुसार करता है। तुम्हें इसके कार्यका स्वामी बनना चाहिये और इसे अपने मनपर अधिकार नहीं जमाने देना चाहिये और वह जब और जहां चाहे उसे मनको नहीं ले जाने देना चाहिये। साधनामें जब अनुभूतियोंका आना आरंभ होता है, यह अत्यधिक आवश्यक है कि इस शक्तिको यह तुम्हारे साथ जो कुछ करना चाहे उसे करने न दिया जाय; कारण, उस समय यह अपने स्वभावके अनुसार मिथ्या अनुभूतियोंकी सृष्टि करती है और साधकको समझाती है कि ये अनुभतियां ही सच्ची हैं या यह झूठी रचनाएं तैयार करती है और उसे यकीन दिलाती है कि यही चीज उसे करनी है। मिथ्यात्वकी शक्तियोंके द्वारा प्रयुक्त यह भ्रामक शक्ति कुछ साधकोंको पथसे दूर हटा ले गयी है; मिथ्यात्वकी शक्तियोंने इसके द्वारा उन्हें यह विश्वास दिला दिया कि उन्हें संसारमें एक महान् आध्यात्मिक, राजनीतिक या सामाजिक कार्य पूरा करना है और इस तरह उन्हें निराशा और असफलतामें पहुंचा दिया। यह तुम्हारे अंदर जग रही है जिसमें कि तुम समझ सको कि यह क्या है और इसका परित्याग कर सको। क्योंकि कई ऐसी चीजें हैं जिन्हें तुम्हें प्राणस्तरसे निकाल देना होगा, उसके बाद ही गंभीरतर या महत्तर आध्यात्मिक अनुभूतियां सुरक्षित रूपमें आरंभ हो सकती हैं या सुरक्षित रूपमें आना जारी रख सकती हैं।

शांतिका अवतरण बहुधा साधनाकी प्रथम प्रमुख परिस्फुट अनुभूतियोंमेंसे एक अनुभूति होता है। शांतिकी इस स्थितिमें सामान्य विचारशील मन (बुद्धि) नीरव हो जाया करता है अथवा अपनी अधिकांश क्रियाओंको कम कर देता है और जब वह ऐसा करता है तो बहुत बार या तो यह प्राणिक मन भीतर घुस सकता है, यदि हम सावधान न हों, या एक प्रकारका यांत्रिक भौतिक अथवा अनियमित अवचेतन मन ऊपर आना आरंभ कर सकता और कार्य कर सकता है; यही निश्चल-नीरवताको

भंग करनेवाली प्रमुख वस्तुएं हैं। अथवा, निम्नतर प्राणिक मन भंग करनेका प्रयास कर सकता है; वह अहंकार और आवेगों और उनकी क्रीड़ाको बढ़ाता है। ये सब उन तत्त्वोंके लक्षण हैं जिनसे छुटकारा पाना है, क्योंकि वे यदि बने रहें और उच्चतर शक्तियोंके अन्य तत्त्व, बल-वीर्य और शक्ति, ज्ञान, प्रेम या आनंद उतरना आरंभ करें तो वे निम्नतर चीजें आ जाती हैं और इसके फलस्वरूप या तो उच्चतर चेतना पीछे हट जाती है या उसका अवतरण आच्छन्न हो जाता है और जो प्रेरणा वह देती है उसका निम्न प्रकृतिके उद्देश्योंके लिये दुर्व्यवहार किया जाता है। यही कारण है जिससे बहुतसे साधक बड़ी-बड़ी अनुभूतियां पानेके बाद अतिरंजित अहंकार, उथल-पुथल, महत्त्वाकांक्षा, अतिरंजित कामवासना या अन्य प्राणिक आवेगों या विकृतियोंके चंगुलमें फंस जाते हैं। इसलिये यह सर्वदा ही अच्छा होता है कि या तो सुनिश्चित अनुभूतियोंके आनेसे पूर्व प्राणकी पूर्ण शुद्धि हो जाय या अनुभूतियोंके साथ-साथ शुद्धिकरणका कार्य चलता रहे—कम-से-कम उन प्रकृतियोंमें जिनमें प्राण प्रबल रूपसे सक्रिय हो।



यह (प्राणिक मन) सक्रिय (युक्तियुक्त बनानेवाले नहीं) संकल्प, कर्म, कामनाका मन है—यह शक्ति और सिद्धि और तृप्ति और अधिकार, भोग और कष्टसहन, देने और लेने, वृद्धि, विस्तार, सफलता और विफलता, सौभाग्य और दुर्भाग्य आदि-आदिमें व्यस्त रहता है।

प्राणिक विचार प्राणिक क्रियाओंको, प्राणिक शक्तियोंके खेलको अभिव्यक्त करता है—यह उनसे मुक्त होकर और स्वतंत्र होकर चिंतन नहीं करता जैसे कि चिंतनशील मन कर सकता है। सच्चा चिंतनशील मन प्राणिक क्रियाओंसे ऊपर अवस्थित हो सकता, उनका स्वतंत्र रूपमें निरीक्षण कर सकता, उन्हें जान सकता और उनका विचार कर सकता है जैसे कि वह बाहरी वस्तुओंको देखता-समझता और उनका विचार करता है। परंतु अधिकांश मनुष्योंमें चिंतक मन (बुद्धि) प्राणिक मनद्वारा आक्रांत होता है और स्वतंत्र नहीं होता।

⊙

यह प्राणिक मनकी साधारण क्रिया है जो सर्वदा ही यह कल्पना, चिंतन करता रहता और योजना बनाता रहता है कि इस विषयमें क्या किया जाय और उस विषयमें किस प्रकार व्यवस्था की जाय। स्पष्ट ही मानवीय स्वभाव और मानवीय कर्ममें इसकी उपयोगिता है, पर यह अनिश्चित और अतिरंजित रूपमें, अनुशासन, अपनी शक्तियोंकी मित-व्ययिता या जो कुछ वास्तवमें करणीय है उसपर एकाग्रताके बिना कार्य करता है।



जो चीजें इस प्रकार स्वप्नमें या जाग्रत्में तुम्हारे पास आती हैं वे वस्तुओं और कार्य तथा जो कुछ मनके सामने उपस्थित होता है उसके विषयमें प्राणिक मनकी कल्पनाओं और क्रियाओंकी जैसी चीजें हैं। जो चीजें मनके सामने आती हैं उन सबपर मनुष्यकी प्राणिक कल्पना कार्य कर सकती है, कल्पना करती, अटकल लगाती, भावनाओंकी रचना करती या भविष्यके लिये योजनाएं बनाती है आदि-आदि। साधारण जीवनमें कार्य करनेवाली चेतनाके लिये इसकी उपयोगिता हो सकती है, पर योगमें यह अवश्य शांत-स्थिर हो जानी चाहिये और उसके स्थान-पर एक उच्चतर क्रिया आ जानी चाहिये। नींदमें तुम प्राणलोकमें भी प्रवेश करते हो। यदि उचित ढंगसे देखा जाय और एक लड़ीमें पिरो दिया जाय तो जो कुछ प्राण-जगत्में अनुभूत होता है उसका मूल्य होता है और वह ज्ञान देता है जो लाभदायी होता है और प्राणिक सत्ता तथा प्राणिक जगत्पर नियंत्रण प्रदान करता है। परंतु वह सब अवचेतनाके भीतरसे असंगत रूपमें तुम्हारे पास आ रहा है—यही कठिनाईका कारण है। समूची चीजको शांत कर देना होगा और हम वैसा कर देनेकी कोशिश करेंगे। जब मैंने तुमसे अपनेको खोलनेके लिये कहा था, मेरा मतलब बस यह था कि तुम्हें यह बात अपने मनमें बैठा लेनी चाहिये कि सहायता आ रही है और उसे ग्रहण करनेकी इच्छा रखनी चाहिये—अवश्य ही यह मतलब नहीं था कि तुम्हें अपने प्रयाससे अपनेको उद्घाटित करना चाहिये।



जिस स्रोतसे ये कल्पनाएं आती हैं उसका युक्ति-बुद्धिके साथ कोई सरोकार नहीं और किन्हीं युक्तिपूर्ण आपत्तियोंकी कोई परवा वह नहीं

करता। ये कल्पनाएं या तो प्राणिक मनसे आती हैं, यह वही स्रोत है जहांसे सभी सुन्दर कल्पनाएं और लंबी कहानियां आती हैं जिन्हें मनुष्य स्वयं अपने-आपसे कहता है और जिनमें वे स्वयं ही नायक होते हैं और महान् कार्य करते हैं अथवा ये कल्पनाएं भौतिक मनसे संबद्ध छोटी-छोटी सत्ताओंसे आती हैं जो किसी अकस्मात् सुझावको कहींसे ले लेती हैं और उसे मनके सामने ठीक यह देखनेके लिये रख देती हैं कि आया वह स्वीकृत होगा या नहीं। यदि कोई अपने-आपको ध्यानपूर्वक देखे तो वह अत्यंत विचित्र और अलौकिक या निरर्थक चीजोंको अपने मनमेंसे गुजरते हुए या इस प्रकार उसमें झांकते हुए देख सकता है। साधारणतया मनुष्य हंसता है या मुश्किलसे ध्यान देता है और सारी चीज फिरसे उसी असंगत चिंतनके जगत्में चली जाती है जहांसे वह आयी थी।



यह फिर वह प्राणिक मन है। इसमें अनुपातका या मापका कोई बोध नहीं होता और यह तुरत कुछ बड़ी चीज बन जाने या कर डालनेके लिये उत्सुक होता है।



[दिवा-स्वप्नः] यह सब प्राणिक मन है; यह प्रत्येक व्यक्तिमें होता है, ऐसी कल्पनाओंकी आदत सबमें होती है। यह बहुत महत्त्वपूर्ण नहीं है, पर निश्चय ही इससे छुटकारा पाना होगा, क्योंकि इसका आधार अहंकार है।



साधारण प्रकृतिके अंदर प्राणिक मन इन कल्पनाओंके बिना काम नहीं चला सकता—इसलिये यह आदत बहुत लंबे समयतक बनी रहती है। इससे अनासक्त और उदासीन हो जाना सबसे उत्तम है, फिर कुछ दिनों बाद यह ऊब सकता और आदत छोड़ सकता है।



इस प्रकारकी बातचीत (मनके अंदर दूसरे व्यक्तिके साथ बातचीत) प्राणिक मनके लिये बहुत मामूली बात है। यह एक तरीका है जिसके

द्वारा वह उन चीजोंपर सूक्ष्म जगत्‌में काम करता है जिनमें उसकी रुचि है, विशेपकर यदि भौतिक क्रिया वंद या अवरुद्ध हो गयी है।



भावात्मक और उच्चतर प्राणसे संवंध रखनेवाला प्रश्न थोड़ा कठिन है। जिस वर्गीकरणमें मनको चिंतनशील, द्रष्टा और संकल्पशील वुद्धिसे अधिक कोई चीज समझा जाता है उसमें भावात्मक सत्ताको मनका ही भाग गिना जाता है। उसे मनके अंदर प्राणसत्ता माना जाता है। एक दूसरे वर्गीकरणमें यह प्राण-प्रकृतिका अत्यंत मनःभावापन्न अंश है। पहलेमें 'उच्चतर प्राण' का अर्थ लिया जाता है सचेतन जीवनी-शक्तिका वह विशालतर कार्यव्यापार जिसका संवंध सृष्टिसे, वलवीर्य, शक्ति-सामर्थ्य और विजयसे, दान और आत्मदानसे, और आगे कार्य करने तथा शक्तिका व्यय करनेके लिये संसारसे अलग होनेसे, प्रकृतिके महत्तर उद्देश्योंसे सामंजस्य रखनेवाली जीवनकी विशालतर क्रियाओंमें अपनेको प्रक्षिप्त कर देनेसे है। दूसरे वर्गीकरणमें भावात्मक सत्ताका स्थान प्राण-प्रकृतिके शीर्ष स्थानपर है और दोनों मिलकर उच्चतर प्राणका निर्माण करती हैं। इनके विपरीत विद्यमान है निम्नतर प्राण जो कर्म और कामनाकी तुच्छतर क्रियाओंसे सरोकार रखता है और नीचे प्राणमय शरीरतक फैला होता है जहां वह अधिक वाह्य क्रियाओं और शारीरिक संवेदनाओं, भूखों, लालसाओं, संतुष्टियों आदिके जीवनका आधार होता है। यहां 'निम्नतर' शब्दको हीनताके अर्थमें नहीं लेना चाहिये; यह लोकोंकी परंपराके अंदर महज स्थानको सूचित करता है। क्योंकि पार्थिव जीवोंके अंदर प्रकृतिका यह भाग यद्यपि वहुत अधिक अंधकार-पूर्ण होता है और विकृतियोंसे—जैसे, वासना, सभी प्रकारके लोभ, मिथ्याभिमान, तुच्छ महत्त्वाकांक्षाओं, निकृष्ट क्रोध, ईर्ष्या, द्वेष आदिसे—भरा होता है, फिर भी इसका एक दूसरा पक्ष भी है जो इसे आंतरिक सत्ता और वाह्य जीवनके वीचका एक अनिवार्य मध्यस्थ वना देता है।

यह वात सही नहीं है कि प्रत्येक चैत्य अनुभव विशुद्ध और यथार्थतः परिचालित प्राणधारामें अपने-आपको मूर्त्तिमान करता है; यह वैसा तभी करता है जव उसे अपने-आपको कर्ममें वाह्य रूप देना होता है। चैत्य अनुभव अपने-आपमें एक विलकुल स्वतंत्र वस्तु है और उसके अपने विशिष्ट रूप होते हैं। चैत्य पुरुष वाकी सभी भागोंके पीछे विद्यमान

है; इसकी शक्ति सच्ची आत्म-शक्ति है। परंतु यह यदि सामने आ जाता है तो यह बाकी सबको परिप्लावित कर सकता है; मन, प्राण और भौतिक चेतना इसकी छापको ग्रहण कर सकते और इसके प्रभावसे रूपांतरित हो सकते हैं। जब प्रकृति समुचित रूपमें विकसित हो जाती है तो मनोमयके अंदर एक चैत्य, प्राणमयके अंदर एक चैत्य, भौतिक चेतनामें एक चैत्य पुरुष रहता है। जब वह वहां होता है और प्रबल होता है तो हम किसी व्यक्तिके विषयमें यह कह सकते हैं कि स्पष्ट ही उसमें एक आत्मा है। परंतु कुछ ऐसे लोग भी होते हैं जिनमें इस तत्त्वका इतना अधिक अभाव होता है कि हमें यह विश्वास करनेके लिये कि उनमें कोई अंतरात्मा है श्रद्धाका व्यवहार करना होता है। चैत्य पुरुषका केंद्र भावात्मक सत्ताके केंद्रके पीछे है; वास्तवमें भावात्मक सत्ता क्रियात्मक रूपमें चैत्य सत्तासे सबसे समीप है और अधिकांश मनुष्योंमें इस भावात्मक केंद्रके द्वारा ही चैत्य पुरुषको अत्यंत आसानीसे प्राप्त किया जा सकता है और चैत्यभावापन्न भावावेगके द्वारा ही उसे अत्यंत आसानीसे अभिव्यक्त किया जा सकता है। इसलिये बहुतसे लोग एकको दूसरा समझनेकी भूल कर बैठते हैं। परंतु इन दोनोंके बीच बहुत बड़ा भेद है। भावावेग सामान्यतया अपने स्वभावमें प्राणिक वस्तु हैं और वे चैत्य स्वभावके अंग नहीं हैं।

यह अवश्य याद रखना चाहिये कि जहां यह वर्गीकरण मनोवैज्ञानिक आत्मज्ञान तथा अनुशासन तथा अभ्यासके लिये अनिवार्य है, वहां इसका सबसे उत्तम उपयोग तभी हो सकता है जब कि इसे अत्यंत कठोर और कटाछंटा सिद्धांत न बना दिया जाय। क्योंकि वस्तुएँ बहुत अधिक एक-दूसरीमें प्रवाहित होती रहती हैं और इन शक्तियोंका संश्लेषणात्मक ज्ञान उतना ही आवश्यक है जितना कि इनका विश्लेषण। उदाहरणार्थ, मन सर्वत्र है। भौतिक मन पारिभाषिक दृष्टिसे प्राणके नीचे अवस्थित है और फिर भी यह यथार्थ मनका एक विस्तारित रूप है और ऐसा रूप है जो अपने क्षेत्रमें उच्चतर बुद्धिके प्रत्यक्ष संपर्कमें रहकर कार्य कर सकता है। और फिर शरीरका, बिलकुल कोषोंका, अणुओं-परमाणुओंका एक अंधकाराच्छन्न मन भी होता है। जर्मन जड़वादी हेकेलने कहीं अणुमें विद्यमान इच्छा-शक्तिकी बात कही थी, और अति आधुनिक विज्ञान विद्युदणुओंकी क्रियाके अनगिनत व्यष्टिगत विभेदोंकी चर्चा करते

हुए यह तथ्य देखनेके समीप पहुंच रहा है कि यह कोई आकार नहीं वल्कि किसी गुह्य सद्वस्तुकी फेंकी हुई एक छाया है। यह शारीर मन वड़ा ही ठोस सत्य है; इसकी अंधता विगत क्रियाके प्रति यांत्रिक लगाव, सहज विस्मृति और नवीनकी त्याग-भावनाके कारण हम इसमें एक प्रमुख वाधा देख रहे हैं जो अतिमानसिक शक्तिके परिव्याप्त होने तथा 'शरीर-की क्रियाके रूपांतरित होनेमें उपस्थित हो सकती है, दूसरी ओर, एक वार सफल रूपमें परिवर्तित हो जानेपर, भौतिक प्रकृतिमें अतिमानसिक ज्योति और शक्तिके स्थायी रूपसे वने रहनेके लिये यह एक अत्यंत वहुमूल्य यंत्र वन जायगा।



सुनिश्चित रूपमें यह कहना संभव नहीं है कि उच्चतर प्राण-भागोंमें कौनसी वाधा उपस्थित होगी, कौनसा रूप वह लेगी, क्योंकि यह विभिन्न स्वभाव-वाले लोगोंमें अलग-अलग रूप ले सकती है। यह एकदम स्वाभाविक है कि उच्चतर चेतनाके अवतरणके विरुद्ध लगभग प्रत्येक स्थलपर कुछ-न-कुछ वाधा उपस्थित होगी। क्योंकि वर्तमान प्रकृतिके विभिन्न भाग अपने रूढ़ रूपसे देखने, काम करने, अनुभव करने, वस्तुओं तथा अभ्यासगत क्रियाओंके प्रति प्रतिक्रिया करने तथा अपने निजी राज्यमें अपनी रचनाओंके, जिन्हें प्रत्येक व्यक्तिने अतीतमें या अपने वर्तमान जीवनमें अपने लिये वना लिया है, कम या अधिक आसक्त होते हैं। इसके लिये आवश्यकता इस वातकी है कि मन, प्राण और भौतिक चेतनामें एक प्रकारकी सामान्य नमनशीलता हो, इन वस्तुओंके प्रति समस्त आसक्तिको त्याग देने और जो कुछ उच्चतर चेतना अपने साथ नीचे उतार लावे, वह चाहे अपने निजी गृहीत विचारों, अनुभवों, प्रकृतिके अभ्यासोंके जितना भी विपरीत क्यों न हो, उसे स्वीकार करनेकी तत्परता हो। प्रकृतिके जिस किसी भागमें यह नमनीयता जितनी अधिक होगी उसमें वाधा भी उतनी ही कम होगी।

प्रकृतिके उच्चतर प्राण-भागोंसे मेरा मतलव है प्राणिक मन, भावा-त्मक प्रकृति, सत्तामें क्रियाशील जीवनी-शक्ति। प्राणिक मन प्राण-सत्ताका वह भाग है जो रचना करता, योजना वनाता, कल्पना करता, वस्तुओं और विचारोंको प्राणावेगों, कामनाओं, शक्ति या अधिकारकी इच्छा, कर्मकी इच्छा, भावावेगों तथा प्रकृतिकी प्राणिक अहंगत प्रतिक्रियाओंके

अनुसार व्यवस्थित करता है। इसे युक्तितर्क करनेवाली इच्छाशक्तिसे पृथक् करना होगा जो यथार्थ चिंतनशील मनके, विवेक करनेवाली वुद्धिके आदेशोंके अनुसार अथवा मानसिक संवोधि या प्रत्यक्ष अंतर्दृष्टि और निर्णयके अनुसार वस्तुओंकी योजना वनाती और व्यवस्था करती है। प्राणिक मन विचारका उपयोग तर्कवुद्धिकी सेवाके लिये नहीं करता वल्कि जीवन-प्रवेग और जीवनी-शक्तिकी सेवाके लिये करता है तथा जव वह युक्तितर्ककी दुहाई देता है तव वह उसका उपयोग इन शक्तियोंके आदेशोंका समर्थन करनेके लिये करता है, जीवनी-शक्तियोंके कार्यको विवेकशील संकल्पशक्तिसे नियंत्रित करनेके वदले उनके आदेशोंको वुद्धिके ऊपर लादता है। यह उच्चतर प्राण अपने सभी अंगोंके साथ वक्षस्थलमें अधिष्ठित है और हृत्केंद्र उसका प्रधान क्षेत्र है और वहांसे नाभिकेंद्रतक संपूर्ण भागपर अधिकार रखता है। यहां भावात्मक प्रकृतिके विषयमें मुझे कहनेकी कोई आवश्यकता नहीं, क्योंकि इसका स्वभाव और क्रियाएं सवको विदित हैं। नाभिकेन्द्रसे नीचेकी ओर प्राणिक आवेगों और संवेदनों तथा समस्त तुच्छ प्राण-प्रवेगोंका राज्य है जो साधारण मानव-जीवन और स्वभावके वहुत वड़े भागका निर्माण करते हैं। यही है जिसे हम निम्नतर प्राण-प्रकृति कहते हैं। मूलाधार भौतिक चेतना तथा प्रकृतिके स्थूल भागोंका मुख्य आधार है।

अंतरात्मा है जीव, भगवान्का अंश जो कि विकसनशील व्यक्तिका अंतरतम आधार है और मन, प्राण और शरीरको धारण करता है। मन, प्राण और शरीर प्रकृतिके यंत्रात्मक भाग हैं और इन्हींके द्वारा अन्तरात्मा जड़ निश्चेतनासे दिव्य ज्योति और अमरत्वकी ओर वर्द्धित होनेकी चेष्टा करता है जो कि उसका यथार्थ स्वरूप है। इसके यंत्रोंकी सीमाएं उसको निम्नतर क्रियाओंको स्वीकार करने तथा अंतरात्मा और प्रकृतिके वीच एक समझौता करनेको वाध्य करती हैं और इससे यह क्रिया विलंवित होती है जव कि अंतरात्मा उस आदान-प्रदानके द्वारा आगे वढ़नेका अपना उपाय भी प्राप्त करता है। चैत्य पुरुष वह अंतरात्म-रूप या अंतरात्म-व्यक्तित्व है जो इस क्रमविकासके द्वारा विकसित होता है और एक जीवनसे दूसरे जीवनमें तवतक आगे चलता रहता है जवतक कि सव कुछ अज्ञानके परे उच्चतर विकासके लिये तैयार नहीं हो जाता।

चैत्य पुरुषका साक्षात्कार, उसकी जागृति और उसे सामने ले आना मुख्यतः इस वातपर निर्भर करता है कि किस हदतक हम भगवान्के

साथ अपना व्यक्तिगत संबंध, भक्ति, प्रेम, निर्भरता, आत्मदान, पृथक्कारी और आत्मप्रस्थापनकारी मानसिक, प्राणिक और भौतिक अहंके आग्रहोंके परित्यागका संबंध स्थापित कर सके हैं।

अंतिम प्रश्नके विषयमें मैं कुछ विशेष नहीं कह सकता। मैं समझता हूं कि सनत्कुमार ब्रह्माके चार मानसपुत्रोंमेंसे एक हैं; इसलिये उनको स्कंद नहीं समझना चाहिये जो शिवके पुत्र हैं।



भावात्मक सत्ता स्वयं प्राणका एक भाग है।



हृदय भावात्मक सत्ताका केंद्र है और भावावेग हैं प्राणिक क्रियाएं। जब हृदय शुद्ध हो जाता है तो प्राणिक भावावेग चैत्य अनुभवोंमें अथवा चैत्यभावापन्न प्राणिक क्रियाओंमें परिवर्त्तित हो जाते हैं।



विशुद्ध और यथार्थ विचार, भाव और संवेग मानव मन, हृदय और प्राणसे उठ सकते हैं, क्योंकि वहां सब कुछ बुरा ही नहीं है। हृदय अशुद्ध हो सकता है पर इसका अर्थ यह नहीं है कि उसमेंकी प्रत्येक वस्तु अशुद्ध है।



हृदयसे ऊपर प्राणिक मन है, पर संवेदनोंका उठना भावावेगसे निम्नतर क्रिया है, उच्चतर नहीं।

संवेदन भावावेगकी अपेक्षा कहीं अधिक भौतिकके समीप है।

कामनाका स्थान हृदयसे नीचे केंद्रीय प्राण (नाभि-केंद्र) में तथा निम्नतर प्राणमें है, पर यह भावावेग तथा प्राणिक मनको भी प्रचालित करती है।



मैं [निम्नतर प्राणिक क्रियाओं तथा हृदयके भावावेगोंके बीच] पायी जानेवाली चीजें उसी है उसे देखकर विभेद करता हूं। लोभ, भय,

ईर्ष्या निःसंदेह उसी भांति हृदयको स्पर्श कर ठीक जैसे कि वे मनको स्पर्श करते हैं पर वे नाभि-क्षेत्रसे तथा भीतरी भागसे (अर्थात् निम्नतर या ऊंचेसे ऊंचे मध्य प्राणसे) ऊपर उठते हैं। स्टेवेन्सन (Stavenson) ने "किडनैप्ड" पुस्तकमें एक बड़ा आकर्षक पैरा दिया है जिसमें नायक देखता है कि उसका भय मुख्यतः हृदयमें नहीं बल्कि उदरमें अनुभूत हो रहा है। प्रेम, आशाका मुख्य स्थान हृदयमें है, वैसे ही दया आदिका भी है।



हर्ष, अपने विपरीत भाव शोककी तरह, एक प्राणिक भाव है।



पर क्या यह सच है कि क्रोध भी जो कि निम्नतर प्राणकी वस्तु है और इसलिये शरीरके समीप है, निश्चित रूपसे इन परिणामोंको[1] उत्पन्न करता है? निस्संदेह मनोवैज्ञानिक यह नहीं जान सकता कि दूसरा आदमी क्रोधमें है जबतक कि उसमें उसे कोई भौतिक लक्षण न दिखायी दे, पर वह यह भी नहीं जान सकता कि कोई मनुष्य क्या सोच रहा है जबतक कि वह मनुष्य बोलता या लिखता नहीं—क्या यह निष्कर्ष निकलता है कि चिंतनकी स्थितिकी कल्पना बोलने या लिखनेमें उसका चिह्न हुए बिना नहीं की जा सकती? एक जापानी व्यक्ति ऐसा है जो अपने सभी "भावावेगों" को अपने वशमें रखनेका आदी है और कोई लक्षण नहीं प्रकट करता (यदि वह क्रोधमें है तो इसका सबसे पहला लक्षण तुम यह देखोगे कि एक शांत या मुस्काते हुए हत्यारेकी एक छुरी तुम्हारे पेटमें है); वह जब क्रोध करता है तो उसमें इनमेंसे कोई चीज नहीं दिखायी देती—यहांतक कि छातीमें उच्छ्वास भी नहीं होता,—उसके स्थानमें होगी एक स्थायी आग जो तबतक जलती रहेगी जबतक कि उसका क्रोध कर्ममें अपने-आपको चरितार्थ नहीं कर लेता।



1. भौतिक लक्षण जैसे, वक्षस्थलमें दीर्घ उच्छ्वास, चेहरेका लाल हो उठना आदि।

प्रबल प्राण वह प्राण है जो जीवनी-शक्तिसे भरपूर होता है, जिसमें महत्त्वाकांक्षा, साहस, महान् शक्ति, कर्म या सृजनकी सामर्थ्य, चाहे देनेमें उदारता दिखानेके लिये अथवा अधिकार जमाने, नेतृत्व करने और शासन करनेके लिये एक विशाल और व्यापक क्रिया, संसिद्ध करने और कार्यान्वित करनेकी क्षमता होती है—प्राणिक शक्तिके और भी अनेक रूप हैं। ऐसे प्राणके लिये अपनी निजी शक्तियोंका यह बोध होनेके कारण प्रायः समर्पण करना कठिन होता है पर वह यदि समर्पण कर सके तो वह भागवत कर्मके लिये एक अपूर्व यंत्र बन जाता है।



नहीं, दुर्बल प्राणमें आध्यात्मिक मोड़ लेनेकी शक्ति नहीं होती—और दुर्बल होनेके कारण वह बहुत आसानीसे किसी गलत प्रभावमें जा पड़ता है और जब वह चाहता है तब भी अपने अभ्यासगत स्वभावके परेकी किसी चीजको स्वीकार करना कठिन अनुभव करता है। अगर प्रबल प्राणमें इसकी इच्छा हो तो इसे बहुत अधिक आसानीसे कर सकता है—उसकी एक प्रमुख कठिनाई है अपने अहंकी हेंकड़ी और अपनी शक्तियोंका आकर्षण।

वक्षस्थलका प्राणकी अपेक्षा चैत्यके साथ अधिक संबंध है। प्रबल प्राण एक अच्छा शरीर पा सकता है, पर अधिकतर ऐसा होता नहीं—वह शरीरसे बहुत कुछ मांग करता है, मानो वह उसे खा ही डालता है।



मैं समझता हूं, मैंने कहा था कि यह (एक पुरानी कामना) भौतिक प्राणके अवचेतन भागमें छोड़ दी गयी थी। जिस तरह एक भौतिक मन है, उसी तरह एक भौतिक प्राण है—वह प्राण जो भौतिक वस्तुओंकी ओर पूर्णतः मुड़ा हुआ है, कामनाओं और लालसाओंसे तथा भौतिक स्तर-पर सुखकी खोजोंसे पूर्ण है।



भौतिक प्राण तुच्छ कामनाओं और लालसाओं आदिकी सत्ता है—प्राणिक-भौतिक स्नायु-सत्ता है; वे दोनों बड़े घनिष्ठ रूपमें एक-दूसरेके साथ संबद्ध हैं।



प्राणिक-भौतिक सत्ता बाह्य वस्तुओंके प्रति होनेवाली समस्त तुच्छ दैनिक प्रतिक्रियाओंको नियंत्रित करती है—स्नायुओं और शारीर चेतनाकी प्रतिक्रियाओं तथा पुनरावर्त्तित भावावेगों और संवेदनोंको नियंत्रित करती है। यह मनुष्यके अधिकांश सामान्य कार्योंको प्रेरित करती है तथा वासना, ईर्ष्या, क्रोध, हिंसा आदि उत्पन्न करनेके लिये यथार्थ प्राणके निम्नतर भागोंके साथ जुड़ जाता है। अपने निम्नतम भागों (प्राणिक-जड़-भौतिक) में यह कष्ट, शारीरिक रोग आदि चीजोंका विशेष कारण है।



हां—वे (निम्नतर प्राण, भौतिक प्राण और अत्यंत जड़-भौतिक प्राण) वर्द्धमान चेतनाके सम्मुख बहुत सुस्पष्ट हो जाते हैं। और उनका विभेद आवश्यक है—अन्यथा साधक निम्नतर प्राण या भौतिक प्राणके एक भागको प्रभावित या संयमित कर सकता है और फिर भी यह देखकर चकित हो सकता है कि कोई बड़ी ठोस पर बाह्यतः अजेय वस्तु अभी भी बाधा दे रही है—यह जड़भौतिक प्राण है जो बाकीके उतने अंशके साथ होता है जितनेको वह अपनी बाधाके द्वारा प्रभावित कर पाता है।



सत्ताका स्नायु-भाग प्राणका ही एक अंश है—यह प्राणगत शरीर है, यह वह जीवनी-शक्ति है जो शरीरकी प्रतिक्रियाओं, कामनाओं, आवश्यकताओं, संवेदनों आदिमें घनिष्ठ रूपसे आबद्ध रहती है। मुख्य प्राण वह जीवनी-शक्ति है जो अपने निजी स्वभावमें, आवेगों, भावों, बोधों, कामनाओं, महत्त्वाकांक्षाओं आदिमें कार्य करती है; इन सबका उच्चतम केंद्र वह है जिसे हम भावोंका बाहरी हृदय कह सकते हैं। इसके विपरीत, एक आंतर हृदय भी है जहां उच्चतर या चैत्य बोध और संवेदन होते हैं, अंतरात्माके भाव या संबुद्ध लालसाएं और प्रवेग होते हैं। निस्संदेह, हमारा प्राण-भाग हमारी पूर्णताके लिये आवश्यक है, पर वह केवल तभी सच्चा यंत्र होता है जबकि उसके बोध और प्रवृत्तियां चैत्य स्पर्शसे शुद्ध हो जाती हैं तथा आध्यात्मिक ज्योति और शक्तिके द्वारा गृहीत एवं शासित होती हैं।



मैं सूक्ष्म प्राणके विषयमें कुछ नहीं जानता। लोग स्थूल जड़ शरीरसे विभेद करनेके लिये सूक्ष्म शरीरकी बात कहते हैं, क्योंकि हमारे साधारण अनुभवके लिये समस्त शरीर स्थूल है। पर प्राण अपने स्वभावमें अ-भौतिक है, इसलिये वह विशेषण निरर्थक है। स्थूल प्राणसे हमारा मतलब वह प्राण है जो जड़तत्त्वमें इस प्रकार अंतर्ग्रस्त है कि उसकी क्रियाओं और स्थूल भौतिक स्वभावसे बद्ध हो गया है। इसका कार्य है शरीरको धारण करना और शक्ति प्रदान करना और उसके अंदर जीवन, वृद्धि, गतिशीलता आदि एवं बाहरी संस्पर्शोंके प्रति संवेदनशीलताकी क्षमताको भी बनाये रखना।



इस प्रश्नका कोई व्यावहारिक अर्थ नहीं है—क्योंकि प्राणिक-भौतिक शक्तियोंको शरीर चाहे कहींसे ग्रहण कर सकता है—चारों ओरसे, नीचेसे या ऊपरसे। लोकोंकी क्रमपरंपरा एक-दूसरे लोकसे अपेक्षित है, शरीरसे अपेक्षित नहीं है। एक दूसरेके संपर्कसे प्राणिक-भौतिक भौतिक मनसे नीचे है, पर जड़-भौतिकसे ऊपर है; परंतु इसके साथ-ही-साथ ये शक्तियां एक-दूसरी में अंतःप्रविष्ट भी होती हैं।



शरीर-शक्ति भौतिक शक्तियोंकी एक अभिव्यक्ति है जो प्राणिक-भौतिकके द्वारा धारित है और प्राणिक-भौतिक वह प्राणिक ऊर्जा है जो जड़तत्त्वमें प्रक्षिप्त हुई और उसके द्वारा प्रसीमित है।



प्राणशक्तिका अर्थ है जीवनी-शक्ति—जहां कहीं भी जीवन है, वह चाहे वनस्पतिमें हो या पशुमें या मनुष्यमें, वहां ही जीवनी-शक्ति है—प्राणके बिना जड़तत्त्वके अंदर न तो कोई जीवन हो सकता है और न कोई सजीव कर्म। प्राण एक आवश्यक शक्ति है और यदि यंत्रके रूपमें प्राण विद्यमान न हो तो भौतिक सत्ताके अंदर न तो कुछ सृष्ट हो सकता है और न कुछ किया जा सकता है। यहांतक कि साधनामें भी प्राणशक्तिकी आवश्यकता होती है।

परंतु प्राण यदि अशुद्ध और कामना, आवेग और अहंका दास हो

तो वह उतना ही हानिकारक होता है जितना कि वह अन्यथा सहायक हो सकता है। साधारण जीवनमें भी प्राणको मन और मानसिक संकल्प-द्वारा संयमित करना होता है, नहीं तो वह अव्यवस्था और सर्वनाश ले आता है। जब लोग प्राणिक पुरुषकी बात कहते हैं तब उनका तात्पर्य उस मनुष्यसे होता है जो मन या आत्मासे अनियंत्रित प्राणिक शक्तिके अधिकारमें होता है। प्राण एक अच्छा यंत्र हो सकता है, पर यह एक बुरा मालिक है।

प्राणको मार डालने या नष्ट कर देनेकी आवश्यकता नहीं है, बल्कि चैत्य और आध्यात्मिक नियंत्रणके द्वारा शुद्ध और रूपांतरित करनेकी है।



शरीर प्रत्येक पगपर प्राणके ऊपर निर्भर करता है—यह प्राणकी सहायताके 'बिना कुछ नहीं कर सकता था—अतएव यह बिलकुल स्वाभाविक है कि वह उसके सुझावोंको ग्रहण करे।



शारीरिक जीवन शरीरके बिना नहीं रह सकता और शरीर जीवनी-शक्तिके बिना नहीं जी सकता, परंतु प्राणका स्वयं अपने-आपमें पृथक् अस्तित्व है और उसका अपना एक अलग शरीर भी है, प्राणिक शरीर है, ठीक जैसे मनका पृथक् अस्तित्व है और वह अपने निजी लोकमें विद्यमान रह सकता है। समस्त संघटन चैत्य पुरुषद्वारा एक साथ विधृत है जो सबका आधार है।

XI

हमारी सत्ताके प्रत्येक स्तर—मानसिक, प्राणिक, भौतिक—की एक अपनी चेतना है, पृथक्-पृथक् है पर परस्पर संबद्ध है और एक-दूसरीपर क्रिया करती है। परंतु हमारे बाहरी मन और इंद्रियके लिये, हमारे जाग्रत् अनुभवमें, वे सभी चेतनाएं एक दूसरीके साथ मिलीजुली हैं। उदाहरणार्थ, शरीरकी एक अपनी चेतना है और उसीसे वह कार्य करता है, हमारे मानसिक संकल्पके बिना भी या उस संकल्पके विरुद्ध भी कार्य करता है, और हमारा ऊपरी मन इस

शरीर-चेतनाके विषयमें बहुत कम जानता है, केवल अपूर्ण रूपमें ही उसे अनुभव करता है, केवल उसके परिणामोंको ही देखता है और उनके कारणोंका पता लगानेमें बहुत अधिक कठिनाइयां झेलता है। योगका यह एक अंग है कि शरीरकी इस पृथक् चेतनाका ज्ञान प्राप्त किया जाय, इसकी गतियोंको तथा भीतरसे या बाहरसे इसपर कार्य करनेवाली शक्तियोंको देखा और अनुभव किया जाय एवं इसकी अत्यंत गुह्य और (हमारे लिये) अवचेतन प्रक्रियाओंको संयमित और परिचालित करना सीखा जाय। परंतु स्वयं शारीर चेतना हमारे अंदरकी उस व्यक्तिभावापन्न भौतिक चेतनाका केवल एक अंश है जिसे हम विराट् भौतिक प्रकृतिकी गुह्यतः सचेतन शक्तियोंमेंसे एकत्र करते और निर्मित करते हैं।

प्रकृतिकी एक विराट् भौतिक चेतना है और हमारी अपनी भौतिक चेतना भी है जो उसका एक अंश है, उससे परिचालित होती है और जिसे केंद्रीय पुरुष इस भौतिक जगत्में अपनी अभिव्यक्तिके आधारके रूपमें तथा इन सब बाह्य वस्तुओं, गतिविधियों तथा शक्तियोंके साथ सीधे व्यवहार करनेके माध्यमके रूपमें व्यवहृत करता है। यह भौतिक चेतना-स्तर दूसरे लोकोंकी शक्तियों और प्रभावोंको ग्रहण करता और निजी क्षेत्रोंमें उनका रूप निर्माण करता है। इसलिये हममें एक भौतिक मन है, फिर प्राणिक मन है और यथार्थ मन है; हमारे अंदर हमारा एक प्राणिक-भौतिक अंग है—स्नायु-पुरुष—साथ ही यथार्थ प्राण है; और ये दोनों उस स्थूल जड़ भौतिक अंगके द्वारा बहुत अधिक मात्रामें सीमित होते हैं जो हमारे अनुभवके अनुसार लगभग पूर्ण रूपसे अवचेतन है।

भौतिक मन वह मन है जो भौतिक वस्तुओं और घटनाओंपर एकाग्र होता है, केवल उन्हें ही देखता और समझता है, तथा उन्हींके साथ उनके अपाने स्वभावके अनुसार बर्ताव करता है, पर जो बड़ी कठिनाईसे उच्चतर शक्तियोंको प्रत्युत्तर दे सकता है। यदि उसे यों ही छोड़ दिया जाय तो वह अतिभौतिक वस्तुओंके अस्तित्वपर विश्वास नहीं करता जिसका उसे कोई सीधा अनुभव नहीं होता और जिसका उसे कोई अता-पता नहीं मिलता; जब उसे आध्यात्मिक अनुभव होता भी है तो वह उन्हें भूल जाता है, उनके प्रभाव और परिणामको खो देता है तथा उनपर विश्वास करना कठिन अनुभव करता है। इस भौतिक मनको उच्चतर आध्यात्मिक एवं अतिमानसिक लोकोंकी चेतनासे ज्योतित

करना इस योगका एक उद्देश्य है, ठीक जिस तरह कि इसे सत्ताके उच्चतर प्राणिक और उच्चतर मानसिक तत्त्वोंकी शक्तिसे आलोकित करना मानवीय आत्मविकास, सभ्यता और संस्कृतिका सबसे बड़ा भाग है।

दूसरी ओर, प्राणिक-भौतिक अंग हमारी भौतिक प्रकृतिके स्नायविक प्रत्युत्तरोंका वाहन है; यह तुच्छतर संवेदनों, कामनाओं, बाह्य भौतिक और स्थूल जड़ाश्रित जीवनके संघातोंके प्रति सभी प्रकारके प्रत्युत्तरोंका क्षेत्र और यंत्र है। अतएव यह प्राणिक-भौतिक अंश (यथार्थ प्राणके निम्नतम भागसे पोषित) हमारे बाह्य प्राणकी अधिकांश निम्नतर क्रियाओंका कार्यकर्त्ता है; इसकी अभ्यासगत प्रतिक्रियाएं और हठी तुच्छताएं योगके द्वारा बाह्य चेतनाका रूपांतर करनेके मार्गकी प्रमुख बाधाएं हैं। यह मन या शरीरके उन अधिकांश दुःख-क्लेशों और बीमारियोंके लिये भी बहुत अधिक जिम्मेदार है जिनके अधीन प्रकृतिमें हमारी भौतिक सत्ता है।

स्थूल जड़ भागका जहांतक प्रश्न है, उसका स्थान बतानेकी कोई आवश्यकता नहीं, क्योंकि वह बहुत स्पष्ट है; पर यह याद रखना चाहिये कि इसकी भी एक अपनी चेतना है, अंग-प्रत्यंगों, कोषों, तंतुओं, गुत्थियों और इंद्रियोंकी अपनी अंध चेतना है। इस अंधकारको आलोकित करना और सीधे उच्चतर लोकों तथा दिव्य क्रियाओंका माध्यम बनाना हमारे योगमें शरीरको सचेतन बनाना है,—अर्थात्, इसकी तमसाच्छन्न, सीमित अर्द्ध-अवचेतन स्थितिके बदले इसे सच्ची, जाग्रत् और प्रत्युत्तर-दायी सचेतनतासे भर देना।

हमारी सत्तामें सर्वत्र, इसके सभी स्तरोंपर, आंतरिक और बाह्य चेतना है। साधारण मनुष्य केवल अपने बाहरी स्वरूपको ही जानता है और ऊपरी तलसे नीचे जो कुछ छिपा हुआ है उससे बिलकुल अनभिज्ञ होता है। और, फिर भी जो कुछ ऊपरी सतहपर है, जो कुछ हम अपने विषयमें जानते हैं या समझते हैं कि हम जानते हैं और यहांतक कि हम विश्वास करते हैं कि वही हमारा सारा स्वरूप है, वह हमारी सत्ताका बस एक छोटा-सा भाग है और काफी मात्रामें हमारा वृहत्तर अंश उपरितलसे नीचे है। अथवा, अधिक सही रूपमें कहें तो, वह सम्मुखीन चेतनासे नीचे, पर्देके पीछे, गुह्य है तथा केवल एक गुह्य ज्ञान-द्वारा ही ज्ञेय है। आधुनिक मनोविज्ञान और आत्मविद्याने बस थोड़ा-

थोड़ा इस सत्यको देखना आरंभ किया है। जड़वादी मनोविज्ञान इस प्रच्छन्न भागको निश्चेतना कहता है, यद्यपि व्यावहारिक रूपसे स्वीकार करता है कि यह ऊपरी सचेतन सत्तासे बहुत अधिक बड़ी, अधिक शक्तिशाली और गंभीर है,—बहुत अधिक जैसा कि उपनिषदें हमारे अंदरके अतिचेतनको सुषुप्त आत्मा कहती थीं, यद्यपि इस सुषुप्त आत्माके विषयमें कहा जाता है कि यह अनंततः अधिक बड़ी प्रज्ञा है, सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान, प्राज्ञ, ईश्वर है। आत्मविद्या इस गुप्त चेतनाको प्रच्छन्न आत्मा कहती है और यहां भी यह दीखता है कि इस प्रच्छन्न आत्मामें ऊपरी सतहपर विद्यमान लघुतर आत्माकी अपेक्षा अधिक शक्ति, अधिक ज्ञान है, उसे क्रिया करनेका अधिक उन्मुक्त क्षेत्र प्राप्त है। परंतु सत्य यह है कि जो कुछ पीछेकी ओर है वह सब, यह समुद्र, जिसकी केवल एक लहर या कुछ लहरियां हमारी यह जागृत चेतना है, किसी एक शब्दद्वारा वर्णित नहीं हो सकता, क्योंकि यह बहुत जटिल, बहुविध वस्तु है। इसका कुछ अंश अवचेतन है, हमारी जागृत चेतनासे निम्नतर है, कुछ अंश इसके समान स्तरपर है, पर पीछे है और इससे बहुत अधिक विशाल है; कुछ अंश ऊपर और हमारे लिये अतिचेतन है। हम जिसे अपना मन कहते हैं वह केवल एक बाहरी मन है, उपरितलीय मानसिक क्रिया है, पीछे अवस्थित उस बृहत्तर मनकी आंशिक अभिव्यक्तिका यंत्र है जिसके विषयमें साधारणतया हमें ज्ञान नहीं है और जो केवल अपने अंदर पैठनेपर ही जाना जा सकता है। उसी तरह जिसे हम अपना प्राण कहते हैं वह केवल बाहरी प्राण है, ऊपरी क्रिया है जो उस गुप्त बृहत्तर प्राणको अंशतः प्रकाशित करती है जिसे हम केवल भीतर जानेपर जानते है। उसी तरह जिसे हम अपनी भौतिक सत्ता या शरीर कहते हैं वह उस महत्तर और सूक्ष्मतर अदृश्य भौतिक चेतनाका एक दृश्य प्रक्षेपमात्र है जो कहीं अधिक जटिल है, कहीं अधिक सज्ञान है, अपनी ग्रहणशीलतामें बहुत अधिक उदार-विशाल, कहीं अधिक उन्मुक्त, नमनीय और स्वतंत्र है।

यदि तुम इस सत्यको समझो और अनुभव करो तभी तुम यह अवगत होनेमें समर्थ हो सकोगे कि आंतर मन, आंतर प्राण और आंतर भौतिक चेतनाका क्या अर्थ है। परंतु यह अवश्य ध्यानमें रखना चाहिये कि यह 'आंतर' शब्द तो पृथक्-पृथक् अर्थोंमें प्रयुक्त होता है। कभी तो यह उस चेतनाको सूचित करता है जो बाहरी सत्ताके पर्देके पीछे

है, जो मानसिक या प्राणिक या भौतिक चेतना भीतर है, जो कि सीधे वैश्व मन, वैश्व प्राण-शक्तियों, वैश्व भौतिक शक्तियोंके संपर्कमें है। फिर दूसरी ओर, कभी-कभी उससे हमारा मतलब होता है, अंतरतम मानसिक, प्राणिक, भौतिक चेतना, अधिक विशिष्टतया जिसे सच्चा मन, सच्चा प्राण और सच्ची भौतिक चेतना कहा जाता है, जो कि अंतरात्माके अधिक समीप है और जो अत्यंत आसानी और सीधे तौरपर भागवत ज्योति तथा शक्तिको प्रत्युत्तर दे सकती है। कोई भी सच्चा योग तबतक करना संभव नहीं, कोई पूर्णयोग तो और भी कम, जबतक कि हम बाहरी सत्तासे पीछे न जायं और इस आंतर सत्ता और आंतर प्रकृतिके विषयमें सचेतन न हों। क्योंकि केवल तभी हम अज्ञ बाह्य सत्ताकी सीमाओंको भंग करनेमें समर्थ होंगे जो कि सचेतन रूपसे केवल बाह्य स्पर्शोको ही ग्रहण करती है और अप्रत्यक्ष रूपसे बाह्य मन और इंद्रियोंके द्वारा वस्तुओंको जानती है, और हमारे द्वारा और हमारे चारों ओर क्रीड़ा करनेवाली वैश्व चेतना तथा वैश्व शक्तियोंके विषयमें प्रत्यक्ष रूपमें सज्ञान होती है। और केवल तभी हम यह आशा कर सकते है कि हम प्रत्यक्ष रूपसे अपने अंदर भगवान्‌के विषयमें सचेतन हों तथा प्रत्यक्षतः भागवत ज्योति एवं भागवत शक्तिके साथ संपर्क प्राप्त कर सकें। अन्यथा हम केवल बाहरी चिह्नों और बाहरी परिणामोंसे ही भगवान्‌को महसूस कर सकेंगे और वह एक कठिन तथा अनिश्चित मार्ग है और बहुत अनियमित तथा आकस्मिक चीज है, और यह केवल विश्वास दिलाता है, ज्ञान नहीं देता, और न प्रत्यक्ष सचेतनता और सतत उपस्थितिका ज्ञान प्रदान करता है।

इन दोनोंके प्रभेदके दृष्टांतोंका जहांतक प्रश्न है, अनुभवके दो एक-दम विपरीत ध्रुवोंसे दृष्टांत दे सकता हूं, एक तो है अत्यंत बाहरी व्यापारसे संबंधित जो यह दिखाता है कि किस तरह आंतरिक चेतना वैश्व शक्तियोंकी ओर खुलती है, यह एक ऐसा आध्यात्मिक अनुभव है जो यह सूचित करता है कि कैसे आंतर चेतना भगवान्‌की ओर खुलती है। रोगका उदाहरण ले लो। अगर हम केवल बाहरी भौतिक चेतनामें ही रहें तो हम साधारणतया यह नही जानते कि हम बीमार होने जा रहे है जबतक कि रोगके लक्षण शरीरमें प्रकट नही हो जाते। पर हम यदि आंतरिक भौतिक चेतनाको विकसित करें तो हम सूक्ष्म पारिपार्श्विक भौतिक वातावरणके विषयमें अवगत होते हैं और रोगकी

शक्तियोंको उसके भीतरसे अपनी ओर आते हुए अनुभव कर सकते हैं, यहांतक कि कुछ दूरसे ही उन्हें महसूस कर सकते हैं, और यदि हमने ऐसा करना सीखा हो तो हम उन्हें संकल्पके द्वारा या अन्य प्रकारसे रोक सकते है। हम अपने चारों ओर एक प्राणिक-भौतिक अथवा स्नायविक कोषको भी अनुभव कर सकते हैं जो शरीरसे विकीर्ण होता और उसे सुरक्षित रखता है, और हम उसके भीतरसे रास्ता बनाकर घुसनेकी चेष्टा करनेवाली विरोधी शक्तियोंको अनुभव कर सकते और हस्तक्षेप करके उन्हें रोक सकते हैं या स्नायविक कोषको और भी मजबूत बना सकते हैं। अथवा हम रोगके लक्षणोंको, जैसे, ज्वर या सर्दीको, स्थूल शरीरमें प्रकट होनेसे पहले सूक्ष्म-भौतिक कोषमें अनुभव कर सकते और उन्हें शरीरमें प्रगट होनेसे पहले रोककर वहीं नष्ट कर सकते हैं। अब भागवत शक्ति, ज्योति और आनंदका आवाहन करनेकी बातको लो। यदि हम केवल बाहरी भौतिक चेतनामें रहें तो वह अवतरित हो सकती और पर्देके पीछे कार्य कर सकती है, पर हम कुछ भी अनुभव नहीं करेंगे और बहुत दिनों बाद केवल कुछ परिणामोंको देखेंगे। अथवा, अधिक-से-अधिक, हम मनमें एक प्रकारकी स्पष्टता और शांति, प्राणमें एक प्रकारका हर्ष, शरीरमें एक प्रकारकी सुखद स्थिति अनुभव करते हैं और भागवत स्पर्शका अनुमान करते हैं। पर, हम यदि शरीरमें जागृत हैं तो हम शरीरके भीतरसे, अंगों, स्नायुओं, रक्त, श्वास, और सूक्ष्म शरीरके भीतरसे प्रकाश, शक्ति या आनंदको बहते हुए, अत्यंत स्थूल कोषोंको प्रभावित करते हुए तथा उन्हें सचेतन और आनंदपूर्ण बनाते हुए अनुभव करेंगे एवं प्रत्यक्ष रूपमें भागवत शक्ति और उपस्थितिका बोध प्राप्त करेंगे। ये उन हजारों दृष्टांतोंमेंसे केवल दो दृष्टांत हैं जो संभव हैं तथा जिन्हें साधक निरंतर अनुभव कर सकते हैं।

⊙

प्रत्येक वस्तुका एक भौतिक अंग होता है—यहांतक कि मनका एक भौतिक अंग है; एक मानसिक भौतिक अंग है जो शरीर और जड़ भागका मन है। इसी तरह भावात्मक सत्ताका एक भौतिक अंग है। भावात्मक सत्तासे पृथक् इसका अपना कोई स्थान नहीं है। मनुष्य उसे केवल तभी पहचान सकता है जब उसकी चेतना ऐसा करनेके लिये पर्याप्त मात्रामें सूक्ष्म हो जाती है।

⊙

यह (जड़-भौतिक) भौतिकका अत्यंत स्थूल स्तर है—हमारे अंदर मानसिक-भौतिक, प्राणिक-भौतिक, स्थूल जड़-भौतिक अंग हैं।



हां—या कम-से-कम यह (जड़ चेतना) भौतिक चेतनाका एक पृथक् भाग है। उदाहरणार्थ, भौतिक मन संकीर्ण और सीमित और बहुधा नासमझ होता है पर जड़ नहीं होता। पर, इसके विरुद्ध जड़-तत्त्वकी चेतना जड़ होती है और साथ ही अधिकतर अवचेतन होती है—सक्रिय केवल तभी होती है जब किसी शक्तिसे चालित होती है, अन्यथा निष्क्रिय और अचल होती है। जब कोई पहले-पहल इस स्तरके सीधे संपर्कमें आता है तो शरीरमें महसूस होती है जड़ता और अचलता, प्राणिक-भौतिकमें थकावट या दुर्बलता, भौतिक मनमें प्रकाश या प्रवृत्ति-का अभाव या केवल अत्यंत सामान्य विचार और प्रवेग। इस स्तरमें किसी प्रकारकी ज्योति या शक्ति उतार लानेमें मुझे बहुत अधिक समय लगा था। पर एक बार जब यह आलोकित हो जाता है तो लाभ यह होता है कि अवचेतन चेतन बन जाता है और इससे साधनाके मार्गसे एक बहुत ही मौलिक बाधा दूर हो जाती है।



स्थूल भौतिकसे तात्पर्य है पार्थिव और दैहिक भौतिक—जैसा कि बहिर्मुखी इंद्रिय-मन और इंद्रियोंद्वारा अनुभूत होता है। परंतु वह संपूर्ण जड़तत्त्व नहीं है। एक सूक्ष्म-भौतिक अंग भी है जिसमें एक सूक्ष्मतर चेतना है जो, उदाहरणार्थ, शरीरसे बहुत दूर जा सकती है और फिर भी महज मानसिक या प्राणिक तरीकेसे भिन्न रूपमें वस्तुओंको अनुभव कर सकती और जान सकती है। मन और प्राणका जहांतक प्रश्न है, वे सर्वत्र हैं—शरीरके कोषोंमें, पत्थरों या अणु और परमाणुओंतकमें एक धूमिल मन और प्राण है।



भौतिक स्नायु स्थूल शरीरके अंग हैं पर वे सूक्ष्म शरीरतक फैले हुए हैं और इन दोनोंमें एक संपर्क है।



हां, सूक्ष्म शरीरमें स्नायु हैं।

हा, कोष शरीरोंके लिये व्यवहृत एक शब्द है, क्योंकि प्रत्येक एक-दूसरेके ऊपर अवस्थित है और एक आच्छादनका कार्य करता है और दूर फेंका जा सकता है। इस तरह स्वयं भौतिक शरीर भी अन्नमय कोष कहलाता है और इसे फेंक देनेका ही नाम है मृत्यु।



यही वह चीज है जिसे हम स्नायवीय आवरण कहते हैं जो शरीरको घेरे हुए है। तुम संभवतः एक ही दृष्टिमें सूक्ष्म और स्नायवीय आवरणको देख रहे हो। सूक्ष्म देहके भीतर स्थूल देह है, केवल यह (सूक्ष्म देह) उसकी सीमाओंसे आबद्ध नहीं है।



तुम विभिन्न कोषोंको या तो संवोधिके या अनुभवके द्वारा अलग-अलग पहचान सकते हो और फिर विभिन्न कोषोंका प्रत्यक्ष ज्ञान तुम आयत्त कर लेते हो।



सत्ताका रूप अन्य लोकोंमें आवश्यक रूपसे वही नहीं होता जो भौतिक शरीरका होता है। बहुत बार प्राण या चैत्य पुरुष या मनोमय पुरुषद्वारा गृहीत रूप भौतिक आकारसे बहुत भिन्न होता है। जब वे मोटे रूपमें मिलते-जुलते भी हैं तो भी सर्वदा उनमें कुछ अंतर होता है।

XII

हमारे योगमें अवचेतनासे हमारा मतलब है हमारी सत्ताका वह भाग जो एकदम डूबा हुआ है, जिसमें कोई जाग्रत् रूपमें सचेतन और संबद्ध विचार, संकल्प या अनुभव या सुव्यवस्थित प्रतिक्रिया नहीं है, पर जो अभी भी सभी वस्तुओंके संस्कारोंको अंधभावसे ग्रहण करता और उन्हें अपने अंदर संचित रखता है. और सब प्रकारकी उत्तेजनाएं, लगातार होनेवाली, भद्दे रूपमें पुनरावर्तित या विलक्षण आकारोंका छद्मवेश धारण करनेवाली अभ्यासगत क्रियाएं भी उससे स्वप्नमें या जाग्रत् प्रकृतिमें उच्छलित हो सकती हैं। क्योंकि, यदि ये संस्कार

अधिकतर स्वप्नमें एक असंबद्ध और अव्यवस्थित ढंगसे ऊपर उठ सकते हैं तो ये हमारी जाग्रत् चेतनामें भी पुराने विचारोंके, पुराने मानसिक, प्राणिक और भौतिक अभ्यासोंके अथवा उन संवेदनों, क्रियाओं, भावावेगोंकी अंध प्ररोचनाके यांत्रिक पुनरावर्तनके रूपमें भी उठ सकते हैं और अवश्य उठते भी हैं जो हमारे सचेतन विचार अथवा संकल्पमें या उनसे प्रादुर्भूत नहीं होते और जो बहुधा विचार या संकल्पके बोधों, अभिरुचि या आदेशोंके विपरीत भी होते हैं। अवचेतनाके अंदर एक तमसाच्छन्न मन है जो हठीले संस्कारों, छापों, संपर्कों, सुनिश्चित धारणाओं, हमारे भूतकालद्वारा निर्मित अभ्यासगत प्रतिक्रियाओंसे पूर्ण है, एक अंधकारमय प्राण है जो अभ्यासगत वासनाओं, संवेदनों और स्नायविक प्रतिक्रियाओंके बीजोंसे भरपूर है, एक अत्यंत धूमिल स्थूल सत्ता है जो शरीरकी अवस्थासे संबंधित अधिकांश चीजोंपर शासन करती है। यही विशेष रूपमें हमारी बीमारियोंके लिये जिम्मेदार है; दीर्घस्थायी या बार-बार होनेवाले रोग वास्तवमें मुख्यतया अवचेतना और उसकी हठीली स्मृति तथा शरीर-चेतनापर जिस किसी चीजकी छाप पड़ गयी है उसे दुहराते रहनेकी आदतके कारण होते हैं। परंतु इस अवचेतनाका अपनी सत्ताके प्रच्छन्न भागोंसे, जैसे, आंतर या सूक्ष्म भौतिक चेतना, आंतर प्राण या आंतर मनसे भेद सुस्पष्ट रूपमें कर लेना चाहिये; क्योंकि ये सब बिलकुल ही तमसाच्छन्न या असंबद्ध या कुव्यवस्थित नहीं हैं; बल्कि केवल हमारी ऊपरी चेतनासे आच्छादित हैं। हमारी सत्ताकी ऊपरी सतह इन स्रोतोंसे कुछ चीजें, आंतरिक स्पर्श, संदेश या प्रभाव, निरंतर ग्रहण करती रहती है पर अधिकांशतः यह नहीं जानती कि वे कहांसे आती है।



नहीं, प्रच्छन्न एक साधारण शब्द है जो सत्ताके उन सभी भागोंके लिये व्यवहृत होता है जो जाग्रत् तलपर नहीं हैं। अवचेतन शब्द बहुत बार उसी अर्थमें यूरोपियन मनोवैज्ञानिकोंद्वारा व्यवहृत होता है, क्योंकि वे दोनोंका भेद नहीं जानते। परंतु मैं जब इस शब्दका व्यवहार करता हूं तो मेरा मतलब सर्वदा उस चीजसे होता है जो साधारण भौतिक चेतनासे 'नीचे' है, उससे नहीं जो उसके पीछे है। आंतर

मन, प्राण, शरीर, चैत्य इस अर्थमें अवचेतन है, पर उन्हें प्रच्छन्न कहा जा सकता है।



अवचेतन जागृत भौतिक चेतनाके नीचे है—यह एक स्वतःचालित, तमसाच्छन्न, असंबद्ध, अर्ध-अचेतन राज्य है जिसमें ज्योति और ज्ञान कठिनाईसे आ पाते है। आंतर प्राण और शरीर बिलकुल भिन्न वस्तुएं है—उनमें ऊपरी प्राण और शरीरकी अपेक्षा कहीं अधिक एक विशाल, नमनीय, सूक्ष्म, मुक्त और समृद्ध चेतना है, वह दिव्यके प्रति बहुत अधिक उद्घाटित और वैश्वके प्रत्यक्ष संपर्कमें है।



अवचेतना विश्वगत और व्यक्तिगत दोनों है जैसे कि प्रकृतिके दूसरे सभी प्रधान अंग है। परंतु अवचेतनाके विभिन्न भाग या स्तर है। पृथ्वीपर जो कुछ है वह सब निश्चेतनापर आधारित है, जैसा कि इसे नाम दिया गया है, यद्यपि यह वास्तवमें निश्चेतन बिलकुल नही है, बल्कि यों कहें कि यह एक प्रकारसे पूर्ण 'अव'-चेतना है, एक अवरुद्ध या अंतर्हित चेतना है जिसमें प्रत्येक चीज है पर कुछ भी निर्मित या अभिव्यक्त नहीं है। अवचेतनाका स्थान इस निश्चेतना और सचेतन मन, प्राण और शरीरके बीचमें है। इसमें जीवनके प्रति होनेवाली उन सभी आदिम प्रतिक्रियाओंकी संभावना निहित है जो जड़तत्त्वके निष्प्राण और जड़ किनारोंसे बाहर निकलनेके लिये संघर्ष करती है तथा सतत विकासके द्वारा धीरे-धीरे विकसित होनेवाली और अपना स्वयं निर्माण करनेवाली चेतनाका रूप लेती है; यह उन्हें विचारों, बोधों अथवा सज्ञान प्रतिक्रियाओंके रूपमें नही धारण करती बल्कि इन चीजोंके तरल पदार्थके रूपमें धारण करती है। परंतु जो कुछ सचेतन रूपसे अनुभव किया जाता है वह सब भी अवचेतनामें जाकर डूब जाता है, निमग्न पर यथायथ स्मृतियोंके रूपमें नहीं वरन् अनुभवके धूमिल फिर भी हठीले संस्कारोंके रूपमें डूब जाता है, और ये चीजें किसी भी समय स्वप्नके रूपमें, पुराने विचार, अनुभव, क्रिया आदिके यांत्रिक पुनरावर्तनके रूप, क्रिया और घटनाके रूपमें फूट निकलनेवाली 'ग्रंथियों' (Complexes) आदिके रूपमें ऊपर आ सकती है। अवचेतना ही वह मुख्य कारण

है जिससे सभी चीजें पुनरावर्त्तित होती हैं और बाहरी रूपके सिवा कोई चीज कभी परिवर्तित नहीं होती। यही कारण है कि लोग कहते हैं कि चरित्र बदला नहीं जा सकता, इस बातका भी कारण है कि जिस चीजके विषयमें लोग आशा करते हैं कि बराबरके लिये चली गयी है वह लगातार वापस आती रहती है। सभी बीज वहां हैं और मन, प्राण और शरीरके सभी संस्कार वहां मौजूद है,—यही मृत्यु और रोगका प्रधान आश्रयस्थल है और अज्ञानका अंतिम किला (ऊपरसे देखनेमें अभेद्य) है। जिन चीजोंको पूर्णतः समाप्त किये विना दबा दिया जाता है वे सब भी वहां डूब जाती हैं, ऐसे बीजके रूपमें बनी रहती हैं जो किसी भी मुहूर्त्त ऊपर उमड़ आने या अंकुरित होनेके लिये तैयार रहता है।



प्रकृतिका संपूर्ण आधार अवचेतना नहीं है; यह अज्ञानका केवल निम्नतर आधार है और अधिकांशतः निम्नतर प्राण और भौतिक बाह्य-चेतनाको प्रभावित करती है और फिर ये प्रकृतिके उच्चतर भागोंको प्रभावित करते हैं। जहां यह देखना अच्छा है कि यह क्या चीज है और कैसे यह कार्य करती है, वहां इस अंधकारपूर्ण पक्षके साथ या यांत्रिक सत्ताके इस आपातदृष्ट रूपके साथ अत्यधिक व्यस्त नहीं हो जाना चाहिये। बल्कि इसे इस प्रकार देखना चाहिये कि यह हमारे स्वरूपका कोई अंग नहीं है, झूठी प्रकृतिका एक छद्मरूप है जो अज्ञान-द्वारा सच्ची सत्तापर लाद दिया गया है। सच्ची सत्ता आंतर सत्ता है जिसमें भगवान्‌को पाने तथा अभिव्यक्त करनेकी विशाल संभावनाएं विद्यमान हैं; सच्ची सत्ता विशेषकर वह अंतरतम सत्ता, अंतरात्मा, चैत्य पुरुष है जो अपने सत्स्वरूपमें सर्वदा शुद्ध, दिव्य, उन सब वस्तुओंकी ओर उन्मुख है जो सत्य और शिव और सुन्दर हैं। बाहरी सत्ता आंतर सत्ताके द्वारा अधिकृत हो जानी चाहिये और अब उसे अज्ञानपूर्ण अवचेतनाकी तरंगोंका यंत्र न रह, भगवान्‌के यंत्रके रूपमें बदल जाना चाहिये। सच पूछा जाय तो इस बातको सदा याद रखने और प्रकृतिको ऊपरकी ओर उद्घाटित करनेपर ही भागवत चेतनाको प्राप्त किया जा सकता है और वह ऊपरसे समस्त आंतर और बाह्य सत्तामें, मानसिक, प्राणिक, भौतिक, अवचेतन, प्रच्छन्न चेतनामें, हम जो कुछ प्रकट या

गुप्त रूपमें हैं, उस सबमें अवतरित हो सकती है। यही मुख्य कार्य होना चाहिये। एकमात्र अवचेतनाके तथा अपूर्णताके इस स्वरूपपर ही ध्यान केंद्रित करनेसे अवसाद उत्पन्न होता है और इससे बचना चाहिये। मनुष्यको समुचित समतोलता बनाये रखनी चाहिये और सबसे अधिक भावात्मक पक्षपर जोर देना चाहिये, दूसरेको जानना-पहचानना चाहिये पर केवल उसे त्याग देने और बदल देनेके लिये। यह तथा श्रीमाताजीपर सतत श्रद्धा और निर्भरता ही ऐसी चीजें हैं जो भावी रूपांतरके लिये आवश्यक हैं।

पुनश्च: ऐसी चीजोंके लिये—प्राणिक अभ्यासोंके लिये—इस प्रकार एकाएक तथा निश्चित रूपसे भंग कर डालना ही वास्तवमें सबसे आसान और सबसे अच्छा तरीका है।



अवचेतना एक छिपी हुई और अनभिव्यक्त अस्पष्ट चेतना है जो हमारी सभी सचेतन भौतिक क्रियाओंके नीचे कार्य करती है। जिस तरह हम जिसे अतिचेतना कहते हैं, वह वास्तवमें ऊपरकी एक उच्चतर चेतना है जिसमेंसे चीजें हमारी सत्तामें अवतरित होती हैं, ठीक उसी तरह अवचेतना शरीर-चेतनासे नीचे है और वहांसे चीजें भौतिक, प्राणिक और मानसिक प्रकृतिमें ऊपर उठ आती हैं।

ठीक जिस तरह उच्चतर चेतना हमारे लिये अतिचेतन है और हमारी सभी आध्यात्मिक संभावनाओं तथा प्रकृतिको सहारा देती है, उसी तरह अवचेतना हमारी भौतिक सत्ताका आधार है और जो कुछ भौतिक प्रकृतिमें ऊपर उठ आता है उस सबका पोषण करती है।

मनुष्य सामान्यतया अपनी सत्ताके इन लोकोंके विषयमें सचेतन नहीं होते, पर साधनाके द्वारा वे इनके विषयमें अवगत हो सकते हैं।

अवचेतना जीवनके हमारे भूतकालीन सभी अनुभवोंके संस्कार अपने अंदर बनाये रखती है और वे वहांसे स्वप्न-रूपमें ऊपर आते हैं: साधारण निद्रामें पैदा होनेवाले अधिकांश स्वप्न अवचेतन संस्कारोंद्वारा निर्मित होते हैं।

हमारी भौतिक चेतनाके अंदर जो एक-सी ही चीजोंके बार-बार घटित होनेकी प्रबल आदत है जिसके कारण कि उसके अभ्यासोंसे छुट्टी

पाना कठिन होता है, उसका कारण अधिकांशमें इस अवचेतनाका सहारा होता है। अवचेतना अयुक्तिसंगत अभ्यासोंसे भरी हुई है।

जब प्रकृतिके अन्य सभी भागोंसे वस्तुएं त्याग दी जाती हैं तो वे या तो हमारे चारों ओरकी पारिपार्श्विक चेतनामें चली जाती हैं जिसके द्वारा हम दूसरोंके साथ और वैश्व प्रकृतिके साथ आदान-प्रदान करते हैं और वहांसे वापस आनेका प्रयास करती हैं, अथवा वे अवचेतनामें निमग्न हो जाती हैं और वहांसे दीर्घकालतक इस प्रकार चुप बैठनेके बाद भी जब हम यह समझने लगें कि वे चली गयी हैं, ऊपर आ सकती हैं।

जब भौतिक चेतना रूपांतरित होने लगती है तब प्रधान बाधा अवचेतनासे आती है। यह निरंतर ही तामसिकता, दुर्बलता, अंधता, बुद्धिहीनताको बनाये रखती और वापस लाती रहती है जो भौतिक मन और प्राणको पीड़ित करती रहती हैं अथवा अस्पष्ट भयों, कामनाओं, क्रोधों, भौतिक प्राणकी लालसाओं, अथवा बीमारियों, मूढ़ताओं, दुःख-दर्दों, असमर्थताओंको बनाये रखती और वापस लाती रहती है जिनकी ओर शरीर-प्रकृति उन्मुख होती है।

यदि ज्योति, शक्ति और श्रीमांकी चेतनाको शरीरमें उतारा जाय तो वे अवचेतनामें भी प्रवेश कर सकती हैं और उसकी अंधता और बाधाको परिवर्त्तित कर सकती हैं।

जब कोई चीज अवचेतनासे इतनी पूर्णताके साथ मिटा दी जाती है कि उसका कोई बीज बाकी नहीं रह जाता और पारिपार्श्विक चेतनासे इतनी पूर्णताके साथ बाहर फेंक दी जाती है कि वह फिर वापस न आ सके तो केवल तभी हम निस्संदिग्ध होकर कह सकते हैं कि हमने सदाके लिये उसे समाप्त कर दिया है।



मूलाधार यथार्थ भौतिक चेतनाका केंद्र है, और उससे नीचे शरीरमें जो कुछ है वह सब नितांत भौतिक है, जो जैसे-जैसे नीचेकी ओर जाता है अधिकाधिक अवचेतन बनता जाता है, पर अवचेतनाका सच्चा स्थान शरीरके नीचे है, जैसे कि उच्चतर चेतना (अतिचेतना) का यथार्थ स्थान शरीरसे ऊपर है। इसके साथ-ही-साथ, अवचेतनाका अनुभव कहीं भी हो सकता है, ऐसा अनुभव हो सकता है कि वह चेतनाकी

गतिविधिके नीचेकी कोई वस्तु है और, एक ढंगसे, नीचेसे चेतनाको सहारा दे रही है अथवा चेतनाको नीचे अपनी ओर खींच रही है। अवचेतना समस्त अभ्यासगत क्रियाओं, विशेषकर भौतिक और निम्न प्राणिक क्रियाओंका मुख्य आधार है। जब कोई चीज प्राण या शरीरसे बाहर फेंक दी जाती है तो प्रायः ही वह अवचेतनामें नीचे चली जाती है और वहां मानों बीज-रूपमें पड़ी रहती है और जब संभव होता है तब फिर ऊपर आ जाती है। यही कारण है कि अभ्यासगत प्राणिक क्रियाओंसे छुटकारा पाना या स्वभावको बदलना इतना कठिन होता है। कारण, इस स्रोतसे पोषित या संजीवित होने, इस गर्भाशयमें जीवित बने रहनेके कारण, तुम्हारी प्राणिक क्रियाएं, संयमित और दमित होनेपर भी, फिरसे ऊपर उठ आतीं और पुनरावर्त्तित होती हैं। अवचेतनाका कार्य अयुक्तिसंगत, यांत्रिक और पुनरावर्त्ती होता है। यह बुद्धि-तर्क, या मानसिक संकल्पकी बात नहीं सुनता। वास्तवमें जब इसके अंदर उच्चतर ज्योति और शक्तिको उतारा जायगा केवल तभी यह परिवर्त्तित हो सकेगा।



अवचेतना अभ्यासगत कार्यका आधार होती है—यह अच्छी आदतों और बुरी आदतों दोनोंका पोषण करती है।



अवचेतना हमारे अंदर क्रमविकासका आधार है, हमारी पूरी प्रच्छन्न प्रकृति यह नहीं है, न हम जो कुछ हैं उसका यह संपूर्ण स्रोत ही है। परंतु चीजें अवचेतनासे उठ सकती और सचेतन भागोंमें आकार ग्रहण कर सकती हैं। हमारी तुच्छतर प्राणिक और शारीरिक सहजवृत्तियों, क्रियाओं, अभ्यासों, चारित्रिक विशेषताओं आदिका मूलस्रोत यही है।

हमारे कर्मके तीन गुह्य स्रोत हैं—अतिचेतन, प्रच्छन्नचेतन और अवचेतन, पर इनमेंसे किसीपर न तो हमारा अधिकार है और न किसीकी हमें जानकारी ही है। हमें जिस चीजकी जानकारी है वह है उपरितलीय सत्ता जो केवल एक यंत्र-रूप व्यवस्था है। सबका मूल-स्रोत सामान्य प्रकृति,—वैश्व प्रकृति है जो अपनेको प्रत्येक व्यक्तिमें व्यष्टिभावापन्न करती है; क्योंकि यह सामान्य प्रकृति हमारे अंदर

गतिविधिकी कुछ आदतों, व्यक्तित्व, चरित्र, गुणों, वृत्तियों और प्रवृत्तियोंको रख देती है और उसे ही, चाहे वह अभी रूप ले या हमारे जन्मसे पहले ले, हम साधारणतया 'हम' कहते हैं। इसका बहुत सारा भाग ऊपरी तलके हमारे ज्ञात सचेतन भागोंकी अभ्यासगत क्रियामें और व्यवहारमें विद्यमान रहता है, बहुतसा और भाग दूसरे अज्ञात तीन स्तरोंमें प्रच्छन्न रहता है जो स्तर ऊपरी तलके नीचे या पीछे है।

परंतु हम ऊपरी तलपर जो कुछ है वह निरंतर गतिशील, परिवर्तित, विकसित हो रहा है अथवा सामान्य प्रकृतिकी जो लहरें हमारे ऊपर प्रत्यक्ष रूपमें अथवा दूसरोंके द्वारा, परिस्थितियोंके द्वारा, विभिन्न माध्यमों या प्रणालियोंके द्वारा अप्रत्यक्ष रूपमें आती है उनके द्वारा पुनरावर्त्तित हो रहा है। इसमेंसे कुछ तो सीधे सचेतन भागोमें प्रवाहित हो जाता है और वहां कार्य करता है, परंतु हमारा मन इसके मूलस्रोतकी उपेक्षा करता है, इसे अधिगत कर लेता है और सबको अपना मानने लगता है; एक भाग. गुप्त रूपसे अवचेतनामें आ जाता है या उसमें डूब जाता है और सचेतन उपरितलपर भी उठ आनेके सुअवसरकी प्रतीक्षा करता है; एक खासा बड़ा भाग प्रच्छन्न चेतनामें चला जाता है और किसी भी समय बाहर आ सकता है—अथवा नही आ सकता, बल्कि वहां अव्यवहृत सामग्रीकी तरह पड़ा रह सकता है। कुछ अंश पार करके चला जाता है और त्याग दिया जाता है, वैश्व समुद्रके अंदर पीछे या बाहर फेंक दिया जाता अथवा बिखर जाता है। हमारा स्वभाव शक्तियोंकी सतत क्रिया है जो शक्तियां कि हमे दी गयी हैं और उनमेंसे (बल्कि उनके एक तुच्छ अंशसे ही) हम जो कुछ चाहते या कर सकते है उसका निर्माण करते हैं। हम जो कुछ निर्माण करते हैं वह सदाके लिये सुदृढ़ और आकारबद्ध प्रतीत होता है, परंतु वास्तवमें वह सब शक्तियोंका एक खेल, एक प्रवाह होता है, कुछ भी सुदृढ़ या स्थायी नही होता। स्थिरताकी प्रतीति एक ही प्रकंपनों और रचनाओंके निरंतर उत्पन्न और घटित होते रहनेसे उत्पन्न होती है। यही कारण है कि हमारा स्वभाव विवेकानंदके कथन और होरेसके सूत्रके बावजूद तथा अवचेतनाके कट्टर विरोधके होते हुए भी परिवर्तित हो सकता है। परंतु यह एक कठिन कार्य है, क्योंकि यह हठीला पुनरावर्त्तन और पुनराविर्भाव ही प्रकृतिकी प्रमुख पद्धति है।

अब हमारी प्रकृतिकी उन चीजोंका जहांतक प्रश्न है जिन्हें हम

परित्याग द्वारा अपने अंदरसे फेंक देते हैं पर वे वापस आ जाती है, वह इस बातपर निर्भर है कि तुम उन्हें कहां फेंकते हो। बहुत बार इसकी एक प्रकारकी प्रक्रिया होती है। मन अपनी मनोवृत्तियोंको, प्राण अपनी प्राणवृत्तियोंको और शरीर अपनी शारीर वृत्तियोंको त्यागता है—ये साधारणतया सामान्य प्रकृतिके उन्हींसे मिलते-जुलते क्षेत्रोंमें चली जाती है। ये सब पहले, जब यह घटित होता है, पारिपार्श्विक चेतनामें बनी रहती है जिसे हम अपने साथ वहन करते हैं, जिसके द्वारा हम बाहरी प्रकृतिके साथ संबंध स्थापित करते हैं और बहुधा वे वहांसे लगातार वापस आती रहती हैं—जबतक कि उन्हें इतनी पूर्णताके साथ परित्याग नहीं कर दिया जाता अथवा मानो बहुत दूर नहीं फेंक दिया जाता कि वे अब हमारे ऊपर वापस नहीं आ पातीं। परंतु, जब चिंतनशील और संकल्पकारी मन जो कुछ त्याग देता है वह प्राणद्वारा प्रबलतया समर्थित होता है तो वह मनको तो अवश्य छोड़ देता है पर प्राणमें जाकर डूब जाता है, वहां बौखलाता रहता है और फिर ऊपर दौड़ आने, मनपर पुनः अधिकार जमाने तथा विवश करके मनकी स्वीकृति पाने या हथिया लेनेका प्रयास करता है। जब उच्चतर प्राण भी—हृदय अथवा बृहत्तर प्राण-शक्ति—इसका त्याग करता है तो यह वहांसे निम्नतर प्राणमें जाकर डूब जाता और आश्रय ग्रहण करता है—यह निम्न प्राण तुच्छ वर्तमान क्रियाओंके एक बहुत बड़े समूहसे भरा होता है और हमारी दैनंदिन तुच्छता-क्षुद्रताका निर्माण करता है। जब निम्नतर प्राण भी इसे त्याग देता है तो यह भौतिक चेतनामें डूब जाता है और तमस् या यांत्रिक पुनरावर्तनके द्वारा चिपके रहनेका प्रयत्न करता है। फिर वहांसे भी त्यक्त हो जानेपर यह अवचेतनामें चला जाता है और स्वप्नोंमें, निष्क्रियतामें, चरम तमस्‌में ऊपर आता है। निश्चेतना अज्ञानका अंतिम आश्रय-स्थल है।

अब सामान्य प्रकृतिसे बार-बार आनेवाली तरंगोंकी बातपर आवें; वहां निम्नतर शक्तियोंकी स्वाभाविक प्रवृत्ति यह है कि वे *व्यक्तिके* अंदर अपना कार्य करनेका प्रयत्न करतीं और उसमें प्रवेश करती है, जो कुछ उसने अपने अंदर उनकी दी हुई सामग्रीको नष्ट कर दिया है उसे पुनः निर्मित करती हैं; अतएव जब वे अपने प्रभावको परित्यक्त होते हुए देखती हैं तो वे उसपर वापस आती हैं, बहुधा एक वर्द्धित शक्तिके साथ आती हैं, यहांतक कि भीषण वेगके साथ आती हैं।

परंतु एक वार जब पारिपार्श्विक चेतना खाली हो जाती है तो वे दीर्घ-कालतक नहीं ठहर पातीं—जवतक कि "विरोधीगण" अधिकार नहीं जमा लेते। फिर उसके वाद भी निस्संदेह ये आक्रमण कर सकती हैं, पर साधकने यदि अपना स्थान आंतर आत्मामें स्थापित कर लिया है तो वे केवल आक्रमण कर सकतीं और वापस लौट सकती हैं।

यह सच है कि हम अपनी सत्ताके अधिकांश भागको,—अथवा यों कहें कि अपनी अधिकांश क्षमताओंको, विश्व-प्रकृतिके प्रति प्रतिक्रिया करनेकी अधिकांश प्रवृत्तियोंको पूर्वजीवनोंसे ले आते हैं। वंश-परंपरा केवल वाह्य सत्ताको ही प्रवल रूपसे प्रभावित करती है; इसके अलावा, वंशपरंपराके सभी प्रभाव वहां भी स्वीकृत नहीं होते, केवल वे ही स्वीकृत होते हैं जो हमें जो कुछ होना है उसके साथ सामंजस्य रखते हैं अथवा कम-से-कम उसमें बाधक नहीं होते।



उन्होंने जो कुछ अवचेतना तथा वाह्य प्रकृतिके विषयमें लिखा है वह सही है। परंतु प्रच्छन्न शक्तियोंके कार्यको तुच्छ नहीं कहा जा सकता, क्योंकि वहींसे आती हैं समस्त महत्तर अभीप्साएं, आदर्श, अपने-आपको तथा मनुष्यजातिको और भी उच्च वनानेके प्रयास आदि जिनके विना मनुष्य केवल एक चिंतक पशु ही बना रह जायेगा—जैसे कि कला, काव्य, दर्शनका भी अधिकांश भाग और ज्ञानकी पिपासा वहींसे आती हैं, जो यदि अज्ञानको अभी दूर नहीं करतीं तो उसे थोड़ा कम तो करती ही हैं।

अतिचेतनाका कार्य रहा है मानसिक अर्ध-पशुमेंसे धीरे-धीरे आध्यात्मिक मनुष्यको विकसित करना। उसे भी कोई महत्त्वहीन कार्य नहीं कहा जा सकता।



अवचेतनाके विषयमें—यह सत्ताका अव-मानस आधार है और वहां संचित संस्कारों, सहजवृत्तियों तथा अभ्यासगत क्रियावलियोंसे वनी हुई है। जिस किसी क्रियाका संस्कार इसपर पड़ता है उसे यह बनाये रखती है। यदि कोई इसमें समुचित क्रियाका संस्कार डाले तो वह उसे सुरक्षित रखेगी और उसे ऊपर भेजेगी। यही कारण है कि

प्रकृतिमें कोई भी स्थायी और सर्वांगपूर्ण परिवर्तन लानेसे पहले इसे पुरानी क्रियाओंसे परिष्कृत करना होता है। जब एक बार जाग्रत् अंगोंमें उच्चतर चेतना स्थापित हो जाती है तो वह अवचेतनामें नीचे चली जाती है और उसे भी परिवर्त्तित करती है, वहां भी स्वयं अपनेको आधारशिला बना देती है। फिर अवचेतनासे कोई भी संकट आनेकी अब संभावना नहीं रहती। परंतु उससे पहले भी मनुष्य अवचेतन भागोंमें समुचित संकल्प तथा प्रतिक्रिया करनेकी यथार्थ आदत डालकर संकटको कम कर सकता है।



अवचेतना अभ्यासों और स्मृतियोंसे बनी एक चीज है और निरंतर अथवा जब कभी संभव होता है, प्राचीन दमित प्रतिक्रियाओं, प्रत्यावर्तनों, मानसिक, प्राणिक या भौतिक प्रत्युत्तरोंको दुहराती रहती है। इसे सत्ताके उच्चतर भागोंके और भी अधिक सुदृढ़ आग्रहके द्वारा इस प्रकार प्रशिक्षित करना होगा जिसमें वह अपने प्राचीन प्रत्युत्तरोंका त्याग कर दे और नवीन तथा यथार्थ प्रत्युत्तरोंको ग्रहण कर ले।



जिस तरह मनुष्य अपने विचारको किसी एक विषयपर या दृष्टिको एक बिंदुपर एकाग्र कर सकता है, ठीक उसी तरह वह शरीरके किसी एक विशेष भाग या बिंदुपर अपने संकल्पको एकाग्र कर सकता है और वहां चेतनाको एक आदेश दे सकता है। वह आदेश अवचेतनातक पहुंच जाता है।



पशु-मनकी तरह मानव-मन अवचेतनासे उठनेवाले संस्कारोंमें बहुत अधिक निवास करता है।



तुम यह नहीं समझते कि साधारण प्राकृत मनुष्य कितना अधिक अवचेतन शरीरमें निवास करता है। वास्तवमें वहींपर अभ्यासगत क्रियाएं, मानसिक और प्राणिक दोनों, संग्रहीत होती है और वहांसे

वे जाग्रत् मनमें ऊपर आती हैं। उच्चतर चेतनासे भगा दी जानेपर वे इसी पणियोंकी गुहामें आश्रय ग्रहण करती हैं। जब उन्हें जाग्रत् स्थितिमें अब मुक्त रूपसे ऊपर नहीं निकलने दिया जाता तो वे निद्रामें स्वप्नके रूपमें ऊपर आती हैं। जब उन्हें अवचेतनासे बाहर निकाल दिया जाता है और इन प्रच्छन्न तहोंको आलोकित करके इनके बीज-तकको मार डाला जाता है केवल तभी वे सदाके लिये बंद होती हैं। जब तुम्हारी चेतना अंतर्मुखी होकर गहराईमें पैठ जायेगी और उच्चतर ज्योति उन निम्नतर आवृत भागोंमें उतर आयेगी, तब ये चीजें जो अभी इस तरह बार-बार घटित होती हैं, विलीन हो जायंगी।



तुमने उस दिन अवचेतनाके विषयमें पूछा था कि वह क्या चीज है। तुमने लिखा था कि अंतर्दर्शनमें तुम्हें पातालके रूपमें वैश्व अव-चेतनाको दिखाया गया था—एक ऐसे स्थानको दिखाया गया था जिसमें चेतनाकी ज्योति नहीं थी और, वैश्व होनेके कारण उसकी कोई सीमा या अंत नहीं था—यह वह अंध अचेतन अनंत था जिसमेंसे यह जड़ जगत् उद्‌भूत हुआ है—यह चारों ओर अंधकारसे घिरा हुआ है, यह बिना तलका भी प्रतीत होता है। ज्योति ऊपरसे उच्चतर चेतनासे आती है और मन और हृदय और प्राण और शरीरमेंसे नीचे उतरते हुए उसे इस अवचेतनामें प्रवाहित होना और उसे ज्योतिर्मय बना देना होता है।



पाताल स्पष्ट ही यहां अवचेतनाका एक नाम है—वहांकी सत्ता-ओंको "सिर" नहीं होता; कहनेका मतलब, वहां कोई मानसिक चेतना नहीं है; सभी मनुष्योंकी सत्तामें इस प्रकारका एक अवचेतन स्तर है और वहींसे सब प्रकारकी युक्तिविरोधी और अज्ञानपूर्ण (मस्तकहीन) अंध प्रेरणाएं, प्रवृत्तियां, स्मृतियां आदि उठती हैं जो उनके कार्यों और भावनाओं-पर प्रभाव डालती हैं, पर उनके सच्चे मूलस्रोतका पता नहीं रहता। रातको बहुतेरे असंबद्ध स्वप्न इस जगत् या लोकसे आते हैं। ऊपरका जगत् सत्ताका अतिचेतन लोक है—मानव-चेतनासे ऊपर है—उस तरहके बहुतसे लोक हैं; ये सब दिव्य लोक हैं।



अवचेतनाके अंधकारपूर्ण कुएं गहरे हैं और जबतक वे एकदम साफ नहीं हो जाते तबतक पुराने स्रोतोंका कुछ-कुछ उमड़ते रहना सर्वदा संभव होता है।



अवचेतनामें उनसे भी बहुत अधिक भय होते हैं जिन्हें जाग्रत् चेतना अंदर आने देती या स्वीकार करती है।



हमारी चेतना दिन-प्रति-दिनके अनुभवमें जिन सब चीजोंको ग्रहण करती है वे सब अवचेतन स्मृतिमें लिपिबद्ध हो जाती हैं और वहांसे मनतक ले आयी जा सकती हैं अथवा स्वयं आती हैं। परंतु हम जिसे स्मृति कहते हैं वह वह स्थिति है जब पंजीबद्ध चीज सचेतन मनमें पीछेकी ओर रख दी जाती है और जब चाहें तब सामने ले आयी जाती है—यही है सचेतन स्मृति।



शब्दों, आकारों और विचारोंकी सुस्पष्ट स्मृतिका होना सचेतन मनकी एक क्रिया है, अचेतन मनका नहीं। निस्संदेह, स्मृति मानो पीछे मनके पिछले भागमें चली जाती है, पर उसे बाहर ले आया जा सकता है। फिर स्मृति खो भी जा सकती या मिट जा सकती है जिससे मनुष्य गलत रूपमें स्मरण करता है या एकदम भूल जाता है, पर वह फिर भी सचेतन मनका अपूर्ण कार्य है, अवचेतन मनका कार्य नहीं है। अवचेतना जो कुछ बनाये रखती है वह संस्कारोंका एक स्तूप होता है, सुस्पष्ट या सही-सही आकारोंका स्तूप नहीं होता और ये स्वप्नमें एक असंबद्ध मिश्रणके रूपमें पूर्णतः विकृत होकर ऊपर आ सकते हैं अथवा जाग्रत् अवस्थामें एक ही सूचनाएँ, आवेगों (अवचेतन प्राणके) या संवेदनोंके एक यंत्रवत् पुनराविर्भाव या पुनरावर्तनके रूपमें ऊपर आ सकते हैं। इन दोनों क्रियाओंमें एक सुस्पष्ट भेद है।

⊙

ठीक-ठीक चित्रोंको प्रच्छन्न चेतनाकी स्मृति बनाये रखती है। जो कुछ प्रच्छन्न है उसका वर्णन साधारण मनोविज्ञान अवचेतन कहकर करता है; परंतु हमारे मनोविज्ञानमें ऐसा नहीं किया जा सकता, क्योंकि जो चेतना उन्हें धारण किये है वह हमारी जाग्रत् या उपरितलीय चेतनाके समान ही सुस्पष्ट और उससे भी कहीं अधिक विशाल और पूर्ण है, इसलिये उसे अवचेतन कैसे कहा जा सकता है? सचेतन स्मृति उसे कहते हैं जो, किसी भी क्षण जब हम चाहें, किसी वस्तुकी स्मृति ऊपर ला सके, वह हमारे वशमें हो। प्रच्छन्न स्मृति सभी वस्तुओंको धारण कर सकती है, उन चीजोंको भी जिन्हें मन समझ नहीं सकता, उदाहरणार्थ, यदि तुम किसीको हिब्रूमें बात करते हुए सुनो तो प्रच्छन्न स्मृति उसे धारण कर सकती है और उसे किसी असाभान्य स्थितिमें जैसे, सम्मोहित व्यक्तिमें, ठीक-ठीक ऊपर ले आ सकती है। अवचेतन स्मृति संस्कारोंकी स्मृति होती है; जब वे स्वप्नमें ऊपर आते हैं तो या तो परिणाम कोई असंबद्ध वस्तु होता है या मनमाने ढंगसे पुनर्व्यवस्थित होता है अथवा वस्तुका केवल सारतत्त्व होता है, उसका मनोवैज्ञानिक जमाव होता है जो ऊपर आता है, जैसे, काम, भय, कोई विशेष विषया-सक्ति, जिसे कि मनोविश्लेषक 'लिबिडो' नामसे पुकारते हैं, परंतु इस अंतिम वस्तुकी जो अभिव्यक्ति होती है वह ठीक वही हो जो स्मृति दे, ऐसा आवश्यक नहीं है,—यदि वह अपनी अभिव्यक्तिमें सहायता देनेके लिये शरीरमें स्थित यांत्रिक मनपर अधिकार जमा ले तो वह एक ही प्रकारके रूपोंको दुहरा सकती है, परंतु वह वास्तविक जीवनकी किसी भी चीजसे बिलकुल भिन्न भी हो सकती है।



नहीं—वह (चित्रगुप्तका अभिलेख वैश्व अवचेतनासे) बिलकुल भिन्न है, क्योंकि वह किसी ऐसी चीजसे संबंध रखता है जहां अभिलेख यथातथ और शुद्ध होते हैं। अवचेतना एक प्रकारकी दमित और अंधकाराच्छन्न बीज-स्थिति है जहां चीजें आदिम प्रकृतिकी अनिर्दिष्ट अचेतनताके भीतरसे ऊपर निकल रही हैं पर हैं अभी भी तरल और अस्फुट, उनमें निर्दिष्ट होनेकी सभी संभावनाएं विद्यमान हैं, पर वे हैं अभी अनिर्दिष्ट ही। अतीतकी वस्तुएं उसमें चली जाती हैं पर स्मृतियोंके रूपमें नहीं, बल्कि संस्कारोंके रूपमें जो कि एकदम दूसरी

वस्तु है। जब वे वहांसे ऊपर आती हैं तो वे विविधताओं और मिलावटोंके साथ सभी प्रकारके विचित्र रूपोंमें आती हैं।



अव-मानस प्राण या अन्य लोकोंके अनुभवोंके साथ विगत जीवनके या सामान्य पार्थिव जीवनके संबंधोंको निरंतर प्रदान कर रहा है। सच्ची अनुभूति प्राप्त करनेके लिये साधकको इन हस्तक्षेपोंसे मुक्त होना होता है।



मुझे नहीं मालूम कि (प्राचीन परंपरावादी ग्रंथोंमें अवचेतनाका समानार्थक शब्द) कोई है या नही,—इस स्तरको अवचेतनाकी अपेक्षा निश्चेतना अधिक कहा गया है,—यह एक प्रकारसे शायद अनिर्दिष्ट या जड़ प्रकृति है—अथवा बीज-स्थिति है। वेदमें रूपककी भाषामें इसे पणियोंकी गुफा कहा गया है। संभवतः योग-वाशिष्ठ जैसे कुछ ग्रंथोंको देखनेसे यद्यपि सुव्यक्त शब्दोंमें नहीं पर तथ्यतः अवचेतनाके विषयमें कुछ बातें मिल सकती है।

XIII

चक्र संख्यामें सात हैं—

1. मस्तकसे ऊपर सहस्रदल कमल।
2. ललाटके मध्यमें—आज्ञा-चक्र—(संकल्प, सूक्ष्म-दर्शन, क्रियाशील चिंतनका केंद्र)।
3. गलेका केंद्र—बाह्य रूप देनेवाला मन।
4. हृत्कमल—भावात्मक केंद्र। चैत्य पुरुष इसके पीछे है।
5. नाभि-केंद्र—उच्चतर प्राण (यथार्थ)।
6. नाभिसे नीचे—निम्नतर प्राण।
7. मूलाधार—भौतिक केंद्र।

ये सभी केंद्र शरीरके बीचोंबीच हैं; ऐसा माना जाता है कि ये रीढ़की हड्डीसे संबद्ध हैं; पर वास्तवमें ये सब चीजें सूक्ष्म देहमें हैं, यद्यपि चेतनाके जाग्रत् होनेपर इनकी क्रियाओंका इस तरह अनुभव होता है मानो वे शरीरमें होती हों।



हमारे योगकी प्रक्रियामें प्रत्येक केंद्रका एक सुनिश्चित मनोवैज्ञानिक उपयोग और सामान्य कार्य है जिसपर उनकी सभी विशिष्ट शक्तियां और क्रियावलियां आधारित हैं। मूलाधार नीचे अवचेतनातक भौतिक सत्तापर अधिकार रखता है; स्वाधिष्ठान निम्नतर प्राणपर शासन करता है; नाभिपद्म या मणिपुर वृहत्तर प्राणको नियंत्रित करता है; हृदयचक्र —हृदयपद्म या अनाहत भावमय सत्ताको शासित करता है; विशुद्ध चक्र व्यंजनात्मक और बाह्य आकार देनेवाले मनपर प्रभाव रखता है; भौंहोंके बीचका आज्ञाचक्र सक्रिय मन, संकल्प, सूक्ष्म-दर्शन, मानसिक रूपनिर्माण आदिकी क्रियाको संचालित करता है; सहस्रदल पद्म ऊपरके उच्चतर चिंतनशील मनपर अधिकार रखता है, उससे भी उच्चतर आलोकित मनको धारण करता है और अपने उच्चतम शिखरपर संबोधिके प्रति उद्घाटित होता है जिसके द्वारा अथवा फिर सीधे अपने प्रबल प्रवाहके द्वारा अधिमानस हमारी सत्ताके बाकी भागोंके साथ आदान-प्रदान कर सकता या तत्काल संपर्क स्थापित कर सकता है।



मैंने कभी हृदय-केंद्रमें दो कमलोंकी बात नहीं सुनी; पर यह दो शक्तियोंका पीठस्थान है, सामने उच्चतर प्राण या भावात्मक सत्ता है, पीछे और आवृत अंतरात्मा या चैत्य पुरुष है।

कमलोंके रंग और उनके दलोंकी संख्या क्रमशः नीचेसे ऊपर इस प्रकार हैं:—(1) मूलाधार या भौतिक चेतनाका केन्द्र, चार दल, लाल; (2) तलपेटका केंद्र, छः दल, गहरा लोहित वर्ण; (3) नाभिकेंद्र, दस दल, बैंगनी रंग; (4) हृत्केंद्र, बारह दल, सुनहला गुलाबी रंग; (5) गलेका केंद्र, सोलह दल, भूरा रंग; (6) भौंहोंके बीच ललाटका केंद्र, दो दल, श्वेत रंग; (७) मस्तकसे ऊपर सहस्रदल कमल, सुनहली ज्योतिसे आवृत नीला रंग। हमारे योगके अनुसार उनका कार्य इस प्रकार है— (1) भौतिक चेतना और अवचेतनापर अधिकार रखता है; (2) तुच्छ प्राणिक क्रियाओं, तुच्छ लालसाओं, कामनाओं, वासनाओं, तुच्छ इंद्रिय-वृत्तियोंपर शासन करता है; (3) वृहत्तर प्राण-शक्तियों, प्राणावेगों तथा वृहत्तर कामनामय प्रवृत्तियोंपर शासन करता है; (4) उच्चतर भावात्मक सत्तापर शासन करता है और इसीके पीछे गहराईमें चैत्य पुरुष है; (5) मानसिक क्रियाओं तथा शक्तियोंके समस्त बाह्य-

रूपों और उनकी अभिव्यक्तिपर शासन करता है; (6) चिंतन, संकल्प, सूक्ष्म-दर्शनको नियंत्रित करता है; (7) उच्चतर चिंतनशील मन तथा आलोकित मनपर नियंत्रण रखता तथा ऊपर संबोधि एवं अधिमानसकी ओर उद्घाटित होता है। सातवेंको कभी-कभी या कुछ लोगोंद्वारा मस्तिष्कके साथ एक कर दिया जाता है, पर यह एक भूल है—मस्तिष्क केवल संपर्ककी एक प्रणाली है जो सहस्रदल और आज्ञाचक्रके बीच अवस्थित है। सहस्रदलको कभी-कभी शून्य केंद्र भी कहा जाता है, चाहे इस कारण कि यह शरीरमें नहीं है बल्कि ऊपरसे देखनेमें ऊपर शून्यमें है अथवा इस कारण कि सिरसे ऊपर उठनेपर मनुष्य सबसे पहले आत्मा या आध्यात्मिक सत्ताकी निश्चल-नीरवतामें प्रवेश करता है।



जब हम योगमें हृदयमें एकाग्र होनेकी बात कहते हैं तो हम भावात्मक केंद्रकी बात कहते हैं और दूसरे सभी केंद्रोंकी तरह वह शरीरके मध्यमें मेरुदंडसे मिलती-जुलती लाइनमें है। जिन लोकोंका उल्लेख वह करता है वे चार केंद्र हैं: (1) मस्तकका शीर्षस्थान अथवा उच्चतर मानसिक केंद्र; (2) दोनों भौंहोंके बीच या संकल्प और सूक्ष्म-दर्शनका केंद्र; (3) गला या बाह्य रूप देनेवाले मनका केंद्र, और (4) हृदय अर्थात् मानसिक-प्राणिक, भावात्मक केंद्र जिसके पीछे है चैत्य पुरुष (अंतरात्मा, हृदयस्थ पुरुष)।

चित् या विज्ञानके विपरीत चित्त केवल आधारभूत मानस-प्राणिक चेतना है जिससे (साधारण) विचारों, अनुभवों, संवेदनों आदिके तत्त्व उद्भूत होते हैं। जिस शक्तिको वह अनुभव कर रहा है वह कोई बिलकुल भिन्न वस्तु है; वह बृहत्तर शक्ति है जो व्यक्तिको अतिक्रांत करती है, और जब कोई उसे उसके पूर्ण रूपमें अनुभव करता है तो वह उसके स्वभावके अनुसार उसे वैश्व शक्ति या वैश्व शक्तिके कुछ अंश या फिर ऊपरसे आनेवाली भागवत शक्तिके रूपमें अनुभव करता है।

उसका मन बृहत्तर शक्तिके कार्यके लिये अभी तैयार नहीं है, क्योंकि वह मानसिक धारणाओं और क्रियाओंसे परिपूर्ण है और यही कारण है जिससे दोनोंके बीच संघर्ष होनेसे उष्णता उत्पन्न होती है; जब दूसरी शक्ति पीछे हट जाती है और फिर मस्तिष्कपर अधिकार जमाने-

की कोशिश नहीं करती तो व्यक्तिगत मानस-कार्य मुक्त अनुभव करता है (यही शीतलताका बोध होनेका कारण है) और अपनी साधारण धारणाओंको प्रारंभ कर देता है। एकमात्र निश्चल-नीरव (स्थिर, अनिवार्य रूपसे शून्य नहीं) मनमें ही महत्तर शक्तिको ग्रहण किया जा सकता है और बिना अत्यधिक प्रतिक्रिया और प्रतिरोधके शरीरपर क्रिया की जा सकती है।



यह अच्छा है कि तुम कठिनाईको जीत सके और अच्छा ध्यान कर सके। तुम्हारा यह निरीक्षण कि कठिनाई केवल सिर और कंठमें है और मुख्यतः अंतिममें है, बहुत अर्थपूर्ण है। ये मानसिक केंद्र हैं और इसलिये यह स्पष्ट है कि कठिनाई भौतिक मनसे आती है। मनका उच्चतर भाग यथार्थ चिंतनशील मन, बुद्धिसे संबंध रखता है, उससे संबंध रखता है जो समझता, निरीक्षण करता और पथप्रदर्शन करता है; कंठ बाह्य रूप देनेवाले मनका केंद्र है, यह वह केंद्र है जो बाहरी और भौतिक वस्तुओंके साथ सरोकार रखता है और उनके प्रति प्रतिक्रिया करता है। इसकी क्रियावली सर्वदा ही साधनाकी एक प्रमुख कठिनाई होती है। यदि यह शांत स्थिर होता है तो, जैसा कि तुमने देखा है, सारी सत्ताके लिये शांत होना अधिक आसान हो जाता है।

चार अनुभवोंमेंसे अंतिम अर्थात् भीतरी सत्ताके एकके भीतर एक कई स्तरोंमें, सीढ़ीके डंडोंकी तरह, व्यवस्थित होनेका अनुभव भी बहुत सार्थक और बहुत सत्य है। इसी भांति आंतर चेतना व्यवस्थित है। इस सोपानके पांच मुख्य भाग हैं। सिरसे ऊपर शीर्षस्थानमें जो स्तर (अथवा, जैसा कि हम उन्हें नाम देते हैं, लोक) हैं, जिनके विषयमें हम सचेतन नहीं हैं और साधनाके द्वारा ही सचेतन होते हैं—वे स्तर जो मानव-मनसे ऊपर हैं—वे सब उच्चतर चेतना हैं। नीचे मस्तकके शीर्षभागसे लेकर गलेतक मनके स्तर हैं (वे बहुत हैं); उनमें तीन प्रधान हैं, एक तो सिरके ऊपर है जो उच्चतर चेतनाके साथ संपर्क स्थापित करता है, दूसरा भौंहोंके बीच है जहां विचार, दर्शनशक्ति और संकल्प है, तीसरा गलेमें है जो बाह्य रूप देनेवाला मन है। दूसरा भाग है कंधोंसे लेकर नाभिकेंद्रतक, ये उच्चतर प्राणके स्तर हैं जिनमें प्रमुख है हृदय-केंद्र जहां भावात्मक सत्ता है और उसके पीछे छिपा हुआ चैत्य

पुरुष है। नाभिकद्रसे नीचेकी ओर है प्राण-सत्ताका बाकी भाग जिसमें कई स्तर हैं। मेरुदंड के निचले छोरसे नीचेकी ओर यथार्थ भौतिक चेतनाके, जड़ चेतनाके स्तर हैं, और पैरोंसे नीचे अवचेतना है जिसके भी बहुतसे स्तर हैं।

ललाटके बीचसे फट जाने और ज्योतिके प्रवाहित होनेका अनुभव वहां दृष्टि, संकल्प और अंतर्दर्शनके खुल जानेको सूचित करता है। जब यह उद्घाटित होता है तो आंतर मानस-चैतन्यका उद्घाटन हो जाता है जिसके द्वारा उच्चतरकी ज्योति प्रवाहित हो सकती है—यहां यह श्रीमाताजीकी श्वेत ज्योति है जो खुली जगहमेंसे प्रवाहित हो रही थी।

तुमने जिन ज्योतियोंको देखा वे उच्चतर चेतनाकी, सत्य-चैतन्य या दिव्य चैतन्यकी बहुतसी ज्योतियां (ज्योतिसे भरी हुई शक्तियां, ऊर्जाएं) थीं। उनके प्रवाहित होनेसे पहले चंद्रमाका, आध्यात्मिक ज्योतिका प्रादुर्भाव हुआ और उसीने प्रवाहित होनेको संभव बनाया। जब आध्यात्मिक ज्योति विद्यमान होती है तभी श्रीमांकी उपस्थिति प्रकट होती है और उनकी क्रिया सत्यको, भगवान्‌की शक्तियोंको उतार लाती और उन्हें वह साधकोंको दे देती हैं।



जब हम मस्तक, हृदय आदिमें पुरुषकी बात कहते हैं, हम रूपकका व्यवहार कर रहे होते हैं। जिस मूलाधारसे कुंडलिनी ऊपर उठती है वह भौतिक शरीरमें नहीं है, बल्कि सूक्ष्म शरीरमें है (सूक्ष्म शरीर वह है जिसमें जीव गंभीर समाधिके समय जाता है अथवा अधिक स्वाभाविक रूपमें, मृत्युके समय जाता है); उसी तरह और सब केंद्र भी हैं। परंतु सूक्ष्म शरीर चूंकि स्थूल शरीरमें प्रवेश करता और उसके साथ घुल-मिल जाता है, इसलिये इन चक्रोंसे मिलते-जुलते कुछ केंद्र शुद्ध भौतिक शरीरमें हैं। अतएव रूपककी भाषामें हम कहते हैं कि शरीरके इस या उस केंद्रमें पुरुष है। इसी मेलके कारण, फिर, जब आनंद या कोई दूसरी चीज सत्तामें नीचे उतरती है तो वह इस सूक्ष्म शरीरमें ही व्याप्त हो जाती है, पर उसके द्वारा वह स्थूल शरीर और उसकी चेतनातक पहुँच जाती है जिससे कि वह इस तरह अनुभूत होती है मानो शरीरमें फैल गयी हो। परंतु यह सब यह कहनेसे बहुत भिन्न

है कि आत्मा एक ग्रंथिमें रहता है। स्थूल शरीर एक इंजिन है, आत्मा-के लिये जगत्पर कार्य करने और संपर्क स्थापित करनेका एक साधन है और यह साधन-यंत्रका केवल एक छोटासा भाग है। उसके विषयमें इतना सब समझना निरर्थक है। यह एक प्रकारका मिथ्या जड़वाद है जो उन मनोंको आश्वासन देनेके लिये अभिप्रेत है जिन्हें जड़-विज्ञानका बहुत कम ज्ञान है। पर उस सबका क्या उपयोग है? अब प्रत्येक व्यक्ति यह जानता है कि विज्ञान वस्तुओंके सत्यका कोई विवरण नहीं है, बल्कि केवल एक भाषा है जो वस्तुओंसे संबंधित कुछ अनुभवोंको, वस्तुओंकी बनावट, उनके गणित, उनकी प्रक्रियाओंके संबंधमें एक प्रकार-की समन्वित और व्यवहारोपयोगी मतको प्रकट करती है—इससे अधिक और कुछ नहीं है। स्वयं जड़तत्त्व कोई ऐसी चीज (ऊर्जाकी एक रचना शायद?) है जिसकी बनावटको हम बहुत छिछले रूपमें, जैसा कि यह हमारे मन और इंद्रियोंको और किन्हीं परीक्षणकारी यंत्रोंको (जिनके विषयमें अब यह संदेह किया जाने लगा है कि वे अधिकांशमें अपने निजी परिणामोंको निश्चित करते हैं, व्यवहृत यंत्रके साथ प्रकृति अपने उत्तरोंको समन्वित करती है) प्रतीत होता है पर उससे अधिक कोई वैज्ञानिक नहीं जानता या जान सकता है।



भला कोई आत्मा जड़ ग्रंथिके अंदर कैसे बंद रह सकता है? जहांतक मैं जानता हूं आत्मा शरीरमें आवृत नहीं होता, बल्कि शरीर ही आत्माके अंदर है। जब हमें आत्माका पूर्ण अनुभव होता है तब हम इसे एक विशाल चेतनाके रूपमें अनुभव करते हैं जिसमें शरीर एक बहुत छोटी वस्तु होता है, एक आश्रित या अंतर्विष्ट वस्तु होता है, वह स्वयं धारणकर्त्ता नहीं होता।



हम चक्रोंकी बात केवल योगके प्रसंगमें ही कर सकते हैं। साधारण लोगोंमें चक्र खुले नहीं होते, जब वे साधना करते हैं केवल तभी चक्र खुलते हैं। क्योंकि चक्र आंतरिक चेतनाके केंद्र हैं और मूलतः सूक्ष्म शरीरसे संबंधित हैं। जितना-सा वे साधारण लोगोंमें सक्रिय होते हैं वह बहुत कम होता है—क्योंकि उनमें बाह्य चेतना ही सक्रिय होती है।



चेतनाके केंद्र, चक्र। सच पूछो तो उनके उद्घाटित होनेपर ही यौगिक या आंतरिक चेतना विकसित होती है—अन्यथा तुम सामान्य बाह्य चेतनासे बंधे रहते हो।



यह अवश्य ही चैत्यभावापन्न उच्चतर मानसिक पुरुष होगा—सिरसे ऊपरका स्थान यही सूचित करता है। दूसरे शब्दोंमें, तुम अपने उच्चतर मानसिक पुरुषके विषयमें सचेतन हुए हो जो एक साथ ही ऊर्ध्वस्थित भगवान्‌के और हृदयके पीछे अवस्थित चैत्यके संपर्कमें है और जिसे दिव्य सत्यका ज्ञान है तथा वस्तुओंसंबंधी चैत्य और आध्यात्मिक अंतर्दृष्टि एवं दर्शन प्राप्त है।

सिरसे ऊपरकी ओर उच्चतर चेतनाका केंद्र सहस्रदल पद्म फैला हुआ है। परंतु साधारणतया जब सहस्रदल खुलता है तो वहां ललाट-केंद्रकी भी आंशिक क्रिया होती है।

सामान्य मन अपनी उच्चतम अवस्थामें वह मुक्त बुद्धि है जो शायद अंतर्बोधों और ऊपरसे आनेवाली सूचनाओंको ग्रहण करती और उन्हें बुद्धिकी भाषामें रूपांतरित करती है। यह मन ऊपरी तलपर है और वस्तुओंको बाहरसे देखता है, सिवा उस समयके जब वह संबोधि तथा अन्य शक्तियोंसे थोड़ी अधिक गहराईतक देखनेमें सहायता प्राप्त करता है। जब यह सामान्य मन भीतर आंतर मन और चैत्य पुरुषकी ओर और ऊपर उच्चतर मन तथा उच्चतर चेतनाकी ओर साधारणतया खुलता है तो यह अध्यात्मभावापन्न होना आरंभ कर देता है और इसके उच्चतम क्षेत्र आध्यात्मिक मानस-चेतनामें विलीन हो जाते हैं जिसका यह उच्चतर मन एक प्रारंभ हो सकता है। यह विलयन आध्यात्मिक रूपांतरका एक अंग है।

मनके लिये कई केंद्र हैं: (1) सहस्रदल जो आध्यात्मिक मन, उच्चतर मन, संबुद्ध मनको केंद्रित करता और यथार्थ संबोधि तथा अधिमानसके लिये ग्रहीता केंद्रके रूपमें कार्य करता है; (2) ललाट-का केंद्र आंतरिक चिंतन, संकल्प और अंतर्दर्शनके लिये है; (3) गलेका केंद्र बाह्य रूप देनेवाले अथवा भौतिक मनके लिये है।

⊙

सहस्रदल कमल सिरसे ऊपर है। यह सातवां और उच्चतम केंद्र है।

साधारण तौरपर जो लोग चक्रोंको शरीरमें मानते हैं, छः चक्रोंको गिनते हैं और सहस्रारको छोड़ देते हैं।



स्पष्ट ही, सहस्रदल पद्मके द्वारा ही उच्चतर संबोधि, आलोकित मन और अधिमानस सब अपनी किरणें प्रसारित करते हैं।



अतिमानस-चेतना शरीरमें व्यवस्थित नहीं है, इसलिये उसके लिये कोई अलग चक्र नहीं है। परंतु जो कुछ मनके ऊपरसे आता है वह सब अपने गमनके लिये सहस्रारका उपयोग करता है और इसलिये वहां कोई चीज खुल जाती है।



शीर्षस्थानका केंद्र अवश्य ही सहस्रारका अंग होगा जो व्यक्तिगत सत्ता और ऊपरकी अनंत चेतनाके बीच सीधे संपर्कका केंद्र है। आज्ञा-चक्र और उसके बीच क्रियाशक्तिका कोई दूसरा प्रधान केंद्र नहीं माना जाता। परंतु छः या यों कहें कि सात प्रमुख केंद्रोंके अतिरिक्त शरीरके विभिन्न भागोंमें बहुतसे स्नायु-केंद्र हो सकते हैं।



मस्तकका ऊपरी भाग ही शरीरस्थ मन और प्राणके साथ शरीर-चेतना और शरीरके ऊपरकी उच्चतर सत्ताके बीचका गमनस्थान है। यही वह स्थान है जहां वे दोनों चेतनाएं मिलना आरंभ करती हैं।



मस्तकका केंद्र खुला होनेपर साधारण मन और ऊपरकी उच्चतर चेतनाके बीचके ढक्कनकी कठिनाई दूर कर देता है। यदि आज्ञाचक्र भी खुला हो तो उच्चतर चेतना और आंतरिक मन तथा बाहरी मन (गलेके चक्र) के बीच भी स्पष्ट संपर्क स्थापित करना संभव होता है।

यही ज्ञान और मनकी प्रोज्ज्वलता और रूपांतरकी उपलब्धिकी शर्त्त है। हृदय-केंद्रका अधिकार चैत्य और प्राणपर होता है—उसके खुलनेपर प्राणमें चैत्य प्रभाव कार्य करने लगता है और अंतमें चैत्य पुरुष सामने आ जाता है।



मस्तिष्क केवल भौतिक चेतनाका केंद्र है। जबतक मनुष्य भौतिक मनमें निवास करता है अथवा शरीर-चेतनाके साथ एकात्म रहता है तबतक अपनेको मस्तिष्कमें अवस्थित अनुभव करता है। उस समय मनुष्य सहस्रारके द्वारा मस्तिष्कमें ग्रहण करता है। जब मनुष्य शरीरमें रहना बंद कर देता है तब मस्तिष्क कोई केंद्र नहीं रहता बल्कि संपर्क स्थापित करनेकी केवल एक निष्क्रिय और मौन प्रणालिका रह जाता है।



ललाटमें, दोनों आंखोंके बीच पर जरा ऊपरकी ओर आज्ञाचक्र है; यह आंतर संकल्प और आंतर दर्शन, क्रियाशील मन आदिका भी केंद्र है। (यह साधारण बाह्य मानसिक संकल्प और दृष्टि नहीं है, बल्कि कोई अधिक शक्तिशाली वस्तु है जो आंतरिक सत्तासे संबंध रखती है।) जब यह केंद्र खुलता है और दिव्य शक्ति वहां सक्रिय होती है तो एक महत्तर संकल्पकी, निर्णय करने, आकार देने, सार्थकता लानेकी शक्ति उद्‌घाटित हो जाती है और साधारण मन जो कुछ प्राप्त कर सकता है उससे परेकी यह चीज होती है।



अंतर्दर्शनका केंद्र भौंहोंके बीच ललाटके चक्रमें है। जब यह खुलता है तो मनुष्यको आंतर दर्शन प्राप्त होता है, वह वस्तुओं और मनुष्योंका भीतरी रूप और प्रतिमूर्त्ति देखता है और केवल बाहरसे ही नहीं, भीतरसे वस्तुओं और मनुष्योंको समझने लगता है, संकल्पकी एक शक्ति विकसित कर लेता है जो वस्तुओं और लोगों आदिपर आंतरिक (यौगिक) ढंगसे भी कार्य करती है। इसका उद्‌घाटन प्रायः साधारण मानसिक चेतनाके विपरीत यौगिक चेतनाका प्रारंभ होता है।



वह केंद्र (आज्ञाचक्र) उसी स्थानमें है जिसे मैंने सूचित किया है, पर दबाव सारे ललाटमें और भौंहोंमें अथवा वहां कहीं भी अनुभूत हो सकता है। यह केंद्रसे विकीर्ण होता है।



हां, तृतीय नेत्र वहीं (ललाटके केंद्रमें) खुलता है—यह गुह्य अंतर्दर्शन और उसके साथ संलग्न गुह्य शक्तियोंको सूचित करता है—इसका संबंध आज्ञाचक्रसे है।



यदि ललाटका केंद्र खुल जाय तो यह बहुत निश्चित बात है कि शीर्षोपरि केंद्र भी पर्याप्त रूपमें अवश्य खुल गया है और उससे कम-से-कम ऊपरकी उच्चतर शक्तिको आनेका मौका मिल जाता है। चैत्य पुरुष एक दूसरी ही चीज है—यह केंद्रोंके पीछे अवस्थित है और इसके उद्घाटनका समय विभिन्न व्यक्तियोंके लिये विभिन्न होता है—सच पूछा जाय तो वह उतना किसी केंद्रका खुलना नहीं है जितना कि चैत्य पुरुषका आगे की ओर आना है।

इस योगमें सामान्य नियम है ऊपरसे नीचेकी ओर क्रियाका होना। प्रारंभिक अवस्थामें कुछ हेरफेर हो सकता है। उदाहरणार्थ, सबसे पहले हृदय-केंद्रमें आंशिक उद्घाटन हो सकता है। उच्चतर प्राण-केंद्र भी पहले सक्रिय हो सकता है पर उसका अर्थ है अत्यधिक संघर्ष और कठिनाई।



क्या तुम यह नहीं जानते कि आंतर सत्ताका अर्थ है आंतर मन, आंतर प्राण, आंतर शरीर तथा अंतरतम सत्ताके रूपमें उनके पीछे विद्यमान चैत्यपुरुष? भला वहां इस सबके लिये एक ही केंद्र कैसे हो सकता है?



हां, कंठके भीतरका केंद्र भौतिक मनका केंद्र है। यह वाणीकरण-का—वाणी, अभिव्यंजना, भौतिक वस्तुओंके साथ अत्यधिक रूपमें व्यवहार

करनेकी शक्ति आदिमें वाह्यीकरणका—केंद्र है। इसका उद्घाटन होनेपर भौतिक मनको दिव्य चेतनाकी ज्योतिकी ओर खोलनेकी शक्ति आ जाती है और अब वह साधारण वहिर्मुखी मनोवृत्तिमें ही नहीं वना रहता।



नाक मनके प्रमुख सक्रिय भागके साथ संवद्ध है—प्रवल नाकवाले मनुष्यके विषयमें यह माना जाता है कि उसमें प्रवल संकल्प होता है अथवा प्रवल मानसिक व्यक्तित्व होता है—यद्यपि मैं नहीं समझता कि यह वात अटल सत्य है। परंतु प्राणिक भौतिक? निस्संदेह, नाक प्राणके आवागमनका मार्ग है और प्राण प्राणिक-भौतिक सत्ताका आधार है।



यह कोई भौतिक वस्तु नहीं हो सकता वल्कि केवल सूक्ष्म-भौतिक संवेदन हो सकता है। कान आंतर मन-केंद्र और विश्व-प्रकृतिकी विचार-शक्तियों या विचार-तरंगोंके वीचके संपर्कका मार्ग है। ऐसा लगता है कि यह इस मार्गके खुलने और वड़े होनेका संवेदन है।



यह वास्तवमें भौतिक मन है जो इस तरह कार्य करता है। भौतिक मन या वाह्य रूप देनेवाले मनका केंद्र सूक्ष्म शरीरमें गलेमें है और प्रवल रूपसे वाणीके साथ संयुक्त है—पर यह मस्तिष्कके साथ संवंध करके कार्य करता है। जो सव शक्तियां चेतनाको ढक देना चाहती हैं वे ऐसा करनेके लिये चारों ओरसे घेरकर ऊपर उठती हैं —चारों ओरसे घेरकर, अन्यथा आच्छादन पूर्ण नहीं होता—तथा यदि उनके लिये संभव होता है तो वे मानसिक केंद्रोंपर क्रिया करती हैं।



वागिंद्रिय भौतिक मनका एक यंत्र है अथवा वाह्य रूप देनेवाले मनको अभिव्यक्त करनेवाली है।



वाणी कंठके केंद्रसे आती है, परंतु यह ऐसे किसी भी केंद्र या चेतना-स्तरसे संबद्ध होती है जो नियंत्रण करता है—जहांसे मनुष्य चिंतन करता है वहांसे संलग्न होती है। यदि कोई मस्तकसे ऊपर उठे तो विचार सिरके ऊपर बनते हैं और वह व्यक्ति वहांसे बोल सकता है अर्थात् वाणीका निदेशन वहांसे होता है।



पश्यंति स्पष्ट ही वह वाणी है जिसमें सत्यका अंतर्दर्शन रहता है—परा वाक् संभवतः श्रुतिज्ञानसंपन्न और अंतःप्रेरित वाणी है। मैं दूसरी वाणियों (वैखरी और मध्यमा) के यथार्थ स्वरूपके विषयमें निश्चित रूपमें नहीं जानता।

तांत्रिक लोग वाणीके इन रूपोंका स्थान विभिन्न चक्रोंमें बताते हैं। वाणी आंतरिक या बाह्य हो सकती है, दोनोंपर एक ही शक्तिकी छाप हो सकती है। परंतु उसका मूल्यांकन यदि बाह्यावस्थासे पीछे हटनेकी दृष्टिसे किया जाय तो फिर परावाक्का अर्थ होना चाहिये वह वाणी जो मनसे परे कारण-राज्यसे संबंध रखती है।



गलेका केंद्र बाह्य रूप देनेवाला (भौतिक) मन है, हृदय भावात्मक मन और उच्चतर प्राणका प्रारंभ है। यदि हृदय-केंद्रपर किसी भी हदतक भौतिक मनका आधिपत्य हो तो वह अनिवार्य रूपसे बाहरी आक्रमणोंके लिये खुला रहेगा जो भौतिक तथा स्नायविक चेतनापर प्रभाव डालते हैं। हृदयको चैत्य पुरुष तथा उच्चतर चेतनाके संपर्कमें रहना चाहिये।



स्थूल हृदय बायीं ओर है, पर योगका हृदय-केंद्र, हृच्चक्र वक्षस्थलके मध्यमें है।



चैत्य और भावात्मक केंद्रका शिखर (सभी चक्रोंके शिखरकी तरह) मेरुदंडमें है, आधार सामनेकी ओर स्टरनम (उरोस्थि) के मध्यमें है।



हृदय सत्ताका केंद्र है और बाकी अंगोंको संचालित करता है, क्योंकि चैत्य पुरुष वहां है। बस, इसी अर्थमें सब कुछ वहांसे प्रवाहित होता है, क्योंकि चैत्य पुरुष ही प्रत्येक बार अपने लिये एक नवीन मन, प्राण और शरीरकी सृष्टि करता है।



चैत्य पुरुष (जो अंतरात्मा है) आधारके अंदर अपने लिये केंद्र नहीं बनाता। केंद्र तो हैं ही। जो केंद्र पहलेसे ही हैं—हृदय और नाभि-केंद्र तथा नाभिके नीचेके दो केंद्र—उनको चैत्य पुरुष अपने अधिकारमें ले सकता है। फिर मन और प्राण नष्ट नहीं कर दिये जाते—वे चैत्य पुरुषके प्रभावके अंदर लाये जाते और चैत्यभावापन्न बना दिये जाते हैं, अथवा ऊपरसे आनेवाली उच्चतर चेतनाद्वारा अधिकृत कर लिये जाते और उसके यंत्रके रूपमें बदल दिये जाते हैं।



मनुष्य चैत्य केंद्र या किसी भी केंद्रके भीतरसे गुजर नहीं जाता। केंद्र साधनाके दबावसे खुल जाते हैं। तुम कह सकते हो कि दिव्य शक्ति केंद्रमें उतरती या ऊपर चढ़ती है।



नाभि भावात्मक केंद्रके नीचे प्रमुख प्राण-केंद्र है,—वहां उसके नीचे, नाभि और मूलाधारके बीच तुच्छ प्राणिक क्रियाओंका दूसरा केंद्र है।

निम्नतर प्राण-शक्ति ही मस्तिष्कपर आक्रमण करती और उसे या तो चकरा देती है और मानसिक आत्मसंयमको समाप्त कर देती है अथवा मनको अपना दास बना लेती और प्राणावेगोंको उचित सिद्ध करनेके लिये बुद्धिका उपयोग करती है।



भौतिक मनका कद्र गले और मुंहमें है—प्राणिक-भौतिक केंद्र दो निम्नतम केंद्रोंके बीचमें है—जड़ चेतना मूलाधारमें है।



स्नायु समस्त शरीरमें बंटे हुए हैं, पर प्राणिक-भौतिक क्रिया अपने मूलमें—मूलाधार और उससे (प्राणिक-भौतिक) ठीक ऊपरके केंद्रके बीच केंद्रित है।



यौगिक दृष्टिसे, मनो-देह-विज्ञान आदि-आदिकी दृष्टिसे उदर, हृदय और आंत प्राणिक क्रियाओंके स्थान हैं, भौतिक चेतनाके नहीं—यहींपर क्रोध, भय, प्रेम, घृणा तथा पशुओंकी अन्यान्य मनोवैज्ञानिक सुविधाएं तरंगायित होतीं और भौतिक तथा नैतिक पाचनको बिगाड़ देती हैं। मूलाधार यथार्थ भौतिक चेतनाका स्थान है।



यह (मेरुदंडका सिरा) भौतिक केंद्रका स्थान है जो काम-केंद्र भी है। इसका शीर्षबिंदु मूलाधारके अंतमें है और यह वहांसे आगे भी फैला रहता है—कामेंद्रिय और उसके कार्यको नियंत्रित करता है।



रीढ़के अंतिम छोरपर निम्नतम केंद्र है। इसमें बहुतसी दूसरी चीजें हैं परंतु यह अपने सामनेके भागमें लैंगिक क्रियाओंका आधार है।



नहीं, अवचेतना अत्यंत अनिर्दिष्ट है और इसलिये केंद्रके योग्य नहीं है। इसका एक स्तर है—पैरके नीचे, जैसे कि अतिचेतना ऊपर है, पर वहांसे वह कहीं भी उमड़ सकता है।



हां, यह (cerebellum=लघुमस्तिष्क) अवचेतनाके साथ कुछ संबंध रखता है।

6. भागवत और विरोधी शक्तियाँ

1. मिथ्यात्व और अज्ञान[1]

अज्ञानका अर्थ है अविद्या, पृथकात्मिका चेतना और अहंमन्य मन और प्राण जो उससे निकलते हैं और वह सब जो पृथकात्मिका चेतना तथा अहंमन्य मन और प्राणके लिये स्वाभाविक है। यह अज्ञान एक क्रियाका परिणाम है जिसके कारण वैश्व प्रज्ञाने अपनेको अतिमानस (दिव्य विज्ञान) की ज्योतिसे पृथक् कर लिया और सत्य-सत्ताके सत्य, दिव्य चेतनाके सत्य, शक्ति और कार्यके सत्य, आनंदके सत्य—को खो दिया। परिणामस्वरूप, दिव्य विज्ञानके प्रकाशमें सृष्ट सर्वांगपूर्ण सत्य और दिव्य सामंजस्यके एक जगत्के बदले हमें एक ऐसा जगत् मिला जो एक निम्नतर वैश्व प्रज्ञाके आंशिक सत्योंपर प्रतिष्ठित है और जिसमें सब कुछ अर्ध-सत्य, अर्धमिथ्या है। यही वह चीज है जिसे शंकर जैसे कुछ प्राचीन दार्शनिकोंने, पीछे विद्यमान इस महत्तर सत्य-शक्तिको न देखनेके कारण, माया घोषित कर दिया और इसे ही भगवान्की उच्चतम सृजनात्मिका शक्ति मान लिया। सृष्टिकी इस चेतनामें सब कुछ या तो सीमित है या नहीं तो पूर्ण ज्योतिसे पृथक् होनेके कारण विकृत है। जब यह सत्यको देखती भी है तो वह केवल अर्ध-ज्ञान होता है। इसलिये इसे अज्ञान कहा जाता है।

मिथ्यात्व, दूसरी ओर, यह अविद्या नहीं है, बल्कि उसका एक चरम परिणाम है। यह आसुरिक शक्तिके द्वारा सृष्ट होता है जो इस सृष्टिमें हस्तक्षेप करती है और केवल सत्यसे ही विच्छिन्न नहीं है और इसलिये ज्ञानमें सीमित और भ्रांतिकी ओर खुली ही नहीं है, बल्कि सत्यके विरुद्ध विद्रोह करती है या सत्यको केवल विकृत करनेके लिये अधिकृत करनेकी अभ्यासी होती है। यह शक्ति, काली आसुरिक शक्ति या

---

1. यह पत्र श्रीअरविंद-लिखित 'माता' पुस्तकमें आये हुए कुछ शब्दोंको समझानेके लिये लिखा गया था।

राक्षसिक माया अपनी निजी विकृत चेतनाको सच्चे ज्ञानके रूपमें तथा अपनी इच्छाकृत विकृतियों या विपर्ययोंको वस्तुओंके सत्यके रूपमें सामने रखती है। सच पूछा जाय तो इसी पथभ्रष्ट और पथभ्रष्ट करनेवाली चेतनाकी शक्तियों और व्यक्तिस्वरूपोंको हम विरोधी सत्ताएं, विरोधी शक्तियां कहते हैं। जब कभी इन शक्तियों और सत्ताओंद्वारा अज्ञानकी सामग्रीसे सृष्ट ये विकृतियां वस्तुओंके सत्यके रूपमें सामने रखी जाती हैं तो उसे ही मिथ्यात्व, यौगिक अर्थमें, मिथ्या, मोह कहते हैं।

2. शक्तियां और उनके बाह्य रूप

ये वे शक्तियां और सत्ताएं हैं जो अज्ञानके जगत्‌में अपने द्वारा सृष्ट मिथ्यात्वोंको बनाये रखनेमें और उन्हें ऐसे सत्यके रूपमें सामने रखनेमें दिलचस्पी रखती हैं जिनका मनुष्योंको अवश्य अनुसरण करना चाहिये। भारतमें उन्हें असुर, राक्षस, पिशाच (क्रमशः मानसभावापन्न प्राण, मध्य प्राण और निम्नतर प्राणके लोकोंकी सत्ताएं) नाम दिया गया है। ये देवताओंका, ज्योतिकी शक्तियोंका विरोध करते हैं। ये भी शक्तियां हैं, क्योंकि इनका भी अपना वैश्व क्षेत्र है जिसमें ये अपने धर्म तथा अधिकारका प्रयोग करते हैं और उनमेंसे कुछ तो किसी समय भागवत शक्तियां (पूर्वदेवाः जैसा कि उन्हें महाभारतमें कहीं कहा गया है) थीं जो विश्वके पीछे विद्यमान भागवत संकल्पके विरुद्ध विद्रोह करनेके कारण अंधकारमें पतित हो गयी हैं। "अपियरेंसेज" (बाह्य रूप) शब्द उन आकारोंको सूचित करता है जिन्हें वे जगत्‌का शासन करनेके लिये ग्रहण करती हैं, वे ऐसे आकार हैं जो बहुधा मिथ्या होते हैं और सर्वदा ही मिथ्यात्वको, कभी-कभी मिथ्या-दिव्यत्वको मूर्त्तिमान करते हैं।

3. शक्तियां और व्यक्तिरूप

'शक्ति' शब्दके प्रयोगको हम समझा चुके हैं—यह किसी भी ऐसी वस्तु या सत्ताके लिये प्रयुक्त हो सकता है जो विश्वमंडलमें सचेतन शक्तिका प्रयोग कर सकती है और जिसे विश्वगतिपर या उसके अंदरकी किसी क्रियापर अधिकार प्राप्त है। पर जिन चार[1] शक्तियोंकी बात तुम करते हो वे भी शक्तियां हैं, परमा चिच्छक्तिकी, भगवती माताकी

---

1. महेश्वरी, महाकाली, महालक्ष्मी और महासरस्वती।

विभिन्न शक्तियोंकी अभिव्यक्तियां हैं जिनके द्वारा वह माता विश्वमें शासन या कार्य करती हैं। और वे, उसके साथ-ही-साथ, दिव्य व्यक्ति-रूप, देवियां भी हैं; क्योंकि उनमेंसे प्रत्येक एक सत्ता है जो भगवान्‌के विभिन्न गुणों और व्यक्तिगत चैतन्यरूपोंको अभिव्यक्त करती है। सभी बड़े-बड़े देवता इस तरह भगवान्‌के व्यक्तिरूप हैं—एक ही चेतना अनेक व्यक्तित्वोंमें क्रीड़ा करती है, एकं सत् बहुधा। सच पूछा जाय तो मानव-प्राणीमें भी बहुतसे व्यक्तित्व हैं, केवल एक ही नहीं, जैसा कि पहले लोग समझा करते थे; क्योंकि सभी चेतना एक साथ ही एक और बहु हो सकती है। "शक्तियां और व्यक्तिरूप" शब्द महज एक ही सत्ताके विभिन्न पक्षोंको सूचित करते हैं; कोई शक्ति आवश्यक रूपसे निर्व्यक्तिक ही नहीं होती और निश्चय ही वह अव्यक्तम् नहीं होती जैसा कि तुम सूचित करते हो,—इसके विपरीत, यह एक अभि-व्यक्त रूप है जो दिव्य अभिव्यक्तिके जगतोंमें कार्य कर रहा है।

4. अंशविभूतियां

"अंशविभूतियां" शब्द मात्रिकाओंके तुम्हारे वर्णनसे, जिनकी चर्चा तुमने अपने पत्रोंमें की है, मिलता-जुलता है। भगवती माताकी अंशविभूति उनकी चेतना और शक्तिका ही कुछ अंश है जो उनसे प्रकट हुआ है और जो, जबतक कि वह क्रिया करता है, उनके घनिष्ठ संपर्कमें रहता है और जब उसकी क्रियाकी अब कोई आवश्यकता नहीं रह जाती, अपने मूलस्रोतमें वापस खींच लिया जाता है, पर जो बराबर फिर एक बार प्रकट किया जा सकता और क्रीड़ामें लाया जा सकता है। परंतु संबंध जोड़ रखनेवाला सूत्र काटा जा सकता या ढीला किया जा सकता है और जो चीज अंशविभूतिके रूपमें प्रकट हुई थी वह अपने मार्गपर एक स्वतंत्र दिव्य सत्ताके रूपमें आगे बढ़ सकती और जगत्‌में अपना कार्य कर सकती है। सभी देवगण ऐसी अंशविभूतियां अपनी सत्तामेंसे उत्पन्न कर सकते हैं, जो चेतना और शक्तिके सारतत्त्वमें तो उनसे मिलती-जुलती होती हैं पर समतुल्य नहीं होतीं। एक विशेष अर्थमें स्वयं विश्व भी परात्पर भगवान्‌से उत्पन्न एक अंशविभूति कहा जा सकता है। साधककी चेतनामें श्रीमांकी अंशविभूति सामान्यतया वह रूप, आकार और विशेषताएं ग्रहण करेगी; जिनसे वह परिचित है।

एक अर्थमें श्रीमांकी चार शक्तियोंको, उनके मूलस्रोतके कारण,

उनकी अंशविभूतियां कह सकते हैं, ठीक जिस तरह कि देवताओंको भगवान्की अंशविभूतियां कह सकते हैं, परंतु इनका अधिक स्थायी और सुस्थिर स्वभाव है; ये एक साथ ही स्वतंत्र सत्ताएं हैं जिन्हें आद्या-शक्तिने अपना कार्य करनेकी अनुमति दी है और फिर भी वे श्रीमाताकी, महाशक्तिके अंश हैं, और वह सर्वदा ही या तो उनके द्वारा पृथक् सत्ताओंके रूपमें प्रकट हो सकती हैं या उन्हें एक साथ अपने विभिन्न व्यक्तित्वोंके रूपमें अपने अंदर खींच सकती हैं और उन्हें अपने अंदर धारण कर सकती हैं, अपनी इच्छाके अनुसार कभी पीछे हटा सकतीं और कभी कार्यमें लगा सकती हैं। अतिमानसिक लोकमें वे सर्वदा उनके अंदर रहती हैं और स्वतंत्र रूपसे कार्य नहीं करतीं, बल्कि अति-मानसिक महाशक्तिके घनिष्ठ अंशोंके रूपमें तथा परस्पर गहरे एकत्व तथा सामंजस्यके साथ कार्य करती हैं।

5. देवगण

ये चार शक्तियां दिव्य माताके वैश्व देवी-रूप हैं, जगत्-लीलामें स्थायी हैं। ये देवियां महत्तर वैश्व देवोंके बीच अवस्थित हैं और जब यह कहा जाता है कि इस त्रिविध जगत्की महाशक्तिके रूपमें श्रीमां "वहां (अधिमानस लोकमें) देवताओंसे ऊपर अवस्थित हैं" तब इन्हींकी ओर संकेत किया जाता है। देवगण, जैसा कि पहले ही कहा जा चुका है, अपने मूल और सारतत्वमें भगवान्की स्थायी अंशविभूतियां हैं जिन्हें परात्परा माता, आद्याशक्तिने परात्परसे उत्पन्न किया है; अपने वैश्व कर्ममें ये भगवान्की शक्तियां और व्यक्तिरूप हैं और इनमेंसे प्रत्येकका विश्वके अंदर अपना स्वतंत्र वैश्व स्थान, धर्म और कर्म है। ये निर्व्यक्तिक सत्ताएं नहीं हैं बल्कि वैश्व साकार सत्ताएं हैं यद्यपि ये अपने-आपको निर्व्यक्तिक शक्तियोंकी क्रियाके पीछे सामान्यतया छिपा सकतीं और छिपाती हैं। परंतु, जहां अधिमानस-लोक और इस त्रिविध जगत्में ये स्वतंत्र सत्ताओंके रूपमें प्रकट होती हैं, अतिमानसमें 'एक' के अंदर वापस चली जाती हैं और वहां 'एकतम पुरुष' के, भगवान् पुरुषोत्तमके बहु व्यक्तित्वोंके रूपमें एक ही सुसमंजस कर्ममें संयुक्त होकर अवस्थान करती हैं।

6. उपस्थिति

"प्रेजेन्स" (उपस्थिति) शब्दसे जो कुछ सूचित करना अभिप्रेत है वह है भगवान्‌को एक दिव्य सत्ताके रूपमें अनुभव और प्रत्यक्ष करना, अपनी सत्ता और चेतनामें अथवा उनके संपर्कमें, किसी और विशेषण या वर्णनकी आवश्यकताके विना, उपस्थित अनुभव करना। इस तरह, "अवर्णनीय उपस्थिति" के विषयमें केवल यही कहा जा सकता है कि वह है और अन्य कोई वात उसके विषयमें नहीं कही जा सकती या कहनेकी कोई आवश्यकता नहीं, यद्यपि इसके साथ-ही-साथ हम जानते हैं कि सब कुछ उसमें है, व्यक्तित्व और निर्व्यक्तित्व, शक्ति, ज्योति और आनंद तथा अन्य प्रत्येक वस्तु है, और ये सब चीजें उस अकथनीय उपस्थितिसे प्रवाहित होती हैं। यह शब्द कभी-कभी एक कम पूर्ण अर्थमें व्यवहृत हो सकता है, पर वही है सर्वदा मौलिक अर्थ—अन्य प्रत्येक वस्तुको धारण करनेवाली मौलिक उपस्थितिका मौलिक बोध।

7. परात्परा माता

ये वही है जिन्हें आद्याशक्ति कहा गया है; वह विश्वसे ऊपर स्थित परात्पर चेतना और शक्ति है और वास्तवमें उन्हींके द्वारा समस्त देवगण अभिव्यक्त किये गये हैं, और यहांतक कि अतिमानसिक ईश्वर भी उन्हींके माध्यमसे अभिव्यक्तिमें आते हैं—वह अतिमानसिक पुरुषोत्तम जिनकी ही सभी देवगण शक्तियां और व्यक्तिरूप हैं।



निस्संदेह, देवताओंका अस्तित्व है—अर्थात् ऐसी शक्तियां हैं जो जगत्‌के ऊपर अवस्थित हैं और भागवत क्रियाधाराको संचारित करती हैं। सच पूछा जाय तो भौतिक मन ही केवल भौतिक वस्तुओंपर विश्वास करता है और उन्हें अस्वीकार करता है। अन्य जगतोंकी सत्ताएं—देवगण और असुरगण आदि भी हैं।



सभी लोकोंमें सर्वत्र देवतागण विद्यमान हैं।



भगवान्‌के क्रियाशील रूप हैं परात्पर ब्रह्म, न कि देवगण। देवतागण तो क्रियाशील भगवान्‌के व्यक्तिरूप और शक्तियां हैं। तुम इस ढंगसे कह रहे हो मानो क्रमविकास ही एकमात्र सृष्टि हो; सृष्टि या अभिव्यक्ति बहुत विशाल है और इसमें बहुतसे लोक और जगत् हैं जो क्रमविकासके पहलेसे थे, सभी अलग-अलग स्वभाववाले तथा विभिन्न प्रकारकी सत्ताओंवाले थे। क्रमविकासके पहलेसे होनेका तथ्य उन्हें अपरिचित नहीं बना देता। असुरोंका जगत् क्रमविकासके पहलेसे है, वैसे ही हैं मानसिक, प्राणिक या सूक्ष्म-भौतिक देवोंके जगत्—परंतु ये सभी सत्ताएं एक-दूसरीसे भिन्न हैं। बड़े-बड़े देवगण अधिमानस-लोकसे संबंध रखते हैं; अतिमानसमें वे भगवान्‌के रूपोंके तौरपर संयुक्त हैं, अधिमानसमें वे पृथक् व्यक्तित्वोंके रूपमें प्रकट होते हैं। कोई भी देवता अंशविभूतिके माध्यमसे भौतिक लोकमें अवतरित हो सकता है और जिस मनुष्यकी विचारधाराके साथ उसका सादृश्य है उसके क्रमविकासके साथ अपनेको संश्लिष्ट कर सकता है। परंतु ये ऐसी चीजें हैं जिन्हें बहुत आसानीसे मनसे नहीं समझा जा सकता, क्योंकि व्यक्तित्वके विषयमें मनकी भावना अत्यंत कठोर होती है—यह कठिनाई केवल तभी दूर होती है जब मनुष्य ऊपरकी एक अधिक नमनीय चेतनामें प्रवेश करता है, जहां वह सर्वके अंदर 'एकम्' की और एकके अंदर सर्वकी अनुभूतिके अधिक समीप होता है।



अधिमानसके स्रष्टाओंने किसी भी बुराईका निर्माण नहीं किया है—वास्तवमें निम्नतर शक्तियां ही अधिमानससे ग्रहण करतीं और उनके आकारोंको विकृत कर देती हैं।



अवतरण-धारामें यह (मिथ्यात्व) मनसे प्रारंभ होता है, पर यह कहना कठिन है कि क्रमविकासके आरोहण-क्रममें यह कहां आरंभ होता है—क्योंकि यहां प्रारंभ निश्चेतना और अज्ञानसे होता है; परंतु मेरी समझमें हम कह सकते हैं कि सज्ञान मिथ्यात्व अभी भी प्राणके अंदर निहित या उससे बाहर निकलनेवाले मनके प्रारंभके साथ ही आरंभ होता है।



देवतागण विश्वात्माके अंदर हैं—जब कोई विश्वात्माके साथ एकात्म हो जाता है तो वह वहां उनकी उपस्थितिको अनुभव कर सकता है। साथ ही उस समय सूक्ष्म जगत् (अपने अंदर विद्यमान् जगत्) का भी अनुभव होता है जिसमें वह सब कुछ है जो विश्व-ब्रह्माण्ड (बृहत्तर विश्व) में विद्यमान है। ये सभी चीजें अनुभूतिके लिये, ज्ञानके लिये है और उन्हें उसी रूपमें लेना चाहिये। कोई मात्र व्यक्तिगत रूप उन्हें नहीं देना चाहिये।



फिर 'सोल' (अंतरात्मा) शब्दसे तुम्हारा क्या मतलब है? मेरे कहनेका महज अर्थ यह था कि कोई भी सत्ता ऐसी नहीं है जिसे अपने पीछे विद्यमान भगवान्के किसी अंशसे सहारा प्राप्त न हो। परंतु प्रसंगके अनुसार 'सोल' शब्दके कई अर्थ होते है; इसका अर्थ हो सकता है वह पुरुष जो प्रकृतिकी रचनाको धारण करता है, जिसे हम एक सत्ता कहते है, यद्यपि इसके लिये वरन् समुचित शब्द होगा एक संभूति (वह वस्तु जिसने रूप ग्रहण किया है); फिर इसका, दूसरी ओर, अर्थ हो सकता है निश्चित रूपसे मनुष्य जैसे किसी क्रमविकसनशील प्राणीके अंदर विद्यमान चैत्य पुरुष; फिर इसका अर्थ हो सकता है भगवान्का वह स्फुलिंग जो, भगवान्के जड़ जगत्में अवतरित होनेकी प्रक्रियामें जड़तत्त्वके अंदर डाल दिया गया है और जो यहां सभी क्रम-विकसनशील रूपोंको धारण करता है। असुर-जैसे किसी अविकसनशील प्राणीके अंदर कोई चैत्य पुरुष नहीं होता और न हो सकता है। किसी देवतामें भी कोई चैत्य पुरुष नहीं हो सकता जिसे अपने अस्तित्वके लिये किसी चैत्य पुरुषकी आवश्यकता नही होती। परंतु देवतामें जो चीज होती है वह एक पुरुष है और एक प्रकृति, उस पुरुषके स्वभावकी एक शक्ति है। यदि स्थिर-गुण-धर्मवाले जगतोंकी कोई सत्ता विकसित होना चाहे तो उसे पृथ्वीपर उतर आना होता है और मानवशरीर धारण करना होता है और क्रमविकासमें भाग लेना स्वीकार करना पड़ता है। चूंकि प्राणिक सत्ताएं ऐसा करना नहीं चाहतीं इसी कारण वे मनुष्योंको अधिकृत करनेकी कोशिश करती हैं जिसमें कि वे क्रमविकास अथवा जिस परिवर्तनमें यह परिसमाप्त होता है उसकी प्रक्रियाके बोझको उठाये बिना भौतिक जीवनकी भौतिकताओंका उपयोग

कर सकें। मैं आशा करता हूं कि यह स्पष्ट है और कठिनाईको हल करता है।



जिन तीन अवस्थाओंका जिक्र तुम करते हो वे क्रमविकासकी अवस्थाएं नहीं हैं बल्कि भगवान्के जड़तत्त्वके अंदर क्रमनिवर्तनकी अवस्थाएं हैं। देवता और असुर जड़तत्त्वमें विकसित नहीं हुए हैं; क्योंकि स्थिर-गुण-धर्मवाली सत्ताके लिये केवल एक पुरुष और उसकी प्रकृतिकी आवश्यकता होती है—यह पुरुष अपना प्रतिनिधित्व करनेके लिये एक मानसिक और प्राणिक पुरुष प्रकट कर सकता है और जिस किसीमें वह केंद्रित होता है उसीके अनुसार वह मानसिक-प्राणिक जगत्के साथ संबंध रखता है। बस, इतनी ही बात है।

कहीं भी कोई मौलिक भेद नहीं है, क्योंकि सब कुछ मूल रूपमें शुद्ध भगवान् है, विभेद अभिव्यक्तिमें है। एक प्रकारसे हम कह सकते हैं कि जीवात्मन् बहु-रूप भगवान्मेंसे एक है और एकतमपर आश्रित है; आत्मन् बहुको धारण करनेवाला एकतम है। चैत्य पुरुष जीवात्माके अंदर विलीन नहीं हो जाता, वह उसके साथ संयुक्त हो जाता है जिसमें कि ऊपरसे अभिव्यक्तिको सहारा देनेवाले शाश्वत पुरुष और इसके भीतरसे अभिव्यक्तिको सहारा देनेवाले उसी पुरुषके बीच कोई विभेद न रह जाय, क्योंकि चैत्य पुरुष उसके द्वारा भगवान्की लीलाके विषयमें पूर्णतः सज्ञान हो चुका होता है। जिसे विलीन हो जाना कहते हैं वह भागवत चेतनामें घटित होता है जब कि जीवात्मा अपनेको भगवान्के साथ इतना एक अनुभव करता है कि अन्य कुछ भी नहीं रह जाता।



जब कि देवता रूपांतरित नहीं हो सकते क्योंकि वे स्थिर-गुणधर्मवाली सत्ताएं हैं, क्रमविकसनशील सत्ताएं नहीं हैं, वे परिवर्तनके लिये—कहनेका तात्पर्य, वस्तुओंसंबंधी अपनी निजी भावनाओं और दृष्टिकोणको छोड़नेके लिये तथा अपने-आपको भगवान्के उच्चतर संकल्प एवं अतिमानसिक सत्यके साथ सुसमंजस बनानेके लिये आ सकते हैं।



कहां तुमने देखा है कि "दी लाइफ हेवुन्स"[1] शीर्षक कवितामें मैंने यह कहा है या किसी व्यक्तिने कहा है कि पृथ्वीकी परिस्थितियां बड़ी उत्तम हैं और दिव्य जीवनके उपयुक्त हैं? वहां इस भावका एक भी शब्द नहीं है। "दी लाइफ हेवुन्स" (प्राणके स्वर्ग) प्राणमय देवताओंके स्वर्ग हैं और वहां एक प्रकारकी पूर्ण समस्वरता है पर वह केवल सूक्ष्मीकृत संतुष्ट इंद्रियों तथा प्राणिक कामनाओंकी समस्वरता है। यदि कोई दिव्य समस्वरता आनी हो तो वह समस्त शक्तियोंकी समस्वरता होनी चाहिये जिसमें सभी शक्तियां अपनी उच्चतम स्थितिमें उठ जायंगी और एक साथ सुसमंजस हो जायंगी।

सभी अ-विकसनशील जगत् प्राणिक स्वर्गोंकी तरह अपने निजी सामंजस्यसे सीमित जगत् हैं। दूसरी ओर, पृथिवी विकसनशील जगत् है, जड़ जगत्के रूपमें भी यह बिलकुल ही गौरवपूर्ण या सामंजस्यपूर्ण नहीं है (सिवा किन्हीं बाह्य रूपोंमें), बल्कि वास्तवमें अत्यंत दुःखपूर्ण, सामंजस्यहीन और अपूर्ण है। फिर भी उस अपूर्णतामें एक उच्चतर और कहीं अधिक बहु-पक्षीय पूर्णताकी ओर जानेकी उत्कंठा है। इसके अंदर अंतिम ससीम है जो फिर भी चरम असीमके लिये लालायित रहता है, (यह इंद्रिय-सुखोंसे संतुष्ट नहीं रहता ठीक इसी कारण कि पृथ्वीकी परिस्थितियोंमें यह उनकी सीमाओंको देखनेमें समर्थ होता है।) भगवान् दलदलमें फंसे हैं (दलदल महिमामंडित नहीं है, इसलिये यहां महिमा या सौंदर्यका दावा नहीं है), पर ठीक यही तथ्य उस कारागृहसे निकलकर एक ऐसी चेतना प्राप्त करनेकी आवश्यकताको स्थापित करता है जो निरंतर उच्चताओंकी ओर ऊपर उठती रहती है, इत्यादि-इत्यादि। वह "एक अधिक गहरी शक्ति" है, यद्यपि कोई महत्तर वास्तव गौरव या पूर्णत्व नहीं है। यह सब मनके लिये सत्य हो या न हो, पर यह भारतीय आध्यात्मिक अनुभवका परंपरागत मनोभाव है। किसी भी योगीसे पूछो, वह तुमसे कहेगा कि प्राणिक स्वर्ग बालोचित वस्तुएं हैं; पुराण कहते हैं कि यदि देवता भी मुक्ति पाना चाहें, अपनी सीमित पूर्णताके गर्वको छोड़ना चाहें तो उन्हें भी पृथ्वीपर उतर आना होगा और यहां मानवशरीर ग्रहण करना होगा; यदि वे अंतिम असीमको पाना

---

1. श्रीअरविंद-रचित एक कविता। "Collected Poems and Plays", Vol. II, pp 282-84 देखिये।

चाहें तो उन्हें अंतिम ससीमके अंदर प्रवेश करना होगा। कविता कोई दार्शनिक कृति अथवा धार्मिक विश्वासकी घोषणा नहीं होती—वह किसी प्रकारके, सांसारिक या आध्यात्मिक, अंतर्दर्शन या अनुभवकी अभिव्यक्ति होती है। यहां यह प्राणिक स्वर्गोंका, उनकी पूर्णताका, उनकी सीमाका और पृथ्वीके अथवा यों कहें कि पृथ्वी-चेतनाके पीछे विद्यमान आत्मा या दिव्य शक्तिके प्रति दावाका अंतर्दर्शन है। इसे उसी रूपमें लेना होगा, वस्तुओंके एक विशिष्ट पक्षकी अभिव्यक्तिके, एक विशेष प्रकारके अनुभवकी अभिव्यक्तिके रूपमें लेना होगा, न कि किसी मानसिक सिद्धांत-की अभिव्यक्तिके रूपमें। इसके पीछे एक गभीर सत्य है, यद्यपि यह उस विषयका संपूर्ण सत्य न भी हो। इस कवितामें, यहां दिव्य जीवन प्राप्त करनेका भी कोई प्रश्न नहीं है, यद्यपि आरोहणके अनभिव्यक्त संभव परिणामके रूपमें उसकी ओर इशारा किया गया है—क्योंकि उसमें पृथ्वीको अलग नहीं छोड़ दिया गया है ("अभी भी पृथ्वीके हृत्की धड़कन मेरे नीचे अनुभूत हो रही थी"); परंतु कविता केवल उच्चतमकी ओर, प्राणिक स्वर्गोंसे बहुत परे, आरोहणको ही अभिव्यक्त करती है, और पृथ्वीकी आत्मा उस शक्तिको मांग करती है और दिव्य जीवनके किसी अवतरणकी बात नहीं कहती।



देवताओंके अपने निजी भोग हैं, यद्यपि वे भौतिक प्रकारके नहीं हो सकते।



उच्चतर सत्ताओंमें परस्पर असामंजस्य होनेकी संभावना नहीं होती, क्योंकि वे निम्नतर अज्ञानके अधीन नहीं होते।



रूपसे रहित अभिव्यक्तिके कोई लोक नहीं हैं—क्योंकि रूपके बिना सृष्टि या अभिव्यक्ति पूर्ण नहीं हो सकती। वहां रूप अभिव्यंजनात्मक होते हैं, पर निर्णायक नहीं होते। प्राणलोकमें जो प्रधान बात है वह है शक्ति या अनुभव और रूप उसे प्रकट करता है। प्राणिक सत्ताका एक विशिष्ट रूप होता है पर वह उसे बदल सकती या अपने सच्चे

रूपको दूसरोंके नीचे छिपा सकती है। मानसिक लोकमें प्रमुख चीज है बोध, भावना, मानसिक तात्पर्य और आकार उसे प्रकट करता है और ये मानसिक आकार भी बदल सकते हैं—एक ही भावनाको विभिन्न रूपोंमें अथवा उस भावनाके विभिन्न पक्षोंमें प्रकट करनेवाले बहुतसे आकार हो सकते हैं। आकार होते हैं पर वे भौतिक प्रकृतिके आकारोंकी अपेक्षा अधिक नमनीय और परिवर्तनीय होते हैं।

जहांतक देवताओंका प्रश्न है, मनुष्य आकार बना सकता है और वे स्वीकार करते हैं, पर ये आकार भी उन लोकोंसे मनुष्यके मनमें प्रेरित होते हैं जिनसे देवताओंका संबंध होता है। सभी सृष्टिके दो पक्ष होते हैं, साकार और निराकार,—देवगण भी आकारहीन हैं और फिर भी उनके आकार हैं, परंतु एक देवता कई रूप ले सकता है, यहां महेश्वरी तो वहां पलास एथिनी आदि। स्वयं महेश्वरीकी अपनी लघुतर अभिव्यक्तिमें दुर्गा, उमा, पार्वती, चंडी आदि कई रूप हैं। देवतागण मानव-आकारसे सीमित नहीं होते,—मनुष्यने भी सर्वदा उन्हें केवल मानव-आकारमें ही नहीं देखा है।

⊙

सिंहकी पीठपर आसीना दुर्गा उस भागवत चेतनाका रूपक है जो दिव्यभावापन्न भौतिक-प्राणिक तथा प्राणिक-भावात्मक शक्तिके द्वारा कार्य करती है।

⊙

सिंह दुर्गामाताकी शक्तिका सूचक है, विश्वजननीका विजय लानेवाला और रक्षा करनेवाला रूप है।

मृत्युका सिर असुर (देवताओंके विरोधी) का प्रतीक है जिसे भागवती शक्तिने हरा डाला और मार डाला है।

⊙

महाकाली और काली एक ही नहीं हैं। काली एक क्षुद्रतर रूप हैं; उच्चतर लोकोंमें महाकाली साधारणतया सुनहले रंगमें प्रकट होती हैं।

⊙

मैं उन मनोवैज्ञानिक शक्तियोंको बताता हूं जिन्हें वे अपने साथ लाते हैं।

मित्र — सामंजस्य।
वरुण — विशालता।
अर्यमान — शक्ति-सामर्थ्य—तपस्या
बृहस्पति — प्रज्ञान (शब्द और ज्ञान)।
विष्णु — वैश्व चेतना।
वायु — प्राणशक्ति।



हां, मित्र वरन् दो शक्तियों (महालक्ष्मी और महासरस्वती) के मिश्रित रूप हैं।



वायु और इंद्र वैश्व देवता हैं और वैश्व तत्त्वोंके कार्यके ऊपर अधिष्ठान करते हैं—वे प्रत्येक मनुष्यमें विद्यमान मनोमय पुरुष या प्राणमय पुरुष नहीं हैं।

पुरुष एक मौलिक सत्ता है जो प्रकृतिकी क्रीड़ाको सहारा देती है; देवता (इंद्र, वायु आदि) एक क्रियाशील सत्ता है जो उस लोकके कार्यके लिये प्रकृतिमें अभिव्यक्त किया गया है जिसके साथ उसका संबंध है।



ब्रह्मा, विष्णु और शिव एकतम विश्वदेवकी केवल तीन शक्तियां और व्यक्तिरूप हैं।



ब्रह्मा भगवान्‌की वह शक्ति हैं जो रूपनिर्माण और सृष्टिके पीछे अवस्थित रहती है।



विष्णुके स्रष्टा होनेकी बात: सच पूछा जाय तो सभी तीनों देवताओंको बहुधा विश्वका स्रष्टा कहा गया है—यहांतक कि शिवको भी, जो कि परंपराके अनुसार संहारकर्त्ता हैं।



शिव और अधिमानसके बीच कोई विशेष संबंध नही है—अधिमानस-लोक सभी देवताओंका उच्चतर धाम है। यह अधिक अच्छा है कि इसे तबतक अधिमानस न कहा जाय जबतक कि इसका कार्य स्पष्ट नही हो जाता और कोई भूल होनेकी संभावना नहीं रह जाती।



महाशिवका अर्थ है साधारणतया शिवरूपमें पूजित देवतासे कहीं श्रेष्ठतर अभिव्यक्ति—शक्तिको अभिव्यक्त करनेवाले एक महत्तर भगवान्का सृजनात्मक नृत्य।



तुमने जो पार्वती-शंकरके जगत्के रूपमें देखा था वह संभवतः उच्चतम मानस-लोकसे देखा हुआ सक्रिय सृजनकारी आत्माका राज्य है।



शिव तपस्के स्वामी हैं। वह शक्ति तपस्की शक्ति है। देवता-रूपमें कृष्ण आनंद, प्रेम और भक्तिके स्वामी हैं; अवतारके रूपमें वह ज्ञान और कर्मके एकत्वको अभिव्यक्त करते और इसकी सहायतासे पार्थिव क्रमविकासको आनंद, प्रेम और भक्तिद्वारा भगवान्के साथ एकत्वकी ओर ले जाते हैं।

देवी भागवती शक्ति है—भगवान्की चेतना और शक्ति, जगत्की जननी और क्रियाशक्ति है। समस्त शक्तियां उसीकी शक्तियां हैं। कभी-कभी देवी-शक्तिका अर्थ सर्वव्यापी जागतिक दिव्य ऊर्जाकी शक्ति भी हो सकता है, पर यह शक्तिका केवल एक पक्ष है।



मैं समझता हूं यह दिव्य प्रेम और आनंदके प्रभुके रूपमें श्रीकृष्णकी मूर्त्ति है—और उनकी वंशी भौतिक सत्ताको भौतिक जगत्की आसक्तियोंकी निद्रासे जगकर उसी प्रेम और आनंदकी ओर मुड़ जानेके लिये पुकारती है।



वंशीके साथ बालक श्रीकृष्ण है, वह भगवान् हैं जो दिव्य आनंद-धामसे जगत्-लीलामें अवतरित हुए थे; उनकी बांसुरी उस पुकारका

संगीत है जो मर्त्य जीवनकी निम्नतर अज्ञानपूर्ण लीलाको रूपांतरित करने तथा उसके अंदर उनके दिव्य आनंदकी लीलाको उतार लाने और उस (निम्नतर अज्ञानपूर्ण लीला) के स्थानमें स्थापित करनेका प्रयत्न करती है। तुम्हारे अंदर वह चैत्य पुरुष था जिसने उस पुकारको सुना और उसका अनुसरण किया।



यह गीताके कृष्ण हैं (बालक कृष्ण वृंदावनके कृष्ण हैं), वह कृष्ण जो, केवल प्रेम और भक्ति ही नहीं—आध्यात्मिक ज्ञान, संकल्प और भक्ति ले आ रहे हैं।

आंख उच्चतर आध्यात्मिक चेतनाकी दृष्टिको सूचित करती है और नीला रंग उस चेतनाके विस्तारको सूचित करता है।



वृद्ध निम्नतर प्रकृतिके अज्ञानके ऊपर प्राप्त विजयको सूचित करते हैं।



नारद भागवत प्रेम और ज्ञानकी अभिव्यक्तिके प्रतीक हैं।



गणेश वह शक्ति हैं जो ज्ञानके बलसे बाधाओंको दूर करती है; कार्तिकेय विरोधी शक्तियोंके ऊपर विजयको सूचित करते हैं। निस्संदेह, उनके नाम मनुष्योंके दिये हुए नाम हैं, पर देवताओंका अस्तित्व है।



गणेश (अन्य वस्तुओंके साथ-साथ) आध्यात्मिक ज्ञानके देवता हैं—अतएव, तुम चूंकि यह ज्ञान प्राप्त कर रहे हो तुमने अपने-आपको गणेशके साथ इस रूपमें एकात्म देखा।



मयूर विजयका पक्षी है और कार्तिकेय दिव्य शक्तियोंके नायक हैं।

II

विरोधी शक्तियां हैं और एशियामें वेद और जरतुश्तके जमानेसे (और मिस्र और यहूदियोंके रहस्यवादके युगसे) तथा यूरोपमें भी प्राचीन युगोंसे सर्वदा ही यौगिक अनुभवको ज्ञात रहे हैं। ये चीजें निस्संदेह, तबतक ज्ञात या अनुभूत नहीं हो सकतीं जबतक कि मनुष्य साधारण मनमें तथा उसकी भावनाओं और बोधोंमें निवास करता है; क्योंकि वहां, केवल दो ही प्रकारके प्रभाव पहचानने योग्य होते हैं, स्वयं अपने तथा दूसरोंके विचार, अनुभव और कार्य तथा परिपार्श्व एवं भौतिक शक्तियोंकी लीला। परंतु एक बार जब मनुष्य वस्तुओंको आंतरिक रूपसे निरीक्षण करना आरंभ कर देता है, तब बात दूसरी हो जाती है। मनुष्य यह अनुभव करना प्रारंभ कर देता है कि सब कुछ शक्तियोंका, प्रकृतिकी, मनोवैज्ञानिक तथा भौतिक, शक्तियोंका कार्य है जो शक्तियां कि हमारी प्रकृतिपर क्रीड़ा करती हैं—और ये सचेतन शक्तियां हैं अथवा पीछे विद्यमान एक चेतना या चेतनाओंसे धारित होती हैं। मनुष्य एक विशाल वैश्व क्रियाधाराके बीचमें होता है और अब प्रत्येक चीजकी व्याख्या अपने निजी एकमात्र और स्वतंत्र व्यक्तित्वके परिणामके रूपमें देना असंभव हो जाता है। तुमने स्वयं ही एक बार लिखा था कि तुम्हारी निराशा आदिकी विषम अवस्थाएं तुम्हारे ऊपर इस प्रकार आयीं मानो वे तुमपर फेंक दी गयी हों और उन्हें समझने या उनका अंत करनेकी तुम्हारी अक्षमताके बावजूद वे स्वयं ही कार्यान्वित हो गयीं। इसका तात्पर्य है वैश्व शक्तियोंका कार्य, न कि महज तुम्हारे अपने व्यक्तित्वका कोई स्वतंत्र कार्य, यद्यपि तुम्हारी प्रकृतिमें कोई ऐसी वस्तु है जिसका उन्होंने उपयोग किया। परंतु तुम, और दूसरे भी, मूलतः इस हस्तक्षेप और दबावके विषयमें, मेरे कथित कारणसे, सचेतन नहीं हो। जिन लोगोंने, प्राण-स्तरपर वस्तुओंके आंतरिक रूपको देखनेकी क्षमता विकसित कर ली है, उन्हें विरोधी शक्तियोंका प्रचुर अनुभव होता है। परंतु तुम्हें व्यक्तिगत रूपसे उनके साथ तबतक कोई सरोकार नहीं रखना चाहिये जबतक कि वे तुमसे अज्ञात बनी रहती हैं।

इस ज्ञानके आये बिना तुम मानसिक स्तरपर अनुभूतियां प्राप्त कर सकते हो; क्योंकि वहां मन और विचार प्रमुख होते हैं और मनुष्य

शक्तियोंके खेलको अनुभव नहीं करता—केवल प्राण-जगत्‌में ही वह सुस्पष्ट होता है। मानस-स्तरपर वे अधिक-से-अधिक मानसिक सूचना-ओंके रूपमें प्रकट होते हैं, किसी ठोस शक्तिके रूपमें नहीं। फिर कोई व्यक्ति यदि केवल मनसे (यदि वह आंतर मन हो तो भी) वस्तुओंकी ओर देखता है तो वह प्रकृतिकी शक्तियोंकी सूक्ष्म क्रीड़ा देख सकता है परंतु सज्ञान अभिप्रायको पहचाने बिना देख सकता है जिसे हम विरोधी कहते हैं।



असुर दो प्रकारके हैं—उनकी एक जाति अपने मूलमें दिव्य थी पर वह आत्मसंकल्प रखने तथा भगवान्‌के आशयका विरोध करनेके कारण अपनी दिव्यतासे पतित हो गयी है: हिन्दू ग्रंथोंमें उनके विषयमें कहा गया है कि वे पूर्वकालीन या आदि देवता हैं; वे परिवर्त्तित हो सकते हैं और उनका परिवर्तन निश्चय ही विश्वके अंतिम उद्देश्यकी सिद्धिके लिये आवश्यक है। परंतु साधारण असुर इस प्रकारका नहीं है, क्रमविकसनशील नहीं है, बल्कि स्थिरगुणधर्मवाली सत्ता है तथा सृष्टिके एक स्थिर तत्त्वका प्रतिनिधि है जो विकसित नहीं होता और न उसके लिये वैसा करना अभिप्रेत है। ये असुर, जैसे अन्य विरोधी सत्ताएं, राक्षस, पिशाच तथा दूसरे भी, ईसाई-परंपराके 'डेविल्स' (शैतान) से मिलते-जुलते हैं और भागवत उद्देश्य तथा मनुष्यमें होनेवाले क्रमविकास-के आशयका विरोध करते हैं; वे अपने अंदर विद्यमान उद्देश्यको नहीं बदलते, जिसके लिये वे अस्तित्व रखते हैं और जो कि अशुभ है, बल्कि अशुभकी तरह ही उन्हें भी नष्ट हो जाना पड़ता है। असुरको अंत-रात्मा नहीं होता, कोई चैत्य पुरुष नहीं होता जिसे किसी उच्चतर अवस्थामें विकसित होना हो; उसमें केवल अहंकार होता है और सामान्यतया वह बहुत ही शक्तिशाली अहंकार होता है; उसमें मन होता है, यहांतक कि अत्यंत विकसित मन-बुद्धि होती है; परंतु उसके चिंतन और अनुभवका आधार प्राणिक होता है न कि मानसिक, सत्यकी सेवाके लिये नहीं बल्कि उसकी कामनाकी सेवाके लिये होता है। वह एक विशेष प्रकारके कार्यके लिये प्राणिक तत्त्वका ग्रहण किया हुआ एक रूप होता है, कोई दिव्य रूप या कोई अंतरात्मा नहीं होता।



असुर और राक्षस आदि पृथ्वीकी सत्ताएं नहीं हैं, वल्कि अतिभौतिक जगतोंकी सत्ताएं हैं। परंतु वे पार्थिव जीवनपर क्रिया करते हैं और मानव-जीवन और चरित्र और कर्मपर अधिकार जमानेके लिये देवताओंसे युद्ध करते हैं। वे अंधकारकी शक्तियां हैं और ज्योतिकी शक्तियोंके साथ लड़ाई करते हैं।

कभी-कभी वे मनुष्योंके द्वारा कार्य करनेके लिये उन्हें अधिकृत कर लेते हैं, कभी-कभी वे मनुष्य-शरीरमें जन्म ग्रहण करते हैं। जव जागतिक लीलामें उनका कोई उपयोग नहीं रह जायगा तव वे या तो परिवर्तित हो जायंगे या विलीन हो जायंगे या पृथ्वी-लीलामें हस्तक्षेप करनेका अव और प्रयत्न नहीं करेंगे।



असुर वास्तवमें मनोमय स्तर, अथवा अधिक यथार्थ रूपमें कहें तो, प्राणिक-मनोमय स्तरके काले पक्षको व्यक्त करते हैं। यह मन ही असुरोंका असली क्षेत्र है। इनके प्रमुख विशेषत्व हैं अहंपूर्ण शक्ति और संघर्ष, जो उच्चतर विज्ञानको अस्वीकार करते हैं। असुरमें आत्म-संयम, तपस् और वुद्धि होती हैं, पर यह सव होता है उसके अहंकारके लिये। निम्नतर प्राणलोकमें उनसे मिलती-जुलती सत्ताओंको हम राक्षस कहते हैं जो तीव्र आवेगों और प्रभावोंके प्रतिनिधि होते हैं। प्राण-लोकमें दूसरे प्रकारकी भी सत्ताएं हैं जिन्हें पिशाच और प्रमथ कहते हैं। ये प्रायः भौतिक-प्राणिक स्तरपर व्यक्त होते हैं।

भौतिक स्तरपर इनसे मिलती-जुलती जो सत्ताएं होती हैं वे अंधकारमय सत्ताएं होती हैं, सत्ताकी अपेक्षा कहीं अधिक शक्तियां होती हैं। इन्हें ही थियासोफिस्ट लोग 'एलिमेण्टल्स' (तात्त्विक सत्ताएं) कहते हैं। ये राक्षस और असुरकी तरह प्रवल रूपसे व्यक्तिरूपसंपन्न सत्ताएं नहीं होतीं, वल्कि सूक्ष्म-भौतिक स्तरपर काम करनेवाली अज्ञ और तमसाच्छन्न सत्ताएं होती हैं। जिन्हें हम संस्कृतमें भूत कहते हैं वे अधिकांश इसी श्रेणीके होते हैं। परंतु ये तात्त्विक सत्ताएं दो प्रकारकी होती हैं—एक प्रकारकी सत्ताएं तो दुष्ट प्रकृतिकी होती हैं और दूसरे प्रकारकी वैसी नहीं होतीं।

उच्चतर लोकोंमें, जहां सत्यका राज्य होता है वहां कोई असुर नहीं होता, सिवा वैदिक अर्थमें—"भगवान् अपनी शक्तिमें

रूपमें"। मानसिक और प्राणिक असुर केवल उसी शक्तिके विकृत रूप होते हैं।



हां, कई प्रकारके असुर बड़े धार्मिक, अपने धर्मके विषयमें बड़े कट्टर, नैतिक आचारके नियमोंके विषयमें बहुत अटल होते हैं। दूसरे प्रकारके, निस्संदेह, ठीक इसके विपरीत होते हैं। कुछ दूसरे ऐसे होते हैं जो आध्यात्मिक विचारोंका उपयोग, उनमें विश्वास रखे बिना, उन्हें विकृत रूप देने तथा साधकोंको भ्रममें डालनेके लिये करते हैं। यह वही बात है जिसका वर्णन करते हुए शेक्सपियरने कहा था: अपने निजी उद्देश्यके लिये शास्त्रका उद्धरण देनेवाला शैतान।

वर्तमान समयमें वे सबसे अधिक जो कुछ कर रहे हैं वह है अत्यंत भौतिक मन, प्राण और जड़-भौतिक भागोंकी अंधता तथा दुर्बलताको साधनाकी प्रगति या सिद्धिको रोकनेके लिये ऊपर उठा लानेकी चेष्टा करना।



गंधर्व प्राण-लोकमें होते हैं पर वे प्राणिक देवता हैं, असुर नहीं हैं। बहुतसे असुर देखनेमें सुंदर होते हैं और अपने साथ एक प्रकारकी श्री-शोभा या ज्योति भी वहन कर सकते हैं। राक्षस, पिशाच आदि ही ऐसे होते हैं जो देखनेमें कुरूप या गर्हित होते हैं।



विरोधी शक्तियां : इस जगत्में वे जिस उद्देश्यकी पूर्ति करती हैं वह है अचेतना और अज्ञानकी संभावनाओंको पूरा-पूरा अवसर प्रदान करना—क्योंकि इस जगत्की सृष्टि इसलिये हुई थी कि यहां इन संभावनाओंको इस प्रकार क्रियान्वित किया जाय कि अंतमें इसके परिणामस्वरूप अतिमानसिक सामंजस्य प्रकट हो। यहां, आश्रममें जो जीवन, जो कार्य विकसित हो रहा है उसे जगत्की समस्यासे निपटना होगा और इसलिये उसे मनुष्यके अंदर विद्यमान विरोधी शक्तियोंकी क्रियाके साथ संघर्ष करना होगा—वह उससे किनाराकशी नहीं कर सकता।



निश्चय ही यह विश्व अबतक ऊपरसे देखनेमें एक भद्दा और खर्चीला खेल है या अभीतक रहा है जिसमें संयोगका पासा अंधकारकी शक्तियों, अंधता, मिथ्यात्व, मृत्यु और दुःख-क्लेशके प्रभुओंके पक्षमें पड़ता रहा है। परंतु हमें इसे वैसे ही लेना होगा जैसा यह है और हमें—यदि हम प्राचीन ज्ञानियोंके पथका परित्याग करें—जीतनेका मार्ग खोज निकालना होगा। आध्यात्मिक अनुभव बतलाता है कि इस सबके पीछे समता, शांति, स्थिरता, स्वतंत्रता आदिका एक विशाल क्षेत्र विद्यमान है और केवल उसके अंदर प्रवेश करनेपर ही हम वह आंख प्राप्त कर सकते हैं जो देखती है और वह शक्ति उपलब्ध कर सकते हैं जो विजयी होती है।



यदि कोई विरोधी शक्ति न होती और फिर भी क्रमविकसनशील यह जगत् होता तो फिर भी अज्ञान हो सकता था पर अज्ञानमें कोई विकृति नहीं होती। उस समय सब कुछ आंशिक सत्य होता जो केवल एक प्रगतिशील अभिव्यक्तिके अंदर किसी-न-किसी स्तरके सर्वोत्तम उद्देश्योंकी पूर्त्तिके लिये अपूर्ण यंत्रोंके द्वारा कार्य करता।



वे विरोधी शक्तियां नहीं हैं, वे केवल साधारण प्रकृतिकी शक्तियां हैं। विरोधी शक्तियां तो वे हैं जो प्रत्येक चीजको विकृत कर देनेकी कोशिश करती हैं और भगवान्के विरुद्ध विद्रोह करतीं तथा योगका विरोध करती हैं।



ज्योतिकी निम्न कोटिकी शक्तियां सामान्यतया सफलताको अपना न्याय-तर्क अथवा अपना नियम बनानेके लिये सत्यकी खोजपर अत्यधिक बल देती हैं—विरोधी शक्तियां अत्यंत स्वमताभिमानी होतीं और सत्यकी परवा नहीं करतीं, वे केवल सफलता चाहती हैं। महत्तर शक्तियोंका (जैसे, अधिमानसिक शक्तियोंका) जहांतक प्रश्न है, वे शक्तिशाली होती हैं और सर्वदा चेतनाको प्रभावशाली बनानेकी चेष्टा करती हैं, पर वे चेतनापर बल देती हैं, जब कि विरोधी शक्तियां उसके लिये कोई परवा

नहीं करतीं—जितना ही अधिक तुम अचेतन होते और उनके स्वचलित यंत्र होते हो, उतना ही अधिक वे प्रसन्न होती हैं—क्योंकि अचेतनता ही वह चीज है जो उन्हें अपने कार्यका मौका प्रदान करती है।



इस जगत् और विरोधी शक्तियोंके संपर्ककी बात लें; इसमें संदेह नहीं कि सर्वदा यही साधककी प्रमुख कठिनाइयां होती हैं, परंतु इस जगत् और विरोधी शक्तियोंको रूपांतरित करना एक बहुत बड़ा कार्य है और व्यक्तिगत रूपांतरका कार्य इसके लिये प्रतीक्षा नहीं कर सकता। जो कुछ करना आवश्यक है वह यह है कि दिव्य शक्तिके अंदर निवास किया जाय जिससे ये चीजें, ये बाधक तत्त्व प्रवेश न कर सकें या, यदि ये प्रवेश करें तो बाधा न डाल सकें, और फिर इसके द्वारा इतना विशुद्ध और शक्तिशाली बन जाया जाय कि अपने अंदर किसी विरोधी चीजके प्रति कोई प्रत्युत्तर न उत्पन्न हो। यदि हमारे ऊपर संरक्षक आच्छादन हो, हमारे अंदर आंतरिक शुद्धिकारक अवतरण हो और, उसके फलस्वरूप, आंतर सत्तामें उच्चतर चेतना स्थापित हो जाय और अंतमें अत्यंत बाह्य और बाहरी और कार्य करनेवाले भागोंमें भी पुरानी अज्ञानपूर्ण चेतनाका स्थान वह उच्चतर चेतना ले ले तो इस जगत् और विरोधी शक्तियोंसे फिर कुछ नहीं आता-जाता—कम-से-कम साधककी अपनी आत्माके लिये; क्योंकि एक बृहत्तर कार्य भी है जो व्यक्तिगत नहीं है और जिसमें, निस्संदेह, उनके साथ निपटना होगा; पर वर्तमान अवस्थामें उसे प्रमुख कार्य बनानेकी कोई आवश्यकता नहीं।



वास्तवमें निम्नतर प्रकृतिकी क्रियाएं विशुद्ध होती हैं। असुर इतनी आसानीसे रूपांतरित नहीं होते।



असुरोंका जहांतक प्रश्न है, उनमें अभी बहुत अधिक ऐसे नहीं हैं जो पश्चात्ताप तथा परिवर्तनकी संभावनाके लक्षण दिखावें। इसमें कोई आश्चर्यकी बात नहीं कि वे अज्ञानके जगत्में शक्तिशाली हैं, क्योंकि उन्हें लोगोंको अपनी निम्नतर प्रकृतिकी रूढ़ प्रवृत्तियोंका अनुसरण करनेके

लिये समझाकर देता है, जब कि भगवान्‌की पुकार बराबर प्रकृतिके परिवर्तनके लिये होती है। इस बातपर चकित होनेकी कोई बात नहीं कि अशुभका कार्य अपेक्षाकृत सहज है और उसके मेलजोलसे अधिक क्षणस्थायी सफलता मिलती है। परंतु वह अस्थायी सफलता भविष्यको नहीं रोकती।



कुछ प्राणिक सत्ताएं बहुत बुद्धिमती होती हैं पर वे ज्योतिके साथ दोस्ती नहीं करतीं—वे केवल विनाशसे बचनेका प्रयास करती हैं और अपने समयकी प्रतीक्षा करती हैं।



अशुभ शक्तियां अज्ञानद्वारा विकृत सत्यकी शक्तियां हैं—किसी प्रकारका पूर्ण रूपांतर हो जानेपर वे अवश्य विलीन हो जायंगी और उनके पीछे जो दिव्य सत्य है वह मुक्त हो जायगा। इस तरह यह कहा जा सकता है कि वे विनाशके द्वारा रूपांतरित हो गयी हैं।

7. अवतारका उद्देश्य

निश्चय ही, पार्थिव चेतनाके लिये स्वयं यह तथ्य ही कि भगवान् प्रकट होते हैं, एक महान्से महान् घटना है। जरा यहां पृथ्वीपरके अंधकारकी ओर तो देखो और यह विचार करो कि यदि भगवान् सीधे हस्तक्षेप न करते और ज्योतियोंकी ज्योति अंधकारमेंसे न फूट निकलती—क्योंकि भागवत अभिव्यक्तिका यही अर्थ है—तो क्या अवस्था होती!



भागवत चेतना और सत्ता जब शरीरके द्वारा अभिव्यक्त होती हैं तो उसे ही अवतार कहते हैं। किसी भी स्तरसे ऐसा होना संभव है।



सर्वव्यापी विश्वगत भगवान् ही विश्वके कार्यके अवलंब हैं; यदि कोई अवतार आता है तो उससे तीन या तीस लाख विश्वोंमें भी इस विश्वगत उपस्थिति और वैश्व कार्यमें जरा भी कमी नहीं आती।



अवतरित होनेवाली शक्ति (अवतार) अपनी अभिव्यक्तिके लिये स्वयं अपने स्थान, शरीर और समयका चुनाव करती है।



अवतार उस समय आवश्यक होता है जब कोई विशेष कार्य करना होता है और विकासक्रममें संकटकाल उपस्थित होते हैं। अवतार एक विशिष्ट अभिव्यक्ति होता है, जब कि बाकी समय भगवान् साधारण मनुष्यकी सीमाओंके अधीन विभूतिके रूपमें कार्य करते हैं।



अवतार-तत्त्वको यदि क्रमविकासके साथ न जोड़ा जाय तो फिर उसका बहुत मामूली ही अर्थ रह जायगा। हिंदुओंकी दस अवतारोंकी परंपरा भी एक तरहसे क्रमविकासका ही रूपक है। सबसे पहले मत्स्य अवतार, फिर जल और थलके बीचका उभयचर प्राणी कूर्म अवतार, फिर स्थलका पशु वाराह, फिर मनुष्य और पशुको जोड़नेवाला नरसिंह अवतार, फिर वामन-रूपमें मनुष्य, जो छोटा, अविकसित और भौतिक होनेपर भी देवत्वको अपने अंदर धारण किये हुए था तथा समूची व्यक्त सत्तापर उसका अधिकार था, उसके बाद आये राजसिक, सात्त्विक और निर्गुण अवतार जो मानवविकासको प्राणगत राजसिक मनुष्यसे ऊपर उठाकर सात्त्विक मनोमय मनुष्यतक ले गये और फिर अधिमानसिक अतिमानवतक ले गये। कृष्ण, बुद्ध और कल्कि अंतिम तीन अवस्थाओंको, आध्यात्मिक विकासके स्तरोंको दर्शाते हैं। कृष्ण अधिमानसकी संभावनाको उद्घाटित करते हैं, बुद्ध परे चरम मुक्तितक चले जानेका प्रयास करते हैं पर वह मुक्ति अभी अभावात्मक है, वह भावात्मक रूपसे क्रमविकासको पूर्ण बनानेके लिये पृथ्वीपर वापस नहीं आते; इसका सुधार करते है कल्कि जो विरोधी आसुरिक शक्तियोंका नाश करके पृथ्वीपर भगवान्‌का राज्य स्थापित करते हैं। विकासकी यह प्रगति बरबस ध्यान आकर्षित करती है और इसे समझनेमें भूलकी कोई गुंजायश नहीं।

अब रही अवतारके जीवनोंके बीचके जीवनोंकी बात। यहां यह याद रखना चाहिये कि कृष्ण भूतकालमें होनेवाले बहुतसे जीवनोंकी बात कहते हैं, केवल कुछ थोड़ेसे प्रधान जन्मोंकी ही नहीं कहते, और दूसरे, जहां वह एक ओर अपनेको भगवान् कहते हैं वहीं दूसरे श्लोकमें वह अपनेको एक विभूति बतलाते है, 'वृष्णीनां वासुदेवः।' अतएव हम सहज ही यह मान सकते हैं कि बहुतसे जीवनोंमें उन्होंने अपनेको विभूतिके रूपमें प्रकट किया और पूर्णतर भागवत चेतनाको पर्देकी ओट रखा। यदि हम यह स्वीकार करते हैं कि अवतारका उद्देश्य क्रमविकासको आगे बढ़ाना है तो यह बात बिलकुल युक्तिसंगत मालूम होती है, भगवान् महान् संक्रमणकी अवस्थाओंमें तो अवतार बनकर प्रकट होते हैं और साधारण संक्रमण-कालोंमें विभूति बनकर आते हैं।

⊙

यदि इससे (अधिमानसिक मुक्तिसे) परे कोई चीज है तो यह (अधिमानसिक मुक्ति) चरम नहीं हो सकती—पर एक मुक्ति उच्चतर मनमें भी है। जब मैंने चरम मुक्तिकी बात कही थी तब मैंने महज बौद्ध-अद्वैतकी दृष्टिको ही स्वीकार कर लिया था और यह कहकर उसमें सुधार कर लिया था कि निर्वाणकी यह दृष्टि अत्यंत अभावात्मक है। कृष्णने अधिमानसकी संभावनाओंको उद्घाटित किया और उसमें उपलब्धिके दो पक्ष थे—स्थितिशील (निष्क्रिय) और क्रियाशील। बुद्धने मनसे सीधे परात्परमें जाकर निर्वाण पानेकी चेष्टा की, ठीक जैसे कि उनके बाद शंकरने दूसरे पथसे की। दोनों ही दूसरी अवस्थाओंको लांघ जाने तथा नाम-रूपहीन केवल ब्रह्मको पानेकी चेष्टा करनेमें एकमत हैं। पर कृष्ण, इसके विपरीत, क्रमविकासकी सामान्य धाराका अनुसरण करते हुए आगे ले जा रहे थे। दूसरा सामान्य पग निराकार ब्रह्म नहीं है बल्कि अतिमानस है। मैं समझता हूं कि कूदकर ऊपर चले जानेकी चेष्टा करके शंकरकी तरह बुद्धने भी भूल की और मुक्तिके सक्रिय पक्षका त्याग कर दिया। अतएव कल्किको उसमें सुधार करना होगा।

मैं वास्तवमें "क्रमविकासके रूपक"के रूपमें दस अवतारोंकी व्याख्या कर रहा था और उस दृष्टिकोणसे जो व्याख्या हम दे सकते थे उसे ही समझा रहा था। उस समय मैं जो कुछ बता रहा था वह उस विषयमें मेरा निजी दृष्टिकोण नहीं था।



कल्किके विषयमें दिये गये पूरे ब्यौरेको बहुत अधिक महत्त्व देनेकी कोई आवश्यकता नहीं—वह कोई भावी इतिहासकी ब्यौरेवार भविष्य-वाणी नहीं है बल्कि एक प्रतीकात्मक वर्णन है। जो कुछ व्यक्त किया गया है वह आगे होनेवाला है, पर वह सब प्रतीकात्मक ढंगसे सूचित किया गया है, इससे अधिक कुछ नहीं।

उसी तरह पुराणोंमें वर्णित युगोंके वर्षोंकी ठीक-ठीक संख्यापर भी बहुत अधिक जोर देनेकी कोई जरूरत नहीं। यहां भी काल और युग क्रमविकासके चक्रमें आनेवाले क्रम-विभागको,—नये जन्मसे पहले आने-वाली मानवजातिकी पूर्ण स्थिति, पतन और विनाशके क्रमिक युगोंको सूचित करते हैं,—इसमें गणितके ढंगसे हिसाब-किताब लगाना महत्त्वपूर्ण नहीं है। कलियुगका अंत आ गया है या आ रहा है तथा एक नया

सत्ययुग आ रहा है—यह तर्क अब बहुत लोग करने लगे हैं और ऐसे अनेक लोग हैं जो इस बातपर विश्वास करते हैं।



मैंने केवल अवतारोंकी पौराणिक सूची ली थी और उसकी व्याख्या क्रमविकासके रूपकके रूपमें की थी। मेरा मतलब यह दिखाना था कि क्रमविकासकी भावना अवतारवादके सिद्धांतके पीछे सन्निहित है। रही बुद्धको अवतार मानने या उनके स्थानमें किसी दूसरेको बैठानेकी बात (कुछ सूचियोंमें बुद्धके स्थानमें बलरामका नाम पाया जाता है), सो यह विषय व्यक्तिगत भावनाका है। बौद्ध जातकोंमें बुद्धके पुराने जन्मोंकी कहानियां दी गयी हैं और बहुधा उनके साथ कोई शिक्षा जुड़ी हुई है। ये जातक हिंदू परंपराके अंग नहीं हैं। बौद्धोंके लिये बुद्ध बिलकुल अवतार नहीं थे, वह तो एक ऐसी आत्मा थे जो आध्यात्मिक क्रमविकासकी सीढ़ीपर चढ़कर मुक्तिकी अंतिम अवस्थाको पहुंच गयी थी—यद्यपि हिंदुओंके प्रभावके कारण बौद्धोंने भी सबसे ऊपर एक शाश्वत बुद्धकी भावनाको विकसित किया था, पर यह कोई सर्वमान्य या मौलिक बौद्धिक भावना नहीं थी। अब रहा यह प्रश्न कि क्या भगवान्‌ने अपने अवतारोंको प्रकट करनेके लिये क्रमविकासकी धाराका अनुसरण एकदम अंतिम स्तरसे किया और प्रत्येक स्तरपर एक विभूतिके रूपमें अवतारको प्रकट किया और इसका उत्तर अनिवार्य रूपसे नकारात्मक नहीं है। अगर हम क्रमविकासकी भावनाको स्वीकार करें तो ऐसी बातको स्थान मिल सकता है।

यदि बुद्धने कृष्णसे भिन्न शिक्षा दी तो यह बात आध्यात्मिक विकासके अंदर उनके आविर्भावके आवश्यक होनेसे नहीं रोकती। प्रश्न बस यह है कि विश्व-सत्ताकी अस्वीकृतिके द्वारा विशुद्ध निर्वाणकी चोटियोंपर आरोहण करनेका प्रयत्न करना आवश्यक पग था या नहीं; अवश्य ही इस तथ्यपर दृष्टि रखकर ही इस प्रश्नको देखना होगा कि मनुष्य 'नेति-नेति' और 'इति-इति', दोनों पथोंसे सर्वोच्च सत्यतक पहुंचनेका प्रयास कर सकता है।



उन्होंने (बुद्धने) वास्तवमें किसी अज्ञेय वस्तुकी स्थापना की जो

चिरस्थायी और अनभिव्यक्त है। अद्वैत मत भी यही करता है। बुद्धने कभी ऐसा नहीं कहा कि वह साकार भगवान्‌के अवतार हैं, बल्कि उन्होंने यह कहा कि वह बुद्ध हैं। सच पूछो तो हिंदुओंने उन्हें अवतार बनाया। यदि बुद्धने अपने-आपको अवतारके रूपमें देखा होता तो वह अवतार नैर्व्यक्तिक सत्यका ही अवतार हुआ होता।

⊙

मैं नहीं जानता कि इतिहासमें कोई दूसरा बुद्ध हुआ होगा। मैं समझता हूं कि वैष्णव पुराणोंने अवतारोंकी सूची तैयार की थी, क्योंकि पुराणोंके अनुसार वे सब विष्णुके अवतार हैं। संभवतः सब लोगोंने अंतिम रूपसे इसे शंकरके बाद ही स्वीकार किया होगा जब कि बौद्धों और ब्राह्मणोंका झगड़ा समाप्त हो गया होगा। क्योंकि कुछ दिनोंतक बुद्धके स्थानमें बलरामका नाम रखनेकी प्रवृत्ति थी अथवा यह कहा जाता था कि बुद्ध विष्णुके अवतार तो थे पर वह असुरोंको बहकानेके लिये आये थे। विष्णु पुराणकी माया-मोहकी कहानीमें स्पष्ट ही उन्हीं-को लक्ष्य बनाया गया है।

⊙

यदि भागवत चेतना और शक्ति अवतरित हुई तथा उस व्यक्तित्वके द्वारा जिसे हम बुद्धके नामसे पुकारते हैं, जगत्‌के लिये कोई महान् कार्य किया तो बुद्धको अवतार कहा जा सकता है—तपस्या और ज्ञानकी प्राप्ति तो केवल उस अभिव्यक्तिसे संबंधित एक घटना है।

यदि, इसके विपरीत, बुद्ध अन्य बहुतसे लोगोंकी तरह केवल एक मानव-प्राणी थे जिसने कुछ ज्ञान प्राप्त किया और उसका प्रचार किया, तब फिर वह अवतार नहीं थे—क्योंकि उस प्रकारके तो हजारों लोग हो चुके हैं और वे सभी अवतार नहीं हो सकते।

⊙

कृष्ण अतिमानसिक ज्योति नहीं हैं। कृष्णके अवतरणका अर्थ होगा अधिमानसिक भगवान्‌का अवतरण जो वास्तवमें स्वयं तो अति-मानसिक नहीं हैं, पर अतिमानस और आनंदके अवतरणकी तैयारी करते हैं। कृष्ण हैं आनंदमय; वह अधिमानसके द्वारा क्रमविकासकी सहायता करते और उसे आनंदकी ओर ले जाते हैं।

⊙

कोई मनुष्य इस जीवनमें अतिमानस और उसके परे पहुंचे विना भी किसी आध्यात्मिक संस्थाका अधिष्ठाता या किसी धर्मका मसीहा या कोई अवतार हो सकता है।



गीतामें प्रयुक्त 'युगे युगे'[1] का व्यवहार साधारण अर्थमें किया जा सकता है जैसे कि अंग्रेजीमें 'From age to age' (फ्राम एज टु एज) पदका प्रयोग होता है और पारिभाषिक रूपमें पौराणिक गणनाके अनुसार निश्चित युगोंकी ओर उसका संकेत नहीं भी हो सकता। परंतु 'वहूनि'[2] में मेरे (कृष्णके) विभिन्न जन्मोंकी ओर संकेत करनेका भाव है, विशेषकर जब कि वह 'तव च' पदके साथ जुड़ा हुआ है। ऐसी हालतमें ये सभी जन्म पूर्ण अवतार नहीं हो सकते,—वहुतसे महज विभूतिजन्म हो सकते है जो एक अवतारसे दूसरे अवतारतक योगसूत्रको वहन करते है। हरएक जन्ममें उनके साथ अर्जुनके होनेके विषयमें कुछ भी (गीतामें) नहीं कहा गया है, पर ऐसा होना संभव नहीं प्रतीत होता—निस्संदेह वहुतसे जन्मोंमें साथ होना संभव हो सकता है।



परंतु प्रत्येक जीव अपने नये जन्ममें एक नया मन, नया प्राण और नया शरीर तैयार करता है—अन्यथा मि० स्मिथ वरावर मि० स्मिथ ही वने रहेंगे और उन्हें कभी पीयूषकांति घोष होनेका सुयोग नहीं प्राप्त होगा। निःसंदेह, अंदरकी ओर पुराने व्यक्तित्व वने रहते हैं जो नये जीवनमें हिस्सा वंटाते हैं—पर मैं कह रहा हूं नये दृश्य व्यक्तित्वकी वात, वाहरी मनुष्य, उसके मन, प्राण और शरीरकी वात। एक जन्मसे दूसरे जन्मकी कड़ीको वास्तवमें चैत्य पुरुष वनाये रखता है और उस एक व्यक्तिकी समस्त अभिव्यक्तियोंको तैयार करता है। इसलिये हम यह आशा कर सकते है कि अवतार प्रत्येक वार एक नया व्यक्तित्व ग्रहण कर सकता है, एक ऐसा व्यक्तित्व जो नये समय, कार्य और परिस्थितियों-

---

1. अपने वहुतसे जन्मोंके संवंधमें श्रीकृष्ण कहते हैं—संभवामि युगे-युगे (गीता 4/8)।

2. वहूनि मे व्यतीतानि जन्मानि तव चार्जुन। (गीता 4/5)।

के अनुकूल हो। परंतु इस विषयमें जो मेरा विचार है वह यह है कि इस नये व्यक्तित्वके पीछे अवतारके जन्मोंकी एक लंबी कतार होती है, ये वे जन्म होते हैं जिनमें मध्यवर्ती विकासक्रमका अनुसरण किया जाता है और युग-युगमें उसमें सहायता दी जाती है।



मैं समझता हूँ कि बहुत थोड़ेसे लोगोंने उन्हें (कृष्णको) अवतारके रूपमें पहचाना था,—निश्चय ही, सर्वसामान्य रूपसे तो उन्हें बिलकुल ही अवतार नहीं माना गया था। उन थोड़ेसे लोगोंमेंसे जो लोग उनके सबसे अधिक समीप थे, उन्होंने शायद इसका कोई विचार भी नहीं किया था—वास्तवमें विदुर आदि जैसे बहुत कम प्रमुख लोगोंने ही इस ओर ध्यान दिया था।



जो लोग कृष्णके साथ थे वे संपूर्ण रूपसे देखनेमें दूसरे मनुष्योंकी तरह ही मनुष्य थे। उन्होंने आपसमें वैसे ही बातचीत की और कार्य किया जैसे मनुष्य मनुष्योंके साथ करते हैं। उनके इर्द-गिर्द रहनेवाले लोग उन्हें देवता नहीं समझते थे। स्वयं कृष्णको भी अधिकांश लोग मनुष्य ही जानते थे—केवल थोड़ेसे लोग ही उन्हें भगवान्‌के रूपमें पूजते थे।



मोटे रूपमें कहें तो अवतार वह है जो अपने अंदर जन्म ग्रहण किये हुए या अपने अंदर अवतरित हुए तथा भीतरसे अपने संकल्प, जीवन और कर्मको संचालित करते हुए भगवान्‌की उपस्थिति और शक्तिके विषयमें सचेतन होता है; वह अपने भीतर इस भागवत उपस्थिति और शक्तिके साथ तादात्म्य अनुभव करता है।

विभूतिके विषयमें यह माना जाता है कि वह भगवान्‌की किसी शक्तिको अभिव्यक्त करता है और उसके द्वारा जगत्‌में अत्यंत वेगके साथ कार्य करनेमें समर्थ होता है; पर इतना ही उसे विभूति बनानेके लिये आवश्यक होता है; उसकी शक्ति बहुत बड़ी हो सकती है; पर उसे इस बातका ज्ञान नहीं होता कि उसके अंदर देवत्वने जन्म लिया

है या वह निवास करता है। गीता इस विषयका प्रमुख प्रामाणिक ग्रंथ है और उससे हमें इन दोनोंमें यही भेद ज्ञात होता है। यदि हम इस भेदको स्वीकार करें तो हम निस्संदेह यह कह सकते हैं कि उनका जो कुछ वर्णन हमें प्राप्त है उसके आधारपर राम और कृष्णको अवतार माना जा सकता है। बुद्ध भी वैसे ही प्रतीत होते हैं यद्यपि उनके अंदर शक्तिकी कहीं अधिक निर्व्यक्तिक चेतना ही विद्यमान थी। रामकृष्णने भी जब अपने विषयमें यह कहा था कि जो राम थे और जो कृष्ण थे वही इदानीं उनके अंदर विद्यमान हैं, तब उन्होंने उसी चेतनाको व्यक्त किया था। परंतु चैतन्यकी बात बड़ी विचित्र है; क्योंकि उनके वर्णनोंके अनुसार वह साधारणतया अपनेको कृष्णका एक भक्त अनुभव करते और प्रचारित करते थे; इससे अधिक कुछ नहीं। अवश्य ही, किन्हीं महान् क्षणोंमें वह कृष्णको अभिव्यक्त करते थे, अपने मन और शरीरमें ज्योतिष्मान् हो उठते थे तथा स्वयं कृष्ण बन जाते थे, भगवान्की तरह ही बोलते और कार्य करते थे। उनके समसामयिक लोगोंने उनके अंदर कृष्णके अवतारको, भागवत प्रेमकी अभिव्यक्तिको अनुभव किया।

शंकर और विवेकानंद, निश्चय ही विभूति थे; उन्हें इससे अधिक कुछ नहीं माना जा सकता, यद्यपि विभूतियोंके रूपमें वे बहुत महान् थे।



कृष्ण और भागवत प्रेमके एक अवतारके रूपमें जो चैतन्यका स्थान है उसके विषयमें तनिक भी संदेह उपस्थित करनेका मेरा कोई उद्देश्य नहीं था। उनके विषयमें जो वर्णन मिलता है उससे अभिव्यक्तिका वह स्वरूप (उनका अवतार होना) बहुत स्पष्ट रूपमें झलकता है, और, उनके अंदर कभी-कभी कृष्णके आविर्भावकी जो बात कही जाती है उसे यदि स्वीकार किया जाय तब तो भगवान्के ऐश्वर्यके ये भावावेश उस अवतारकी कहानीके अत्यंत महत्त्वपूर्ण प्रसंग हैं। श्रीरामकृष्णका जहांतक प्रश्न है, उनके अंदरकी अभिव्यक्ति इतनी तीव्र नहीं थी पर अधिक बहुमुखी थी और सौभाग्यसे उनकी बातचीत और कार्योंके विषयमें प्राप्त ब्योरेकी प्रामाणिकतापर कोई संदेह नहीं किया जा सकता, क्योंकि वे महेन्द्रनाथ गुप्त जैसे एक सुयोग्य निरीक्षकके द्वारा दिन-प्रति-दिन लिखे गये थे। मैं इन दो महान् आध्यात्मिक पुरुषोंके बीच किसी

प्रकारकी तुलना करना पसंद नहीं करूंगा। इन दोनोंने ही असाधारण प्रभाव डाला है और अपने-अपने क्षेत्रोंमें महान् कार्य किया है।



उन्होंने (रामकृष्णने) कभी कोई आत्मकथा नहीं लिखी। अपने शिष्यों तथा दूसरोंके साथ बातचीत करते समय उन्होंने अपने विषयमें कुछ कहा था। अवश्य ही जितने अंशमें ईसा या चैतन्य अवतार थे ठीक उतने अंशमें वह भी अवतार थे।



मुहम्मदने स्वयं ही अपने अवतार होनेकी भावनाका त्याग कर दिया होता, इसलिये हमें उन्हें केवल पैगम्बर, यंत्र, विभूति मानना होगा। ईसाने अपनेको पुत्रके रूपमें अनुभव किया जो पुत्र पिताके साथ एक था—इसलिये वह अवश्य ही एक अंशावतार थे।



विन्सी (इटली) के लियोनार्डो (Leonardo da Vinci) ने जो कुछ अपने अंदर धारण कर रखा था वह उसके अनेक पक्षोंके साथ यूरोपके नवीन युगका सब कुछ था। परंतु वहां अवतार होने या किसी अवतारकी चेतनाका या आध्यात्मिक शक्तियोंके दबावका कोई प्रश्न नहीं था। रहस्यवाद उसका कोई अंग नहीं था जिसे कि उन्हें अभिव्यक्त करना था।

II

अवतार-रूपी व्यापारके दो पक्ष हैं—भागवत चैतन्य और प्रकृतिगत यंत्रस्वरूप व्यक्तित्व। भागवत चेतना सर्वशक्तिमान् होती है, परंतु उसने प्रकृतिके अंदर यंत्ररूप व्यक्तित्वको प्रकृतिकी अवस्थाओंके अधीन उत्पन्न किया है और वह खेलके नियमोंके अनुसार उसका व्यवहार करती है—यद्यपि कभी-कभी खेलके नियमोंको बदलनेके लिये भी करती है। यदि अवतारका प्राकट्य महज चौंधिया देनेवाला कोई चमत्कार हो तो मेरे लिये उसका कोई उपयोग नहीं। यदि वह प्रकृतिके अंदर सर्वशक्तिमान् भगवान् की व्यवस्थाका एक सुसंगत अंग हो तो फिर मैं उसे समझ सकता और स्वीकार कर सकता हूं।



मैने यह कहा है कि अवतार वह है जो मनुष्यजातिके लिये किसी उच्चतर चेतनातक पहुंचनेका मार्ग खोल देता है। यदि कोई मनुष्य उस मार्गका अनुसरण नही कर सकता तो या तो इस विषयकी हमारी धारणा, जो ईसा और कृष्ण और बुद्धकी भी धारणा है, एकदम गलत है या अवतारका संपूर्ण जीवन और कर्म बिलकुल निरर्थक है। 'क' शायद यह कहना चाहता है कि उस पथका अनुसरण करनेका न तो कोई उपाय है और न कोई संभावना; अवतारके संघर्ष और दु:ख-कष्ट मिथ्या और पूर्णत: निरर्थक हैं,—जो भगवान्‌का प्रतिनिधि है उसके लिये संघर्षकी कोई संभावना नही। ऐसी धारणा अवतारवादकी समूची भावनाको अर्थहीन बना देती है। ऐसी हालतमें उसका कोई कारण नही रह जाता, उसकी कोई आवश्यकता नही रह जाती, उसका कोई अर्थ नही रह जाता, भगवान् सर्वशक्तिमान् होनेके कारण पृथ्वीपर उतरनेका कष्ट उठाये बिना ही लोगोंको ऊपर उठा सकते है। यदि विश्व-व्यवस्थाका यह भी एक अंग हो कि भगवान्‌को मनुष्यजातिका बोझ स्वय अपने ऊपर लेना चाहिये और उसके लिये मार्ग खोलना चाहिये, तो केवल तभी अवतारतत्त्वका कोई अर्थ हो सकता है।



अवतारसे यह अपेक्षा नही की जाती कि वह अ-मानवीय तरीकेसे कार्य करे—वह मानव-कर्मको अपने हाथमें लेता है और सामनेकी ओर मानव-चेतनाको और पीछे भगवान्‌को रखकर मानवीय पद्धतियोंका व्यवहार करता है। यदि वह ऐसा न करता तो उसके मानवीय शरीर ग्रहण करनेका कोई तात्पर्य न होता और वह किसीके भी लिये किसी कामका न होता। वह ठीक यथायथ रूपमें ऊपर ही निवास करता और वहीसे कार्य करता।



भगवान् और मनुष्यके बारेमें जो बात है, सो भी एक मनर्निमित कठिनाई है। भगवान् यहां मनुष्यमें विद्यमान है, और मनुष्य अपनी उच्चतम अभीप्साओं और प्रवृत्तियोंको पूरा कर और अतिक्रम कर भगवान् बन जाता है। यही बात है जिसे तुम्हारा अवसाद समझ नही सका—यह बात कि भगवान् अवतरित होते है, वह मनुष्यताके बोझको

अतिक्रम करनेके लिये उसे स्वयं अपने ऊपर लेते हैं—वह मानवताको यह दिखानेके लिये कि कैसे भगवान् बना जा सकता है, मनुष्य बन जाते हैं। परंतु ऐसा तबतक नहीं हो सकता जबतक कि वह केवल एक दुर्बल व्यक्ति हो और उसके भीतर कोई दिव्य उपस्थिति या उसके पीछे कोई दिव्य शक्ति न हो—उसे उन सब लोगोंमें अपनी शक्ति भरनेके लिये, जो उसे ग्रहण करनेके लिये इच्छुक हों, शक्तिसंपन्न होना ही होगा। इसलिये उसके अंदर दो तत्त्व विद्यमान रहते हैं—सामने मनुष्यभाव, पीछे भागवत भाव—और यही वह चीज है जो अपरिमेयता-की छाप उत्पन्न करती है जिसकी शिकायत तुमने की थी। यदि तुम केवल मनुष्यपर ही दृष्टि डालो, केवल बाहरी दृष्टिसे ही देखो और अन्य कोई चीज देखनेको इच्छुक या तैयार न होओ तो तुम केवल मनुष्यको ही देखोगे—यदि तुम भगवान्‌को वहां खोजो तो तुम भगवान्-को पाओगे।



यह ठीक है कि भगवान्‌के तरीके या उद्देश्यके विषयमें निर्णय करना सीमित मानव बुद्धिके लिये असंभव है—भगवान्‌का तरीका अनंतका सांतके साथ व्यवहार करनेका तरीका है।



सच पूछो तो तुम अपने मनसे भगवान् और उनके कार्यको समझने-की आशा नहीं कर सकते, बल्कि अपने अंदर एक सच्ची और दिव्य चेतनाके वर्द्धित होनेपर तुम समझ सकते हो। यदि भगवान् अपनी समस्त महिमाके साथ अपनेको अनावृत और प्रकाशित करें तो मन संभवतः एक उपस्थितिको अनुभव कर सकता है, पर वह उसके कार्य या उसके स्वभावको नहीं समझ सकेगा। वास्तवमें तुम अपने अनुभव और अपने अंदर उस महत्तर चेतनाके जन्म और विकासके अनुपातमें ही भगवान्‌को देखोगे और उनके कार्यको, उनके पार्थिव छद्मवेशोंके पीछे भी, समझोगे।



अवतार या विभूतिको वह ज्ञान होता है जो उसके कार्यके लिये

आवश्यक होता है, उससे अधिककी उन्हें आवश्यकता नहीं होती। इस बातका कोई कारण नहीं था कि बुद्ध यह जानें कि रोममें क्या हो रहा था। अवतार समस्त भागवत सर्वज्ञता और सर्वशक्तिमत्ताको भी अभिव्यक्त नहीं करता; वह किसी ऐसे अनावश्यक प्रदर्शनके लिये नहीं आया होता; जो कुछ उसके पीछे होता है पर उसकी चेतनाके सम्मुख भागोंमें नहीं होता उस सबका वह प्रदर्शन नहीं करता। विभूतिका जहांतक प्रश्न है, विभूतिको यह भी जाननेकी आवश्यकता नहीं होती कि वह भगवान्‌की कोई शक्ति है। उदाहरणार्थ, जुलियस सीजर जैसी कुछ विभूतियां तो अनीश्वरवादी भी हुई हैं। स्वयं बुद्ध साकार ईश्वरमें विश्वास नहीं करते थे, केवल किसी निराकार और अवर्णनीय शाश्वतमें विश्वास करते थे।



अच्छे ढंगसे कार्य करनेका मनुष्योंका तरीका एक सुस्पष्ट मानसिक संपर्कके द्वारा कार्य करनेका तरीका है; वे मनके द्वारा चीजोंको देखते और उन्हें संपन्न करते हैं; वे जो कुछ चाहते हैं वह है मानसिक और मानवीय परिपूर्णता। जब वे भगवत्तत्त्वकी अभिव्यक्तिकी बात सोचते हैं तब वे समझते हैं कि वह सामान्य मानवीय चीजोंको करनेकी कोई असामान्य परिपूर्णता होगी—कोई असाधारण व्यापारिक बुद्धि, राजनीतिक, काव्य या कलासंबंधी कोई क्षमता, ठीक-ठीक स्मरणशक्ति, भूल न करना, पराजय या विफलताके अधीन न होना आदि-आदि होगी। अथवा, फिर वे ऐसी चीजें समझते हैं जिन्हें ये अतिमानवीय कहते हैं; जैसे भोजन न करना, या रूईके भावको भविष्यवाणी करना या लोहेकी कीलपर सोना या उन्हें खाना इत्यादि। इन सबका भगवान्‌के प्राकट्यके साथ कोई संबंध नहीं है....। ये मानवीय विचार मिथ्या हैं।

भगवान् एक दूसरी ही चेतनाके अनुसार कार्य करते हैं, वह चेतना है ऊपरके सत्यकी और नीचेकी लीलाकी। वह लीलाकी आवश्यकताके अनुसार कार्य करते हैं, उन्हें क्या करना चाहिये या क्या नहीं—इस विषयमें मनुष्यके विचारोंके अनुसार वह कार्य नहीं करते। यह पहली बात है जिसे मनुष्यको समझ लेना चाहिये, अन्यथा वह भगवान्‌की अभिव्यक्तिके विषयमें कुछ भी नहीं समझ सकता।



अगर भगवान् मूलतः सर्वशक्तिमान् न होते तो वह कहीं भी सर्वशक्तिमान् न हो पाते—चाहे अतिमानसिक लोकमें हों अथवा अन्य किसी भी लोकमें। चूंकि वह अपने कार्यको अवस्थाओंके द्वारा सीमित करना या निर्धारित करना पसंद करते हैं, इसलिये उनकी सर्वशक्तिमत्ता कम नहीं हो जाती। स्वयं उनका आत्मसीमन भी सर्वशक्तिमत्ताका ही एक कार्य है......।

भला भगवान्को अपनी सभी क्रियाओंमें सफल होनेके लिये ही क्यों बंधे रहना चाहिये? यदि विफलता उन्हें अधिक अनुकूल पड़ती हो और उनके अंतिम हेतुको सिद्ध करनेमें अधिक सहायता करती हो तो फिर उसमें हर्ज ही क्या है? भगवान्के विषयमें कितने कठोर और भद्दे विचार हैं ये!

लीलाके लिये कुछ अवस्थाएं निश्चित कर दी जाती हैं और जबतक वे अवस्थाएं ज्योंकी त्यों बनी रहती हैं, कुछ चीजें नहीं की जा सकतीं, अतएव हम कहते हैं कि वे असंभव हैं, नहीं की जा सकतीं। यदि अवस्थाएं बदल जायं तो वे ही चीजें की जाती हैं या कम-से-कम करने योग्य बन जाती हैं—प्रकृतिके तथाकथित नियमोंके अनुसार न्यायसंगत, स्वीकार्य बन जाती हैं और तब हम कहते हैं कि वे की जा सकती हैं। भगवान् भी लीलाकी अवस्थाओंके अनुसार कार्य करते हैं। वह उन्हें बदल सकते हैं, पर पहले उन्हें उन अवस्थाओंको बदलना होता है, अवस्थाओंको बनाये रखते हुए ही। चमत्कारोंकी एक शृंखलाके द्वारा कार्य करनेके लिये आगे नहीं बढ़ना होता।



यदि अवतार नकली हों, दूसरोंके लिये न तो उनका कोई मूल्य हो न कोई सच्चा प्रभाव तो फिर अवतारवाद पूर्ण रूपसे अयुक्तिसंगत, असत्य और अर्थहीन हो जाता है। भगवान्को स्वयं अपने लिये कष्ट भोग करने या संघर्ष करनेकी कोई आवश्यकता नहीं; यदि वह इन चीजोंको अपने ऊपर लेते हैं तो विश्वका बोझ वहन करने तथा विश्व और मनुष्योंकी सहायता करनेके लिये ही लेते हैं; और यदि दुःख-कष्टों और संघर्षोंको किसी सहायताके योग्य होना हो तो उन्हें सच्चा भी होना होगा। एक नकली या मिथ्या वस्तु सहायता नहीं कर सकती—उन संघर्षों और कष्टोंको उतना ही सच्चा होना होगा जितने सच्चे

स्वयं मनुष्योंके संघर्ष और कष्ट होते हैं—भगवान् उन्हें अपने ऊपर लेते हैं और साथ ही उनसे बाहर निकलनेका रास्ता दिखाते हैं। नहीं तो, उनके मानव-स्वभाव ग्रहण करनेका कोई अर्थ, कोई उपयोगिता और कोई मूल्य नहीं है। यदि तुम अवतारवादमेंसे उसका सारा अर्थ ही निकाल दो तो फिर भला उसे स्वीकार करनेसे क्या लाभ ?



यदि तुम्हारा तर्क यह हो कि अवतार (जैसे राम, कृष्ण) के जीवन-कार्य, संघर्ष झूठे हैं क्योंकि वहां तो भगवान् हैं और यह जानते हैं कि यह सब माया है, तो मनुष्यमें भी तो आत्मा है जो अमर है, अस्पृष्ट और दिव्य है; तुम यह भी कह सकते हो कि मनुष्यका दुःख-कष्ट और अज्ञान केवल ओढ़े गये हैं, कृत्रिम हैं, असत्य हैं। पर मनुष्य यदि उन्हें सच्चा अनुभव करता हो और अवतार यदि अपने कार्य और कठिनाइयोंको गंभीर और सच्चा अनुभव करता हो तो ?

यदि भगवत्तत्त्वके अस्तित्वका कोई व्यावहारिक फल न हो तो भला उसे सैद्धांतिक रूपमें स्वीकार कर लेनेसे क्या लाभ ? अवतारके अंदर भगवान्का प्राकट्य मनुष्यके लिये सहायक इस कारण है कि वह उसे अपने दिव्यत्वको खोजनेमें, उसे प्राप्त करनेका रास्ता ढूंढ़नेमें सहायता करता है। यदि अंतर इतना अधिक हो कि मनुष्यकी मनुष्यता अपने स्वभाववश ही अवतारके द्वारा उन्मुक्त पथका अनुसरण करनेकी सारी संभावनाओंको रोकती हो तब तो इसका अर्थ महज यह होगा कि मनुष्यमें कोई दिव्यत्व नहीं है जो अवतारमें विद्यमान भगवत्तत्त्वको प्रत्युत्तर दे सके।



मैं दुहरा दूं, जब भगवान् पार्थिव प्रकृतिका बोझ अपने ऊपर लेते हैं, तब उसे पूर्ण रूपमें, सच्चाईके साथ और किसी जादूगिरी, चतुराई या छल-कपटके बिना लेते हैं। यदि उनके पीछे ऐसी कोई चीज है जो बराबर पर्देसे बाहर प्रकट होती रहती है तो तत्त्वतः यह वही चीज है, भले ही उनमें अधिक मात्रामें हो, जो दूसरोंके पीछे भी है, और उसी चीजको जगानेके लिये वह यहां विद्यमान है. . .।

चैत्य पुरुष उन सबके लिये वही कार्य करता है जो आध्यात्मिक पथका अनुसरण करनेके लिये अभिप्रेत हैं; उसका अनुसरण करनेके लिये मनुष्योंको असाधारण पुरुष होनेकी कोई जरूरत नहीं। तुम बस यहीं भूल कर रहे हो, महानताका सुर अलाप रहे हो मानो केवल महान् लोग ही आध्यात्मिक पुरुष हो सकते हों।



रामके ऊपर तुम्हारे आक्षेपोंको देखकर मैं तो वास्तवमें चकित हो गया हूं। वाल्मीकिके रामके विरुद्ध कायरताका दोष लगाना तो सबसे अधिक असंभव है; रामको बराबर ही एक योद्धा माना गया है और सच पूछो तो भारतकी 'सैनिक जातियों' ने ही उन्हें अपना देवता बनाया है। वाल्मीकि सर्वत्र ही उन्हें एक महान् योद्धाके रूपमें चित्रित करते हैं। एक अव-मानव शत्रुके विरुद्ध छल-छद्मका व्यवहार करना इससे उल्टा सिद्ध नहीं करता—क्योंकि सदा ही मनुष्य (महान् योद्धा और शिकारी भी) इसी प्रकार अवमानव प्राणीके साथ व्यवहार करता रहा है। मैं समझता हूं कि मधुसूदन वह व्यक्ति हैं जिन्होंने वाल्मीकिके महान् वीरको बंगालियोंकी आंखोंके सामने हेय बना दिया है और उसे एक दुर्बल कठपुतलीमें बदल दिया है; परंतु असली राम वैसे नहीं थे, वह तो, चाहे कोई कुछ भी क्यों न कहे, एक महान् महाकाव्योचित चरित्रवाले व्यक्ति थे—अवतार हों या न हों। परंपरागत नैतिकताका जहांतक प्रश्न है, सभी नैतिकता परंपरागत होती है—मनुष्य बिना परंपराओंके, मानसिक और नैतिक परंपराओंके, रह ही नहीं सकता, उसके बिना वह प्राणिक प्रकृतिकी विद्रोही शक्तियोंके लहराते समुद्रमें अपनेको खोया हुआ अनुभव करता है। यहांतक कि रसेल और बर्नार्ड शा जैसे लोगोंने भी जिन परंपराओंको ठुकरा दिया है उनके स्थानमें वे अंतमें केवल दूसरी परंपराओंको ही स्थापित कर डालेंगे। एकमात्र मनसे ऊपर चले जानेपर ही मनुष्य वास्तवमें परंपराओंसे परे जा सकता है—कृष्ण ऐसा कर सके थे क्योंकि वह मनोमय मानव नहीं थे बल्कि एक अधिमानसिक देवता थे और मनुष्यकी अपेक्षा एक महत्तर चेतनाके द्वारा स्वतंत्र रूपमें कार्य करते थे—राम वैसे नहीं थे, वह सात्त्विक मनके अवतार थे—मनोमय, भावमय, नैतिक थे—और उन्होंने युग और जातिके धर्मका अनुसरण किया। इन बातके कारण वह

स्वभावतः गांधीजीके अनुकूल हो सकते हैं और तुम्हारे एकदम प्रतिकूल; पर ठीक जिस तरह कृष्णके प्रति गांधीजीमें स्वभावतः हिचक होनेके कारण यह सिद्ध नहीं होता कि कृष्ण अवतार नहीं थे, वैसे ही रामके प्रति तुम्हारे अंदर स्वभावतः हिचक होना यह नहीं प्रस्थापित करता कि वह अवतार नहीं थे। परंतु मेरा मुख्य तर्क यह है कि अवतारका होना इन प्रश्नोंपर तनिक भी निर्भर नहीं करता, बल्कि उसका आधार दूसरा होता है, उसका तात्पर्य और उद्देश्य भिन्न होता है।



रामके पक्षका संपूर्ण समर्थन करनेमें संलग्न होनेकी मेरी कोई मंशा नहीं है—मैंने तो केवल वालि आदिसंबंधी प्रश्नोंको उठाया था, क्योंकि आजकल लोग प्रायः ही सामान्य स्तरपर एक महान् पुरुषके रूपमें उनके स्थानको छोटा दिखानेके लिये इन बातोंका उपयोग करते हैं। परंतु अवतारवादकी दृष्टिसे मैं आधुनिक मानदंडोंके अनुसार उनकी नैतिक पूर्णताका समर्थन करनेका तनिक भी विचार नहीं करता, जैसे कि नैपोलियन या सीजरको विभूति सिद्ध करनेके लिये नैतिकवादियों या प्रजातंत्रवादी आलोचकों या निन्दकोंके विरुद्ध कोई बहस करनेका विचार मैं नहीं करूंगा। विभूति, अवतार ऐसे शब्द हैं जिनका अपना अर्थ और मर्यादा है और तुच्छ मानवीय मानदंडोंके अनुसार निश्चित नैतिकता या अनैतिकता, पूर्णता या अपूर्णता अथवा मनुष्योंके लिये उदाहरण रखने अथवा नया नैतिक मनोभाव दिखाने या नयी आध्यात्मिक शिक्षा देनेके साथ उनका कोई संबंध नहीं है। ये सब बातें की जा सकतीं या नहीं भी की जा सकतीं, परंतु ये उस विषयका बिलकुल ही सार-तत्त्व नहीं हैं। . . .

फिर, रामके मानवीय व्यक्तित्वका वर्णन करनेका जो तुम्हारा ढंग है उसे भी मैं उचित नहीं समझता। वाल्मीकिने उसे जिस चौखटेमें सजाया है उस चौखटेमें एक पूर्ण वस्तुके रूपमें लेना होगा (उसे ऐसे नहीं देखना होगा मानो वह किसी आधुनिक मनुष्यकी कहानी हो) और उसे वह महत्त्व देना होगा जो वाल्मीकिने अपने महावीरके व्यक्तित्व, चरित्र और कार्यको दिया था। यदि उसे उसके चौखटेसे बाहर खींच लाया जाय और आधुनिक नैतिक मनकी चीर-फाड़ करनेवाली छुरीके द्वारा उसका विश्लेषण किया जाय तो यह तुरत अपना संपूर्ण महत्त्व

खो देगा। इस तरह विश्लेषण करनेपर कृष्ण एक लंपट और कपटी बन जाते हैं जिन्होंने निःसंदेह राजनीतिमें महान् कार्य किये थे—पर वैसे ही युद्धमें रामने किया था। ऐचिली और ओडिससको यदि उनके चौखटेसे बाहर खींच लाया जाय तो उनमेंसे एक भीषण अहंकारी बर्बर बन जाता है और दूसरा निर्दयी तथा धोखेबाज नरपशु। मैं अपना यह कर्तव्य मानता हूं कि महाभारत, इलियाड, रामायणकी मूल भावना, तात्पर्य और वातावरणमें प्रवेश करूं और उनकी युग-भावनाके साथ अपना तादात्म्य स्थापित करूं और फिर उसके बाद मैं यह अनुभव कर सकता हूं कि उनके नायक अपने बाहरी कार्यके विवरणसे पृथक् स्वयं अपने-आपमें क्या थे।

जहांतक अवतारपनकी बात है, मैं रामको अवतार स्वीकार करता हूं क्योंकि वह योजनाके अंदर एक स्थानको पूरा करते हैं—और मुझे ऐसा लगता है कि उसे वह समुचित रूपमें ही पूरा करते हैं—और इस कारण स्वीकार करता हूं कि जब मैं रामायण पढ़ता हूं तब मैं एक महान् अंतःप्रेरणा अनुभव करता हूं जिसे मैं मान्यता देता हूं और जो इस कहानीको—यद्यपि यह महज परियोंकी कहानी प्रतीत होती है—एक ऐसी महान् संकटपूर्ण संक्रमणकालीन घटनाका रूपक बना देती है जो पार्थिव क्रमविकासके अंदर घटित हुई थी। इतना ही नहीं, वह प्रमुख चरित्रके व्यक्तित्व और कार्यको एक ऐसा अर्थ प्रदान करती है जो विशाल, आदर्शमय, विश्वव्यापी है और यदि ये कार्य किसी दूसरे व्यक्तिके द्वारा घटनाओंकी किसी दूसरी योजनाके अंदर किये गये होते तो इनको यह अर्थ नहीं मिला होता। अवतार असाधारण कार्योंको करनेके लिये बाध्य नहीं होता, बल्कि वह अपनी क्रियाओंको या अपने कार्यको अथवा वह जो कुछ है उसको—इनमेंसे किसी एकको या सबको—एक ऐसा अर्थ और एक ऐसी फलदायी शक्ति देनेको बाध्य होता है जो पृथिवी और उसकी जातियोंके इतिहासमें किये जानेवाले किसी प्रमुख कार्यके अंग हों।

जो हो, यदि कोई व्यक्ति जिसे मैं देखता हूं उसे न देखता हो और रामको उनके स्थानसे च्युत करना चाहता हो तो मुझे कोई आपत्ति नहीं—मेरे अंदर रामके लिये कोई विशेष पक्षपातका भाव नहीं है—बशर्ते कि किसीको उस स्थानपर बैठा दिया जाय तो रामके अभावके कारण उत्पन्न खाली स्थानको उपयुक्त ढंगसे भर सके। वहां कोई

व्यक्ति था, चाहे वाल्मीकिके राम हों या दूसरे राम या राम न हों तो अन्य कोई।

मैं यह भी नहीं समझता कि मैं रामके विषयमें की हुई तुम्हारी टिप्पणियोंको उचित स्वीकार करता हूं, चाहे हो उन्हें एक पृथक् आलोचनाके रूपमें क्यों न लिया जाय, पर आज उसके लिये मेरे पास समय नहीं है। बालिके जो आरंभमें अपने कपटी कार्यपद्धतिके विषयमें आपत्ति उठायी और पीछे वापस ले लिया, रामके संबंधियोंसे, अवश्य ही प्राचीन धर्मके दृष्टिकोणसे—किसी सार्वभौम नैतिक मानदंडके अनुसार नहीं, जो अस्तित्व ही नहीं रखता, क्योंकि मानदंड देश या युगके अनुसार बदलता रहता है—सीताको त्याग देनेके विषयमें जो बात उठती थी उन सबके बावजूद उन दोनों विषयोंमें मैं अपने निर्णयका समर्थन करता हूं।



नहीं, निश्चय ही नहीं, कोई अवतार आध्यात्मिक नबी होनेके लिये बिल्कुल बाध्य नहीं है—जब पूछा जाय तो वह कभी मात्र नबी नहीं होता बल्कि वह एक कर्मिकर्त्ता, एक संस्थापक होता है—केवल बाहरी चीजोंका नहीं, यद्यपि वह बाहरमें भी कुछ संस्थित करता है, बल्कि, जैसा कि मैंने कहा है, कुछ गूढ़तर आंतरिक और महत्त्वपूर्ण वस्तुका संस्थापक होता है जो पार्थिव क्रमविकासके लिये आवश्यक होती है—इस पार्थिव विकासके लिये जो क्रमशः एक-एक स्तर पार करता हुआ मानसपूर्ण और अतिमानस ऊर्ध्वगामी आत्माका क्रमविकास है। इस विकासमें आध्यात्मिक स्तरको स्थापित करना रामका कार्य बिल्कुल नहीं था—अतएव उसके साथ उन्होंने बिल्कुल ही अपना कोई सरोकार नहीं रखा। उनका कार्य था रावणको मार डालना और राम-राज्य स्थापित करना—दूसरे शब्दोंमें, भविष्यके लिये ऐसे सात्त्विक सभ्य मनुष्यके द्वारा एक व्यवस्थाके प्रभावशाली निर्माण कर देना जो अपने जीवनको बुद्धि, सुरुचिपूर्ण भावना, नैतिकता अथवा कम-से-कम नैतिक आदर्शोंके द्वारा, जैसे, सत्य, आज्ञापालन, सहयोग और सामंजस्य, पारिवारिक और सार्वजनिक सुव्यवस्थाकी भावनाके द्वारा, परिचालित करता है—यह एक ऐसे जगत्‌में स्थापित करना जो अभी भी विक्षोभकारी शक्तियोंके अधिकारमें है, उस उच्छृंखल और बलिष्ठ अहंकारमय प्राणसत्ता अपनी निजी प्रवृत्तियोंकी स्वेच्छाचारी तृप्ति चाहती है, दूसरे शब्दोंमें, रक्ष

वानर और राक्षस राज्य करते हैं। यही अर्थ है राम और उनके जीवन-कार्यका तथा उन्होंने यह कार्य जैसे पूरा किया या नहीं किया इसके अनुसार विचार करना होगा कि वह अवतार थे या नहीं। उनका कार्य वालि जैसे दुर्धर्ष नृशंस पशुके साथ शूरवीर क्षत्रियका सुखांत नाटक खेलना नहीं था, बल्कि उनका कार्य था उसे मार डालना और विश्वव्यापी पशुभावको अपने वशमें करना। उनका कार्य निश्चय ही कोई पूर्ण व्यक्ति होना नहीं था बल्कि महान् आदर्श रूप सात्त्विक मनुष्य होना था—सच्चा पति और प्रेमी, प्यारा और आज्ञाकारी पुत्र, स्नेही और यथार्थ भाई, पिता और मित्र होना था—वह सब प्रकारके लोगोंके मित्र हैं. नीच गुहकके मित्र, पशुओंके नेता सुग्रीव, हनुमानके मित्र, गिद्ध जटायुके मित्र, यहांतक कि राक्षस विभीषणके भी मित्र हैं। यह सब वह बहुत उज्ज्वल और आकर्षक रूपमें थे पर सबसे अधिक सहज-स्वाभाविक और प्रामाणिक रूपमें थे, हरिश्चन्द्र या शिविकी तरह किसी एक स्वरपर उनका अत्यधिक जोर नहीं था बल्कि उनमें एक प्रकारकी सुसमंजस परिपूर्णता थी। परंतु सबसे अधिक उनका कार्य था उन सब चीजोंको स्थापित करना और उनका आदर्श रखना जिनपर सामाजिक आदर्श और उसका स्थायित्व निर्भर करता है, जैसे, सत्य और न्याय-परता, धर्मबोध, जनभावना और सुव्यवस्थाका बोध। अपनी पितृभक्ति और अपने पिताके प्रति आज्ञाकारिताकी अपेक्षा बहुत अधिक—यद्यपि उसके लिये भी—उन्होंने प्रथम सत्य और न्यायके लिये अपने व्यक्तिगत अधिकारोंका त्याग किया जो उन्हें राजा और प्रजाद्वारा उत्तराधिकारी चुने जानेके कारण मिला था और अपने जीवनके सर्वोत्तम चौदह वर्षोंका बलिदान कर देशसे बाहर वनवासमें बिताया। अपनी लोक-भावना और सामाजिक सुव्यवस्थाके लिये (प्राचीन भारतीयों, यूनानियों और रोमनोंकी दृष्टिमें यह एक महान् और सर्वोच्च नागरिक गुण माना जाता था, क्योंकि उस युगमें मानव-विकासधाराकी सबसे बड़ी आवश्यकता व्यक्तिका पृथक् विकास और उसकी संतुष्टि नहीं, वरन् सुव्यवस्थित समाजकी सुरक्षा थी) उन्होंने अपने निजी सुख और पारिवारिक जीवन तथा सीताके सुखका बलिदान कर दिया। इस विषयमें समस्त प्राचीन जातियोंके नैतिक बोधके साथ वह एकमत थे, यद्यपि आधुनिक मनुष्यकी बादकी औपन्यासिक व्यष्टिवादी भावुकताप्रधान नैतिकतासे उनका विरोध था, क्योंकि आधुनिक मनुष्य उस कम कठोर नैतिकताको ठीक इसी

कारण ग्रहण कर सकता है कि प्राचीन लोगोंने सामाजिक सुव्यवस्थाकी भावनासे संसारको सुरक्षित करनेके लिये व्यक्तिका बलिदान कर दिया। अंतमें, रामका कार्य यह था कि वह रावणके साम्राज्य, राक्षसीय आतंकका नाश करके सात्त्विक मानवके आदर्शके लिये संसारको सुरक्षित बना दें। यह सब उन्होंने अपने व्यक्तित्व और कर्ममें विद्यमान एक ऐसी दिव्य प्रेरणाके साथ किया कि उनके स्वरूपकी छाप भारतीय संस्कृतिके मनपर बीस लाख वर्षोंसे अधिक कालसे पड़ी हुई है और जिस चीजका उन्होंने प्रतिनिधित्व किया वह सभी देशोंके मनुष्योंकी बुद्धि और आदर्शवादी मनपर छायी हुई है, तथा मानवीय प्राणके निरंतर विद्रोह करते रहनेपर भी वह शायद तबतक वैसी ही बनी रहेगी जबतक कोई महत्तर आदर्श नहीं खड़ा हो जाता। और इन सब बातोंके बावजूद भी तुम यह कहते हो कि वह अवतार नहीं थे? यदि तुम चाहो तो कहो—पर, कम-से-कम, वह किन्हीं अत्यंत महान् विभूतियोंके बीच अपना स्थान रखते हैं। अब तुम उन्हें पदच्युत कर सकते हो—क्योंकि अब मनुष्य सात्त्विक आदर्शसे संतुष्ट नहीं है और उससे बड़ी कोई चीज खोजता है—परंतु उनका कार्य और अर्थ पृथ्वीकी विकसनशील जातिके भूतकालपर अंकित रहेंगे। जब मैंने यह कहा था कि उनकी उपस्थितिके अभावमें एक व्यवधान बना रहेगा तब मेरा मतलब यह नहीं था कि देवदूतों और ज्ञानियोंके बीच व्यवधान बना रहेगा बल्कि अवतारकार्यकी योजनाके बीच व्यवधान रह जायेगा—उस योजनाके अंदर कोई व्यक्ति ऐसा था जो सात्त्विक मानवका अवतार था जैसे कि कृष्ण अधिमानसिक अति-मानवके अवतार थे—मैं रामके सिवा और किसीको नहीं देख पाता जो उस स्थानकी पूर्त्ति कर सके। आध्यात्मिक गुरु और नबी (जैसे, मनीषी, वैज्ञानिक, कलाकार, कवि आदि भी)—ये सब अधिक-से-अधिक विभूति हैं पर अवतार नहीं हैं। क्योंकि इस रीतिसे तो सभी धर्म-संस्थापक अवतार हो जायेंगे—मोरमोनों (Mormons) के जोसेफ स्मिथ (मैं समझता हूं उनका यही नाम था), असीसीके संत फ्रांसिस, कालविन, लोयोला तथा ईसा, चैतन्य या रामकृष्णके साथ-साथ और भी बहुत-से लोग अवतार हो जायेंगे।

विश्वास, चमत्कार और विजय गोस्वामीके विषयमें दूसरे अवसरपर लिखूंगा। रामके विषयमें मैं इतना-सा और कहना चाहता था—जो अभी भी केवल एक संकेत है और अवतार-तत्त्वके सामान्य

सिद्धांतके विषयमें जो बात मैं लिखने जा रहा हूं वह यह नहीं है।

और मैं इतना और जोड़ दूं कि यह रामका पूर्ण या चरम पक्ष-समर्थन भी नहीं है। उसके लिये तो मुझे यह लिखना होगा कि रामायणकी कहानीका क्या अर्थ है, यह विवेचन करना होगा कि वाल्मीकिने अपने प्रमुख चरित्रोंका चित्रण कैसे किया है (उनमेंसे कोई भी सामान्य उदाहरण नहीं है बल्कि वे सब महान् नर-नारी हैं जिनमें मानव-स्वभावके दोष-गुण हैं जैसे कि सभी मनुष्योंमें, यहांतक कि सबसे महान् लोगोंमें भी होते हैं), और फिर यह दिखाना होगा कि राम नामक सम्मुख-भागीय और यंत्रस्वरूप व्यक्तित्वके पीछे रहकर, जो कार्य सिद्ध करना था उसके आवश्यक पगके रूपमें, रामके जीवनकी प्रत्येक घटनाको भगवान्ने कैसे कार्यान्वित किया है। रामके रोनेकी जो बात है उसका उत्तर मैंने अपने दूसरे अधूरे पत्रमें दे दिया था। तुम शुष्कतर और कठोरतर 'नारडिक'[1] आदर्शको 'दक्षिणी स्वभाव' पर लाद रहे हो जो हृद्गत भावोंको दबाना नहीं बल्कि प्रकट करना एक गुण मानता है। जरा एचिलीज (Achilles), यूलीसेज (Ulysses) और अन्य पारसी और भारतीय महान् वीरोंके रुदन और विलापोंको देखो—उन पारसी और भारतीय वीरोंको देखो जो विशेषकर प्रेमी थे।



भला राममें 'काम' और 'प्रेम' क्यों नहीं होना चाहिये? प्राचीन भारतके लोग यह मानते थे कि पति-पत्नीके बीच ये दोनों एक साथ रहते हैं। सीताके विरहमें रामका जो विलाप है वह वाल्मीकिकी कवि-सुलभ भावनाका फल है, यह भावना कालिदासकी भी थी और उन सुदूर प्राचीन युगोंके अन्य लोगोंमें भी थी कि एक पूर्ण प्रेमीको ऐसी विपत्तिके समय कैसे व्यवहार करना चाहिये। आया वास्तविक रामने यह सब करनेका बखेड़ा मोल लिया था या नहीं यह एक दूसरा ही विषय है।

और अचेतन अवतारकी बात, भी क्यों नहीं हो सकता? चैतन्य-को वैष्णव लोग अवतार मानते हैं, पर वह केवल तभी अपने पीछे विद्यमान भगवत्ताके विषयमें सचेतन होते थे जब वह भगवत्ता सामने

1. ये शब्द इंगलैंडके उत्तरी और दक्षिणी मनुष्योंके स्वभावकी ओर संकेत करते हैं।—अनु०

आती और विरल अवसरोंपर उन्हें अधिकृत कर लेती थी। ईसाने कहा था: "मैं और मेरे पिता एक हैं", पर फिर भी उन्होंने बराबर इसी तरह बात की और आचरण किया मानों दोनोंमें भेद हो। रामकृष्णका प्रारंभिक काल भगवान्की खोजका था, पहलेसे ही वह अपने तादात्म्यके विषयमें सज्ञान नहीं थे। ये लोग प्रसिद्ध धार्मिक अवतार हैं और इन्हें राम-जैसे एक कर्मशील व्यक्तिसे कहीं अधिक सचेतन होना चाहिये था। और यह मान भी लें कि अवतारमें पूरी और स्थायी चेतना होती है तो भी भला किन्हीं विरल अवसरोंपर किसी अर्जुनके सामने या कुछ थोड़ेसे भक्तों या शिष्योंके सामने घोषणा करनेके अतिरिक्त उसे अपने विषयमें क्यों घोषणा करनी चाहिये? यह दूसरोंका काम है कि वे खोज निकालें कि वह क्या है; यद्यपि दूसरोंके उसे अवतार कहनेपर वह उसे अस्वीकार नहीं करता, वह बराबर नहीं कहा करता और संभवतः कभी नहीं कह सकता अथवा केवल गीताके जैसे क्षणोंमें ही कहता है, "मैं 'वह' हूं।"



रामके ऊपर की गयी तुम्हारी नयी टिप्पणियोंका पूरा-पूरा उत्तर देनेके लिये आज रातको मेरे पास समय नहीं है। तुम्हारे अंदर केवल इस कारण भ्रांति उत्पन्न हुई है कि तुम अवतारकी नैतिक और आध्यात्मिक परिपूर्णता नापनेके आधुनिक मानदंडसे (सीली और बंकिमद्वारा निश्चित), आधुनिक गजसे चिपके हुए हो—जब कि मैं एकदम दूसरे ही दृष्टिकोणसे आरंभ करता हूं और दृढ़ताके साथ इन निर्धारित मानवीय पैमानोंको अस्वीकार करता हूं। बुद्धके सिवा पुराने अवतार न तो पूर्णताके नमूने हैं न आध्यात्मिक गुरु, यद्यपि गीता, श्रीकृष्ण कहते हैं, एक असाधारण चेतनाके क्षणमें कही गयी थी जिसे उन्होंने बादमें तुरत खो दिया था। वे, यदि मैं ऐसा कह सकूं, तो प्रतिनिधिरूप दैव पुरुष थे जो पृथ्वीकी मनुष्यजातिके क्रमविकासमें कुछ विशिष्ट चीजें स्थापित करनेके लिये भागवत हस्तक्षेपके यंत्र बनकर आये थे। मैं इस मतपर अटल हूं और इस विवादमें चाहे किसी भी दूसरे मापदंडके सामने झुकना अस्वीकार करता हूं।

मैंने यह नहीं स्वीकार किया था कि राम एक अंध (अचेतन) अवतार थे, बल्कि मैंने तुम्हारे सामने दो विकल्प रखे थे जिनमेंसे अंतिम

विकल्प मेरा अपना सच्चा मत था। उस मतका आधार यह था कि रामायण पढ़नेसे मेरे ऊपर यह छाप पड़ी थी कि राम अच्छी तरह जानते थे पर उस विषयमें कुछ कहना उन्होंने अस्वीकार किया था—उनका कार्य अपने अंदर विद्यमान भगवान्‌को दिखाना नहीं था वल्कि मनोमय, नैतिक और भावप्रवान मनुष्यको (उसे पैदा करना नहीं, क्योंकि वह पहलेसे ही वहां था) पाशविक और राक्षसी शक्तियोंके विरुद्ध पृथ्वीपर स्थापित करना था। चैतन्यके संवंधसे (जो अधिकांश समय अपनी वाहरी चेतनाके लिये सर्वप्रथम एक पंडित और फिर एक भक्त थे, पर केवल कभी-कभी ही स्वयं भगवान् थे) मेरा तर्क पूर्ण रूपसे युक्तिसंगत और तर्कसंगत है, यदि तुम मेरी विचारधाराका अनुसरण करो और यह माननेका हठ न करो कि अवतारको एक उच्च, सुनिश्चित रूपसे आध्यात्मिक चेतना प्राप्त होती है। मेरा तात्पर्य क्या है इसे मैं अपने दूसरे पत्रमें वतलाऊंगा।

सात्त्विक मनुष्यसे मेरा मतलव एक नैतिक या सर्वदा आत्मसंयम रखनेवाला मनुष्य नहीं है, वल्कि मेरा मतलव है, मुख्यतया मानसिक मनुष्य (प्राणिक या महज भौतिक मनुष्यके विपरीत), जिसमें राजसिक भावावेग और प्राणावेग तो हों पर जो प्रधानतया अपने मन और उसकी इच्छा और भावनाओंके अनुसार जीवन विताता हो। मेरा ख्याल है कि विशुद्ध सात्त्विक मनुष्य नामकी कोई वस्तु नहीं है—क्योंकि तीनों गुण सदा ही अस्थिर संतुलनकी अवस्थामें एक साथ वने रहते हैं—पर एक प्रधानतया सात्त्विक मनुष्य होता है जिसका वर्णन मैंने किया है। वाल्मीकिके वर्णनसे रामके विषयमें मेरी धारणा ऐसी ही है—यह तुम्हारी धारणासे एकदम भिन्न है। मुझे खेद है, उनके विषयमें जो तुम्हारा चित्रण है वह विलकुल फोकसके वाहर है (अर्थात् चित्रण ठीक नहीं है वल्कि विकृत हो गया है)—तुम उनके चरित्रकी मुख्य वातोंको पोंछ डालते हो, उन सव उज्ज्वल प्रसंगोंको तुच्छ वना देते और रद्द कर देते हो जिन्हें वाल्मीकिने इतना अधिक महत्त्व और प्राधान्य दिया था और कुछ व्योरेकी वातोंको तथा छायाके कुछ अंशोंको वार-वार दुहराते और उन्हींको रामके व्यक्तित्वका सवसे वड़ा भाग वना डालते हो। किसीकी ख्याति नष्ट करनेवाले ऐसा ही करते हैं—पर ख्याति नष्ट करनेके लिये जो चित्रण किया जाता है वह उस व्यक्तिका सच्चा स्वरूप नहीं होता।

यहां बीचमें यह भी कह दूं कि सात्त्विक मनुष्यमें प्रबल आवेग और प्रबल क्रोध हो सकता है—और जब वह अपने क्रोधको भभकने देता है तब सामान्यतया दुष्ट व्यक्ति महज काफूर हो जाता है। ईसाके क्रोधके उबालको देखो, चैतन्यके रोषको लक्ष्य करो—और इस विषयपर अनुभव और मनोविज्ञानके सर्वसामान्य प्रमाणको देखो।

रामके स्वभावकी विशेषता, जिसे तुम अविकसित मनुष्यकी विशेषता कहते हो, जैसे, जो इच्छा या विचार उनके मनमें आता उसीके अनुसार वह निश्चित और सहज भावसे कार्य करते, वह तो विश्वभावापन्न पुरुषकी और बहुतसे विभूतियोंकी, सीजर या नैपोलियन जैसे उच्च प्रकारके कर्मी मनुष्योंकी विशेषता है।

जब मैंने यह कहा था कि "एक अचेतन अवतार ही क्यों न मानें?" तब मैंने तुम्हारे (मेरे नहीं) इस कथनको लिया था कि राम अचेतन थे और भला कोई अचेतन अवतार कैसे हो सकता है? मेरा अपना मत यह है कि राम अंधे नहीं थे, अपने अवतार होनेके विषयमें अचेतन नहीं थे, केवल इस विषयमें मौन थे। परंतु मेरा कहना था कि यदि हम तुम्हारे कथनको ही ठीक मान लें तो भी आपत्ति अकाट्य नहीं है। मैंने इसके लिये चैतन्य तथा दूसरोंका उदाहरण दिया, क्योंकि उन प्रसंगोंमें तथ्योंको मुश्किलसे अस्वीकार किया जा सकता है। अपने जीवनके प्रथम भागमें चैतन्य महज निमाई पंडित थे और दूसरा और कुछ होनेकी चेतना उन्हें नहीं थी। फिर उनमें परिवर्तन आया और वह भक्त चैतन्य बन गये। ये भक्त कभी-कभी कृष्णकी उपस्थितिसे अभिभूत प्रतीत होते, अपने-आपको कृष्ण अनुभव करते, भगवान्‌की ज्योतिके साथ बातें करते, चलते-फिरते और दिखायी पड़ते—उनके आसपासका कोई भी व्यक्ति, जब वह इस महामहिम और रूपांतरित स्थितिमें होते तब, उससे भिन्न रूपमें न तो उनके विषयमें सोचता अथवा न उन्हें देखता। परंतु उस स्थितिसे वह फिर नीचे गिरकर भक्तकी साधारण चेतनामें आ जाते और, जैसा कि हमने उनके जीवन-चरितमें पढ़ा है, उस समय अपनेको और कुछ अधिक माननेसे इनकार कर देते। ये सब बातें, मैं समझता हूं, सत्य बातें हैं। तब भला वे क्या सूचित करती हैं? क्या वह आरंभमें केवल निमाई पंडित ही थे? यह बिलकुल समझमें आने योग्य है कि वह वैसे थे और उनमें भगवान्‌का अवतरण उनमें परिवर्तन होने तथा उनका आध्यात्मिक

रूपांतर होनेके बाद ही हुआ। परंतु बादमें भी जब वह अपनी सामान्य भक्त-चेतनामें होते तब वह क्या फिर अवतार नहीं रहते थे? क्या उनका अवतारत्व खंडित, विच्छिन्न था? क्या कृष्ण शामकी मुलाकातके लिये चैतन्यमें उतर आते और फिर जबतक दूसरी मुलाकातका समय नहीं हो जाता तबतक ऊपर चले जाते थे? इस घटनाके प्रसंगमें मुझे ऐसा विश्वास करना कठिन प्रतीत होता है। युक्तिसंगत व्याख्या यह है कि अवतार-रूपी व्यापारमें पीछेकी ओर एक चेतना होती है, पहले आच्छन्न होती या शायद कभी-कभी आधी आच्छन्न होती है, जो एक तो देवताकी चेतना होती है और एक सम्मुखीन चेतना, मानवीय या देखनेमें मानवीय होती है अथवा कम-से-कम पार्थिवताका समस्त स्वरूप लिये होती है जो कि यंत्र-रूप व्यक्तित्व होती है। ऐसी हालतमें, यह संभव है कि गुप्त चेतना वहां बराबर ही विद्यमान थी, पर उनमें परिवर्तन आनेके समयतक प्रतीक्षा करती रही और वह कभी-कभी व्यक्त होती रही क्योंकि चैतन्यका मुख्य कार्य था मनुष्यके भावप्रधान प्राण-भागमें एक प्रकारकी आध्यात्मिक और चैत्य भक्ति और प्रेमको स्थापित करना, हमारे अंदरके प्राणको भगवान्‌की ओर मुड़नेके लिये उस ढंगसे तैयार करना—कम-से-कम, उस संभावनाको पार्थिव प्रकृतिमें स्थापित कर देना। यह बात नहीं कि उससे पहले भावप्रधान भक्ति थी ही नहीं; परंतु इसकी परिपूर्णता, इसमें विद्यमान तीव्र सजीवता और प्राणका उल्लास उस रूपमें कभी अभिव्यक्त नहीं हुआ जैसा कि चैतन्यमें प्रकट हुआ था। परंतु वह यदि सर्वदा कृष्णचेतनामें निवास करते तो यह बात उस कार्यके लिये कभी कारगर न हुई होती; वह भगवान् बने रहते जिन्हें लोग अपनी भक्ति समर्पित करते, पर वह दिव्य भावोन्माद-पूर्ण भक्तिके सर्वश्रेष्ठ उदाहरण न हुए होते। पर फिर भी आकस्मिक अभिव्यक्तिसे यह सूचित होता था कि वह कौन थे और उसके साथ-ही-साथ भगवान्‌के सर्वान्तर्यामी होनेके गुह्य विधानका प्रमाण भी मिलता था।



हां तो चैतन्यकी बात; यदि चैतन्य,—उनकी सम्मुखीन चेतना, उनका यंत्र-रूप व्यक्तित्व,—सब समय अवतार थे पर अपने उच्चतम मुहूर्त्तोंके अतिरिक्त अन्य समय इस विषयमें अचेतन थे और यहांतक

अधिक और कम महान् होनेके विषयमें एक बात और। क्या मौरेटानिया जहाजका कप्तान जान हिगिन्स क्रिस्टोफर कोलंबससे अधिक महान् है, क्योंकि वह बिना किसी तकलीफके कुछ दिनोंमें ही अमेरिका पहुँच सकता है? क्या विश्वविद्यालयका एक स्नातक प्लेटोसे अधिक महान् है, क्योंकि वह ऐसी समस्याओं और सिद्धांतोंके विषयमें तर्क-वितर्क कर सकता है जो कभी प्लेटोके ध्यानमें भी नहीं आये थे? नही, बस, मनुष्यजातिने महत्तर वैज्ञानिक शक्ति आयत्त की है जिसे कोई भी अच्छा पोतवाहक उपयोगमें ला सकता है अथवा एक विशालतर बौद्धिक ज्ञान अर्जन किया है जिसका उपयोग दार्शनिक शिक्षण पाया हुआ मनुष्य कर सकता है। तुम कहोगे कि महत्तर वैज्ञानिक शक्ति और विशालतर ज्ञान तो चेतनाका परिवर्तन नहीं हैं। बहुत अच्छा, पर हम यहां राम और रामकृष्णको ले सकते है। राम बराबर चिंतनशील बुद्धिसे बोले जो कि विकसित मनुष्यकी सर्वसामान्य संपत्ति है; पर रामकृष्ण सर्वदा ही एक तीक्ष्ण और ज्योतिर्मय आध्यात्मिक संबोधिसे बोले। क्या तुम कह सकते हो कि उन दोनोंमें कौन अधिक महान् था? समस्त भारतद्वारा स्वीकृत अवतार (राम) या वह संत और योगी (रामकृष्ण) जिसे उनके केवल शिष्य और उनके (शिष्योंके) अनुयायी थोड़ेसे अन्य लोग अवतार मानते हैं?



उन (बुद्ध) में रामकृष्णसे कहीं अधिक शक्तिशाली प्राण था, अत्यंत प्रबल संकल्पशक्ति और अदम्य चिंतनशील मन था। यदि उन्होंने साधारण जीवन यापन किया होता तो वह एक महान् संगठन-कर्त्ता, विजयी और स्रष्टा हुए होते। यदि कोई मनुष्य चेतनाके उच्चतर स्तरमें उठ जाता है तो आवश्यक रूपसे उसका मतलब यह नहीं होता कि वह एक महान् कर्मी होगा या महान् स्रष्टा। कोई मनुष्य अंतःप्रेरणाके आध्यात्मिक स्तरोंमें ऊपर उठ सकता है जिसका शेक्सपियरने कभी स्वप्न भी नही देखा था और फिर भी वह मनुष्य शेक्सपियरके जैसा महान् काव्य-स्रष्टा नही हो सकता। "महानता" उसी तरह आध्यात्मिक सिद्धिका उद्देश्य नहीं है जिस तरह कि संसारमें नाम-यश या सफलता पाना—भला ये सब चीजें आध्यात्मिक सिद्धिका मानदंड कैसे हो सकती है?



इस प्रश्नका उत्तर इस बातपर निर्भर करता है कि हम आध्यात्मिक अनुभूति तथा भौतिक स्तरसे भिन्न चेतनाके अन्य स्तरोंसे संबंधित सत्योंको क्या मूल्य प्रदान करते हैं एवं विश्व-चेतनाके साथ मनुष्यकी व्यक्तिगत और सामूहिक चेतनाका संबंध किस प्रकारका है। आध्यात्मिक और गुह्य सत्यके दृष्टिकोणसे मनुष्यकी चेतनामें जो कुछ आकार ग्रहण करता है वह, एक कठिन परिस्थितिमें, उन चीजोंका प्रतिबिंब और विशिष्ट प्रकारकी रचना होता है जो अपनी ज्योति, सामर्थ्य और सौंदर्यमें अथवा अपनी क्रिया-शक्ति और कार्यक्षेत्रमें बहुत अधिक महान् होती हैं तथा जिन्हें ये सब ज्योति, सामर्थ्य और सौंदर्य आदि उस वैश्व चेतनासे प्राप्त होते हैं जिसका कि मनुष्य एक सीमित और, अपने क्रमविकासकी वर्तमान स्थितिमें, अभी भी अज्ञानपूर्ण अंश है। जातिकी प्रतिभा तथा राष्ट्रकी चेतनाके विषयमें यह सब व्याख्या देना कि वे ही देवताओं और उनके आकारोंकी सृष्टि करती हैं—यह बहुत ही आंशिक, बहुत-कुछ छिछला और अपने-आपमें भ्रमोत्पादक सत्य है। मनुष्यका मन ही मूल स्रष्टा नहीं है, वह तो एक मध्यवर्त्ती शक्ति है; सृष्टि करनेके लिये उसे विश्वचेतनासे एक निर्माणकारी "अंतःप्रेरणा", कोई संकेत या वहांसे आनेवाली कोई चीज अवश्य प्राप्त होनी चाहिये और उसीकी सहायतासे जो कुछ संभव होता है उसे वह करता है। ईश्वर हैं, पर ईश्वर-संबंधी मनुष्यकी कल्पनाएं उसके अपने मनमें प्राप्त कभी तो भगवान्के, कभी अन्य सत्ताओं और शक्तियोंके प्रतिबिंब होती हैं। मनुष्यके पास जो सूचनाएं आती हैं वे तबतक साधारणतया बहुत अपूर्ण और आंशिक होती हैं जबतक कि वे अभी भी मानसिक होती हैं, जबतक कि मनुष्य एक उच्चतर और सत्यतर, एक आध्यात्मिक या यौगिक ज्ञानतक नहीं पहुंच गया होता, और इन सूचनाओंका जो कुछ मतलब उसका मन निकालता है उसीके अनुरूप उसकी ईश्वर-संबंधी कल्पनाएं होती हैं। देवताओंका अस्तित्व पहलेसे ही है, उनकी सृष्टि मनुष्यने नहीं की है, यद्यपि ऐसा लगता है कि वह अपनी ही प्रतिमूर्त्तिके रूपमें उनके विषयमें भी कल्पना करता है;—मूलतः विश्वगत दिव्य सद्वस्तुसे वह देवताओंके विषयमें जो कुछ सत्य ग्रहण करता है उसे ही यथाशक्ति आकार प्रदान करता है। कोई कलाकार या भक्त देवताओंके दर्शन प्राप्त कर सकता है और वह दर्शन मनुष्यजातिकी चेतनामें स्थायी और व्यापक बन सकता है और इस अर्थमें यह सत्य

हो सकता है कि मनुष्य देवताओंको अपने आकार प्रदान करता है; पर वह इन आकारोंका आविष्कार नहीं करता, वह जो कुछ देखता है बस उसे ही अभिलिखित करता है; जो आकार वह उन्हें देता है वे उसे प्राप्त होते हैं। मनुष्य श्रीकृष्णके शाश्वत सौंदर्यका जो कुछ अंश देख पाये उसीको उन्होंने उनके "परंपरागत" रूपमें मूर्त्तिमान किया और जो कुछ उन्होंने देखा है वह सत्य भी हो सकता है और सुन्दर भी, वह उनके दिव्य विग्रहके कुछ अंशको प्रकट करता है; परंतु यह एकदम निश्चित है कि यदि उस शाश्वत सौंदर्यका कोई शाश्वत रूप है तो उस रूपका जो कुछ भी अंश देखनेमें अबतक मनुष्य समर्थ हुआ है उससे हजारोंगुना अधिक सुन्दर वह रूप है। भारतमाता पृथ्वीका एक टुकड़ा नहीं; वह एक शक्ति है, एक देवी है, और सभी राष्ट्रोंकी एक ऐसी देवी है जो उनके पृथक् अस्तित्वको धारण करती और उन्हें अस्तित्वमें बनाये रखती है। ऐसी सत्ताएं उतनी ही सच्ची और कहीं अधिक स्थायी रूपसे सच्ची हैं जितने सच्चे कि वे मनुष्य हैं जिनपर वे अपना प्रभाव डालती हैं; परंतु वे उच्चतर लोककी सत्ताएं हैं, वैश्व चेतना और सत्ताके अंग हैं। वे यहां पृथ्वीपर मानव-चेतनाकी रचना करनेका कार्य करती हैं और उसपर अपना प्रभाव डालती हैं। मनुष्य केवल अपनी चेतना—वैयक्तिक, राष्ट्रीय या जातीय चेतना—को कार्य करते हुए देखता है, वह यह नहीं देखता कि कौनसी चीज उसकी चेतनापर कार्य करती और उसको आकार प्रदान करती है, इसलिये उसके लिये यह सोचना स्वाभाविक है कि सब कुछकी रचना उसीने की है, और कोई भी ऐसी चीज उसके पीछे नहीं है जो विश्वव्यापी और उससे बड़ी हो। श्रीकृष्ण-चेतना एक सत्य वस्तु है, परंतु यदि कोई कृष्ण न हो तो फिर कोई कृष्णचेतना भी नहीं हो सकती; किसी मनमानी तात्त्विक सूक्ष्म कल्पनाके अतिरिक्त, किसी सचेतन पुरुषके बिना कोई चेतना हो ही नहीं सकती। वास्तवमें पुरुष ही व्यक्तित्वको मूल्य प्रदान करता और उसे यथार्थ बनाता है, वह व्यक्तित्वके अंदर अपनेको अभिव्यक्त करता है पर वह उसके द्वारा निर्मित नहीं होता। श्रीकृष्ण एक सत्ता हैं, एक पुरुष हैं और दिव्य पुरुषके रूपमें ही हम उनसे मिलते, उनकी वाणी सुनते, उनसे बातें करते और उनके सान्निध्यका अनुभव करते हैं। कृष्णसे पृथक् किसी चीजके रूपमें कृष्ण-चेतनाकी चर्चा करना उस मनकी एक भूल है जो बराबर ही अविभेद्यको विभक्त

करता है और जिसमें निराकारको ही, क्योंकि वह अमूर्त्त है, साकारसे अधिक महान्, अधिक सत्य और अधिक स्थायी माननेकी प्रवृत्ति है। ऐसे विभेद मनके लिये उसके अपने उद्देश्योंकी दृष्टिसे उपयोगी हो सकते हैं पर वे यथार्थ सत्य नहीं हैं। यथार्थ सत्यके अंदर सत्ता या पुरुष और उसका निर्व्यक्तित्व या सत्ताकी स्थिति दोनों एक सद्वस्तु हैं।

श्रीकृष्णकी ऐतिहासिकता कम आध्यात्मिक महत्त्व रखती है और वह आवश्यक नहीं, पर फिर भी उसका पर्याप्त मूल्य है। मुझे ऐसा नहीं लगता कि इस विषयमें कोई युक्तिसंगत संदेह उठ सकता है कि मनुष्यरूपी कृष्ण कोई पौराणिक या कोई काव्यात्मक आविष्कार नहीं हैं बल्कि वह वास्तवमें पृथ्वीपर विद्यमान थे तथा उन्होंने भारतके भूतकालमें एक पार्ट अदा किया था। दो तथ्य स्पष्ट रूपमें प्रकट होते हैं—एक तो यह कि वह एक महत्त्वपूर्ण आध्यात्मिक व्यक्ति माने जाते थे, वह एक ऐसे व्यक्ति थे जिनके आध्यात्मिक ज्ञान प्राप्त करनेकी चर्चा एक उपनिषद्में अभिलिखित है, और दूसरे, परंपरागत रूपमें वह एक दिव्य पुरुष माने जाते थे, ऐसे पुरुष जो अपनी मृत्युके बाद एक देवताके रूपमें पूजे जाते हैं; ये बातें महाभारत और पुराणोंकी कहानीसे भिन्न है। यह माननेका कोई कारण नहीं कि भागवत धर्मके साथ, जो धर्म कि भारतीय आध्यात्मिकता-रूपी सरिताकी एक महत्त्वपूर्ण धारा है, उनके नामका संबंध महज एक पौराणिक या काव्यात्मक आविष्कारके ऊपर स्थापित था। महाभारत एक काव्य है, इतिहास नहीं है, पर यह स्पष्ट रूपमें एक महान् ऐतिहासिक घटना, परंपरागत रूपमें स्मृतिमें सुरक्षित घटनाके ऊपर आधारित एक काव्य है। इससे संबंधित कुछ व्यक्ति, जैसे, धृतराष्ट्र, परीक्षित आदि निस्संदेह विद्यमान थे और एक नेता, योद्धा और राजनीतिज्ञके रूपमें कृष्णने जो पार्ट अदा किया था उसकी कहानीको एक ऐसी संभाव्य घटना तथा बाह्य रूपमें एक ऐसी परंपरापर आधारित स्वीकार कर सकते हैं जिसे ऐतिहासिक मूल्य दिया जा सकता है और जो एक पौराणिक या महज काव्यात्मक आविष्कारका वातावरण नहीं रखती। बस, सैद्धांतिक युक्तितर्ककी दृष्टिसे मानवरूपी कृष्णके ऐतिहासिक व्यक्ति होनेके विषयमें निश्चित रूपसे इतना ही कहा जा सकता है; पर मेरे विचारमें इससे बहुत अधिक बात इसमें है और मैंने सर्वदा ही भगवान्के अवतारको एक सत्य घटनाके

रूपमें स्वीकार किया है; मैंने कृष्णकी ऐतिहासिकताको उसी तरह माना है जैसे कि ईसाकी ऐतिहासिकताको मानता हूं।

वृंदावनकी कहानी एक दूसरा ही विषय है; यह महाभारतकी मुख्य कहानीमें नहीं आती और इसका मूल पुराणोंमे है। यह बात दावेके साथ कही जा सकती है कि यह बराबर ही माना जाता रहा है कि यह कहानी रूपकात्मक है। एक समय मैंने भी इस व्याख्याको स्वीकार किया था, पर पीछे मुझे इसका त्याग करना पड़ा; पुराणोंमें ऐसी कोई चीज नही जो किसी ऐसे आशयको प्रकट करती हो। मुझे ऐसा प्रतीत होता है कि यह कहानी किसी ऐसी चीजसे संबंधित है जो वास्तवमें घटी थी या कहीं घटती है। गोपियां पुराणोंके लिये वास्तविक व्यक्ति हैं, रूपक नहीं हैं। यह उनके लिये कम-से-कम एक गुह्य सत्य था, और गुह्य तथा रूपक एक ही चीज नहीं है। रूपक एक अर्थपूर्ण मानसिक रचनामात्र अथवा एक काल्पनिक आविष्कारमात्र ही सकता है, पर गुह्य एक सत्य वस्तु है जो वास्तवमें कहींपर, मानो भौतिक दृश्यके पीछे, है और पार्थिव जीवनके लिये एक सत्य रखती है तथा पार्थिव जीवनपर जो उसका प्रभाव पड़ता है वह यहां अपने-आपको व्यक्त भी कर सकता है। ऐसा लगता है कि गोपियोंकी लीलाके विषयमें यह कल्पना की गयी है कि यह लीला दिव्य गोकुलमें निरंतर चल रही है और यही पार्थिव वृंदावनमें प्रक्षिप्त हुई थी; इसका अनुभव सर्वदा ही प्राप्त किया जा सकता है तथा इसके अर्थको अंतरात्माके अंदर यथार्थ रूप प्रदान किया जा सकता है। यह बात मानी जा सकती है कि पुराणोंके लेखकोंने ऐसा मान लिया था कि वह लीला वास्तवमें अवतार कृष्णके जीवनमें पृथिवीपर प्रक्षिप्त हुई थी और भारतके धार्मिक लोगोंने भी ऐसा ही स्वीकार किया है।

इन प्रश्नों और इनके कारण उठनेवाली कल्पनाओंका आध्यात्मिक जीवनके साथ कोई अनिवार्य संबंध नहीं है। वहां तो महत्त्वपूर्ण बात है कृष्णके साथ संपर्क और कृष्ण-चेतना, उनके साशिध्य, उनके आध्यात्मिक संबंध और आत्माके अंदर उनके साथ मिलनकी ओर निरंतर विकसित होते रहना; और जबतक मनुष्य उसे नहीं प्राप्त कर लेता तबतक अभीप्सा बनाये रखना, भक्तिमें अग्रसर होते रहना तथा पथपर जितना भी ज्ञान प्राप्त किया जा सके उसे प्राप्त करना। जिस व्यक्तिको ये सब चीजें प्राप्त हो चुकी हैं, जो कृष्णके सान्निध्यमें रह चुका है,

उनकी वाणी सुन चुका है, उनको सखा या प्रेमी, मार्गदर्शक, गुरु, प्रभुके रूपमें जान-पहचान चुका है अथवा, उससे भी अधिक, अपनी समूची चेतना उनके संपर्कसे परिवर्तित कर चुका है, अथवा अपने भीतर उनकी उपस्थितिको उपलब्ध कर चुका है, उसके लिये ऐसे प्रश्नोंमें केवल एक बाहरी और ऊपरी रुचि ही होती है। उसी तरह जिस व्यक्तिको आंतरिक वृंदावन और गोपियोंकी लीलाके साथ संपर्क प्राप्त हो चुका है, जो आत्मसमर्पण कर चुका है, आनंद और सौंदर्यके सम्मोहनके वशीभूत हो चुका है अथवा केवल वंशीकी ध्वनिकी ओर मुड़ चुका है, उसके लिये बाकी चीजोंका कोई विशेष मूल्य नहीं। परंतु दूसरे दृष्टिकोणसे, यदि कोई अवतारकी ऐतिहासिक सत्यताको स्वीकार कर सके तो उसे यह महान् आध्यात्मिक लाभ होगा कि उसे इस विश्वासके कारण कहीं अधिक ठोस अनुभूति प्राप्त करनेके लिये आश्रय-स्थल मिल जायगा कि कम-से-कम एक बार भगवान्‌ने प्रकट रूपमें पृथ्वीका स्पर्श किया था, पूर्ण अभिव्यक्तिको संभव बनाया था, यह संभावना उत्पन्न की थी कि दिव्य पराप्रकृति इस क्रमविकसनशील पर अभी भी बहुत अपूर्ण पार्थिव प्रकृतिके अंदर अवतरित हो सके।



नियागराके जलके लिये नहरें बनानेके विषयमें जो 'अ' का विचार है वही मेरा दृष्टिकोण भी है। परंतु मानव-मनके लिये मन और आत्माके बीचकी सीमाको पार कर जाना कठिन है जबतक कि कोई केवल एक मार्गपर ही वेगके साथ दौड़ न पड़े अथवा धकेलकर आगे न बढ़ जाय, और वैसा मार्ग विशुद्ध अनुभवका मार्ग ही हो सकता है जिसमें, विशेषकर यदि वह भक्तिका मार्ग हो तो, मनुष्य आसानीसे तीव्र प्रवाहोंमें खो जाता है (क्या अंतमें चैतन्य समुद्रमें विलीन नहीं हो गये थे?) और आगे नहीं बढ़ता। सबसे पहली बात है आध्यात्मिक चेतनामें, उसके किसी भागमें, किसी तरह और कहीं, प्रवेश कर जाना, फिर हम उस देशकी छानबीन कर सकते हैं, जिस छानबीनकी मुश्किलसे कोई सीमा हो सकती है; वहां तो मनुष्य सदा ऊर्ध्वसे ऊर्ध्वतरकी ओर बढ़ता रहता है, विशालसे विशालतर होता रहता है, परंतु प्रथम पूर्ण प्रवेशके आसपास एक प्रकारका तीव्र आनन्द विद्यमान होता है जो असाधारण रूपसे अभिभूतकारी होता है। केवल भक्तका परमानंद ही नहीं,

बल्कि ज्ञानीका ब्रह्मनिर्वाण या ब्रह्मानंद या आत्माकी स्थिर शाश्वततामें प्राप्त मुक्तिमें प्रवेश भी उसी अभिभूतकारी और तन्मयकारी स्वभावका होता है—सर्वप्रथम ऐसा नहीं प्रतीत होता कि कोई उसके परे किसी दूसरी चीजमें जानेकी परवा कर सकता है या करेगा अथवा उसकी आवश्यकता उसे होगी। कोई अपनी लयावस्थामें विलुप्त संन्यासीको अथवा अपने परमानंदमें विभोर भक्तको दोष नहीं दे सकता; वे वहां संभवतः इस कारण बने रहते हैं कि वे उसीके लिये गठित होते हैं और यही उनकी छलांगकी सीमा है। परंतु, जो हो, मुझे सर्वदा ही ऐसा प्रतीत हुआ है कि यह एक स्थिति है और अंत नहीं है; मैं नियागराके जलको नहरोंमें खींच लानेके विचारका पूरी तरह समर्थन करता हूं।

अधिकार, निस्संदेह, मनोविज्ञानका और अंतरात्मा और प्रकृतिका प्रश्न है, किसी बाहरी या कृत्रिम मानदंडके साथ इसका कोई सरोकार नही है।

अब अवतार और रूपककी बातपर आवें। मुझे ऐसा लगता है कि आधुनिक लोग जो अवतारकी जीवन-चरितसंबंधी और ऐतिहासिक बातोंपर अर्थात् उनके जीवनके बाहरी तथ्योंपर, उनके बाहरी जीवनकी घटनाओंपर जोर देते हैं उनमें एक मौलिक भूल है। महत्त्वपूर्ण चीज है वह आध्यात्मिक सत्य, शक्ति और प्रभाव जो उनके साथ आते हैं अथवा जिन्हें वह अपने कर्म और जीवनके द्वारा नीचे उतार लाते हैं। सबसे पहले, आध्यात्मिक मनुष्यके जीवनमें इस बातका कोई मूल्य नहीं कि उसने क्या किया अथवा अपने युगके मनुष्योंकी दृष्टिमें बाहरसे देखनेमें वह क्या था (यही चीजें है जो इतिहास और जीवन-चरित बताते है, ठीक है न?), बल्कि महत्त्वपूर्ण बात यह है कि वह भीतरमें क्या । और उसने क्या किया; केवल यही चीज है जो उसके बाहरी जीवनको कुछ महत्त्व प्रदान करती है। उसका आंतरिक जीवन ही उसके बाहरी जीवनको एक शक्ति देता है जो उसमें हो सकती है और आध्यात्मिक मनुष्यका आंतरिक जीवन एक विशाल और पूर्ण वस्तु होता है और, कम-से-कम महान् पुरुषोंमें, अर्थपूर्ण चीजोंसे इतना अधिक परिपूर्ण, इतने घने रूपमें भरा होता है कि कोई भी जीवनी-लेखक या इतिहास-लेखक उन सबको पकड़ पाने और कह पानेकी कभी भी आशा नहीं कर सकता। उसके बाहरी जीवनमें जो कुछ महत्त्वपूर्ण होता है

वह इसलिये होता है कि वह उस चीजका प्रतीक होता है जो उसने स्वयं अपने भीतर उपलब्ध किया है और हम और भी आगे बढ़कर कह सकते हैं कि उसका आंतरिक जीवन भी उसके पीछे विद्यमान भगवत्तत्वकी क्रियाकी एक अभिव्यक्ति, एक जीवंत प्रतिमूर्त्तिके रूपमें ही महत्त्वपूर्ण होता है। यही कारण है कि हमें यह खोज करनेकी आवश्यकता नहीं है कि आया श्रीकृष्ण-संबंधी कहानियां पृथ्वीपर किये गये उनके कार्योंका, चाहे जितना भी शिथिल, वर्णन है अथवा जो कुछ श्रीकृष्ण थे और मनुष्योंके लिये हैं उसका, श्रीकृष्णके रूपमें अभिव्यक्त भगवान्का प्रतीकात्मक चित्रण है। बुद्धका त्याग, मारके द्वारा उन्हें प्रलुब्ध किया जाना, बो-वृक्षके नीचे उनकी ज्ञान-प्राप्ति ऐसे ही प्रतीक हैं और उसी तरह ईसाका कुमारीसे जन्म, रेगिस्तानमें प्रलोभन और क्रासपर झुलाया जाना भी वैसे ही प्रतीक हैं; यदि वे सावधानीके साथ अभिलिखित ऐतिहासिक घटनाएं न भी हों तो भी उनका जो कुछ भी अर्थ है उसीके कारण वे सत्य हैं। ईसा और बुद्धके विषयमें जो कुछ बाहरी तथ्य वर्णित हैं वे अन्य बहुतसे लोगोंके जीवनोंमे घटित तथ्योंसे बहुत अधिक नहीं हैं—फिर भला वह कौनसी चीज है जो बुद्ध या ईसाको आध्यात्मिक जगत्में बहुत ऊंचा स्थान प्रदान करती है? उन्हें जो यह स्थान मिला उसका कारण यह था कि उनके द्वारा कुछ ऐसी चीज अभिव्यक्त हुई जो किसी भी बाहरी घटना या किसी भी शिक्षासे बहुत अधिक थी। प्रामाणिक इतिहास उसका बहुत थोड़ासा अंश ही हमें देता है और फिर भी केवल वही चीज महत्त्व रखती है। अतएव मुझे लगता है कि 'अ' जो कुछ प्रतीकके बारेमें कहता है वह मूलतः ठीक ही है। केवल भौतिक मनके लिये ही मनुष्यके शब्दों, कर्मों और क्रियाओंका महत्त्व होता है; आंतरिक मनके लिये उसके अंदर होनेवाली आध्यात्मिक घटनाओंका ही मूल्य होता है। बुद्ध और ईसाकी शिक्षाएं भी इसलिये आध्यात्मिक रूपमें सत्य नहीं है कि वे महज मनसे दी हुई शिक्षाएं हैं बल्कि इसलिये सत्य हैं कि वे उनके अंदरकी उन आध्यात्मिक स्थितियों या घटनाओंकी अभिव्यक्तियां हैं जिन्हें उन लोगोंने अपने पार्थिव जीवनके द्वारा दूसरोंके लिये संभव (अथवा यहांतक कि प्रबल रूपमें कार्यक्षम) बनाया। फिर, स्पष्ट ही, सांप्रदायिक दीवारें एक भूल हैं, सत्यके साथ जुड़ी हुई विजातीय वस्तुएं हैं और वे मनद्वारा सत्यको सीमित करती हैं; किसी मानसिक उद्देश्यके लिये वे उपयोगी

8. भाग्य और स्वतंत्र इच्छा, कर्म और आनुवंशिकता आदि

तुम्हारे उद्धरणोंको अलग अपने-आपमें लिया जाय तो वे बहुत आकर्षक लगते है, पर जब हम पूरी पुस्तकको पढ़ते हैं तो जो उनकी छाप पड़ी होती है वह कम हो जाती और विलीन हो जाती है। तुमने शेरो (Cheiro) की सफलताओंको उद्धृत किया है, पर उसकी असफलताओंके विषयमें तुम्हें क्या कहना है? मैंने उस पुस्तकपर नजर दौड़ायी है और उसकी जो भविष्यवाणियां घटित होनेमें असफल हुई हैं उनकी संख्या देखकर मैं चकित हो गया। तुम थोड़ीसी भविष्यवाणियोंके आधारपर, चाहे वे जितनी सही निकली हों, यह निष्कर्ष नही निकाल सकते कि सब कुछ, तुम्हारे इस पत्रमें प्रश्न पूछने और मेरे उत्तर देनेतक, पूर्वनिश्चित होता है। हो सकता है, पर इसे सिद्ध करनेके लिये यह प्रमाण पर्याप्त नहीं है। जो बात सुस्पष्ट है वह यह है कि घटना-क्रममें कुछ बातें ऐसी होती हैं जो भविष्यवाणी करने लायक होती हैं और उनकी भविष्यवाणी ठीक-ठीक और ब्योरेके साथ तथा व्यापक रूपमें की जा सकती है। पर यह बात तो पहलेसे ही विदित थी; यह तो इस प्रश्नको अभी भी समाधान किये बिना छोड़ देती है कि क्या सभी बातोंकी भविष्यवाणी की जा सकती है, क्या प्रारब्ध ही जीवनमें एकमात्र मूलतत्त्व है अथवा क्या दूसरे भी तत्त्व हैं जो प्रारब्धको बदल सकते हैं,—अथवा, प्रारब्ध मान लेनेपर, क्या प्रारब्धके विभिन्न स्रोत या शक्तियां या स्तर नहीं हैं और जिस प्रारब्धसे हमने प्रारंभ किया था उसके अंदर प्रारब्धके दूसरे स्रोत या शक्ति या स्तरको उतार लाकर और अपने जीवनमें सक्रिय बनाकर उसे परिवर्त्तित नहीं कर सकते? दार्शनिक प्रश्न इतने सरल नहीं होते कि उन्हें या तो एक अर्थमें अथवा उसके विपरीत दूसरे अर्थमें तीक्ष्ण रूपसे हल कर दिया जा सके—यह विषयोंको हल करनेका प्रचलित ढंग है, पर यह ढंग बिलकुल संक्षिप्त और अनिश्चयात्मक है। सब कुछ स्वेच्छाधीन है अथवा

सब कुछ अदृष्ट है—बात इस तरह इतनी सरल नहीं है। स्वतंत्र इच्छा या निर्धारणका यह प्रश्न समस्त दार्शनिक प्रश्नोंमें सबसे अधिक जटिल है और कोई व्यक्ति इसे हल नहीं कर पाया है—इस संगत कारणसे कि प्रारब्ध और इच्छा दोनोंका अस्तित्व है और यहांतक कि कहीं स्वतंत्र इच्छाका भी अस्तित्व है; कठिनाई बस यह है कि कैसे उसे पाया जाय और उसे फलदायी बनाया जाय।

ज्योतिष? ज्योतिषकी बहुतसी भविष्यवाणियां, काफी बड़ी संख्यामें, सच्ची उतरती हैं, यदि हम उन सबको एक साथ लें। परंतु इससे यह निष्कर्ष नहीं निकलता कि ग्रह-नक्षत्र हमारे भाग्यपर शासन करते हैं; नक्षत्र केवल उस भाग्यको लिपिबद्ध करते हैं जो निर्मित हो चुकी है, वे दुर्बोध लिपि हैं, कोई शक्ति नहीं हैं,—अथवा, यदि उनका कार्य कोई शक्ति गठित करती है तो वह एक संक्रमणकारी ऊर्जा होती है, न कि कोई उद्भावक शक्ति। मान लें कि कोई है जिसने निर्धारित किया है या कोई चीज है जिसे भाग्य कहते हैं; नक्षत्र केवल इसके सूचक हैं। स्वयं ज्योतिषी लोग भी कहते हैं कि दो शक्तियां हैं, दैव और पुरुषार्थ, भाग्य और व्यक्तिगत शक्ति, और व्यक्तिगत शक्ति भाग्यको बदल सकती और यहांतक कि निष्फल बना सकती है। इसके अतिरिक्त, नक्षत्र बहुधा कई भाग्य-संभावनाओंको सूचित करते हैं; उदाहरणार्थ, अमुक मध्य-आयुमें मर सकता है, पर यदि उस नियतिको पार कर लिया जा सके तो वह भविष्यवाणी करने योग्य वृद्धावस्थातक जी सकता है। अंतमें, ऐसे प्रसंग देखे जाते हैं जिसमें जन्मकुंडलीकी भविष्यवाणियां एक विशेष अवस्थातक बहुत अधिक सही रूपमें पूरी उतरती हैं, पर उसके बाद लागू नहीं होती। ऐसा उस समय बहुधा घटित होता है जब कि व्यक्ति साधारण जीवनसे मुंह मोड़कर आध्यात्मिक जीवनमें आ जाता है। यदि उसका मोड बहुत सच्चा हो तो तुरत भविष्यवाणियोंका घटित होना बंद हो सकता है; अन्यथा कुछ समयतक उनका कुछ फल अब भी बना रह सकता है, पर अब उनमें वही पुरानी अवश्यंभाविता नहीं रहती। यह बात यह सूचित करती प्रतीत होती है कि आध्यात्मिक भवितव्यताकी कोई एक उच्चतर शक्ति या उच्चतर स्तर या उच्चतर स्रोत है अथवा हो सकता है जो, यदि उसका समय आ गया है तो, प्राणिक और भौतिक भाग्यकी निम्नतर शक्ति, निम्नतर लोक या निम्नतर स्रोतको अतिक्रांत कर सकता है जिसके

सूचक ग्रह-नक्षत्र होते हैं। मैं यहां प्राणिक इसलिये कहता हूं कि जन्मपत्रीसे जीवनकी घटनाओंकी अपेक्षा चरित्रका भी लक्षण बहुत अधिक पूर्णताके साथ और संतोषजनक ढंगसे सूचित किया जा सकता है।

भारतीय दृष्टिकोणमें भाग्यका कारण है कर्म। अपने कर्मोंके द्वारा स्वयं हम ही अपने भाग्य-निर्माता हैं, पर हमारे द्वारा सृष्ट भाग्य हमें बांधता है; क्योंकि हमने जो कुछ बोया है उसे इस जीवन या दूसरे जीवनमें हमें अवश्य काटना होगा। फिर भी हम लोग वर्तमानमें भूतकालसे प्राप्त प्राचीन भाग्यको भोगते हुए ही भविष्यके लिये अपने भाग्यका निर्माण कर रहे हैं। यह बात हमारे संकल्प और कर्मको एक अर्थ प्रदान करती है और, जैसा कि यूरोपियन समीक्षक भूलवश विश्वास करते हैं, किसी कठोर और निष्फलकारी प्रारब्धवादका निर्माण नहीं करती। परंतु फिर, हमारा संकल्प और कर्म अक्सर विगत कर्मको भी नष्ट या परिवर्त्तित कर सकता है, केवल कुछ प्रबल प्रभाव, जिन्हें उत्कट कर्म कहते हैं, ऐसे होते हैं जिन्हें परिवर्त्तित नहीं किया जा सकता। पर ऐसा माना जाता है कि ऐसे प्रसंगमें भी आध्यात्मिक चेतना और जीवनकी उपलब्धि कर्मको विनष्ट कर सकती अथवा विनष्ट करनेकी शक्ति प्रदान कर सकती है। क्योंकि उस समय हम, वैश्व या परात्पर, भागवत संकल्पके साथ एकत्व प्राप्त कर लेते हैं जो विशेष परिस्थितियोंमें प्रदत्त अपनी अनुमूतिको रद्द कर सकता है, अपनी पुरानी सृष्टिको नये सिरेसे सृष्ट कर सकता है; उस समय संकीर्ण सुनिश्चित धारा विलीन हो जाती है, एक अधिक नमनीय स्वाधीनता और विशालता प्राप्त हो जाती है। इस तरह न तो कर्म और न ज्योतिषशास्त्र ही किसी कठोर और चिरकालके लिये अपरिवर्तनीय भाग्यको सूचित करता है।

भविष्यवाणीका जहांतक प्रश्न है, मैंने कभी किसी ऐसे भविष्य-वक्ताको न देखा या जाना है, चाहे वह जितना भी प्रसिद्ध हो, जो निर्मूल हो। उनकी कुछ भविष्यवाणियां तो अक्षरशः सत्य होती हैं, पर दूसरी नहीं होतीं,—वे या तो आधी पूरी होती हैं या पूरी तरह गलत उतरती हैं। परंतु इससे यह निष्कर्ष नहीं निकलता कि भविष्य-वाणी करनेकी शक्ति मिथ्या है अथवा सभी सही भविष्यवाणियोंकी व्याख्या संभावना, दैवयोग, संयोग आदि कहकर की जा सकती है। जो भविष्यवाणियां पूरी नहीं हो पातीं उनकी जाति और संख्या बहुत

अधिक हैं। उनकी पूर्तिमें जो नाना भेद हैं उनकी व्याख्या यह कहकर की जा सकती है कि भविष्यवक्तामें कोई अपूर्ण शक्ति कभी तो प्रभावशाली होती है और कभी निष्फल, अथवा इस तथ्यके द्वारा की जा सकती है कि वस्तुओंकी भविष्यवाणी केवल अंशतः ही की जा सकती है, वे केवल अंशतः ही निर्धारित होती है अथवा किसी भिन्न तत्त्व या शक्ति-धाराके द्वारा, शक्यताओं और यथार्थताओंकी भिन्न शृंखलाओंके द्वारा निर्दिष्ट होती हैं। जबतक कोई व्यक्ति एक धाराके संस्पर्शमें रहता है, वह ठीक-ठीक भविष्यवाणी करता है, अन्यथा नहीं—अथवा, यदि शक्तिकी धाराएं बदल जाती हैं तो भविष्यवाणी भी रेलसे नीचे उतर जाती है। जो हो, यह कहा जा सकता है कि यदि वस्तुओंकी भविष्य-वाणी की जा सकती है तो, कहीं कोई शक्ति या स्तर अवश्य होगा जिसके द्वारा और जहां सब कुछ पहलेसे देखा-जाना जा सकता है; यदि भागवत सर्वज्ञता और सर्वशक्तिमत्ता है तो फिर ऐसी बात अवश्य होनी चाहिये। फिर भी जो कुछ पूर्वदृष्ट है उसे कार्यान्वित करना होता है, वास्तवमें वह शक्तियोंकी एक क्रीड़ाके द्वारा—आध्यात्मिक, मानसिक प्राणिक और भौतिक शक्तियोंकी क्रीड़ाके द्वारा—कार्यान्वित होती है—और शक्तियोंके उस लोकमें कोई पूर्ण कठोरता उपलभ्य नहीं है। व्यक्तिगत संकल्प या प्रयास भी उनमेंसे एक शक्ति है। नेपोलियनसे जब पूछा गया कि वह भाग्यमें क्यों विश्वास करता है और फिर भी सर्वदा योजनाएं बनाता रहता और कार्य करता रहता है तो उसने उत्तर दिया, "क्योंकि यह नियति-निर्दिष्ट है कि मैं कार्य करूं और योजना बनाऊं"; दूसरे शब्दोंमें, उसका योजना बनाना और कार्य करना भाग्यके ही अंग थे, उनसे वे परिणाम प्राप्त होते थे जिन्हें भाग्यदेवीने अपनी दृष्टिके सम्मुख रखा था। यदि मैं कोई विपरीत परिणाम पहलेसे देख लूं तो भी मुझे उस परिणामके लिये अवश्य कार्य करना चाहिये जिसके विषयमें मैं समझता हूं कि उसे उत्पन्न होना चाहिये। क्योंकि इससे वह शक्ति, सत्यका वह तत्त्व जीवंत बना रहता है जिसकी मैं सेवा कर रहा हूं और इसके बाद उस शक्ति और सत्यको विजयी होनेकी एक संभावना प्राप्त होती है जिससे कि, वर्तमान समयका भाग्य विपरीत होनेपर भी, वह भावी अनुकूल भाग्यकी क्रियान्वितिका एक अंग बन जाती है। मनुष्य किसी उद्देश्यका परित्याग इसलिये नहीं कर देते कि वे उसे असफल होते हुए देखते हैं अथवा उसकी विफलताको पहलेसे

देख लेते हैं; और आध्यात्मिक दृष्टिसे उनका अटूट लगनके साथ प्रयास करते रहना उचित है। इसके अतिरिक्त, हम केवल बाह्य परिणामके लिये जीवन नहीं यापन करते; इससे कहीं अधिक, जीवनका लक्ष्य है अंतरात्माका विकास,—इस घड़ीकी अथवा निकट भविष्यकी भी बाहरी सफलता जीवनका उद्देश्य नहीं है। अंतरात्मा उस भौतिक भवितव्यताके विरुद्ध या उसके द्वारा भी वर्द्धित हो सकता है जो कि प्रतिकूल होती है।

अंतमें, यदि सब कुछ पूर्वनिर्दिष्ट भी हो तो भला शेक्सपियरके शब्दोंमें अथवा यों कहें कि मैकवेथके शब्दोंमें, यह क्यों कहा जाय कि जीवन "एक मूढ़द्वारा कथित कहानी है जो कोलाहल और भीषणतासे भरी है और जिसका तात्पर्य कुछ नहीं है?" बल्कि जीवन उस समय ऐसा होता यदि यहां सब कुछ संयोग और विशृंखल अनिश्चयता ही होता। पर यह यदि कोई ऐसी चीज है जो पूर्वदृष्ट है, प्रत्येक ब्योरेमें आयोजित है, तो क्या इसका अर्थ यह नहीं है कि जीवनका कुछ तात्पर्य है, अवश्य ही उसका कोई गुह्य दिव्य उद्देश्य है जो प्रबल रूपसे, नित्य-निरंतर, युग-युगसे कार्यान्वित हो रहा है और हम लोग उस अदम्य दिव्य उद्देश्यकी सिद्धिमें उसके अंग और सहकर्मी हैं?

पुनश्च: हां, सबसे महान् आनंद जो संभव है वह है यह अनुभव करना कि स्वयं भगवान् हमें लिये जा रहे हैं, न कि नक्षत्र या कर्म लिये जा रहा है, क्योंकि कर्म तो एक बुरा व्यापार है, नीरस और कष्टदायी है—मशीनके ऊपर चक्कर काटते रहनेके समान है—"**यंत्रा-रूढ़ानि मायया।**"

⊙

मुझे खेद है कि शेरो (Cheiro) के विचारों और भविष्यवाणियों-पर मुझे बहुत अधिक विश्वास नहीं है—कुछ भविष्यवाणियां सच्ची सिद्ध हुई हैं पर अधिकांश गलत हो गयी हैं। यहूदियोंसे संबंधित उनका विचार एक पुराना यहूदी और ईसाई विश्वास है; बहुत अधिक विश्वास उसपर नहीं किया जा सकता। अंकोंका जहांतक प्रश्न है, यह सच है कि गुह्य विद्याके अनुसार अंकोंका एक रहस्यपूर्ण अर्थ होता है। यह भी सच है कि जीवनमें तथा विश्वजीवनमें भी विशेष काल और कालचक्र आते हैं। पर इन चीजोंको सर्वदा एकदम ठीक अर्थ नहीं दिया जा सकता।

⊙

मैंने यह नहीं कहा है कि प्रत्येक चीज कठोरतापूर्वक पूर्वनिर्धारित है, शक्तियोंके खेलका यह अर्थ नहीं है। मैंने यह कहा था कि जगत्‌की दृश्य घटनाओंके पीछे सदा अदृश्य शक्तियोंका एक समूह कार्य करता है जिन्हें मनुष्योंका बाहरी मन नहीं जानता, और योगके द्वारा, (अपने अंतरमें पैठकर और वैश्व आत्मा और वैश्व शक्ति तथा शक्तियोंके साथ सचेतन संबंध स्थापित करके), इन शक्तियोंके विषयमें सचेतन हुआ जा सकता है, उनकी क्रीड़ामें ज्ञानपूर्वक हस्तक्षेप किया जा सकता है, और कम-से-कम कुछ हदतक क्रीड़ाके परिणामके अंदर कुछ चीजोंको निश्चित किया जा सकता है। इन सब चीजोंका पूर्वनिर्धारणके साथ कोई संबंध नहीं है। इसके विपरीत, मनुष्य यह निरीक्षण करता है कि चीजें कैसे विकसित होती हैं और जब संभव होता है या आवश्यक होता है तब एक धक्का यहां और एक धक्का वहां दे देता है। इन सबमें कोई बात ऐसी नहीं जो महान् वैज्ञानिक सर सी० वी० रमणकी उक्तिका खंडन करती हो। रमणने एक बार कहा था कि ये सभी वैज्ञानिक आविष्कार केवल संयोगके खेल हैं। केवल, जब वह यह कहते हैं कि वैज्ञानिक आविष्कार संयोगके खेल हैं तो वह महज यह कहते होते हैं कि मनुष्य यह नहीं जानता कि कैसे वह कार्यान्वित करता है। यह कठोर पूर्वनिश्चय नहीं है, पर यह कोई अंध दैवयोग भी नहीं है। यह एक क्रीड़ा है जिसमें कालके अंदर संभावनाओंको कार्यान्वित किया जाता है।



निस्संदेह यह पता लगाना मुश्किल है कि इन पृष्ठोंमें प्लैंक (Planck) क्या कहना चाहते हैं—उनका निर्णय क्या है और उस निर्णयपर वह कैसे पहुंचते हैं। उन्होंने संभवतः अपनी युक्तियोंको इतना संक्षिप्त कर दिया है कि आवश्यक व्याख्यात्मक शृंखला ही खो गयी है। पूर्व-पृष्ठोंपर सरसरी तौरपर नजर दौड़ानेपर मैं देखता हूं कि स्वतंत्र इच्छाका प्रश्न उनकी इस प्रस्थापनाके कारण गौण रूपमें उठता है कि नये आविष्कारोंको जब ऊर्जाणुवाद (quantum theory) के चारों ओर एकत्र कर दिया जाता है तो उनसे भौतिक विज्ञानमें कोई मौलिक अंतर नहीं आता। यदि प्राकृतिक नियमोंको सांख्यिकीय-की तरह माननेकी प्रवृत्ति हो,—जिस अवस्थामें न तो कोई "कठोर कार्य-

कारण-भाव" रह जाता है और न कोई नियतिवाद—फिर यह सिद्ध करनेके लिये भी कोई चीज नहीं रह जाती कि इन्हें गत्यात्मक भी प्रस्थापित नहीं किया जा सकता और शायद लाभप्रद ढंगसे भी नहीं किया जा सकता—जिस स्थितिमें नियतिवाद ठहर सकता है; व्यक्तिगत व्यवहारकी अनिश्चयता (परमाणु, ऊर्जाणु) वास्तवमें नियतिवादका खंडन नहीं करती, केवल उसमें एक नया लक्षण जोड़ देती है। सरसरी निगाहसे देखनेपर यही उनका सिद्धांत प्रतीत होता है। कुछ वैज्ञानिक विचारक यह मानते हैं कि व्यक्तिगत व्यवहारकी जो यह अनिश्चयता है यह प्रत्येक व्यक्तिमें विद्यमान स्वतंत्र-इच्छासे मिलता-जुलता एक भौतिक तत्त्व है। बस, यहींपर प्लैंक इस निष्कर्षका खंडन करनेके लिये स्वतंत्र-इच्छाका प्रश्न उठाते हैं कि यह कठोर कार्य-कारण-भाव और नियतिके विधानपर प्रभाव डालती है। जहांतक मैं समझ पाया हूं उनका सिद्धांत इस प्रकार है:

1. कठोर कार्य-कारणका विधान वैध सिद्ध होता है, क्योंकि प्रत्येक व्यक्तिका कोई भी कार्य या आंतरिक घटना ले लो, वह पूर्णतः दो कारणोंसे निर्धारित एक परिणाम होता है, (अ) संपूर्ण रूपसे ली गयी उसके मनकी पूर्वावस्था, (ब) बाह्य प्रभाव।

2. इच्छा एक मानसिक प्रक्रिया है जो पूर्णतः इन दो तत्त्वोंद्वारा निर्धारित होती है; इसलिये यह स्वतंत्र नहीं है, यह कठोर कार्य-कारण-शृंखलाका अंग है—स्वतंत्र-इच्छाके परिणाम भी ऐसे ही हैं।

3. महत्त्वपूर्ण बात इच्छाकी यथार्थ स्वतंत्रता नहीं है, बल्कि स्वतंत्रता-संबंधी मनुष्यकी चेतना है। यह चेतना सचेतन उद्देश्यकी एक आंतरिक अनुभूति उत्पन्न करती है जो फिर नवीन उद्देश्योंको उत्पन्न करती है और इस तरह अनंततः चलता रहता है। इस कारण मनुष्यके लिये अपने भावी कर्मकी भविष्यवाणी करना असंभव है—क्योंकि किसी भी क्षण एक नया उद्देश्य खड़ा हो सकता है। परंतु जब हम अतीतकी ओर दृष्टि मोड़ते हैं तो कार्य और कारणकी शृंखला प्रत्यक्ष हो जाती है।

4. कठोर कार्य-कारण-संबंधका तथ्य (अथवा कम-से-कम उसका सिद्धांत) इसलिये व्यक्तिकी स्वतंत्र-इच्छाकी चेतनासे प्रभावित हुए बिना अकाट्य बना हुआ है। यह केवल इस तथ्यसे आच्छन्न है कि कोई मनुष्य अपने कर्मोंकी भविष्यवाणी नहीं कर सकता अथवा अपनी वर्तमान

स्थितिके कारणोंको नहीं पकड़ सकता; पर इसका कारण यह है कि यहां ज्ञाता और ज्ञेय एक ही हैं और यह ज्ञाता-ज्ञेय निरंतर एकके बाद एक आनेवाली गतिकी स्थितिमें है, उस ज्ञेय विषयके जैसा नहीं है जो बाहर है और ज्ञाताकी आंतरिक क्रियाओंके फलस्वरूप परिवर्त्तित होता हुआ नहीं माना जाता।

इन पृष्ठोंमें कार्य-कारण-विधान तथा नैतिक विधानका उल्लेख है जो मुझे चकित करता है। क्या "नैतिक विधान" कोई ऐसी चीज है जो कार्यों और कारणोंकी कठोर श्रृंखलासे बाहर है? क्या ऐसी कोई चीज है भी? यदि "कठोर कार्य-कारण-भाव" सबपर शासन करता है तो फिर वहां ऐसा कोई नैतिक विधान क्या करता है?

जहांतक मैं समझ सका हूं, यही उनका तर्क है, पर मुझे ऐसा नहीं लगता कि यह बहुत अकाट्य है। यदि कोई मनुष्य अपने आचरणके विषयमें भविष्यकथन नहीं कर सकता तो उसके विषयमें कोई दूसरा भी भविष्यवाणी नहीं कर सकता, यद्यपि यहां ज्ञाता और ज्ञेय एक ही नहीं हैं; यदि पूर्वकथनीय नहीं है तो इसका कारण भी अवश्य ही वही होगा, स्वतंत्र-इच्छाका तत्त्व और नवीन उद्देश्योंके अनिश्चित अंतःप्रवेशकी संभावनासे उत्पन्न गतिशीलता। यदि ऐसी बात है तो कठोर कार्य-कारण-संबंधको प्रस्थापित नहीं किया जा सकता—यद्यपि अब भी एक नमनीय कार्य-कारण-संबंधको संभवनीय कहकर प्रस्थापित किया जा सकता है जिसमें चुनावकी शक्ति भी, जिसे हम स्वतंत्र-इच्छा कहते हैं, एक तत्त्व है (चाहे वह बहुतसे सहायक कारणोंमेंसे एक हो अथवा किसी कारणका उससे परेका कोई यंत्र हो)।

उनका यह वक्तव्य कि व्यक्तिका कार्य कठोरतापूर्वक उसकी संपूर्ण मानसिक स्थिति + बाह्य प्रभावोंद्वारा निर्धारित होता है, संदिग्ध है और बहुत दूरतक नहीं ले जाता। अनिवार्य कार्य-कारण-सिद्धांतकी संपूर्ण भावनाको यह मानकर जड़-मूलसे उखाड़ देना संभव है कि किसी घटनासे पूर्व विद्यमान संपूर्ण स्थिति वह शर्त्त है जिसके अधीन वह घटती है—वहां पूर्ववर्त्ती परिस्थितियोंका एक जमघट होता है और कोई अनुवर्ती परिस्थिति होती है, यदि उसे ऐसा नाम दिया जा सके, अथवा अनुवर्ती परिस्थितियोंका एक समूह होता है, पर कोई भी चीज यह नहीं साबित करती कि अनुवर्त्ती परिस्थितियां पूर्ववर्त्ती परिस्थितियोंके रूपके अनिवार्य परिणाम होती हैं। संभवतः, यह संपूर्ण वर्तमान स्थिति

एक गर्भाशय होती है जिसमें घटनाओंके कुछ बीज फेंक दिये जाते हैं अथवा सक्रिय हो जाते हैं जिसमें कि बहुतसे संभव परिणाम उत्पन्न हो सकें, और मानव-कर्मके प्रसंगमें यह अनुमान किया जा सकता है कि स्वतंत्र-इच्छा एकमात्र अथवा कम-से-कम एक निर्धारक तत्त्व है।

अतएव मैं नहीं समझता कि प्लैंकके ये तर्क-वितर्क हमें बहुत दूर-तक ले जाते हैं, स्वयं उस पुस्तकमें भी निस्संदेह, यह प्रश्न उठाया गया है कि, नियतिवादको मान लेनेपर भी, क्या वस्तुओंकी कोई स्थानिक स्थिति, कार्य-कारणका एक स्वतंत्र क्षेत्र है अथवा संपूर्ण इस प्रकार एक साथ आबद्ध है कि संपूर्ण ही स्थानिक परिणामको निश्चित करता है। तब किसी मनुष्यका कर्म वैश्व शक्तियोंके द्वारा निर्धारित होगा और उसके मनकी स्थिति तथा आपातदृष्ट चुनाव विश्व-शक्तिके साधन-विनियोगका अंग होगा।



तुमने सुकरातका तथा व्यसनी शराबीका प्रसंग उठाकर उनका जो विभेद बतलाया है वह सही है। दुर्बल इच्छावाला मनुष्य अपने प्राणिक और भौतिक आवेगोंके द्वारा शासित होता है, उसका मनोमय पुरुष उनके ऊपर अपनी इच्छाको विजयी बनानेके लिये पर्याप्त शक्तिशाली नहीं होता। उसकी इच्छा "स्वतंत्र" नहीं होती, क्योंकि वह स्वतंत्र होनेके लिये काफी प्रबल नहीं होती, वह उन शक्तियोंकी दासी होती है जो उसकी प्राणिक और भौतिक प्रकृतिके ऊपर या उसके अंदर कार्य करती हैं। सुकरातके प्रसंगमें इच्छा इतनी अधिक स्वतंत्र है कि वह इन शक्तियोंकी क्रीड़ाके ऊपर आसीन है और वह अपने मानसिक विचार और संकल्पके द्वारा यह निश्चित करते हैं कि उन्हें क्या करना चाहिये और क्या नही। यह प्रश्न रह जाता है कि क्या सुकरातकी इच्छा केवल इसी अर्थमें स्वतंत्र है, वह स्वयं वास्तवमें सुकरातके मनकी अपेक्षा किसी विशालतर वस्तुके द्वारा निर्धारित है, किसी ऐसी वस्तुसे निर्धारित है जिसका वह यंत्र है—चाहे विश्व-शक्तिके द्वारा या उनके अंदर विद्यमान किसी पुरुषके द्वारा निर्धारित है जिसकी अभिव्यक्ति उनका देव था और जिसने न केवल उनके मनको मानसिक आदर्शका वह सुनिश्चित ज्ञान प्रदान किया बल्कि उस ज्ञानके अनुरूप कार्य करनेकी प्रवृत्ति उसपर आरोपित कर दी। अथवा वह आंतर पुरुष और विश्व-

शक्तिके एक संयोगके अधीन हो सकती है। अंतिम अवस्थामें प्रकृतिकी नियति और अंतरसे होनेवाले आत्मनिर्णयके बीच एक अस्थायी संतुलन होगा। यदि हम सांख्यके दृष्टिकोणसे आरंभ करें तो वह पुरुष (अर्थात् वह जिसकी अभिव्यक्ति उनका देव था) होगा अंतरात्मा या 'पुरुष' (जीवात्मा) और प्रबल इच्छावाले सुकरात तथा दुर्बल इच्छावाले प्राणावेगके दास दोनोंमें कर्म और उसके परिणाम उस 'पुरुष' की अनुमति या अस्वीकृतिके द्वारा निर्धारित होंगे। दुर्बल इच्छावाले मनुष्यमें वह पुरुष प्रकृतिकी शक्तियोंको, प्राणावेगके अभ्यासको, प्राणिक आनुगत्यके द्वारा, अनुमति देता है और उन शक्तियोंकी क्रीड़ाका भोग करता है, जब कि मन निस्सहाय ताकता रहता है। सुकरातमें वह 'पुरुष' मुक्त होना आरंभ कर चुका है और यह निश्चय करने लग गया है कि उसे क्या स्वीकार करना चाहिये और क्या नहीं—सचेतन पुरुष उसपर कार्य करनेवाली शक्तियोंके ऊपर अपना प्रभाव डालना आरंभ कर चुका है। यह प्रभुत्व इतना पूर्ण हो गया है कि सुकरात अत्यधिक मात्रामें अपने कर्मोंका निर्धारण कर सकते हैं और किन्हीं विशेष सीमाओंके अंदर केवल परिणामोंकी भविष्यवाणी ही नहीं कर सकते बल्कि उन्हें निश्चित भी कर सकते हैं—जिसमें कि जो कुछ वह चाहते हैं वही शीघ्र या देरसे घटित होगा।

अतिमानवका जहांतक प्रश्न है, वह तो वह सचेतन पुरुष है जिसकी मुक्ति मनकी सीमाओंके परे एक स्थानपर पहुंच जानेके कारण पूर्ण हो गयी है। वह एक ऐसे ज्ञानके साथ पूर्ण सामंजस्य रखकर अपने कर्मका निर्धारण कर सकेगा जो उसके अंदर और उसके ऊपर और उसके चारों ओर कार्य करनेवाली सभी शक्तियोंको देखता है और उन्हें सहन करनेके बदले, उनका व्यवहार करने तथा निर्धारण करनेतकमें समर्थ होता है।



"अ" की विश्वासप्रद व्याख्याको पढ़नेके बाद मैंने देखा कि इस प्रश्नपर बौद्धिक दृष्टिसे क्या कहा जा सकता है जिससे कि परम स्वतंत्रताके सत्यको प्रकृतिकी नियतिके व्यापारके साथ जोड़ दिया जा सके—उससे भिन्न तरीकेसे, पर उसी एक उद्देश्यसे। वास्तवमें देखा जाय तो स्वतंत्रता और नियति एक ही वस्तुके केवल दो पक्ष हैं—क्योंकि

मौलिक सत्य है विश्वका आत्मनिर्धारण तथा उसके अंदर व्यक्तिका गुह्य आत्मनिर्धारण। कठिनाई इस बातसे उठती है कि हम अज्ञानके ऊपरी मनमें निवास करते हैं, यह नहीं जानते कि पीछेकी ओर क्या हो रहा है और प्रकृतिके केवल बाह्य व्यापारकी प्रक्रियाको देखते हैं। वहां आपातदृष्ट तथ्य है प्रकृतिकी एक अदम्य नियति और चूंकि हमारी उपरितलीय चेतना उस प्रक्रियाका अंग है, हम उस द्वैत सत्यके दूसरे पक्षको देखनेमें असमर्थ होते हैं। व्यावहारिक उद्देश्योंके लिये, ऊपरी तलपर जड़तत्त्वके अंदर एक प्रकारकी पूर्ण नियति है—यद्यपि विज्ञानकी नवीनतम शाखा अब इसे मानना अस्वीकार करती है। जब प्राणका प्रादुर्भाव होता है तो एक प्रकारकी नमनीयता प्रवेश करती है और इसके कारण ठीक-ठीक उसी तरह किसी चीजकी भविष्यवाणी करना कठिन होता है जिस तरह हम एक कठोर नियमका अनुसरण करनेवाली भौतिक जड़वस्तुओंके विषयमें भविष्यवाणी करते हैं। यह नमनीयता मनका विकास होनेपर और बढ़ जाती है और इस कारण मनुष्यको कम-से-कम स्वतंत्र-इच्छाका, अपने कर्मके चुनावका एक प्रकारका बोध हो सकता है और वह समझ सकता है कि उसके अपने कार्यसे कम-से-कम परिस्थितियोंका निर्धारण करनेमें सहायता मिल सकती है। परंतु यह स्वतंत्रता संदिग्ध है, क्योंकि इसे एक प्रकारका भ्रम, प्रकृतिका एक उपाय, उसकी नियति-रूपी यंत्रका अंग घोषित किया जा सकता है, यह केवल देखनेमें स्वतंत्रता है अथवा अधिकसे अधिक एक सीमित, आपेक्षिक और पराधीन स्वाधीनता है। जब मनुष्य पीछेकी ओर, प्रकृतिसे दूर, पुरुषके समीप जाता है और ऊपरकी ओर, मनसे दूर, आत्मातक चला जाता है केवल तभी स्वतंत्रताका पक्ष सर्वप्रथम सुस्पष्ट होता है और फिर, उस दिव्य संकल्पके साथ, जो कि प्रकृतिसे ऊपर है, एकत्व होनेपर, पूर्ण होता है।



जीवनमें सब प्रकारकी वस्तुएं हमारे सम्मुख उपस्थित होती हैं। मनुष्य सामने आनेवाली प्रत्येक वस्तुको इस भावनाके साथ ग्रहण नहीं कर सकता कि वह भगवान्‌द्वारा प्रेषित है। यहां एक प्रकारका चुनाव है और गलत चुनाव अपने परिणाम उत्पन्न करता है।



भवितव्यता कठोर अर्थमें केवल बाहरी सत्तापर, जबतक कि वह अज्ञानमें रहती है, लागू होती है। जिसे हम भवितव्यता कहते हैं वह वास्तवमें केवल सत्ता और प्रकृतिकी वर्तमान अवस्थाका परिणाम है और भूतकालमें इन्होंने एक-दूसरेपर कार्य करके और वर्तमान प्रयासों तथा उनके भावी परिणामोंका निश्चय करके जिन शक्तियोंको संचित किया है उनका परिणाम है। परंतु जैसे ही मनुष्य आध्यात्मिक जीवनमें प्रवेश करता है वैसे ही यह पुरानी पूर्वनिश्चित भवितव्यता बदलना शुरू कर देती है। अब एक नया तत्त्व प्रवेश करता है भागवत करुणा, कर्मकी शक्तिसे भिन्न उच्चतर भागवत शक्तिकी सहायता, जो साधकको उसकी प्रकृतिकी वर्तमान संभावनाओंसे परे उठा ले जा सकती है। उस समय साधककी भवितव्यता भगवान्‌द्वारा चुनी जाती है और उससे भविष्य सुनिश्चित हो जाता है। बस, एकमात्र संदेह रह जाता है मार्गके उलट-फेरोंके तथा यात्रामें लगनेवाले समयके विषयमें। यहीं-पर विरोधी शक्तियां प्राचीन प्रकृतिकी दुर्बलताओंपर क्रिया करके प्रगतिकी तीव्रताको रोकने तथा सिद्धिको रोक रखनेका प्रयास करती हैं। जो लोग गिर जाते हैं वे प्राणिक शक्तियोंके आक्रमणोंके कारण नहीं गिरते, बल्कि इस कारण गिरते हैं कि वे विरोधी शक्तिके पक्षमें आ जाते हैं और आध्यात्मिक सिद्धिके स्थानमें किसी प्राणिक महत्त्वा-कांक्षा या कामना (महत्त्वाकांक्षा, मिथ्याभिमान, कामुकता आदि) को पसंद करते हैं।



न तो प्रकृति, न भाग्य और न भगवान् ही मानसिक ढंगसे अथवा मनके विधानद्वारा अथवा उसके मानदंडोंके अनुसार कार्य करते हैं— यही कारण है कि वैज्ञानिकों और दार्शनिकोंतकके लिये प्रकृति, अदृष्ट, भगवान्‌की पद्धति सब एक रहस्य बने रहते हैं। श्रीमाताजी मनके द्वारा कार्य नहीं करतीं, इसलिये मनके द्वारा उनके कार्यका विचार करना निरर्थक है।



तुम प्रकृतिके विषयमें जो कुछ समझते हो या समझ सकते हो उससे वह बहुत विशाल है।



प्रत्येक व्यक्तिकी अपनी निजी भवितव्यता है और एक जीवनमें किसी विशिष्ट परिवारमें उसका प्रवेश करना केवल एक आकस्मिक घटना है।



चेतना कोई ऐसी यंत्ररूप मृत वस्तु नहीं है जिसे इस प्रकार काटा जा सके। आनुवंशिक प्रभाव एक प्रकारका आंतरिक मेल उत्पन्न करता है और यह आंतरिक मेल एक प्रकारकी लंबी चीज है। जब यह आनुवंशिक अंश बदल जाता है केवल तभी आंतरिक सादृश्य समाप्त होता है।



[आनुवंशिकता, जाति, वर्ग और परिवारकी छाप:] अधिकांश मनुष्योंमें बहुत बड़ी छाप होती है—सच पूछा जाय तो भौतिक-प्राणिक और स्थूल भौतिक भागमें ही मुख्यतया यह छाप होती है—और यह शिक्षा तथा प्रशिक्षणके द्वारा बढ़ती है।



बहुतसी चीजें शरीरमें तथा कुछ चीजें मन और प्राणमें माता-पिता तथा अन्य पूर्वजोंसे उत्तराधिकाररूपमें प्राप्त होती हैं—इसे प्रत्येक व्यक्ति जानता है, ऐसा मानते हैं। कुछ अन्य चीजें ऐसी होती हैं जो आनुवंशिक नहीं होतीं, बल्कि व्यक्तिकी अपनी प्रकृतिकी विशेषताएं होती हैं अथवा इस जीवनकी घटनाओंके द्वारा विकसित हुई होती हैं।



कर्म और वंशपरंपरा ये दो प्रधान कारण हैं (जो जन्म होनेपर स्वभावका निर्धारण करते हैं)। कुछ लोगोंके मतानुसार आनुवंशिकता भी कर्मके अधीन होती है, पर यह बात केवल सामान्य रूपमें ऐसी हो सकती है न कि समस्त ब्योरेमें।



सभी शक्तियां—विचार, वाणी, अनुभवशीलता, कार्य—एक साथ क्रियाशील होनेपर कर्मका निर्माण करती हैं। ये चीजें किसी एक दिशामें स्वभावके विकसित होनेमें सहायक होती हैं, और फिर स्वभाव और उसके कर्म और उसकी प्रतिक्रियाएं अपने भीतरी और बाहरी परिणाम उत्पन्न करती हैं: वे दूसरोंपर भी कार्य करती हैं और सामान्य शक्ति-समूहमें क्रियाएं उत्पन्न करती हैं जो शीघ्र या देरसे व्यक्तिके ऊपर वापस आ सकती हैं। जो विचार व्यक्त नहीं हुए हैं वे भी शक्तियोंके रूपमें बाहर जा सकते और अपने परिणाम उत्पन्न कर सकते हैं। यह समझना भूल है कि कोई विचार या संकल्प केवल तभी परिणाम उत्पन्न कर सकता है जब वह वाणी या कर्ममें व्यक्त होता है। अव्यक्त विचार, अनभिव्यक्त संकल्प भी सक्रिय शक्तियां हैं और अपने प्रकंपनों, परिणामों या प्रतिक्रियाओंको पैदा कर सकते हैं।



ठीक-ठीक? भला कोई ठीक-ठीक वहां कैसे तौल सकता है जहां प्राणिक, मानसिक और आध्यात्मिक तत्त्व प्रविष्ट हो जाते हैं? किसी नक्षत्र और परमाणुके साथ व्यवहार करते समय शायद तुम तौल सकते हो (यद्यपि ऐसा लगता है कि किसी विद्युत्कणके साथ तुम ऐसा नहीं कर सकते), पर मनुष्य और उसके सजीव मन, अंतरात्मा और शरीरके साथ तुम ऐसा नहीं कर सकते।

II

'अ' ने जो कुछ कहा है वह सच है, शक्तियोंका खेल बड़ा जटिल है और हमें उनके विषयमें सचेतन होना चाहिये और, मानो, देखना और निरीक्षण करना चाहिये कि वे कैसे कार्य करती हैं, उसके बाद ही हम वास्तवमें यह समझ सकते हैं कि वस्तुएं क्यों वैसी ही घटित होती हैं जैसी कि वे घटित होती हैं। सभी कर्म शक्तियोंके जालसे घिरे होते हैं और यदि कोई उनमेंसे किसी एकके सफल होनेके लिये शक्तिका प्रयोग करे तो उसे सावधान होकर उसे पूर्ण रूपसे प्रयुक्त करना चाहिये और उसे जारी रखना चाहिये और अन्य विपरीत शक्तियोंके भीतर घुस आनेके लिये दरवाजा खुला नहीं छोड़ देना चाहिये। प्रत्येक मनुष्य स्वयं बहुतसी शक्तियोंका क्षेत्र है—कुछ तो

उसकी साधनाके लिये कार्य कर रही थीं, कुछ उसके अहंकार और कामनाओंके लिये कार्य कर रही थीं। इसके अतिरिक्त भी ऐसी शक्तियां होती हैं जो मनुष्यको ऐसे उद्देश्योंका साधन बनानेकी चेष्टा करती हैं जो उसके अपने उद्देश्य नही होते और वह इस बातको जानता भी नहीं। ये सभी बातें कोई विशेष परिणाम उत्पन्न करनेके लिये सम्मिलित हो सकती हैं। इन शक्तियोंमेंसे प्रत्येक अपनी निजी प्रवृत्तिको चरितार्थ करनेके लिये कार्य करती है—ये शक्तियां बिलकुल वैसी नहीं हैं जिन्हें हम विरोधी शक्तियां कहते हैं,—वे महज प्रकृतिकी शक्तियां हैं।

ईर्ष्या और मनकी भावनाएं निस्संदेह प्रकृतिकी पुरानी क्रियाओंमेंसे बची चीजें थीं। इसी तरह ये चीजें परित्याग कर देनेपर बाहर चली जाती हैं; वे अपनी शक्ति खो देती हैं, अधिकाधिक कम समयके लिये ठहरती हैं, चेतनाको अधिकाधिक कम मात्रामें प्रभावित करती हैं,—अंतमें, वे अब स्पर्श करनेमें भी अशक्त हो जाती हैं और इसलिये फिर वापस नहीं आतीं।



कोई भी व्यक्ति जिसमें थोड़ी बुद्धिमानी और निरीक्षणकी शक्ति है और जो अधिक आंतर चेतनामें निवास करता है, उन अदृश्य शक्तियोंकी क्रीड़ाको पग-पग परदेख सकता है जो मनुष्योंपर कार्य करतीं और घटनाएं उत्पन्न करती हैं जब कि मनुष्य यह जानते भी नहीं कि उन घटनाओंको उत्पन्न करनेवाले कौन हैं। योग अथवा आंतरिक चेतनाके कारण—क्योंकि सुकरात जैसे लोग भी होते हैं जिनमें बिना योगके ही कुछ आंतरिक चेतना विकसित होती है अथवा जिन्हें उपलब्ध होती है—यह अंतर पड़ता है कि मनुष्य इन अदृश्य प्रभावोंके विषयमें सचेतन हो जाता है और इनसे ज्ञानपूर्वक लाभ भी उठा सकता है या उनका व्यवहार कर सकता और उन्हें नियंत्रित कर सकता है। बस इतना ही।



[प्राणिक आदान-प्रदान :] ठीक-ठीक बताना कठिन है। मनुष्योंको अपने-आप घटित होनेवाला जितना भी मिलना-जुलना होता है उस सबमें सर्वदा ही एक व्यक्ति दूसरेसे प्राणिक शक्तियां आहरण करता

है। प्रेम करना एक अत्यंत शक्तिशाली तरीका है जिससे प्रत्येक व्यक्ति दूसरेसे प्राणशक्ति खींचता है, अथवा एक व्यक्ति दूसरेसे खींचता है जो एकपक्षीय तरीकेमें बहुधा घटित होता है और जिससे "दूसरे" का बहुत अधिक नुकसान होता है। मार्गमें अच्छी और बुरी बहुतेरी वस्तुएं आती हैं, जैसे, उल्लास, शक्ति और सहारेका बोध, अच्छे या बुरे गुणोंका अंत:प्रवेश, मानसिक वृत्तियों, अवस्थाओं तथा क्रियाओंका आदान-प्रदान, अवसाद, थकान—सारीकी सारी चीजें। मनुष्य इसे जानते नहीं—जो उनपर भगवान्की एक कृपा ही है—परंतु जब कोई एक प्रकारकी यौगिक चेतनामें प्रवेश कर जाता है तो इस सब आदान-प्रदान और क्रिया-प्रतिक्रियाके विषयमें बहुत अधिक सजग और संवेदनशील हो जाता है, पर साथ ही मनुष्य इसके विरुद्ध एक दीवाल खड़ी कर सकता है, त्याग कर सकता है आदि-आदि।

वास्तवमे यह चेतनाकी एक दीवाल होती है जिसे निर्मित करना होता है। चेतना कोई अवास्तव वस्तु नहीं है, यह स्वयं अस्तित्व या आनंद या मन या प्राणकी तरह ही है, कोई बहुत ठोस वस्तु है। यदि कोई आंतरिक चेतनाके संबंधमें सज्ञान हो जाय तो वह उसके द्वारा सब प्रकारकी चीजें कर सकता है, उसे शक्तिकी एक धाराके रूपमें बाहर भेज सकता है, अपने चारों ओर चेतनाका एक वृत्त या दीवाल तैयार कर सकता है, एक विचारको प्रेरित कर सकता है जिसमें वह अमेरिकामें किसीके मस्तकमें घुस जाय आदि-आदि।



अपनी नवीन चेतनाके कारण वह अधिक प्रबल रूपमें उन विरोधी शक्तियोंको अनुभव करता है जिनके संपर्कमें मनुष्य संसारमें चलते-फिरते, काम-धाम करते और दूसरोंके साथ मिलते-जुलते समय आता है और वह डरता है कि उससे उसके प्राणमें प्रत्युत्तर उत्पन्न होगा और उससे उसकी साधना नष्ट हो जायगी अथवा कठिनाइयां उत्पन्न होंगी। स्पष्ट ही वह एक ऐसा मनुष्य है जो उस वस्तुके प्रति आत्मिक रूपमें संवेदनशील है अथवा वैसा हो गया है जिसके—शक्तियोंकी क्रीड़ाके—मध्यमें रहते हुए भी तुम उसे स्वीकार करना अंधभावसे इन्कार करते हो। तुम अपने मित्रका वातावरण पत्रके द्वारा "इतना सुन्दर, इतना शक्तिदायी, इतना सुखदायी" अनुभव कर सकते हो और उसका

तुमपर तुरंत प्रभाव पड़ता है। परंतु तुम्हारा मन, मैं समझता हूं, एक उल्लूकी तरह आंखें फाड़ लेता और चकित होकर कहता है, "क्या भला यह हो सकती है?" क्योंकि तुम्हारी डाक्टरी पुस्तकोंने इस विषयमें तुम्हें कभी नहीं बताया और भला कोई चीज सत्य कैसे हो सकती है जो न तो साधारण मनको ज्ञात है और न विज्ञानको? सच पूछो तो विपरीत प्रकारकी किसी शक्तिके अकस्मात् आक्रमणके कारण तुम "वृद्ध पुरुष"[1] के चंगुलमें फंस गये हो, पर तुम केवल कराह सकते और चिल्ला सकते हो कि "यह सब क्या है?" और जब वे सब चीजें एक क्षणमें दूसरी शक्तियोंके द्वारा नष्ट कर दी जाती हैं तो तुम पलकें झपका सकते और भुनभुना सकते हो कि "ऐं, यह तो बड़ी अजीब बात है!" तुम्हारा मित्र जब विपरीत शक्तियोंके द्वारा आक्रांत होता है तो वह उसे तुरत अनुभव कर सकता और जान सकता है और इसलिये वह सावधान रह सकता और शैतानका विरोध कर सकता है, क्योंकि वह तुरत उसके आक्रमणके मुख्य साधनको ताड़ सकता है।



इन चीजोंकी (लोगोंके प्रभावोंकी) सचेतनता ज्ञानके लिये अभिप्रेत है—एक आंतर-गुह्य ज्ञानके लिये जो चेतना और अनुभवकी पूर्णताके लिये आवश्यक है। यह अभिप्रेत नहीं है कि जो कुछ अनुभूत हो उसे एक प्रभाव बन जाने दिया जाय, चाहे वह अच्छा प्रभाव हो या बुरा।



दूसरे प्रसंगकी जहांतक बात है, उसमें दो अलग-अलग चीजें हैं। कुछ लोगोंमें दूसरोंके विषयमें विचार ग्रहण करनेकी क्षमता होती है जो किसी भी हालतमें अचूक नहीं होता, पर बहुधा सत्य हो जाता है। वह एक चीज है और यौगिक अंतर्ज्ञान दूसरी चीज है जिससे मनुष्य सीधे यह जान जाता अथवा अनुभव कर लेता है कि किसी मनुष्यमें क्या है, उसकी क्षमताएं, चरित्र, स्वभाव आदि क्या हैं। पहली चीज दूसरेके विकसित होनेमें सहायता करती है, पर वह ठीक वही चीज नहीं है। यौगिक क्षमताको पूर्ण होना ही होगा और वह केवल तभी पूर्ण

1. सिंधबादकी कहानीमें समुद्रमें रहनेवाला एक वृद्ध पुरुष जो मनुष्योंकी गरदनपर सवार हो जाता था और उससे छुटकारा पाना कठिन होता था।

हो सकती है जब कि आंतरिक चेतनाका एक महान् विकास साधित हो जाय।



भगवान् या आसुरिक शक्तियोंका प्रश्न एक किनारे छोड़ो, कोई भी आध्यात्मिक पुरुष जो सक्रिय ढंगसे कार्य करता है वह भी भौतिक संपर्कसे सीमित नहीं होता—यह विचार कि आध्यात्मिक शक्तिके कार्य करनेके लिये लेखन, वाणी, मिलन आदिके द्वारा भौतिक संपर्क स्थापित करना अनिवार्य है, स्व-विरोधी है, क्योंकि तब वह आध्यात्मिक शक्ति ही नहीं रह जायगी। आत्मा भौतिक वस्तुओं या शरीरसे सीमित नहीं है। यदि तुममें आध्यात्मिक शक्ति हो तो वह हजारों मील दूर लोगोंपर कार्य कर सकती है जो यह नहीं जानते और कभी नहीं जानेंगे कि तुम उनपर कार्य कर रहे हो अथवा उनपर क्रिया किया जा रहा है—वे केवल यह जानते हैं कि कोई ऐसी शक्ति है जो उन्हें कार्य करनेकी शक्ति दे रही है और वे अच्छी तरह यह मान सकते हैं कि वह उनकी अपनी ही कोई महान् शक्ति और प्रतिभा है।



भागवत शक्तियां व्यवहार करनेके लिये ही हैं—अज्ञानमें व्यक्ति-भावापन्न मनुष्यकी भूल है उसे अहंके लिये व्यवहृत करना और भगवान्के लिये न करना। बस, वही चीज है जिसे ठीक करनी है और इसे भागवत चेतनाके साथ एकत्व प्राप्त करके तथा व्यक्तिगत सत्ताको भी विस्तारित करके किया जा सकता है जिससे कि व्यक्तिगत सत्ता सचेतन रूपमें वैश्व चेतनामें निवास कर सके। कठिन तो यह है क्योंकि व्यक्तिगत सत्ता अहं-वृत्तिमें आवद्ध होती है. पर यह असंभव नहीं है।



सभी शक्तियां भगवान्से आती हैं पर वे सामान्य तौरपर उनका आध्यात्मिक रूपमें या यथार्थ रूपमें उपयोग होनेकी अपेक्षा अधिक दुर्व्यवहार ही होता है।



निश्चय ही, दूरसे वस्तुओंका ज्ञान प्राप्त करना और हस्तक्षेप करना संभव है।

इस भावनाको कि योगी इन शक्तियोंका व्यवहार नहीं करते या उन्हें नहीं करना चाहिये, मैं संन्यासियोंका एक कुसंस्कार मानता हूं। मेरा विश्वास है कि जिन योगियोंको ये शक्तियां प्राप्त हैं वे उस समय

इनका व्यवहार अवश्य करते हैं जब कि वे जानते है कि भीतरसे उन्हें ऐसा करनेके लिये आह्वान हुआ है। वे यदि यह समझें कि किसी विशेष प्रसंगमें उनका प्रयोग भगवान्की इच्छाके विपरीत है या देखें कि एक बुराईका निवारण एक अधिक बुरी चीजके लिये दरवाजा खोल सकता है तो, अथवा किसी दूसरे सबल कारणसे विरत हो सकते हैं, पर किसी साधारण निषेधात्मक नियमके कारण नही रुक सकते। प्रबल आध्यात्मिक अर्थमें किसी भी व्यक्तिके लिये जो मनाही की गयी है वह है जादूगर बननेकी, दिखावेके लिये, लाभके लिये, ख्यातिके लिये, मिथ्याभिमान या गर्वके वश असाधारण चीजें संपन्न करनेकी। महज प्राणिक उद्देश्योंसे, उनका कोई आसुरिक प्रदर्शन करनेके लिये, अथवा गर्व, अहंमन्यता, महत्त्वाकांक्षा या मनुष्य-स्वभाव जिन सब प्रिय दुर्बलताओंकी ओर उन्मुख होता है उनमेंसे किसी दुर्बलताके आधारके रूपमें बदल देनेके लिये शक्तियोंका उपयोग करनेकी मनाही की गयी है। चूंकि अधकचरे योगी इस प्रकार बहुधा विरोधी शक्तियोंके इन जालोंमें फंस जाते हैं, इसीलिये यौगिक शक्तियोंके प्रयोगको कभी-कभी प्रयोक्ताके लिये हानिकारक कहकर निरुत्साहित किया जाता है।

परंतु जो लोग बहुत अधिक अपने प्राणमें निवास करते हैं, अधिकांशतः वे ही इस प्रकार पतित होते हैं; जो लोग सबल और मुक्त और शांत मनवाले होते हैं और जिनमें चैत्य पुरुष जाग्रत् और जीवंत होता है, उनमें ऐसी तुच्छताओंके घटित होनेकी संभावना नही होती। और जो लोग सच्ची भागवत चेतनामें निवास कर सकते हैं उनके विषयमें तो यह कहा जा सकता है कि कुछ शक्तियां उस अर्थमें बिलकुल ही शक्तियां नहीं होतीं, अर्थात् अतिप्राकृतिक या असामान्य नहीं होतीं, बल्कि यों कहें कि वे तो उनके देखने और काम करनेकी सामान्य पद्धति होती हैं, उनकी चेतनाका अंग होती हैं—और उन्हें भला अपनी चेतना और अपने स्वभावके अनुसार कार्य करनेसे कैसे मना किया जा सकता है अथवा वे कैसे वैसा करना अस्वीकार कर सकते हैं?

मैं समझता हूं मैंने स्वयं तुम्हारी अपेक्षा कहीं अधिक पूर्णताके साथ यूरोपिय शिक्षा पायी थी, और मैं भी अनीश्वरवादी अस्वीकृतिके कालमेंसे गुजरा हूं, परंतु जिस क्षण मैंने इन वस्तुओंपर दृष्टि डाली, उस क्षणसे मैं कभी संदेह और अविश्वासका मनोभाव ग्रहण नहीं कर सका जो कि इतने दीर्घकालतक यूरोपमें प्रचलित फैशन था। असाधारण, अथवा

अतिभौतिक अनुभूतियां और शक्तियां, गुह्य या यौगिक, सर्वदा ही मुझे पूर्णतः स्वाभाविक तथा विश्वसनीय प्रतीत होती रही हैं। चेतनाको, उसके अपने स्वभावमें, सामान्य भौतिक मानव-पशु चेतनासे सीमित नहीं किया जा सकता, उसमें अन्य स्तर भी अवश्य होने चाहियें। एक महान् कविता लिखने या महान् संगीत रचनेकी शक्ति जितनी अति-प्राकृत या अविश्वसनीय है उससे अधिक अतिप्राकृत या अविश्वसनीय यौगिक या गुह्य शक्तियां नहीं हैं। थोड़े लोग ही, जैसी कि स्थिति है, महान् कविता या संगीतकी रचना कर सकते हैं,—लाखोंमें एक भी नहीं; क्योंकि कविता और संगीत आंतरिक सत्तासे आते हैं और यथार्थ तथा महान् वस्तुएं लिखने या रचनेके लिये मनुष्यके बाहरी मन तथा आंतर सत्ताकी किसी चीजके बीच सुस्पष्ट आवागमनकी स्वतंत्रता होनी चाहिये। यही कारण है कि जैसे ही तुमने योग प्रारंभ किया वैसे ही तुम्हें कवित्वशक्ति प्राप्त हो गयी,—यौगिक शक्तिने उस मार्गको अबाध बना दिया। ठीक यही बात यौगिक चेतना और उसकी शक्तियोंकी भी है; मुख्य बात है मार्गको उन्मुक्त कर लेना,—कारण वे पहलेसे ही तुम्हारे अंदर विद्यमान हैं। निस्संदेह, पहली बात है विश्वास करना, अभीप्सा करना तथा, अंतरमें सच्चे उत्साहके साथ, प्रयास करना।



जादू एक प्रकारका विशेष प्रयोग है जिसे पेशेवर जादूगर दिखाते हैं अथवा वे लोग दिखाते हैं जो जादूगरोंकी कला सीखते हैं, पर यह योगका कोई अंग नहीं है। योगमें ऐसा होता है कि कभी-कभी या बहुत सामान्य रूपसे भी कुछ शक्तियां साधकके अंदर विकसित हो जाती है जिनके द्वारा वह दूसरोंपर प्रभाव डाल सकता है या उनसे कुछ कार्य करा लेता है अथवा जो चीजें वह चाहता है वे घटित हो जाती हैं। ऐसी और अन्य यौगिक शक्तियोंका व्यवहार साधकोंको अहंकारपूर्ण उद्देश्योंसे या अपनी प्राणिक कामनाओंकी तृप्तिके लिये कभी नहीं करना चाहिये। उनका उपयोग केवल तभी स्वयं श्रीमाताजीके द्वारा किया जा सकता है जब वे संसिद्ध भागवत चेतनाका अंग बन जाती हैं अथवा उनकी आज्ञासे शुभ और निःस्वार्थ उद्देश्योंके लिये किया जा सकता है। उन यौगिक शक्तियोंसे कोई हानि नहीं होती जो नवीन चेतनाके

अंगके रूपमें स्वाभाविक ढंगसे आती हैं और किसी गलत व्यक्तिगत उद्देश्यसे व्यवहृत नहीं होतीं। उदाहरणार्थ, तुम सूक्ष्म-दर्शन या स्वप्नमें कोई चीज देखते हो और वह बादमें जागृत अवस्थामें घटित होती है। हां, तो वह पूर्वदर्शनकी एक यौगिक शक्ति है, भावी चीजोंका ज्ञान है जो, जैसे-जैसे चेतना वर्द्धित होती है, बहुधा प्राप्त होती है। उसके प्राप्त होनेमें कोई बुराई नहीं है; वह साधनामें होनेवाले विकास-का अंग है। यही बात अन्य शक्तियोंकी भी है। बस, मनुष्यको गर्व नहीं करना चाहिये या डींग नहीं हांकनी चाहिये या कामना, अभिमान, प्रभाव या अहंकी संतुष्टिके लिये शक्तियोंका दुर्व्यवहार नहीं करना चाहिये।

तुमने जो अपने सूक्ष्म-दर्शनमें एक मनुष्य और उसके पैरोंपर अग्नि-को देखा वह संभवतः अग्निदेवका अंतर्दर्शन है जिनसे साधना-कालमें तपस्या और शुद्धीकरणकी आग प्रवाहित होती है।

जब साधना अग्रसर होती है तो मनुष्य लगभग सर्वदा दर्शनशक्ति प्राप्त करता है; जो कुछ मनुष्य देखता है वह सच्चा होता है यदि वह यथार्थ चेतनामें बना रहे। साधनामें गलत वाणियां और अनु-भूतियां भी आती हैं। जो लोग पागल हो गये हैं वे इसलिये पागल हो गये कि वे अहंकारी थे. अपनेको महान् साधक समझने लगे और अपनेको और अपनी अनुभूतियोंको अतिरंजित महत्त्व देने लगे; इससे उन्हें अशुद्ध चेतना, असत्य वाणियां, सूक्ष्मदर्शन और अंतःप्रेरणाएं प्राप्त होने लगीं। उन्होंने अपनेको इतना अधिक महत्त्व दिया कि उन्होंने श्रीमाताजीकी बात सुनना अस्वीकार कर दिया और अंतमें उनके विरुद्ध हो गये क्योंकि उन्होंने उनसे कहा कि तुम भूल कर रहे हो और उनकी भूल-भ्रांतिको रोका। तुम्हारे अंतर्दर्शन और अनुभव बहुत सही और अच्छे हैं और मैंने बतला दिया है कि उनका अर्थ क्या है—गलत दर्शनों और अनुभवोंने आनेकी कोशिश की पर तुमने उन्हें दूर धकेल दिया, क्योंकि तुम उनसे आसक्त नहीं थे और साधनाके सच्चे लक्ष्यपर दृढ़ हो। साधकको इन सब चीजोंसे आसक्त नहीं होना चाहिये, बल्कि उन्हें महज देखना चाहिये और आगे बढ़ जाना चाहिये; तब वे सहायक बन जाती हैं और फिर कोई खतरा नहीं बन सकतीं।

⊙

जादू-टोनाका तात्पर्य है विरोधी शक्तियोंका गुह्य ज्ञान—दिव्य शक्तियोंका गुह्य ज्ञान बिलकुल भिन्न है। एक तो एकत्वपर आधारित है और दूसरा विभाजनपर।



यह कहना कठिन है (क्यों ईसा-मसीहने लोगोंको नीरोग किया)—बाइबिलके वर्णनसे ऐसा लगता है मानो उन्होंने इस बातके प्रमाणके रूपमें इसे किया कि वह भगवान्‌द्वारा भेजे हुए एक व्यक्ति हैं और शक्ति लेकर आये हैं।



तुम बिलकुल ठीक कहते हो। वह (श्रीमती ब्लैवत्स्की) एक गुह्यविद् थीं, कोई आध्यात्मिक व्यक्ति नहीं थीं। जो आध्यात्मिक शिक्षा उन्होंने दी वह अनुभूतिपर नहीं बल्कि बौद्धिक ज्ञानपर आधारित प्रतीत होती है। उनका मनोभाव तिब्बती बौद्धोंके जैसा था। वह भगवान्‌मे नहीं विश्वास करती थीं, बल्कि निर्वाणमें, चमत्कारपूर्ण शक्तियों और महात्माओंमें करती थीं।



इस स्वामीके विषयमें जो कहानियां हैं उनपर जरा भी विश्वास करना असंभव है....। यह संभव है कि उसने किसी प्रकारके तांत्रिक योगकी साधना की हो और कुछ गुह्य शक्तियां प्राप्त की हों, पर जो कुछ तुमने उसके विषयमें लिखा है और छपे कागजोंमें है उस सबमें किसी आध्यात्मिक सिद्धि या अनुभूतिका कोई चिह्न नहीं है। ऐसा लगता है कि वह जिन वस्तुओंके विषयमें सोचता-विचारता है वे गुह्य शक्तियां तथा जादूगरीके करामात हैं। जो लोग आध्यात्मिक अनुभवोंसे विच्छिन्न गुह्य शक्तियोंपर अपना आधार रखते हैं वे उच्च स्तरकी सिद्धिवाले योगी नहीं होते। कुछ योगी ऐसे होते हैं जो इस प्रकार आचरण करते हैं मानो उनका अपने ऊपर संयम न हो—सिद्धांत यह है कि वे आत्माको प्रकृतिसे अलग कर लेते और अपनी आंतरिक उपलब्धिमें निवास करते हैं तथा अपनी प्रकृतिको "बालक, पागल, पिशाच या जड़वस्तु" की तरह अव्यवस्थित क्रियाकी स्थितिमें छोड़ देते हैं। कुछ दूसरे योगी ऐसे होते हैं जो जानबूझकर लोगोंको अपनेसे दूर रखने अथवा उनकी परीक्षा करनेके लिये कर्कश या उग्र वाणीका प्रयोग करते हैं।

परंतु इस स्वामीके क्रोधका विस्फोट, जिसकी रामकहानी तुमने लिखी है, आहत अहंकारके कारण महज भयंकर कोपका स्फोट प्रतीत होता है। रमण महर्षिके विषयमें उसकी सम्मति पूर्ण रूपसे निरर्थक है।[1] उसका नाखून, वाल आदि मांगकर कपड़े-लत्ते या जम्पर देनेका जो व्यापार है वह शायद किसी तांत्रिक या जादुई क्रियाके द्वारा तुम्हारे और तुम्हारी स्त्रीके ऊपर कोई गुह्य प्रभाव स्थापित करनेका संभवतः कोई भौतिक साधन स्थापित करना था—तिब्बतमें जादूकी ऐसी प्रक्रियाएं बहुत प्रचलित हैं और बराबर ही व्यवहृत होती हैं।

⊙

मैं नहीं समझता कि मैं 'अ' के रहस्यपूर्ण अनुभवोंपर कोई निश्चित प्रकाश डाल सकता हूं। उनके विवरणको, कम-से-कम उसके पिछले भागको समझना बहुत आसान नहीं है, क्योंकि वह अपनी अभिव्यक्तिमें बहुत सांकेतिक है और सर्वदा इतने पर्याप्त रूपमें सुनिश्चित नहीं है कि स्पष्ट हो जाय। अनुभवका प्रथम भाग रोग-निवारणकी एक जन्मजात शक्तिको सूचित करता है जिसके कार्यकी प्रक्रियाको वह स्वयं भी नहीं समझती। उसके वर्णनसे ऐसा प्रतीत होता है कि वह शक्ति उसके अंदरकी किसी चीजसे आती है जो, उसके व्यवहृत शब्दोंके अनुसार, कोई विशालतर, उच्चतर, उज्ज्वलतर तथा अधिक शक्तिशाली चेतना होनी चाहिये जिसके साथ कभी-कभी उसका संपर्क हो जाता है पर जिसमें वह संतत निवास नहीं करती। दूसरी ओर, दूसरा वाक्य किसी देवता या दिव्य उपस्थितिकी ओर संकेत करता हुआ प्रतीत होता है जो दूसरोंको चलानेके लिये उसे आज्ञा प्रदान करती है जिसमें कि वे अपनी चेतनामें वर्द्धित हों। पर वह साफ-साफ शब्दोंमें उसे एक महत्तर "मैं" कहती है जो एक नीलवर्ण हीरक शक्तिके पीछे अवस्थित होता है। तब हमें एक महत्तर चेतनाकी भावनापर वापस आना होगा जो बहुत ऊपर होती है और दिव्यत्वकी अनुभूति अपने अंदर वहन करती है, पर्याप्त ज्योति और आध्यात्मिक अधिकारका बोध—संभवतः उन

1. निरर्थक इस कारण कि किसी योगीकी महानता इस बातपर बिलकुल निर्भर नहीं करती कि वह कितनी लंबी उम्रतक जीता है या उसके स्वास्थ्यकी अवस्था कैसी है, बल्कि उसकी आध्यात्मिक उपलब्धि और अनुभूतिकी ऊंचाई या गहराईपर निर्भर करती है।

उच्चतर आध्यात्मिक मानस-लोकोंमेंसे किसी एक लोकमें होता है जिनकी चर्चा मैंने 'दिव्य जीवन' ग्रंथ और 'पत्रों' में की है। हीरक ज्योति इन लोकोंके लिये खूब स्वाभाविक हो सकती है; यह सामान्यतया श्वेत होती है, पर वहां वह बिलकुल नीली भी हो सकती है; यह एक ऐसी ज्योति है जो समस्त अशुद्ध वस्तुओंको, विशेषकर राक्षसी आक्रमण या किसी अशुभ शक्तिके प्रभावको नष्ट कर देती या दूर भगा देती है। स्पष्ट ही, इस प्रकारकी किसी शक्तिका उपयोग करते समय सावधानीके साथ यह देखना चाहिये कि कोई अनुचित तत्त्व, जैसे शक्तिकी वैदक्तिक चाह, न अंदर घुस आये, पर इससे भय करनेकी कोई आवश्यकता नहीं, क्योंकि यदि अपने अंदर तीक्ष्ण दृष्टिसे देखा जाय तो व्यक्ति उसका त्याग करने या उसे अलग हटाये रखनेके लिये पर्याप्त होता है। मैं समझता हूं कि उसके पक्षमें दिये गये तथ्योंके आधारपर मैं इतना ही कह सकता हूं।



प्रेतविद्याके संबंधमें, मैं समझता हूं कि अभी मैं इतना ही कह सकता हूं। मृत या यों कहें कि दिवंगत—क्योंकि वे मृत नहीं होते—आत्माओंके लिये, जो अभी भी पृथ्वीके समीपके क्षेत्रोंमें होते हैं, यह बिलकुल संभव है कि वे जीवित व्यक्तियोंके साथ संपर्क बनाये रखें; कभी-कभी यह अपने-आप घटित होता है, कभी-कभी पर्देके इस या उस पारसे संपर्क स्थापित करनेके प्रयासके कारण घटित होता है। प्रेतवादी लोगोंद्वारा प्रयुक्त साधनोंसे इस प्रकारका संबंध स्थापित होना कोई असंभव बात नहीं है। परंतु सामान्यतया सच्चा संबंध या संपर्क केवल उन्हींके साथ स्थापित हो सकता है जो अभी भी एक ऐसे जगत्में होते हैं जो पार्थिव चेतनाका ही एक प्रकारका आदर्शभूत प्रतिरूप होता है और जिसमें वही व्यक्तित्व, विचार, स्मृतियां अभी भी बनी रहती हैं जिन्हें वह व्यक्ति यहां रखता था। परंतु वे सभी चीजें जो दिवंगत आत्माओंसे प्राप्त संदेश होनेका दावा करती हैं सच्ची नहीं होतीं, विशेषकर उस समय जब कि यह संबंध वेतनभुक्त व्यावसायिक माध्यमके द्वारा स्थापित किया जाता है। वैसी स्थितिमें बहुत विशाल मात्रामें बहुत अनिश्चित प्रकारका मिश्रण हो जाता है—क्योंकि, बैठकमें भाग लेनेवाले लोगोंकी अचेतन सूचनाओं या माध्यमकी अंतस्तलीय चेतनाके दानोंके एक महान् स्तूपके अतिरिक्त, मनुष्यका संपर्क सत्ताओंके एक

ऐसे समूहके साथ हो जाता है जो एक बहुत धोखेबाज या आत्मप्रतारक मायावी स्वभावका होता है। इनमेंसे बहुतसी सत्ताएं आती हैं और संबंधियों, परिचितों, सुविदित मनुष्यों, विख्यात महापुरुषों आदिकी दिवंगत आत्माएं होनेका दावा करती हैं। फिर ऐसी सत्ताएं भी होती हैं जो मृत व्यक्तिके परित्यक्त अनुभवों और स्मृतियोंको चुन लेती हैं और उनके द्वारा छद्मवेश धारण कर लेती हैं। ऐसी बहुत सारी सत्ताएं होती हैं जो ऐसी बैठकोंमें मनुष्योंकी चेतनाके साथ केवल तमाशा करनेके लिये अथवा पृथ्वीके साथ इस संपर्कके द्वारा अपनी शक्तियोंका प्रयोग करनेके लिये आती हैं तथा जो अपने मिथ्यात्वों, चालाकियों और भ्रमात्मक बातोंसे माध्यमों तथा बैठकमें सम्मिलित लोगोंको मत्त बनाती हैं। (निस्संदेह, मैं ऐसे माध्यमोंकी ही कल्पना कर रहा हूं जो स्वयं धोखेबाज नहीं होते।) प्रेतात्माओंके ऐसे लोकसे संपर्क बनाना हानिकारक और आध्यात्मिक दृष्टिसे खतरनाक हो सकता है (अधिकांश माध्यम स्नायु-भागमें अथवा नैतिक रूपमें अपना संतुलन खो बैठते हैं)। अवश्य ही, अति प्राचीन कालके प्रसिद्ध मृत व्यक्तियोंके साथ संपर्क स्थापित करनेके जितने दिखावे होते हैं वे सभी अपने स्वभावमें ही भ्रांतिजनक होते हैं और आधुनिक लोगोंके साथके संपर्क भी अधिकांशमें वैसे ही होते हैं—यह इन संपर्कों और संदेशोंके स्वरूपसे ही स्पष्ट होता है। अंतःकरणानुयायी माध्यमोंके द्वारा हम (मृत व्यक्तियोंके विषयमें) विश्वसनीय परिणाम प्राप्त कर सकते हैं, परंतु ये लोग भी उन शक्तियोंके स्वरूपके विषयमें बिलकुल अनजान होते हैं जिनका वे व्यवहार करते हैं और उनमें कोई विवेकशक्ति नहीं होती जो पर्देकी दूसरी ओरसे होनेवाली प्रतारणासे उनकी रक्षा कर सके। इन बैठकोंसे परलोकके स्वरूपके विषयमें बहुत थोड़ासा ही सच्चा ज्ञान एकत्र किया जा सकता है; सच्चा ज्ञान अधिकांशतः व्यक्तियोंके अनुभवद्वारा प्राप्त होता है जो गभीर संपर्क स्थापित करते हैं अथवा किसी-न-किसी तरीकेसे सीमांतको पार करनेमें समर्थ होते हैं।



उन लोगों (माध्यम, परोक्षदर्शी आदि) मेंसे अधिकांश लोग प्राणिक-भौतिक या सूक्ष्म-भौतिक लोकोंके संपर्कमें होते हैं और कोई उच्चतर वस्तु बिलकुल नहीं ग्रहण करते।

III

महात्माने इन विषयोंमें जो दृष्टिकोण अपनाया है वह हिन्दूकी अपेक्षा कहीं अधिक ईसाई है—ईसाइयोंके लिये आत्महीनता, विनम्रता, मानवता या भगवान्‌की सेवाके लिये कोई हीन स्थिति स्वीकार करना ऐसी चीजें हैं जो ऊंचे प्रकारकी आध्यात्मिक चीजें तथा जीवके लिये सबसे महान् सुयोग हैं। यह दृष्टिकोण जातियोंकी क्रमपरंपराको नहीं स्वीकार करता; महात्मा जातिको स्वीकार करते हैं पर इस आधारपर कि भगवान्‌के सामने सब एक समान हैं; अपने धर्मका पालन करनेवाला भंगी उतना ही अच्छा है जितना कि अपने धर्मका पालन करनेवाला ब्राह्मण, कर्मका विभाजन तो है पर कर्मकी कोई ऊंची-नीची परंपरा नहीं है। यह इस विषयकी एक दृष्टि है और क्रमपरंपराकी दृष्टि दूसरी है, दोनोंका अपना-अपना दृष्टिकोण और युक्ति-तर्क है जिसे वह पूर्णतः यथार्थ मानता है पर जो केवल सत्यके एक भागके अनुरूप होता है। सभी प्रकारके कर्म भगवान्‌के सामने एक समान हैं और सभी मनुष्योंके अंदर एक ही ब्रह्म विद्यमान है यह एक सत्य है, पर वह विकास सबमें एक समान नहीं है यह दूसरा सत्य है। यह भावना कि भंगीके रूपमें जन्म लेनेके लिये एक विशेष पुण्यकी आवश्यकता होती है, निस्संदेह, उन अत्यंत शक्तिशाली अतिरंजनाओंमेंसे एक है जो महात्माके लिये सामान्य हैं और जो उनके श्रोताओंके मनको बहुत अधिक प्रभावित करती हैं। इसके पीछे यह भावना है कि भंगीका कार्य समाजकी एक अनिवार्य सेवा है, बिलकुल उतनी ही अधिक जितनीकी ब्राह्मणकी सेवा होती है, परंतु, भंगीका कार्य अप्रिय होनेके कारण, स्वेच्छापूर्वक इसे पसंद करनेके लिये एक विशेष प्रकारके नैतिक साहसकी आवश्यकता होती है और वह समझते हैं मानों जीव इसे ऐसे ही एक वीरतापूर्ण सेवा और धार्मिक कार्योंके पुरस्कारके रूपमें स्वतंत्रता-पूर्वक पसंद करता है—पर ऐसा संभव नहीं प्रतीत होता। भंगीकी सेवा समाजकी किन्हीं विशेष परिस्थितियोंमें अनिवार्य है, यह उन प्राथमिक आवश्यकताओंमेंसे एक है जिनके बिना समाज मुश्किलसे जीवित रह सकता है और वह सांस्कृतिक विकास, जिसका अंग ब्राह्मण जीवन है, घटित नहीं हो सकता। परंतु स्पष्ट ही सांस्कृतिक विकास मनुष्य-जातिकी प्रथम अचल स्थितिके विपरीत होनेवाली प्रगतिके लिये नैतिक

आवश्यकताओंकी सेवाकी अपेक्षा अधिक मूल्यवान् है। और वह विकास भंगीके कार्योंकी आवश्यकताको कम करनेकी ओर भी ले जा सकता है और संभवतः वैज्ञानिक आविष्कारोंके द्वारा उसका संपूर्णतः विलोप भी कर सकता है। पर, मैं समझता हूं, महात्मा इसको पसंद नहीं करेंगे, क्योंकि यह अवस्था मशीनोंके द्वारा आयेगी और ऐसा करना सरल जीवनके आदर्शसे दूर चला जाना होगा। जो हो, यह सत्य नहीं है कि भंगीका जीवन ब्राह्मणके जीवनसे अधिक श्रेष्ठ है और विशेष पुण्य-कर्मका फल है। दूसरी ओर, परंपरागत भावना जो यह है कि कोई मनुष्य इसलिये दूसरोंसे श्रेष्ठ है कि वह ब्राह्मणके घर जन्मा है, युक्ति-संगत या समर्थनीय नहीं है। अस्पृश्य जातिका एक आध्यात्मिक या सुसंस्कृत व्यक्ति दिव्य मूल्योंकी दृष्टिसे एक अनाध्यात्मिक और सांसारिक बुद्धिवाले या एक अनगढ़ और असंस्कृत ब्राह्मणसे अधिक श्रेष्ठ है। जन्मका भी मूल्य है, पर प्रधान मूल्य स्वयं मनुष्यमें है, पीछे स्थित अंतरात्मामें है, और उस मात्रामें है जिसमें अंतरात्मा उसके स्वभावमें अभिव्यक्त होता है।



त्यागका सर्वदा ही नैतिक और आध्यात्मिक मूल्य होता है। त्याग चाहे जिस कारणसे ही क्यों न किया जाय, यह मूल्य वही रहता है, बशर्ते कि जो त्याग करता है वह सत्य या न्याय या अपने हेतुकी अन्य उपयुक्ततापर विश्वास करता हो। यदि कोई ऐसे हेतुके लिये त्याग करता है जिसे वह गलत या अनुपयुक्त समझता है, तो सब कुछ निर्भर करता है त्यागके हेतु और भावनापर। भीष्मने एक ऐसे हेतुसे मृत्युको स्वीकार किया जिसे वह अन्याय समझते थे और उन्होंने उस राज्यभक्तिकी पुकारका अनुसरण किया जिसे वह अपना व्यक्तिगत धर्म अनुभव करते थे। भूतकालमें बहुतोंने ऐसा किया है, और उनके कार्य-का नैतिक और आंतरात्मिक मूल्य, हेतुके स्वरूपके बिना किसी विचारके, हेतुकी महानतामें विद्यमान है।

अब दूसरे प्रश्नपर आवें, 'त्याग' शब्दके इस अर्थमें, मनुष्यके लिये ऐसा कोई त्याग नहीं जिसमें वह किसी ऐसी चीजका त्याग करता है जो उसके लिये मूल्यवान् नहीं है, सिवा इसके कि वह कुछ हदतक अपनी स्वतंत्रताके लिये हानि उठाता है, सामाजिक प्रतिबंध या कलंककी

अवज्ञा करता है या अन्य प्रकारसे मूल्य चुकाता है। परंतु मैं कह सकता हूं कि ठंडा और प्रेमहीन हुए विना भी कोई मनुष्य किसी आध्यात्मिक पुकारसे या किसी महान् मानवीय हेतुकी पुकारसे इतना अभिभूत हो सकता है कि पारिवारिक या अन्य बंधनोंकी उसके सामने कोई गणना नहीं रह जाती और वह सब कुछ प्रसन्नतापूर्वक, विना किसी कष्टके, आह्वानकारी वाणीका अनुसरण करनेके लिये छोड़ देता है।

परंतु आध्यात्मिक अर्थमें, "सैक्रिफाइस" (त्याग, यज्ञ) का एक भिन्न अर्थ है—यह उतना अधिक भगवान्के प्रति स्वयं अपने 'स्व'के, अपनी सत्ताके, अपने मन, हृदय, संकल्प, शरीर, प्राण, कर्मादिके उत्सर्गके रूपमें अपने किसी प्रिय वस्तुको त्याग देनेको सूचित नहीं करता। यह अपने मूल अर्थ "पवित्र बनाना" को ग्रहण करता है और "यज्ञ" शब्दके पर्यायके रूपमें व्यवहृत होता है। जब गीता "ज्ञान-यज्ञ" की बात कहती है तब उसका अर्थ किसी वस्तुका त्याग नहीं होता, बल्कि उसका अर्थ होता है ज्ञानकी खोजमें मनको भगवान्की ओर मोड़ देना और उसके द्वारा अपने-आपको उत्सर्ग कर देना। फिर इसी अर्थमें मनुष्य कर्मोंके उत्सर्ग या यज्ञकी बात कहता है। श्रीमाताजीने कहींपर लिखा है कि आध्यात्मिक त्याग (यज्ञ) अपने स्वभावमें दुःखपूर्ण नहीं बल्कि आनंदपूर्ण होता है। आध्यात्मिक पथमें प्रायः ऐसा होता है कि, यदि कोई साधक पुराने बंधनों और जिम्मेदारियोंको अभी भी प्रबल रूपमें अनुभव करता है तो, उससे उन्हें काट देने या छोड़ देनेको नहीं कहा जाता बल्कि उसके अंदर पुकारको बढ़ने देनेको कहा जाता है जबतक कि, उसके अंदर सब कुछ तैयार नहीं हो जाता। वास्तवमें बहुतसे लोग शीघ्र ही अनासक्त हो जाते हैं, क्योंकि वे अनुभव करते हैं कि (बंधनोंको) काट डालना ही उनका एकमात्र सुयोग है, और इन लोगोंको कभी-कभी संघर्षमेंसे गुजरना पड़ता है। परंतु दुःख-कष्ट, संघर्ष आदि इस आध्यात्मिक आत्मदानका यथार्थ स्वरूप नहीं है।



इसका अर्थ महज यह है कि तुम्हारा त्याग अभी मानसिक है और अभीतक अपने स्वभावमें आध्यात्मिक नहीं हुआ है। जब तुम्हारी प्राण-सत्ता अपनी कामनाओं और भोगोंको छोड़ना स्वीकार कर लेगी,

जब यह भगवान्‌के प्रति अपनेको अर्पित कर देगी तो यज्ञ आरंभ हो जायगा। मेरा मतलब बस यह था कि शब्दका जो यूरोपियन अर्थ है वह 'यज्ञ' शब्दका अर्थ नहीं है या "सैक्रिफाइस' (the sacrifice of works) पद में 'सैक्रिफाइस' का अर्थ नहीं है। इसका तात्पर्य यह नहीं है कि तुम्हें भगवान्‌के लिये सभी कर्मोंका त्याग कर देना होगा—क्योंकि कर्मोंका त्याग बिलकुल होगा ही नहीं। इसी तरह ज्ञान-यज्ञका यह मतलब नहीं है कि तुम्हें कष्टपूर्वक और दृढ़ताके साथ परम प्रभुके लिये अपनेको मूर्ख बना देना होगा। "सैक्रिफाइस" (यज्ञ) का तात्पर्य है भगवान्‌के प्रति आंतरिक दान और यथार्थ आध्यात्मिक यज्ञ एक बहुत ही हर्षपूर्ण वस्तु है। अन्यथा मनुष्य केवल अपनेको योग्य बनानेकी कोशिश कर रहा है और उसने अभीतक यथार्थ यज्ञका प्रारंभ नहीं किया है। चूंकि तुम्हारा मन तुम्हारे प्राणके साथ, अनिच्छुक पशुके साथ संघर्ष कर रहा है और उससे बलि चढ़ जानेके लिये कह रहा है इसीलिये वहां कष्ट और संघर्ष है। यदि आध्यात्मिक संकल्प (अथवा चैत्य संकल्प) और अधिक सामने होता तो तुम अग्निकुंडमें आहुत घी और मक्खन और दहीकी हानिके लिये विलाप न करते अथवा इन्हें होम करनेसे पूर्व जरासा अंतिम बार चाट लेनेका प्रयास न करते। बस, एकमात्र कठिनाई होती देवताओंको पूरी तरह पर्याप्त मात्रामें नीचे उतार लानेमें (यह एक क्रमवर्द्धमान प्रयास है), न कि घीके लिये विलाप करनेमें। प्रसंगवशात्, क्या तुम यह समझते हो कि श्रीमाताजीने या मैंने या दूसरोंने, जिन्होंने आध्यात्मिक जीवन ग्रहण किया है, जीवनका उपभोग नहीं किया था और वास्तवमें इसी कारण श्रीमाताजी आध्यात्मिक त्यागकी यथार्थ भावनाके रूपमें भगवान्‌के प्रति सहर्ष त्यागकी बात कह सकी थी? अथवा, क्या तुम यह समझते हो कि हमने अपनी प्रारंभिक अवस्थाओंको मिस्रकी लुप्त ऊंची रहन-सहनकी लालसाओंमें बिताया था और केवल पीछे जाकर ही हमने आध्यात्मिक त्यागके आनंदका अनुभव किया? निस्संदेह, हमने ऐसा नहीं किया; हमें और दूसरे बहुतसे लोगोंको कोई ऐसी वस्तु छोड़नेके निमित्त कोई कठिनाई नहीं हुई जिसे हमने छोड़ना आवश्यक समझा और पीछे उसके लिये कोई लालसा भी नहीं हुई। तुम्हारा नियम सदाकी भांति एक कठोर नियम है जो सामान्य रूपसे एकदम लागू नहीं होता।

⊙

त्याग आंतरिक मनोभावपर निर्भर है। यदि किसीके पास बाहरमें कोई वस्तु त्याग करनेके लिये नहीं है तो अपने-आपको तो मनुष्य बराबर ही दे सकता है।



इसके अलावा कट्टरतामें कोई चीज उत्तम नहीं है—उसमें उद्देश्यकी कोई उच्चता नहीं है, यद्यपि उसमें उद्देश्यके विषयमें एक भयानक उत्साह हो सकता है। धार्मिक कट्टरता मनोवैज्ञानिक दृष्टिसे एक नीच कोटिकी और अज्ञानपूर्ण वस्तु है—और सामान्यतः अपने कर्ममें भयंकर, क्रूर और घृणित है। जो धार्मिक आवेश उस शहीदके आवेश-के जैसा होता है जो केवल अपने-आपको बलि चढ़ा देता है, एक दूसरे प्रकारकी चीज है।

IV

संसारमें लगभग लगातार युद्ध होते रहे हैं—यह ठीक वैसी ही बात है जैसी रोमन प्रजातंत्रके इतिहासमें देखी जाती है जब कि कई शता-ब्दियोंमें केवल एक या दो बार 'जेनस' (janus) देवताके मंदिरके द्वार बंद हुए थे—यह इस बातका चिह्न था कि समस्त जगत्‌के साथ प्रजातंत्रकी मैत्री है। आधुनिक युगमें बड़े-बड़े युद्धोंके बीच बड़े-बड़े व्यवधान रहे हैं, पर छोटे-छोटे युद्ध कहीं-न-कहीं सामान्यतया चलते ही रहे हैं। मनुष्य एक झगड़ालू और लड़ाकू पशु है और जबतक वह ऐसा है तबतक भला शांति कैसे हो सकती है?



युद्ध और विजय प्राण-प्रकृतिकी व्यवस्थाके अंग हैं, इस या उस जातिको इसे करनेके कारण दोष देनेसे कोई लाभ नहीं—प्रत्येक व्यक्ति, जिसे शक्ति और सुयोग प्राप्त है इसे करता है। जो चीन आज शिकायत कर रहा है वह स्वयं उन सभी शताब्दियोंमें एक साम्राज्य-वादी और उपनिवेश बसानेवाला देश था जिनमें जापान धार्मिक रूपमें अपनी निजी सीमाओंके अंदर बना रहा....। यदि यह लाभप्रद न हो तो मेरी समझमें कोई इसे नहीं करेगा। इंगलैंड भारतसे लूटे हुए धनसे धनी बन गया है। फ्रांस बहुतेरी वस्तुओंके लिये अपने अफ्रीकी उपनिवेशपर निर्भर करता है। जापानको अपने अतिप्रचुर जनसमुदायके

लिये बाहर निकलनेके पथकी तथा समीपमें ही सुरक्षित लाभदायी बाजारोंकी आवश्यकता है। प्रत्येक उन शक्तियोंके द्वारा चालित हो रहा है जो शासकों और प्रजाओंके मनोंको अपनी चरितार्थताके लिये व्यवहृत करती हैं—जबतक मनुष्य-स्वभाव नहीं परिवर्तित होता तबतक चाहे जितना नैतिकीकरण क्यों न किया जाय वह इसे नहीं रोक सकेगा।



मैं सब प्रकारके सार्वजनिक वाद-विवादसे बचना पसंद करूंगा, विशेषकर यदि वह जरा भी राजनीतिको छूता हो। गांधीजीके सिद्धांत दूसरे मानसिक सिद्धांतोंकी ही तरह हैं जो एकपक्षीय तर्कके आधारपर बने हुए हैं और एक सीमित सत्यका दावा करते हैं (अहिंसा और निष्क्रिय प्रतिरोधके सत्यका) जिसमें कोई सर्वव्यापकता नहीं हो सकती। ऐसे सिद्धांत तबतक सर्वदा ही बने रहेंगे जबतक मन ही मानवीय सत्यानुसंधानका मुख्य साधन है। ऐसे सिद्धांतोंको नष्ट कर देनेके प्रयासमें शक्तिको खर्च करनेसे बहुत कम ही लाभ है; यदि ये नष्ट कर दिये जाते हैं तो दूसरोंके द्वारा उसी तरहके सीमित और आंशिक सिद्धांत फिर उनके स्थानमें रख दिये जाते हैं।

साम्राज्यवादका जहांतक प्रश्न है, यह कोई नवीन वस्तु नहीं है—यह उतना ही पुराना है जितना कि मानव-प्राण; मानवजातिके सुपरिचित इतिहासमें कभी ऐसा समय नहीं था जब यह चीज मौजूद न हो। इससे छुटकारा पानेका अर्थ है मानव-स्वभावको बदलना या कम-से-कम किसी श्रेष्ठतर शक्तिके द्वारा इसे नियंत्रित करना। हमारा काम इन वस्तुओंसे युद्ध करना नहीं है बल्कि एक उच्चतर स्वभाव तथा एक सत्य-सृष्टिको नीचे उतार लाना है जो पार्थिव जीवनमें आध्यात्मिक ज्योति और शक्तिको प्रधान शक्ति बना देगी।



अहिंसामें एक सत्य है, संहारमें भी एक सत्य है। मैं यह शिक्षा नहीं देता कि आध्यात्मिक धर्मके रूपमें प्रति दिन प्रत्येक व्यक्तिको तुम्हें मारते चलना चाहिये। मेरा कहना यह है कि यदि संहार भगवान्-द्वारा आदिष्ट भागवत कर्मका अंग हो तो संहार किया जा सकता है। नियमतः अहिंसा हिंसासे अधिक अच्छा है, और फिर भी कभी-कभी

हिंसा उचित चीज हो सकती है। मैं धर्मको सापेक्षित समझता हूं, भगवान्के साथ एकत्व और भागवत संकल्पके अनुसार कर्म करनेको उच्चतम पथ मानता हूं। बुद्धने जगत्में कर्म करनेको अपना लक्ष्य नहीं बनाया था बल्कि जगत्-जीवनसे निवृत्त होनेको बनाया था। उसके लिये अष्टांग मार्गको उन्होंने तैयारी करनेवाली आवश्यक साधना समझी थी और इसलिये उसकी घोषणा की थी।

इसका (अहिंसाका) योगके साथ कोई सरोकार नहीं, बुद्धद्वारा स्थापित मुक्तिकी ओर ले जानेवाले मार्गके साथ है। दुनियामें बहुतसे मार्ग हैं और यह कोई आवश्यक नहीं कि सब मात्र एक ही शिक्षा दें।



[प्रसंग: चीर-फाड़] मैं अखाड़ेसे बाहर निकल भागनेकी प्रवृत्ति अनुभव करता हूं अथवा इस आम रक्षक सिद्धांतका आश्रय ग्रहण करना चाहता हूं कि "दोनों पक्षोंमें बहुतसी चीजें कहने लायक हैं।" तुम्हारी दृष्टि, निस्संदेह, साधारण बुद्धिसे या जिसे "मानवीय" दृष्टिकोण कहा जा सकता है उससे ठीक ही है। कृष्णप्रेम यह दृष्टिकोण अपनाते हैं कि हमें केवल मनुष्यजातिकी सामयिक भलाईका ही नहीं बल्कि किन्हीं आंतरिक विधानोंका भी विचार करना चाहिये। वह मानते हैं कि किसी जीवके प्रति की गयी हानि, हिंसा अथवा क्रूरताका बदला नहीं चुकाया जा सकता और मानवजातिके एक भागकी अथवा यहांतक कि समूची मानवजातिकी किसी भौतिक भलाईकी दृष्टिसे उचित भी सिद्ध नहीं की जा सकती। उनके मतानुसार, ये पद्धतियां, जो लोग इन्हें करते हैं उनको नैतिक हानि पहुंचानेके अतिरिक्त, उनमें एक प्रकारकी कार्मिक प्रतिक्रिया जागृत करती हैं। उनका यह भी मत है कि रोगका कारण मनोवैज्ञानिक अर्थात् मानसिक होता है और भौतिक साधनोंद्वारा चिप्पी लगानेसे बहुत अधिक आंतरिक कारणोंको दूर करनेके लिये मार्गदर्शन होना चाहिये। ये ऐसी भावनाएं हैं जिनका अपना सत्य भी है। मैं पूरी तरह आंतरिक विधान और पद्धतियोंको स्वीकार करता हूं और उन्हें अधिक अच्छा मानता हूं, परंतु मानवजातिका सामान्य वर्ग उस नियमके लिये तैयार नहीं होता और, जब बात ऐसी है तब, डाक्टर और उनकी भौतिक पद्धतियां रहेंगी ही। मैंने उचित अवसरोंपर उचित हिंसाका, जैसे कुरुक्षेत्र तथा हिटलर और जो कुछ

उसका उद्देश्य है उस सबके विरुद्ध युद्ध करनेका भी समर्थन किया है। तब, इस मध्यवर्ती दृष्टिकोणसे, इस तात्कालिक प्रश्नके विषयमें, यह प्रश्न उठता है कि यह हिंसा न्याय्य है या नहीं और यह प्रसंग न्याय्य है या नहीं। मैं (इस विवादसे) विमुख हो रहा हूं।



संहार अपने-आपमें न अच्छा है न बुरा। यह प्रकृतिका एक कार्य है, शक्तियोंकी क्रीड़ाके अंदर एक आवश्यक वस्तु है, जैसी कि इस संसारमें सभी वस्तुएं हैं। ज्योति अंधकार और अंधकारकी शक्तियोंका नाश करती है और यह कोई अज्ञानकी क्रिया नहीं है।

यह संपूर्ण विनाशके स्वरूपपर, उसमें जो शक्तियां प्रवेश करती है उनपर निर्भर करता है। अग्नि या अन्य हिंस्र शक्तियोंका संपूर्ण भय जीत लेना चाहिये। कारण, भय एक दुर्बलताको सूचित करता है— मुक्त आत्मा प्रकृतिकी बड़ीसे बड़ी शक्तियोंके सामने भी निर्भय खड़ा रह सकता है।



भला मनुष्यकी किसी अनुचित क्रियाके कारण भूकंप क्यों होना चाहिये? जब मनुष्य नहीं था तब क्या भूकंप नहीं होते थे? यदि वह विषैले गैस या अन्य प्रकारसे विनष्ट हो जाय तो क्या वे बंद हो जायंगे? भूकंप कुछ शक्तियोंके दबावके कारण प्रकृतिमें होनेवाली एक प्रकारकी अस्तव्यस्तता है; हो सकता है कि कभी-कभी मानव-जीवनकी तीव्र उथल-पुथलके साथ-साथ भूकंप भी बार-बार आयें, पर पृथ्वी और मानव-जीवनकी उथल-पुथल दोनों ही शक्तियोंके सामान्य संघर्ष या दबावके परिणाम है, एक दूसरेका कारण नहीं।



यह बिलकुल मूर्खतापूर्ण प्रतीत होता है, ये उपवास—मानो ये जरा भी कोई चीज बदल सकते हों। उपवास अधिकसे अधिक स्वयं अपनी अवस्थाको प्रभावित कर सकता है, पर वह भला दूसरोंके कर्मोंका "प्रायश्चित्त" कैसे कर सकता या उनके स्वभावको कैसे बदल सकता है?



यह एक ऐसा जगत् है जो निश्चेतनासे उद्भूत हुआ है और ये चीजें (दरिद्रता और दुःख-संताप) मानव-मनकी अपूर्ण क्रियाओंके परिणाम हैं—अज्ञ प्राण और जड़तत्त्वके अंदर जन्म ग्रहण करनेके कारण मानव-मनको प्रयास और अनुभवके द्वारा सीखना होगा। अज्ञान और अहं-कारको अतिक्रम कर जानेके बाद ही मनुष्य प्रकृति-प्रदत्त वैभवका समुचित उपयोग कर सकता है।

V

कालकी भावना एक मानसिक रचना हो सकती है, पर इसका बोध नहीं भी हो सकता। बर्बर लोगोंमें कालकी भावना होती है पर वह सूर्य और नक्षत्रोंसे, दिन और रात तथा ऋतुओंकी गतिसे संबंधित होती है, संभवतः कोई पृथक् रचना नहीं होती—परंतु इस विषयमें हम निस्संदिग्ध नहीं हैं कि उनकी कोई अपनी तात्त्विक भावना है या नहीं। पशु, मैं समझता हूं कि, अपनी चेतनामें इतने सीमित नहीं हैं—उन्हें केवल संवेदन ही नहीं होते, बल्कि उनमें कुछ वस्तुओंकी तीव्र स्मृति होती है, निरीक्षणशक्ति, सुस्पष्ट सहकारिता होती है, एक प्रकारकी बुद्धि होती है जो योजनाएं बनाती है, स्थानका खूब सही-सही बोध तथा स्थानकी स्मृति होती है, युक्तितर्ककी एक प्रकारकी प्रारंभिक शक्ति होती है (चिंतनशील ढंगकी युक्ति नहीं जैसे कि मानव-मन करता है, बल्कि व्यावहारिक ढंगकी जैसे कि कोई भी प्राणिक मन कर सकता है)। मैंने एक नन्हेंसे बिल्लीके बच्चेको निरीक्षण करते हुए, एक सही निर्णयपर पहुंचते हुए, जो कुछ उसके उद्देश्यके लिये आवश्यक था,—और वह आवश्यकता उस निर्णयके द्वारा निश्चित की गयी थी,—उसे करनेके लिये आगे बढ़ते हुए देखा है, ठीक जैसा कि कोई मानव बालक करता। अतएव हम यह नहीं कह सकते कि पशुओंमें कोई विचार नहीं होता। विगत कल और आनेवाले कलका कोई स्पष्ट माप शायद नहीं है, पर भूत और भविष्यकी आवश्यकताओंका बोध तथा उचित समय और ऋतुका भी बोध उन्हें है—सब कुछ प्राणिक, व्यावहारिक ढंगका है, मानवीय तरीकेका चिंतनात्मक मानसिक ढंगका नहीं।

परंतु यह ठीक है कि जब कोई मनके परे चला जाता है तो यह कालका बोध कालातीतत्वमें, शाश्वत वर्तमानमें बदल जाता है।

⊙

[पशुओंमें कालका बोध:] बहुत प्रबल काल-बोध होता है—कम से-कम कुछ पशुओंमें—परंतु सामान्यतया यह बोध केवल प्रबल कामनाओं या अभ्यासों जैसे भोजन, के संबंधमें ही कार्य करता है।



इसमें कोई संदेह नहीं कि भौतिक नियमित काल-चेतना मुख्यतया जाग्रत् अवस्थासे संबंध रखती है पर यह प्रच्छन्न तथा मनोमयी जाग्रत् चेतनाकी भी वस्तु हो सकती है। उदाहरणार्थ, कोई व्यक्ति सुबहमें किसी नियत समयपर जगनेका संकल्प रातमें करता है और ठीक उतने ही घंटे और मिनटपर जग जाता है—वास्तवमें प्रच्छन्न सत्तामें कोई वस्तु होती है जिसने समयको अंकित कर लिया था और सावधानीके साथ उसे कार्यान्वित किया।



यह चेतनामें होनेवाला एक परिवर्तन है। जब कोई आंतर सत्ताको अनुभव करना और इसमें (शांति और नीरवताके अनुभवके परिणाममें) निवास करना आरंभ करता है तो साधारण काल-बोध विलीन हो जाता है अथवा विशुद्ध रूपमें बाह्य बन जाता है।



अंतर्बोधके लिये कालचेतनाका एक विस्तार है जिसमें घटनाएं व्यवस्थित होती हैं और उसमें कठोरता नही होती जो कि बुद्धिके लिये उसमें होती है।



तुम सही हो। वर्तमान एक परंपरा है अथवा भूतकालसे निकलकर भविष्यमें जानेवाली केवल क सतत् क्रिया है।

VI

महानताका अर्थ है किसी-न-किसी प्रकारकी कोई असामान्य क्षमता जो मनुष्यको उसके साथियोंके बीच विशिष्ट बना देती है।



उस प्रकारकी महानताका चैत्य पुरुषके साथ कोई संबंध नहीं। यह एक विशेष मानसिक क्षमता (रमण, टैगोर) अथवा एक महान् प्राणिक शक्तिसे निर्मित होती है जो उन्हें मनुष्योंको चलाने और उनपर प्रभुत्व स्थापित करनेकी योग्यता प्रदान करती है। इन क्षमताओंके साथ सर्वदा तो नहीं पर बहुधा व्यक्तित्वकी कोई ऐसी चीज जुड़ी होती है जो दैविक या आसुरिक होती है और उनके कार्यको सहायता देती तथा मनुष्योंको विशेष क्षमतासे भी भिन्न महानताकी छाप—एक महान् व्यक्तित्वका बोध प्रदान करती है।



लोग आजकल यह सिद्ध करनेकी चेष्टा करने लगे हैं कि महान् व्यक्ति महान् नहीं थे, जो कि एक बहुत बड़ी भूल है। यदि मनुष्य महानताका आदर न करें तो संसार नीच, तुच्छ, मूढ़ संकीर्ण और तामसिक बन जायगा।



स्पष्ट ही, बाहरी महानता योगका लक्ष्य नहीं है। परंतु यह कोई कारण नहीं कि विश्वकी व्यवस्थाके अंदर महानताने जो पार्ट अदा किया है उसे अथवा महान् कर्मी, महान् कवि और कलाकार आदि महापुरुषोंके स्थानको स्वीकार न किया जाय।



वास्तवमें उनके (महान् मनुष्योंके) अंदर जो शक्ति होती है वह महान् होती है और वह शक्ति भगवान्से आती है—वे अपने कर्मों और अपनी महानतासे संसारकी सहायता करते और वैश्व उद्देश्यको सहारा प्रदान करते हैं। इससे कुछ आता-जाता नहीं कि उनमें अहंकार होता है या नहीं—वे योग नहीं करते।



मेरी समझमें यह नहीं कहा जा सकता कि नेपोलियनमें बहुत कम अहंकार था—वह अत्यंत अधिक अहंकेंद्रित था। उसने ब्रूमेयर (Brumaire) से अपनेको डिक्टेटर बना दिया और उसे एक डिक्टेटरके

रूपमें ही सदा कार्य करना चाहिये था—पर उसने अपने समर्थनकी आवश्यकता अनुभव की और उसे प्रजातांत्रिक ढंगसे पानेकी भूल की—ऐसे ढंगसे जिसके लिये वह नितांत अयोग्य था। उसमें एक शासककी योग्यताएं तो थीं पर एक राजनीतिककी क्षमताएं नहीं थीं—राजनीतिकके रूपमें वह पूर्णतः असफल हुआ होता। उसकी हिचकिचाहटें उसके इस दोषके कारण थीं—यदि उसे एक दोष कहा जा सके। वह विभिन्न दलों या किसी संसदीय बैठकके साथ सफलतापूर्वक व्यवहार नहीं कर सकता था।



भला भगवान्‌को बाहरी महानताके लिये क्यों परवा नहीं करनी चाहिये? वह विश्वकी प्रत्येक वस्तुकी परवा करते हैं। सब प्रकारकी महानता भगवान्‌की विभूति है—ऐसा गीता कहती है।



वास्तवमें बहुत बड़े-बड़े लोग ही भगवान्‌की दृष्टिमें महत्त्वपूर्ण नहीं हैं। सभी शक्तियां, प्रबल क्षमताएं, कार्यान्वयनकी शक्तियां महत्त्वपूर्ण हैं।

नेपोलियन, सीजर और शेक्सपीयरकी जहांतक बात है, उनमेंसे कोई व्यक्ति धर्मात्मा नहीं था, पर वे महान् व्यक्ति थे, और यही तुम्हारा तर्क था कि केवल धार्मिक मनुष्य महान् पुरुष होते हैं और जिन लोगोंमें दुर्गुण होते हैं वे महान् नहीं होते, जो कि एक बेहूदा तर्क है। इनमेंसे सभी लोग स्त्रियोंका पीछा करते थे—दो तो महत्त्वाकांक्षी और चरित्रहीन थे। नेपोलियन अत्यंत अहंकारी ओर हिंसक था।

शेक्सपीयरने भेड़ें चुरायी थीं, नेपोलियन खुले आम झूठ बोलता था, सीजर विवेकहीन था।



क्या तुम इस स्थितिमें हो कि यह विचार कर सको कि कौनसी चीज भगवान्‌के कार्यमें सहायता करेगी और कौनसी नहीं? इन विषयोंमें तुम्हारे विचार बहुत ही बचकाने हैं। दिव्यभाव प्राप्त करनेके विषयमें तुम्हारा विचार क्या है—धार्मिक व्यक्ति, एक अच्छा पति, पुत्र, पिता, एक अच्छा नागरिक होना आदि? ऐसी हालतमें, मैं स्वयं

अदिव्य हो जाऊंगा, क्योंकि मैं कभी ये चीजें नहीं था। "अ" और "ब" जैसे लोग तब महान् रूपांतरित भागवत पुरुष कहलायेंगे।



क्या तुम वास्तवमें यह विश्वास करते हो कि नेपोलियन, सीजर, शेक्सपियर जैसे लोग महान् व्यक्ति नहीं थे और उन्होंने जगत्के लिये अथवा दैव्य उद्देश्यकी सिद्धिके लिये कुछ नहीं किया? और भगवान् अपने उद्देश्यके लिये उनका व्यवहार करनेसे वरी रहे क्योंकि उनमें चारित्रिक दोष तथा दुर्गुण थे? कितना निरर्थक विचार है!



भला भगवान्को महान् पुरुषोंके दुर्गुणोंकी क्यों परवा करनी चाहिये? क्या वह कोई पुलिसके सिपाही हैं? जबतक मनुष्य साधारण प्रकृतिमें रहता है, क्षमताएं और दोष, सद्गुण और दुर्गुण दोनों होते हैं। जब कोई उसके परे चला जाता है, तब न कोई सद्गुण रह जाता है न दुर्गुण,—क्योंकि ये चीजें भागवत प्रकृतिमें नहीं हैं।



पाप और पुण्यका अंधकार और ज्योतिसे, सत्य और मिथ्यासे कोई संबंध नहीं। आध्यात्मिक पुरुष पाप और पुण्यसे ऊपर उठ जाता है, वह सत्य और ज्योतिसे ऊपर नहीं उठता, जबतक कि सत्य और ज्योतिसे तुम्हारा मतलब मानवीय सत्य और मानसिक ज्योति ही न हो। उन्हें ठीक उसी तरह अतिक्रांत करना होगा जिस तरह पुण्य और पापको अतिक्रांत करना होता है।



पाप महज अव्यवस्थित प्रणालियोंके द्वारा शक्तिका उफान है।



महान् पुरुषोंमें अधिक शक्ति (मानसिक, प्राणिक, भौतिक, सभी प्रकारकी शक्ति) होती है और शक्ति उन चीजोंसे भी आती है जिन्हें मनुष्य दुर्गुण कहते हैं तथा उन चीजोंसे भी आती है जिसे वे सद्गुण कहते हैं।



महान् क्षमताओंवाले या शक्तिशाली मनवाले या शक्तिशाली प्राण-वाले मनुष्योंमें बहुत बार साधारण मनुष्योंकी अपेक्षा कहीं अधिक प्रत्यक्ष चारित्रिक दोष होते हैं अथवा कम-से-कम साधारण मनुष्योंमें वे उतना अधिक नहीं दिखायी देते, क्योंकि उन्हींकी तरह वे अधिक तुच्छ पैमानेमें होते हैं।



हां, निश्चय ही। बहुतसे महान् व्यक्तियोंमें भी बहुधा बहुत बड़े दुर्गुण होते हैं और बहुत-से होते हैं। सामान्यतया महान् पुरुष आदर्श चरित्रवाले नही होते।



अपने क्षेत्रमें महान् या चमकीला या तुच्छ हो, महत्वाकांक्षा महत्वाकांक्षा ही है और अधिकांश लोगोंके लिये कोई प्रभावशाली कार्य करनेके लिये यह आवश्यक होता है। किसी भी चीजको, जब वह छोटी हो तो उसे पाप कहने तथा जब वह बड़ी हो तो उसे गौरव प्रदान करनेसे भला क्या लाभ है?



जब बहुत बड़े परिमाणमें मिथ्याभिमान होता है तो वह साधारणतया वैसे ही कार्य करता है। मनुष्य जो कुछ करता है उस सबमें स्फूर्त्ति अनुभव करता है और उस स्फूर्त्तिको एक ऊंची प्राप्ति समझनेकी भूल करता है। यह एक सामान्य भूल है। उच्च प्राप्ति केवल एक या दो क्षेत्रोंमें ही होती है।



यह मिथ्याभिमान है, पर यह पाखंड नहीं है जबतक कि वह इसमें विश्वास नहीं करता। यदि वह इसमें विश्वास नहीं करता तो यह पाखंड है, पर यह मिथ्याभिमान नहीं है।



अधिकांश महान् पुरुष खूब अच्छी तरह यह जानते हैं कि वे महान् हैं।

VII

[पशुओंकी चाहें:] अपने भावावेगों और कामनाओं तथा अपनी शारीरिक आवश्यकताओंकी तृप्ति—अधिकांशमें। पशु प्रधानतया पृथ्वी-पर प्राणिक सृष्टि हैं—उनके अंदरका मन भी प्राणिक मन है—वे शक्तियोंके दबावके अनुसार कार्य करते हैं और उनमें मानसिक नहीं बल्कि प्राणिक इच्छा होती है।



पशु भी मनुष्यकी अपेक्षा कहीं अधिक वस्तुओंकी एक प्रकारकी सुसमंजसताके साथ संपर्क रखते हैं। मनुष्यकी एकमात्र श्रेष्ठता यह है कि उसमें एक अधिक जटिल चेतना और क्षमता (पर भयानक रूपसे विकृत और मनस्तत्त्वके कुव्यवहारके कारण विरूप) और उच्चतर वस्तुओंकी ओर जानेकी योग्यता (अभीतक अधिक अ-व्यवहृत) है।



मानव जीवन और मन न तो पशुओंकी तरह प्रकृतिके साथ समस्वर है और न आत्माके साथ—यह विक्षुब्ध, असंबद्ध, अपने-आपमें विरोधी है, सामंजस्य और समतोलतासे रहित है। तब हम इसे स्वयं एक रोग नहीं तो रोगी अवश्य समझ सकते हैं।



पौधोंमें बहुत चैत्य-संवेदन होता है, पर वे उसे केवल नीरवता और सौंदर्यके द्वारा व्यक्त करते हैं।



[फूलकी सुंदरता:] रूप, रंग, गंध और अन्य कोई चीज जो अवर्णनीय है।



गुलाब एकमात्र सुन्दर फूल नहीं है, अन्य सैकड़ों फूल वैसे हैं; अधिकांश फूल सुन्दर होते हैं।

बस, सौंदर्यकी मात्राएं और प्रकार होते हैं।

अपने रंगकी समृद्धि, अपनी सुगंधकी तीव्र मधुरता तथा अपने रूपकी शोभा और भव्यताके कारण गुलाब फूलोंमें सर्वप्रथम है।



यह ठीक है कि उद्भिज जगत्—यहांतक कि पशु भी यदि उन्हें समुचित ढंगसे लिया जाय—मनुष्योंको अपेक्षा बहुत अधिक अच्छे हो सकते हैं। वास्तवमें मानसिक विकृति ही वह चीज है जो मनुष्यको अधिक बुरा बना देती है।



हां, यह एक अधिक सरल और शुद्ध चेतना है—पशुकी चेतना। निस्संदेह, वह कुछ आशा तो करती है, पर यदि वह नहीं पाती तो भी, उसका प्रेम बना रहता है। बहुतेरे पशु, बुरा व्यवहार करनेपर भी, अपना प्रेम नहीं खोते, और इसका मतलब है प्राणके अंदर असाधारण चैत्य विकास।



पशुओंकी भावात्मक सत्ता मनुष्योंकी भावात्मक सत्ताकी अपेक्षा, जो बहुत संवेदनशून्य हो सकती है, बहुधा बहुत अधिक चैत्य-संवेदनशील होती है। हालमें एक पालतू बाघिनके चित्र निकले थे जिसे एक परिवारने पाला था और पीछे उसने उसे एक चिड़ियाघरको दे दिया था। अपने पिंजरेमें बद्ध बाघिनके एक साथ ही सरल और दुःखपूर्ण मर्मभेदी चेहरेके ऊपर शोककी रेखा इतनी तीव्र है कि हृदय विदीर्ण हो जाता है।



अधिकांश पशु सामान्यतया तबतक आक्रमण नहीं करते जबतक उन्हें सताया या डराया या किसी भांति क्रोधित नहीं कर दिया जाता—और वे मनुष्योंके वातावरणको अनुभव कर सकते हैं।



बिल्लियोंमें बहुत सुनिश्चित प्राणिक बोध होता है।



कुछ ऐसे लोग होते हैं जो जरा भी योग किये बिना अथवा कुंडलिनीकी शक्तियोंको जगाये बिना अपने कान खड़े रख सकते हैं। मैं समझता हूं कि यह महज एक ऐसी क्रिया है जिसे मनुष्यने अव्यवहारके कारण, प्रत्येक क्षण खतरा सूचित करनेवाले शब्दोंको सुननेके लिये पशुओंकी तरह कान खड़े न रखनेके कारण खो दिया है। मैं समझता हूं कि यदि इस क्षमताका कोई उपयोग हो तो मनुष्य इसका पुनरुद्धार कर सकता है।



[दुःख-तापकी जिम्मेदारी:] मनुष्यकी क्यों? पशुओंके विषयमें क्या बात है? वे भी तो दुःख भोगते हैं। तुम कह सकते हो कि दुःख-कष्ट निम्नतर चेतनाकी एक विकृति है, परंतु तुम एकमात्र मनुष्य या मानव-प्रकृतिको उसका उत्तरदायी नहीं बना सकते।



हां, पशुओंकी चेतनाके यथार्थ बोधके साथ उन्हें निरीक्षण करना मानवीय मानसिक सीमाओंसे बाहर निकलने तथा पृथ्वीपर सभी आकारोंमें अपनेको व्यक्ति-रूप देते हुए—पौधों, पशुओं, मनुष्यों तथा मनुष्यसे परे जो कुछ है उसमें वर्द्धित होते हुए—वैश्व चेतनाको देखनेमें सहायता करता है।

VIII

मैं नहीं जानता कि उच्च रूपमें विकसित व्यक्तियोंमें परिहासकी भावना नहीं होती अथवा जब यह भावना न हो तो किसी व्यक्तिको पूर्णीकृत कैसे कहा जा सकता है। "तुच्छहृदयता" शब्द एक प्रकारकी नीच छिद्रान्वेषिताके लिये प्रयुक्त होता है जिसके पीछे कोई सारतत्त्व नहीं होता। ऐसा कोई नियम नहीं कि सामको कोई हठीलतापूर्ण गंभीर और मुस्कान-रहित वस्तु होना चाहिये।



विनोदप्रियता? यह तो जीवनके अंदर नमक है। इसके बिना संसार अपना संतुलन एकदम खो दिया होता—यह अभी भी काफी असंतुलित है—और बहुत दिन पहले ही नरक-कुंडकी ओर दौड़ गया होता।



लोग बहुत अधिक मूर्ख हैं—पर मैं समझता हूं कि वे बेबस हैं। जितना ही अधिक मैं मानवताकी ओर ताकता हूं उतना ही अधिक यह भाव मेरे ऊपर हावी होता है। मूर्खताकी जिन खाइयोंमें उनका मन जानेमें समर्थ है.....।



मेरी राय यह है कि अल्लाह महान् है और महान् है विश्वका रहस्य और चीजें ठीक वैसी ही नहीं हैं जैसी कि वे प्रतीत होती हैं आदि।

॥ प्रथम भाग समाप्त ॥



हिन्दी-अंगरेजी शब्दावली

अ

अंतरात्मा	soul
अंतर्दर्शन	vision
अंतर्यामी	immanent
अंत:प्रेरणा	intuition
अंतर्निहित	involved
अंतर्ज्ञान	intuition
अंतर्दृष्टि	insight
अंधविश्वास	superstition
अंशविभूति	emanation
अचेतनता	unconsciousness
अज्ञान	ignorance
अतिमानस, अतिमन	supramentalisation
अतिमानसीकरण	supramenalisation
अतिभौतिक	supraphysical
अज्ञेयवाद	agnosticism
अतिबौद्धिकता	over-intellectuality
अतीन्द्रिय	supersensible
अतिरंजन	exaggeration
अणु-परमाणु	atom
अध्यात्म-सत्ता	spiritual self
अध्यात्मभावापन्न	spiritualisation
अद्वैतवादी	monistic
अधीनता	subordination
अज	unborn
अज्ञात	unknown
अनुश्रुति	tradition
अन्वेषण, अनुसंधान	discovery
अनुभव	experience
अनुवीक्षण यंत्र	microscope
अभिव्यक्ति	manifestation
अधिकार	control, possession
अभियोग	charge
अमूर्त	abstract
अवरोहण, अवतरण	descent
अभीप्सा	aspiration
अवतरणोन्मुख	descending
अविसंवादी	discordant
असत्	non-being
अशुभ	evil
अस्तव्यस्त	confused
अस्तव्यस्तता	chaos
अस्वीकृति	denial
असत्य	unreality
अमरत्व	immortality
असंगति	disharmony
असंस्कृत	unregenerate
अहं	ego

आ

आंतर, आंतरिक	inner
आत्मसृजन	self-creation
आत्मा	spirit
आत्मप्रभुत्त्व	self-mastery
आत्मोपचार	self-healing
आदर्शरूप	typal
आदर्शीकरण	idealisation
आदर्शवाद	idealism
आध्यात्मिक	spiritual
आपातदृष्ट	apparent
आरोहण	ascent
आलेख	record
आविर्भाव	emergence, appearance
आविष्कार	discovery

आशावाद	optimism
आह्लादपूर्ण	ecstatic

उ

उद्घाटन	opening
उदात्तीकृत	sublimated
उद्देश्य	purpose
उद्जनवायु	hydrogen
उपलब्धि	attainment, realisation
उपस्थिति	presence
उलट-फेर	vicissitude

ऋ

ऋत-चित्	Truth-Consciousness
ऋषि	seer

क

कर्मण्यतावाद	activism
कसौटी	test
कुत्सितता	ugliness
क्रमविकास	evolution
क्रियाशक्ति	dynamis
क्रियाशील	dynamic
क्रियान्विति	working
क्रूरता	brutality
केंद्र	nucleus

ग

गुप्त	hidden
गुह्यज्ञान	occult knowledge
गौण	subordinate
ग्रंथि	knot
ग्रह	planet
ग्रहणशीलता	receptivity

च

चक्र	cycle
चरितार्थता	fulfilment
चिच्छक्ति	consciousness-force
चीर-फाड़	dissection
चेतना	consciousness
चैत्य पुरुष	psychic being
चैत्यभावापन्न	psychicisation
चोला	vesture

छ

छन्द	metre
छद्मवेश	disguise

ज

जटिलता	complication
जड़-भौतिक	material
जड़-तत्त्व	matter
जड़वादी	materialist
जाति	race
जीवात्मा	self, spirit
जिज्ञासु	seeker
जीवविज्ञान	biology
ज्ञानालोक	enlightenment

त

तत्त्व	element
तात्त्विक	metaphysical
विवेचक	thinker
तमस्	enertia
तादात्म्य	identity

तर्कबुद्धि	reason
तर्कशील	reasoning
तार्किक	rationaliser

द

दर्शन	philosophy
दावेदार	claimant
दिव्यीकरण	divinisation
दुःसाहसिकता	adventure
दृष्टिकोण	standpoint
दृढ़ोक्ति	asseveration

ध

धारणा	notion
ध्यान	meditation

न

नमनीय	plastic
नश्वरता	transience
नबी	prophet
नास्तिकवाद	atheism
निराकार	featureless
निश्चेतना	inconscience
निवर्तन	involution
निराधार	unsupported
निरंकुशता	tyranny
निवर्तित	involved
निरंकुश	arbitrary
नियतिवाद	determinism
निर्व्यक्तिक	impersonal
निषेध	nagation
निष्क्रिय	inactive
निष्कर्ष	conclusion
निष्पक्ष	impartial
निराशावाद	pessimism
नैतिक	ethical
नैयायिक	reasoner
न्याय	logic
न्यायालय	tribunal

प

पंजीबद्ध	registered
परात्पर भगवान्	Supreme
परात्पर	transcendent
परिणाम	outcome
पद्धति	method, technique
पदार्थ विज्ञान	physics
पार्थिव चेतना	earth-consciousness
पूर्वाग्रह	prejudice
पूर्वनिर्णय	prejudgement
प्रकृति	nature
प्रक्रिया	process
प्रगति	progress
प्रतिरोध	resistance
प्रत्यक्षवादी	positivist
प्रहेलिका, पहेली	riddle
प्रतिज्ञा	premiss
प्रतिलिपि	transcription
प्रतिबिंब	reflection
प्रतिबंध	reservation
प्रामाणिक	authoritative
पृथकात्मक बोध	separative sense

ब

बहिर्मुखी	externalised
बहुविध	multiform

वाह्य	outer
बुद्धि	intellect, reason
बुराई	evil
ब्रह्म	Spirit

म

भगवान्	Divine
भवितव्यता	destiny
भविष्यवाणी	forecast
भगवत्कृपा	grace
भावात्मक	emotional
भावावेग	emotion
भौतिक	material
भौतिकीकरण	materialisation
भौतिकवादी	materialist
भ्रम	illusion
भूल-भ्रान्ति	error

म

महत्त्व	significance
महत्त्वाकांक्षा	ambition
मध्यवर्त्ती	intermediary
मनोवैज्ञानिक	psychological
मनीषी	thinker
माध्यम	medium
माया	illusion
मानवतावादी	humanitarian
मानसीकरण	mentalisation
मानदंड	standard
मानसिक	mental
मिथ्यात्व	falsehood
मूर्त्तिमान्	embodied
मुनि	sage
मूल	basic
मुक्त	liberated
मौलिक	essential

य

यंत्र	instrument
यथार्थवादी	realist
युग	era
युक्तिसंगत	logical
युक्तिवादी	rationalist
योगी	mystic

र

रसवोधात्मक	aesthetic
रहस्यमय	enigmatic
रूपान्तर	transformation
रूपक	image
रोमानियत	romanticism

व

वर्गीकरण	classification
वज्रझंझावात	thunder-storm
वातावरण	atmosphere
विकृति	perversion
विघटन	disintegration
विज्ञता	wisdom
विधिविहित	destined
विद्युदणु	electron
विरोधाभासी	paradoxical
विरोधी	contrary
विविक्त विचारणा	abstraction
विवेक शक्ति	discrimination
विवेकहीनता	indiscrimination

विशुद्ध	pure
विश्व-चेतना	Universal Consciousness
विस्फोट	outburst
व्यापक	global
व्यापार	phenomenon
वैश्व मन	cosmic mind
वैज्ञानिक	scientist

श

शक्ति	force, power
शरीरविज्ञान	physiology
शाश्वत	eternal
शिखर	summit
श्रद्धा	faith
श्रुति	hearing

स

संघ	order
संबोधि	intuition
संसिद्धि	fulfilment
संदेहवाद	scepticism
संज्ञाहीनता	insensibility
संभूति	becoming
संकल्प-शक्ति	will
संगठन	organisation
संन्यास	asceticism
संप्रदाय	school
समन्वय	harmony
सत्य-सृष्टि	truth-creation
सद्वस्तु	reality
सत्य-चेतना	truth-consciousness
सक्रिय	dynamic
सर्वज्ञान	all-knowledge
सत्य-शक्ति	truth-power
सत्	existence
सव्यक्तिक	personal
सर्वेश्वरवादी	pantheistic
सहजप्रेरणा	instinct
सर्व-समावेशक	all-comprehensive
सर्व-व्यावर्तक	all-exclusive
समस्या	problem
समतोलता	balance
सभ्यता	civilisation
समसामयिक	contemporary
सत्ता	being
सनक	freak
सांकेतिक	suggestive
साक्षात्कार	realisation
सामंजस्यहीनता	disharmony
सापेक्षतावाद	relativity
साहसिक	adventurous
साकार	embodied, personal
सापेक्ष	relative
सिद्धांत	principle
सौंदर्यबोधात्मक	aesthetic
सौंदर्य	beauty
स्तर	plane
स्थाणु	static
स्वर-परिवर्तन	modulation
स्वयंसत्	self-existent
स्वतःचालित	automatic
स्वमतस्थापनशील	self-assertive
स्वीकृति	affirmation
स्रोत	source